पातञ्जल योग शास्त्र: एक अध्ययन

परमहंस स्वामी अनन्त भारती

पातञ्जल योग शास्त्र: एक अध्ययन

परमहंस स्वामी अनन्त भारती
[पूर्वनाम–महामहोपाध्याय डॉ० ब्रह्ममित्र अवस्थी]

मोरारजी देसाई राष्ट्रिय योग संस्थान
६८, अशोक रोड, नई दिल्ली-११०००१

प्रकाशकः
मोरारजी देसाई राष्ट्रिय योग संस्थान
आयुर्वेद, योग व प्राकृतिक चिकित्सा, यूनानी, सिद्ध एवं होम्योपैथी (आयुष) विभाग
स्वास्थ्य एवं परिवार कल्याण मंत्रालय, भारत सरकार की एक स्वायत्त संस्था
६८, अशोक रोड, नई दिल्ली—११०००१
फोनः २३७३०४१७, २३७३०४१८, २३३५१०६६, फैक्सः २३७११६५७
ई-मेलः mdniy@yahoo.co.in वेबसाइटः www.yogamdniy.com

संशोधित एवं परिवर्द्धित
द्वितीय संस्करण : २०६४ वि०
: २००७

मूल्यः एक सौ पचास रुपये

मुख्य वितरकः

मुद्रकः
गुल्को प्रेस प्रा. लि.
सी—५६, ओखला इंडस्ट्रीयल एरिया,
फेज—१, नई दिल्ली—११००२०
दूरभाषः २६८१४८८६, २६८१६२८२
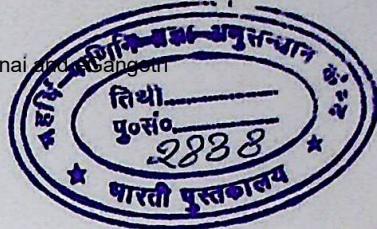
द्वितीय संस्करण के संदर्भ में

परमहंस स्वामी अनन्त भारती जी पूर्व नाम महामहोपाध्याय डॉ० ब्रह्ममित्र अवस्थी कृत पातञ्जल योगशास्त्र एक अध्ययन के संशोधित एवं परिवर्द्धित द्वितीय संस्करण को पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करते हुए हमें अपार प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है। स्वामी जी जहां एक सिद्ध योगी हैं, वहीं वे स्वाध्यायशील गम्भीर विचारक भी हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रथम संस्करण् के मुद्रणकाल में ही आपके मन में इस ग्रन्थ में उल्लिखित कई सन्दर्भ विचारणीय बन गये थे। योगदर्शन के प्रथमपाद में चित्तवृत्तियों के निरोध हेतु बताये गये अभ्यास वैराग्य के मुख्य उपाय के अतिरिक्त अन्य प्रणवजपरूप ईश्वर प्रणिधान, प्रच्छर्दन विधारण रूप प्राणायाम आदि सात उपाय पतञ्जलि स्वीकृत साधना मार्ग हैं ? अथवा इन उपायों के रूप में महर्षि पतञ्जलि ने अपने समय में योगसाधकों के बीच प्रचलित साधना मार्गों का संकेत करके अपने ग्रन्थ में योगसाधना के इतिहास का निबन्धन किया है? यह प्रश्न कौंध गया था और उसका संकेत उन्होंने ग्रन्थ के उपसंहार प्रकरण में किया भी था। इसी प्रकार अनेक ऐसे संदर्भ हैं जहां लेखक ने योगभाष्य और उसका अनुसरण करके लिखी गयी टीकाओं में स्वीकृत परम्पराओं से हटकर मौलिक चिन्तन किया है।

प्रस्तुत द्वितीय संस्करण स्वामी जी के उस मौलिक चिन्तन का उनकी ही लेखनी से समावेश हुआ है। प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रथम संस्करण के आधार पर ही समीक्षा करते हुए हिमालय क्षेत्र के एक मूर्घन्य विचारक विद्वान् परमपूज्य संन्यासी स्वामी कृष्णानन्द जी महाराज ने प्रस्तुत ग्रन्थ की तुलना प्रो० एस.एन. दासगुप्ता के ग्रन्थ से करते हुए इसे प्रशस्ततर बताया था। संशोधन और परिवर्द्धन के बाद द्वितीय संस्करण पूर्व की अपेक्षा भी विद्वानों द्वारा अधिक सम्मानित होगा ऐसा विश्वास है।

मैं इस द्वितीय संस्करण में मनोरम मुद्रण के लिए गुल्को प्रेस के सत्त्वाधिकारी और उनके सहयोगियों का हृदय से आभारी हूं।

माघ अमावस्या सं० २०६४ वि०

ईश्वर वी. बसवरड्डि
निदेशक
मोरारजी देसाई राष्ट्रिय योग संस्थान,
नई दिल्ली

आत्म-निवेदन

(प्रथम संस्करण)

योग–साधना का इतिहास अत्यन्त प्राचीन है, प्रारम्भ में वह साधना के क्षेत्र में ही प्रतिष्ठित रहा है। कालान्तर में साधना के समानान्तर उसमें चिन्तन का भी महत्त्व बढ़ा, जिसके फलस्वरूप उसे दर्शन के रूप में भी प्रतिष्ठा प्राप्त हुई है। साधना का पथ राजमार्ग नहीं होता, प्रत्येक व्यक्ति की परिस्थितियाँ और उनकी शक्ति आदि के कारण साधना के पथ सदा ही अलग–अलग होते हैं; किन्तु इस भेद की अनन्तता के होते हुए भी प्राप्तव्य की अभिन्नता के कारण उसमें एकात्मता भी अनिवार्यतः हुआ करती है। इसीलिए उसे एक दर्शन कहा जाता है। महाभारत काल में योग साधना एवं दर्शन के अनेक प्रस्थान रहे हैं। पतंजलिकृत योगसूत्र में भी हमें प्रस्थान भेद की पर्याप्त सूचना मिलती है, जिसकी चर्चा यथास्थान ग्रन्थ में की गयी है। इन अनेक प्रस्थानों का दार्शनिक दृष्टि से विवेचन सर्वप्रथम कब और किसने किया यह कह सकना तो कठिन है, किन्तु पतञ्जलिकृत योगसूत्र इस प्रकार की रचना में प्राचीनतम है। उसकी प्राचीनता के कारण ही उनके बाद जन सामान्य पतञ्जलि को ही योग परम्परा का प्रवर्त्तक मान लेते हैं।

योग–साधना एवं उसके दर्शन के अध्ययन की ओर प्रवृत्ति मुझमें बाल्यकाल में ही पूज्य तातचरण के कारण उत्पन्न हुई थी, वे एक उच्चकोटि के योग–साधक ही नहीं उसके दर्शन के भी अधिकारी विद्वान् थे। उनकी प्रेरणा ही प्रस्तुत अध्ययन को प्रस्तुत करने का हेतु है। इस ग्रन्थ की रचना उनके जीवन काल में ही उनकी प्रेरणा से हुई थी, अतः इसका सम्पूर्ण श्रेय पितृचरण को ही है और यह उनके कर कमलों में ही समर्पित है।

योगसाधना क्योंकि सुयोग्य गुरु के निर्देशन में ही सम्पन्न होनी चाहिए, तभी वह फलदायिनी होती है, अतः प्रस्तुत रचना साधकों के लिए न होकर एतद्विषयक दार्शनिक अध्येताओं के लिए हुई है। अतएव इसके द्वारा साधकों को कुछ नया न मिले यह अत्यन्त स्वाभाविक है। इस ग्रन्थ में पातञ्जल योगसूत्र, उस पर भाष्य तथा सूत्र और भाष्य पर अधिकारी विद्वानों द्वारा की गयी टीकाओं

के आधार पर योग के दार्शनिक पक्ष का अध्ययन किया गया है। जो आपके हाथों में प्रस्तुत है।

प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रकाशन के सन्दर्भ में मैं इन्दु प्रकाशन दिल्ली की स्वत्वाधिकारिणी श्रीमती सुशीला शास्त्री का अत्यन्त आभारी हूँ कि उनके सत्प्रयास से यह अपना स्थूल स्वरूप पा सका है। साथ ही उन समस्त विद्वज्जनों का भी जिनकी रचनाओं का इसमें यथा स्थान उपयोग हुआ है।

विदुषाँ वशंवदः

ब्रह्ममित्र अवस्थी

बुद्ध पूर्णिमा २०३५ गंगानाथ झा केन्द्रीय शोध संस्थान, इलाहाबाद

पुनश्च

पातञ्जल योग शास्त्रः एक अध्ययन का प्रथम बार प्रकाशन संवत् २०३५ में ग्रन्थ लेखन के लगभग तीन वर्ष बाद हुआ था। उस समय मुद्रण के लिए ग्रन्थ अपने प्रथम मूल रूप में ही दे दिया गया था। ग्रन्थ के प्रूफ को देखते हुए मेरे मानस में अनेक मौलिक प्रश्न उठे जिनका समाधान भले ही उस समय दुष्कर लगा किन्तु चिन्तन, विश्लेषण प्रारम्भ हो गया, जिसका संकेत ग्रन्थ के उपसंहार में कर दिया गया था। कालान्तर में वह चिन्तन जब परिपक्व हुआ तब आवश्यक हुआ कि उसे लिपि बद्ध करके विद्वानों के समक्ष प्रस्तुत किया जाए। इसके परिणाम स्वरूप ही लेखक की एक मौलिक कृति पतञ्जलि कृत योग सूत्र पर **योग प्रभाकर भाष्य** लिखी गयी, जिसका प्रकाशन दो वर्ष पूर्व 'योग दर्शन, योग प्रभाकर भाष्य सहित' नाम से हुआ है।

इस ग्रन्थ के संशोधित संस्करण में जो वैशिष्ट्य है, उसे निम्नांकित बिन्दुओं में संकेतित किया जा सकता है।

'प्रथम पाद के 'ईश्वर प्रणिधानाद्वा' सूत्र से लेकर 'यथाभिमत ध्यानाद्वा' सूत्र पर्यन्त जिन सात साधना मार्गों का उल्लेख हुआ है वे साधना मार्ग महर्षि पतञ्जलि स्वीकृत साधना मार्ग न होकर उनसे पूर्व अथवा उनके समय प्रचलित साधना मार्ग थे, जिनका संकेत पतञ्जलि ने इतिहास के रूप में किया है, साथ ही उनकी सीमा का निर्देश भी 'ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च।' (१.२६) एवं 'परमाणुपरममहत्त्वन्तोऽस्य वशीकारः।' (१.४०) सूत्रों द्वारा कर दिया है।

भाष्यकार व्यास ने द्वितीय पाद के प्रारम्भ में 'उद्दिष्टः समाहित चित्तस्य योगः कथं व्युत्थितं चित्तोऽपि योग युक्तः स्यादित्येतदारभ्यते' कहते हुए प्रकारान्तर से कह दिया है कि प्रथम पाद में निर्दिष्ट सभी साधनाएं उत्तम अधिकारियों के लिए हैं। जब कि वास्तविकता यह नहीं है। ईश्वर प्रणिधान रूप प्रणवजप से यथाभिमत ध्यान तक की साधनाएं चित्तवृत्ति की एकाग्रता के स्तर विशेष तक तो पहुंचा सकती है चित्त वृत्ति निरोध रूप असम्प्रज्ञात समाधि तक नहीं। अतः व्यास का उक्त कथन विचारणीय है।

अष्टांगयोग पतञ्जलि स्वीकृत अभ्यास वैराग्य रूप साधना की व्याख्या है, क्योंकि महर्षि ने दोनों ही स्थलों पर योग साधना की चरम परिणति असम्प्रज्ञात समाधि अथवा निर्बीज समाधि के रूप में स्वीकार किया है।

विभूतिपाद में सत्ताईस विभूतियां ऐसी है जो योग साधना के मूल उद्देश्य कैवल्य से सम्बन्ध नहीं रखती वे मूलतः साधना में बाधक है। ऐसी सिद्धियों को पतञ्जलि ने समाधि के मार्ग में उपसर्ग के रूप में स्वीकार किया है 'ते समाधावुपसर्गाः व्युत्थाने सिद्धयः" (३.३७)। पतञ्जलि के समय में अनेक साधक चमत्कार प्रदर्शन द्वारा प्रतिष्ठा प्राप्त कर के लौकिक सुख साधन जुटाते थे। इन सिद्धियों का परिगणन करके महर्षि पतञ्जलि ने तत्कालीन योग साधकों के इतिहास का ही संकेत किया है।

इस प्रकार से समर्पित साधकों के लिए महर्षि पतञ्जलि ने समाधि पाद में 'अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः'। (१.१२) सूत्र में प्रशस्त साधना मार्ग का संकेत करके विस्तार पूर्वक उस साधना मार्ग का विवरण अष्टांग योग के रूप में साधन पाद में प्रस्तुत किया है।

इस द्वितीय संस्करण में इन्हीं बिन्दुओं को केन्द्र में रखकर यथा स्थान ग्रन्थ में संशोधन परिवर्त्तन एवं परिवर्धन किया गया है। ग्रन्थ के अन्त में परिशिष्ट में योग दर्शन से सम्बद्ध विषय विशेष पर विस्तृत प्रकाश डालने की दृष्टि से स्फुट निबन्ध के रूप में अलग अलग शीर्षकों के माध्यम से कुछ विशिष्ट चिन्तन भी निबद्ध करने का प्रयत्न किया गया है जो निश्चय ही विज्ञ पाठकों के लिए प्रेरणा प्रद होगा।

श्रावणी पूर्णिमा सं. २०६४ वि०　　　　**स्वामी अनन्त भारती**

अनुक्रम

प्रस्तावना

योग शब्द वर्त्तमान में प्रचलित अर्थ के आधार पर यद्यपि मिलन अथवा मिलन के साधन का वाचक प्रतीत होता है, किन्तु पतञ्जलि ने इसकी जो परिभाषा दी है, उसके अनुसार चित्तवृत्तियों का निरोध ही योग कहलाता है। चित्तवृत्तियों का यह पूर्ण निरोध केवल असम्प्रज्ञात समाधि की स्थिति में हुआ करता है, जब द्रष्टा (साधक) का चित्त देशविशेष (अर्थ विशेष) में इतनी एकतानता प्राप्त कर लेता है कि उसमें ध्याता ध्येय एवं ध्यान के पृथक्त्व का बोध नहीं होता। ध्येय अर्थमात्र ही निर्भासित होता है, अर्थात् स्वरूप शून्यता की सी स्थिति आ जाती है (३. ३.)। पतञ्जलि के अनुसार साधक को यह स्थिति निरन्तर अभ्यास और वैराग्य के द्वारा प्राप्त होती है। एक अन्य स्थल पर पतञ्जलि ने योग शब्द के पूर्व क्रिया पद का प्रयोग करते हुए 'क्रियायोग' शब्द का प्रयोग किया है। उनके अनुसार क्रियायोग तप स्वाध्याय एवं ईश्वरप्रणिधान की समष्टि का नाम है। (२.१) इसे दूसरे शब्दों में हम इस प्रकार कह सकते हैं कि क्रियायोग के तीन अंग है, तपस् स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान। इस प्रसंग में स्मरणीय है कि पतञ्जलि ने यम नियम आदि योग के आठ अंगों का स्पष्ट निर्देश किया है (२. २६) तथा इन अंगों में अन्यतम नियम में शौच और सन्तोष के साथ उपर्युक्त क्रियायोग के तीनों अंगों का (तपस् स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान का) भी परिगणान कर दिया है (२. ३२)। फल की दृष्टि से भी पतञ्जलि ने दोनों में अधिक अन्तर नहीं माना है, उनके अनुसार क्रियायोग का प्रयोजन समाधि की भावना और क्लेशों को क्षीण करना होता है, (२. २) यम से समाधि पर्यन्त आठों अंगों के अनुष्ठान से अशुद्धिक्षय अर्थात् अविद्या का नाश और विवेक का उदय होता है। (२. २८) अशुद्धिक्षय और क्लेश-क्षीणता भले ही शब्दों से परस्पर सर्वथा भिन्न प्रतीत हों, किन्तु उनमें ऐसी दूरी है नहीं, क्योंकि अशुद्धिक्षय से शरीर और इन्द्रियों (अन्तरिन्द्रियों सहित) में शुद्धता आती है, (२. ४३) तथा क्लेश के रूप में स्वीकृत अविद्या अस्मिता राग द्वेष और अभिनिवेश (२.३) अन्तरिन्द्रिय चित्त के मल ही तो हैं। अतः उनकी निवृत्ति को अशुद्धि क्षय से भिन्न कैसे माना जा सकता है ? इसी प्रकार ईश्वर-प्रणिधान से समाधि की प्राप्ति होती है (२.२५), जो अन्तिम योगांग है, और सबीज समाधि सहित समस्त योगांगों का फल है। इस प्रकार अष्टांगयोग और तीन अंगों वाले क्रियायोग के फल में कोई अन्तर दृष्टिगत नहीं होता। अतएव यह प्रश्न

हो सकता है कि पतञ्जलि अष्टांग योग का प्रतिपादन करते हैं अथवा त्रि-अंग क्रियायोग का ?

इसके अतिरिक्त चित्तवृत्तियों के निरोध को योग स्वीकार करते हुए (१.२) पतञ्जलि ने उसके लिए आठ उपाय सुझाएं है। जो कि इस प्रकार हैं—

(१) अभ्यास और वैराग्य की समष्टि चित्त वृत्तियों के निरोध का प्रथम उपाय है। (१.१२)

(२) ईश्वर प्रणिधान से चित्त वृत्तियाँ निरुद्ध होती हैं। (१.२३)

(३) प्राणायाम से भी चित्तवृत्तिनिरोध होता है। (१.३४)

(४) किसी भी विषय के चिन्तन से चित्त वृत्तियों का निरोध सम्भव है। (१. ३५)

(५) सुषुम्ना नाड़ी में चित्त का प्रवेश कर उसमें स्थिरता अथवा अस्मितामात्र में चित्त की स्थिरता चित्तनिरोध का अन्यतम उपाय है। अथवा ज्ञान साधना चित्तवृत्ति निरोध होता है। (१.३६)

(६) वीतराग विषयता भी चित्त की स्थिरता का अन्यतम उपाय है। (१.३७)

(७) स्वप्न निद्रा की शारीरिक स्थिति में ज्ञान के आलम्बन से भी चित्त स्थिर होता। (१.३८)

(८) अथवा किसी अभिमत वस्तु अथवा देवी देवता आदि का ध्यान चित्त में स्थिरता ला सकता है।

यहाँ यह प्रश्न उठता है कि पतञ्जलि-वर्णित ये उपाय परस्पर भिन्न हैं, या अभिन्न? यदि भिन्न हैं तो पतञ्जलि का पक्ष क्या है? प्रस्तुत ग्रन्थ के लेखक ने इन प्रश्नों का समाधान पतञ्जलि को विविध योग पद्धतियों का दार्शनिक समीक्षक (योगमार्ग का प्रवर्तक नहीं) मान कर दिया है। अर्थात् पतञ्जलि से पूर्व योग साधना के क्षेत्र में अनेक पद्धतियां प्रचलित थीं। ईश्वर-भक्तियोग (ईश्वर प्रणिधान), विपश्यना (प्राणों का अवेक्षण), तन्त्रयोग (विषयवती प्रवृत्ति), पंचशिख का सांख्ययोग (विशोका प्रवृत्ति), जैनों का वैराग्य (वीतरागविषयता), योगनिद्रा (स्वप्न आदि का अवलम्बन), तथा भक्तियोग के अन्य प्रकारान्तर जो आज किसी न किसी रूप में प्राप्त होते हैं, पतञ्जलि से पूर्ववर्ती हैं। पतञ्जलि ने इन सभी को संकलित किया है और उनकी पद्धतियों के विश्लेषण में न पड़ कर उनकी दार्शनिक समीक्षा की है, एवं योग साधना के दर्शन को प्रस्तुत किया है। साथ ही इन साधनाओं की सीमा का संकेत भी किया है।

उनकी मान्यता है कि साधना के उपर्युक्त सभी मार्ग **सबीज समाधि** तक पहुँचते हैं (१-४१-४६) अभ्यास और वैराग्य की साधना पूर्ण साधना है, सवितर्का समाधि तक किसी भी मार्ग से पहुंचने पर यदि **परवैराग्य** के साथ अभ्यास आगे भी चलता रहा तो इन विविध मार्गों से प्राप्त उपलब्धियों का त्याग होने पर निर्विचार समाधि की सिद्धि होती है, यहाँ सभी मार्ग एक हो जाते है, निर्विचार से अध्यात्मप्रसाद का लाभ होता है, जो विवेकख्याति का जनक है। इसे ऋतम्भरा प्रज्ञा भी कहते हैं। ऋतम्भरा प्रज्ञा का उदय होने पर समस्त संस्कारों का निरोध होकर निर्बीज समाधि की सिद्धि होती है, यही योग है, साधना की चरम उपलब्धि है।

प्रस्तुत ग्रन्थ में लेखक भूमिका में योगसूत्रों के प्रतिपाद्य का संक्षिप्त परिचय देकर ग्रन्थ को प्रारम्भ करता है। विषय-प्रवेश शीर्षक अध्याय में योग दर्शन का संक्षिप्त इतिहास प्रस्तुत कर पतञ्जलि और व्यास के जीवन काल का विवेचन किया गया है। लेखक के अनुसार योगसूत्रकार पतञ्जलि महाभाष्यकार पतञ्जलि से अभिन्न हैं तथा उनका समय ईसापूर्व द्वितीय शताब्दी होना चाहिए। व्यास ने इनके सूत्रों पर ईसा की चतुर्थ शताब्दी से पूर्व भाष्य की रचना अवश्य की है। ये व्यास महर्षि व्यास से भिन्न कोई आचार्य व्यास हैं। द्वितीय अध्याय में योग के स्वरूप और उसके प्रकारों पर विस्तारपूर्वक विचार किया गया है। लेखक के अनुसार असम्प्रज्ञात (निर्बीज) समाधि के अतिरिक्त समाधि के सभी प्रकारों के लिए योग या समाधि पद का प्रयोग लाक्षणिक ही है, मुख्य नहीं। तृतीय अध्याय में योग परम्परा और मनोविज्ञान के उभय सम्मत अर्थो का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत हुआ है। लेखक ने पचास से अधिक ऐसे पदों या अर्थो का परिचय प्रस्तुत किया है, जो दोनों शास्त्रों में व्यवहृत हैं। पञ्चम अध्याय में योग के अंग और उनकी साधना का विस्तृत विवरण प्रस्तुत हुआ है। योग के साधन नामक षष्ठ अध्याय में लेखक ने योग की विविध साधना पद्धतियों का विवरण प्रस्तुत करते हुए उनमें समष्टिभाव की खोज करने का प्रयत्न किया है। उसके अनुसार अष्टांग योग में क्रियायोग समाहित है। सप्तम अध्याय का शीर्षक है, योग के अन्तराय और सिद्धियाँ। डा० अवस्थी की मान्यता है कि सिद्धियाँ वस्तुतः योग के अन्तराय हैं, किन्तु यदि उन्हें सिद्धि के रूप में न देखकर तटस्थ भाव से ग्रहण किया जाए तो ये सिद्धियाँ बाधाओं को दूर भी करती है। इसीकारण इन्हें सिद्धि कहा जाता है। अष्टम अध्याय में कैवल्य के स्वरूप का परिचय दिया गया है तथा नवम में योग में दार्शनिक पक्ष पर विचार हुआ है। प्रस्तुत ग्रन्थ का अन्तिम अध्याय है पतजलि पर बौद्ध प्रभाव। यह विषय न केवल विवाद का है, अपितु चौंकाने वाला भी है कि पातञ्जल योग परम्परा अधिक प्राचीन है या बौद्ध धर्म और दर्शन की परम्परा। लेखक की मान्यता है कि इन दोनों परम्पराओं के बीज इनके ऐतिहासिक आदि काल से कहीं अधिक प्राचीन है। दोनों साधना

पद्धतियाँ समानान्तर रूप से शताब्दियों तक चलती रही हैं। उनमें न केवल परस्पर आलोचना प्रत्यालोचना होती रही है, अपितु परस्पर आदान प्रदान भी हुआ है; और इस प्रकार योग परम्परा में स्वीकृत अनेक तत्त्वों का उद्गम स्थान बौद्ध धर्म-दर्शन है। लेखक की प्रस्तुत मान्यता सर्व सम्मत भले ही न हो, किन्तु इतना तो सुनिश्चित है कि डा० अवस्थी ने यह एक अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रश्न उठाया है, इस प्रश्न पर विस्तृत चिन्तन एवं अनुसन्धान अपेक्षित है।

डा० ब्रह्ममित्र अवस्थी के प्रस्तुत ग्रन्थ पर कुछ पंक्तियाँ लिखते हुए मुझे अत्यधिक हर्ष है। न्यायशास्त्र, उपनिषद् रामानुजदर्शन, काव्यशास्त्र आदि अनेक विषयों में रचनाओं के बाद प्रस्तुत रचना इनकी सतत सरस्वती साधना का सुरभित फल है। इसके लिए मैं डा० अवस्थी को हार्दिक बधाई देता हूँ। मुझे विश्वास है विद्वानों में प्रस्तुत ग्रन्थ का पूर्ण समादर होगा, तथा गंगा यमुना के संगम-स्थल प्रयाग में स्थित डा० अवस्थी की सतत प्रवाहशील लेखनी सरस्वती के प्रवाह से त्रिवेणी के नाम को अन्वर्थ सिद्ध करेगी।

१२ जुलाई १९७८

राजाराम शास्त्री
कुलपति
काशी विद्यापीठ वाराणसी

भूमिका

विश्व के विविध प्रपंचों में उलझा हुआ मानव सुख शान्ति की खोज में निरन्तर प्रयत्नशील रहा है। इसी के लिए उसने न केवल आदिकाल में अग्नि आदि भौतिक साधनों की खोज की, कृषि का आविष्कार किया, बल्कि अनेक प्रकार की तकनीकी उन्नति की, एवं वैज्ञानिक प्रगति की। सुख शान्ति के लिए ही उसने ज्ञान विज्ञान के क्षेत्र में विविध अनुसन्धान किये हैं और इसी के लिए दर्शनों की विविध धाराओं में चिन्तन किया गया है। मानव की खोज की यह प्रक्रिया सृष्टि के आदिकाल से आज तक चल रही है। इसी प्रक्रिया में योग परम्परा के दार्शनिक एवं प्रायोगिक दोनों ही पक्षों का अनुसन्धान हुआ है। यह अनुसन्धान सर्वप्रथम कब कहाँ और किसके द्वारा प्रारम्भ हुआ है? यह कह सकना सम्भव नहीं है। किन्तु इतना निश्चित ही कहा जा सकता है कि पतञ्जलि से पूर्व योग परम्परा ने प्रायोगिक एवं दार्शनिक दोनों ही दिशाओं में एक व्यवस्थित रूप प्राप्तकर लिया था। इतना ही नहीं उस समय तक हठयोग तन्त्रयोग ध्यानयोग राजयोग आदि इसकी अनेक शाखाएँ भी प्रारम्भ हो चुकी थीं अथवा पर्याप्त मात्रा में सुदृढ़ स्वरूप धारण कर चुकी थीं। साथ ही उसका दार्शनिक पक्ष भी विकसित हो रहा था।

प्रस्तुत ग्रन्थ में योग की विविध परम्पराओं में से केवल उस परम्परा पर ही अध्ययन प्रस्तुत किया गया है, जिस परम्परा के प्राचीनतम ग्रन्थ पतञ्जलि प्रणीत योग-सूत्र को हम प्राप्त करते है। अथवा जिसकी जानकारी हमें पतञ्जलि प्रणीत योगसूत्र अथवा उनकी परम्परा में लिखे गये भाष्य टीका प्रटीकाओं आदि से प्राप्त होती है।

पतञ्जलि और उनके भाष्यकार व्यास का स्थिति काल क्या रहा है, इस विषय में अन्तिम रूप से कुछ कह सकना अब तक संभव न हो सका है, तथापि इस प्रसंग में ऐतिहासिकों ने जो अनुसन्धान किया है, उसकी संक्षिप्त चर्चा ग्रन्थ के प्रथम अध्याय में की गयी है। जो वहीं द्रष्टव्य है।

इस परम्परा में जो साहित्य मुझे उपलब्ध हुआ है उसे पाँच भागों में विभाजित किया जा सकता है—

प्रथम परम्परा में पतञ्जलि प्रणीत सूत्रों को रखना उचित होगा। ये सूत्र इस परम्परा का प्राचीनतम साहित्य हैं, और ये ही समस्त परम्परा के जीवातु हैं। इन सूत्रों पर ही आचार्य व्यास ने भाष्य की रचना की है, जिसे इस शास्त्र का आकरग्रन्थ स्वीकार किया जाता हैं। व्यास रचित इस भाष्य को हम द्वितीय भाग में रख सकते हैं। तृतीय भाग में भाष्य पर विविध आचार्यों द्वारा लिखित उन प्रौढ़ टीकाओं को रखना उचित होगा, जिनके आधार पर ही इस परम्परा को अन्य दर्शनों के मध्य दर्शन के रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त हो सकी है। विज्ञानभिक्षुकृत योगवार्तिक वाचस्पतिमिश्रकृत तत्त्ववैशारदी इस तृतीय परम्परा के ही ग्रन्थ हैं। इनके अतिरिक्त भोज भावगणेश रामानन्द यति सदाशिवेन्द्र सरस्वती आदि अनेक विद्वानों ने भाष्य का आश्रय लेकर और कभी कभी मौलिकता के साथ भी, विविध उद्देश्यों को लेकर टीकाएँ लिखीं, जिनमें सूत्र के भावों को जनसामान्य के लिए सुगम बनाने का प्रयत्न किया गया है। पञ्चम भाग में हरिहरानन्दारण्य आदि विद्वानों द्वारा रचित योगकारिका आदि ग्रन्थों को रखना उचित होगा, जिनकी रचना सूत्र आदि का अप्रत्यक्ष आश्रयण करके की गयी है।

योगसूत्र का पतञ्जलि ने आन्तरिक विभाजन चार खण्डों में किया है, जिन्हें चार पादों के नाम से अभिहित किया जाता है, प्रथम पाद में इक्यावन सूत्रों में योग के स्वरूप, उसकी चरम परिणति समाधि तथा उस तक की साधना यात्रा का संक्षिप्त परिचय दिया गया है। समाधि के स्वरूप एवं उसके लिए सोपान का विवरण होने के कारण ही इस पाद को समाधिपाद के नाम से अभिहित किया जाता है। द्वितीय पाद में योगसाधना, दो खण्डों में विभाजित करते हुए क्रियायोग और अष्टांग योग नाम से विवरण प्रस्तुत हुआ है। इस पाद के पचपन सूत्रों में क्लेश क्लेशों के मूल एवं उनके परिणामों की चर्चा करने के अनन्तर समस्त क्लेशों की मूल अविद्या को स्वीकार करके अविद्या के पूर्णतः उन्मूलन में समर्थ विवेकख्याति की तथा विवेकख्याति के लिए योग के यम नियम आदि अंगों की विस्तृत चर्चा की गयी है। योगसमाधि के साधनभूत अंगों की चर्चा होने के कारण ही इस पाद को साधनपाद के नाम से अभिहित किया गया है। पुनः पचपन सूत्रों में निबद्ध तृतीय पाद में योग की विभूतियों का विस्तृत परिचय दिया गया है। विभूतियों को लौकिक भाषा में सिद्धि भी कहा जा सकता है। किन्तु क्योंकि ये साधना की उद्दिष्ट नहीं हैं, अपितु साधना के मार्ग में अग्रसर होते हुए साधक पथिक के समक्ष अनायास प्रगट हो जाती हैं, तथा साधक यदि इन्हें दुर्लभ मानकर कृतकृत्य हो गया, तो ये उसे अग्रिम पथ से विचलित कर देती हैं, इस दृष्टि से ये

योग की अन्तराय कहीं जा सकती हैं। किन्तु जब साधक इनकी ओर ध्यान भी नहीं देता, तो ये योगी के मार्ग में आने वाले अन्तरायों को दूर कर उसके पथ को प्रशस्त करती हैं। कभी–कभी कुछ साधक भौतिक साधनों की प्राप्ति हेतु चमत्कार प्रदर्शन करने के लिए भी इन सिद्धियों के लिए ही साधना में प्रवृत्त होते हैं। इसीलिये योग दर्शन की परम्परा में इन्हें विभूति कहा जाता है, तथा तृतीयपाद को, जिसमें इनका विवेचन हुआ हैं, विभूतिपाद नाम दिया गया है। तैंतिस सूत्रों में निबद्ध अन्तिम पाद को कैवल्यपाद के नाम से अभिहित किया जाता है। इस पाद में समाधि लाभ द्वारा जन्म मरण के क्रम का अवरोध होकर कैवल्य का लाभ किस प्रकार और क्यों होता है, इसका दार्शनिक विवेचन प्रस्तुत किया गया है।

विषय वस्तु–

पातञ्जलयोग की विषयवस्तु का क्रमिक विवरण निम्नलिखित है –

महर्षि व्यास के अनुसार पतञ्जलि प्रणीत योगसूत्र में प्राप्त योग की परम्परा का प्रारम्भ भगवान् हिरण्यगर्भ से हुआ है। हिरण्यगर्भ से प्रवर्तित योगशास्त्र अत्यन्त विस्तृत रहा है। यह दूसरी बात है कि हिरण्यगर्भ प्रणीत योग का प्रतिपादक कोई ग्रन्थ आज हमें उपलब्ध नहीं है, किन्तु व्यास के अनुसार सूत्रकार ने हिरण्यगर्भ प्रवर्तित योग का अनुसरण करते हुए ही सूत्रों की रचना की है। इसके अतिरिक्त उन्होने अपने समय में प्रचलित योग साधना के अनेक मार्गों की ओर भी संकेत किया है, किन्तु उनकी आलोचना प्रत्यालोचना नहीं की है। हां मन्त्र योग, जिसे ईश्वर प्रणिधान के नाम से स्मरण किया जाता है, तथा जिसमें अर्थ भावना पूर्वक प्रणव आदि नामों का जप किया जाता है, का कुछ विशेष विवरण दे कर मानों उसे शेष छ की अपेक्षा प्रशस्त स्वीकार किया है।

योग का स्वरूप–

योगसूत्र के सभी व्याख्याकारों के अनुसार प्रथमसूत्र **अथ योगानुशासनम्** में इस शास्त्र का प्रतिपाद्य विषय **योग** बतलाया गया है। योग का जिज्ञासु इस शास्त्र का अधिकारी है, और फल कैवल्य है। इनका परस्पर सम्बन्ध ही चतुर्थ अनुबन्ध अर्थात् सम्बन्ध है। इस प्रकार योग के प्रथम सूत्र में अनुबन्धों का संकेत हुआ है। योग के सभी टीकाकारों ने योगसूत्र में वर्णित योग के स्वरूप का संक्षिप्त परिचय भी इस सूत्र के व्याख्यान में दे दिया है। यह **योग चित्त का** धर्म है, योग को चित्त का धर्म इसलिए कहा जाता है कि वृत्तियाँ चित्त का धर्म हैं, अतः उनके निरोध को भी चित्त का धर्म ही होना चाहिए।

योग के धर्मी चित्त की पाँच भूमियाँ होती है; **क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध।** इनमें से क्षिप्तभूमि तब होती है, जब चित्त अपने उपादान रजस् गुण के कारण अत्यन्त चंचल रहता है। मनुष्यों का चित्त इसी कोटि का कहा जा सकता है। तमोगुण की प्रधानता की स्थिति में निद्रा आदि से युक्त चित्त मूढभूमि में माना जाता है। राक्षस व्यक्ति का चित्त भी मूढ़ भूमिक चित हुआ करता है। क्षिप्त भूमि की अपेक्षा कुछ विशिष्ट सत्त्व युक्त रजः प्रधान चित्त की भूमि विक्षिप्त मानी जाती है। इस भूमि में चित्त आकस्मिक रूप से स्थिर रहा करता है। देव चित इस भूमि का उदाहरण है। क्योंकि क्षिप्त और मूढ़ चित्त में स्थिरता का किञ्चित्मात्र भी सम्पर्क नहीं रहा करता, अतः इन्हें योग की सीमा में स्वीकार नहीं किया जा सकता। विक्षिप्त चित्त में आकस्मिक स्थिरता रहती है, अतः उसे आंशिकरूप से योग की परिधि में रख सकते हैं, किन्तु मणिप्रभाकार रामानन्द यति की मान्यता है कि इसे भी योग मानना उचित नहीं है; कारण यह है कि इस भूमि में भी चित्त भूमि में विक्षेपरूपी अग्नि की अधिकता होने से चित्त दग्ध अतएव निष्फल रहता है। **एकाग्रभूमिक** चित्त में सत्त्व की प्रधानता रहती है। वह किसी एक विषय में स्थिर हो जाता है। इस भूमिका में **रजस् तमस्** की वृत्तियों का निरोध हो जाता है; अतः यह भूमि योग की परिधि की भूमि है। इस भूमि को ही **सम्प्रज्ञात** योग के नाम से स्मरण किया जाता है। इस भूमि में प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाणों से भी अगम्य ज्ञेय विषय का साक्षात्कार किया जा सकता है। सम्प्रज्ञातयोग की सिद्धि से अविद्या आदि क्लेश क्षीण हो जाते हैं। पाप और पुण्य दोनों ही प्रकार के कर्माशयों का क्रमशः दहन हो जाता है। उसके अनन्तर एक स्थिति वह आती है, जब सात्त्विकवृत्ति भी निरुद्ध हो जाती है और चित्त में केवल संस्कारमात्र शेष रह जाते हैं, उस अवस्था को निरुद्धभूमि कहा जाता है।

पतञ्जलि ने योग की सामान्य परिभाषा करते हुए यद्यपि चित्त की समस्त वृत्तियों के निरोध को योग स्वीकार किया है, फिर भी योगसूत्र के प्रायः सभी व्याख्याकारों ने केवल राजस और तामस वृत्तियों का निरोध होने पर भी उसे योग माना है। टीकाकारों का यह अभिमत निश्चय ही पतञ्जलि की योगविषयक मान्यता से विरुद्ध नहीं है। क्योंकि उस स्थिति में ही सम्प्रज्ञात समाधि को भी योग कहा जा सकेगा। अन्यथा सम्प्रज्ञात समाधि में सात्त्विकवृत्तियों के विद्यमान रहने के कारण वहाँ समग्ररूप से चित्त वृत्तियों का निरोध तो नहीं है।

सांख्ययोगदर्शन के अनुसार चित्त त्रिगुणात्मक है, उसमें गुणों की साम्य

अवस्था नहीं रहती। कारण यह है कि गुणों की साम्य अवस्था प्रकृति कहलाती है। उसके अभाव में अर्थात् गुणों में परस्पर विषमता होने पर ही महत् (चित्त) आदि विकारों की उत्पत्ति होती है। गुणों की विषमता यद्यपि मात्रा भेद से अनन्त प्रकार की हो सकती है, तथापि सूत्रकार ने सुविधा की दृष्टि से चित्त को चार अवस्थाओं में ही कल्पित किया है। जिस समय सत्त्व अपेक्षाकृत न्यून होता है, तथा रजस् एवं तमस् समान रहते हैं, उस अवस्था में सत्त्व के कारण चित्त ध्यानाभिमुख तो रहता है, किन्तु तमोगुण के द्वारा वह आवृत कर लिया जाता है, इसलिए वह रजस् के कारण ऐश्वर्य आदि की कामना करता हुआ विषयोन्मुख रहता है। चित्त की यह अवस्था विक्षिप्त भूमि में रहा करती है। जिस अवस्था में चित्त में सत्त्व और रजस् दोनों गुण गौण होकर रहते हैं एवं तमस् प्रधान रहता है, उस समय चित्त कल्याण विरोधी अर्थात् धर्म ज्ञान वैराग्य एवं ऐश्वर्य के विरोधी भावों से ओत प्रोत रहता है। इस अवस्था में अज्ञान अर्थात् भ्रम एवं निद्रा आदि की प्रधानता रहती है। यह अवस्था मूढभूमिक चित्त की हुआ करती है। क्षिष्त अवस्था में सत्त्व और तमस् गुण गौण रूप से अवस्थित रहते हैं, तथा रजस् की प्रधानता रहती है। इन अवस्थाओं में से क्षिप्त और मूढ़ भूमियाँ सर्व सामान्य व्यक्ति के चित्त की तथा विक्षिप्त भूमि आरम्भिक दिनों में योगी के चित्त की होती है। शेष दो भूमियाँ (एकाग्रभूमि एवं निरुद्धभूमि) योगसाधना में कुछ आगे बढ़े हुए योगियों के चित्त की क्रमशः हुआ करती है।

जिस समय चित्त में सत्त्व की प्रधानता होती है, तथा तमोगुण अभिभूत रहता है, एवं रजोगुण किञ्चित् क्रियाशील रहता है, वह अवस्था एकाग्रभूमि कहाती है। यह मध्यम योगी की अवस्था है। इसे ही सम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं। जब रजस् और तमस् सर्वथा अभिभूत होकर रहते हैं, एवं शुद्धसत्त्व ही चित्त में प्रधान रूप से प्रतिष्ठित होता है, उस समय विवेकख्याति का उदय होता है। फलतः चित्त के समस्त मलों का हान हो जाता है, एवं उसमें केवल पुरुष का ही ध्यान शेष रह जाता है, चित्त की इस अवस्था को ही **धर्ममेघ समाधि या परप्रसंख्यान** कहते है। जब चित्त में विवेकख्याति के प्रति भी विरक्ति हो जाती है, उस समय उसमें केवल संस्कार शेष रह जाते हैं, इस अवस्था को **असम्प्रज्ञात समाधि** कहते हैं। यह योगी की चतुर्थ अवस्था है। उस अवस्था में चित्त ठीक उसी प्रकार निरुद्ध हो जाता है, जिस प्रकार बिल में प्रविष्ट सर्प।

जिस समय चित्त की सभी अर्थात् शान्त घोर और मूढ़ वृत्तियों का निरोध हो जाता है, उस समय चित्तस्वरूप द्रष्टा अपने स्वाभाविकरूप में अवस्थित हो जाता है। फलतः जिस प्रकार कुसुमसम्पृक्त स्फटिक मणि से कुसुम

को हटा दिया जाए तो मणि का अपना स्वाभाविक रूप ही परिलक्षित होता है, उसी प्रकार चित्त में पुरुष को केवल अपने (द्रष्टा के) स्वरूप का ही अवभासन होता है। भोज रामानन्दयति आंदि टीककारों के अनुसार चित्त का स्वभाव चैतन्यमात्र हैं, वृत्तिस्वरूप नहीं; किन्तु जब चित्त निरुद्ध नहीं होता, अर्थात् व्युत्थान काल में चित्त शान्त घोर और मूढ़ वृतियों से युक्त रहता है, उस समय पुरुष को वृत्ति तादात्म्य के कारण 'मैं शान्त हूँ' 'मैं दुःखी हूँ' इत्यादि वृत्तियों के साथ तादात्म्य का भ्रम होता है। फलतः योग और युक्तावस्था का अर्थ होगा चित्त के व्यापारों का निरोध, और चित्त की निरुद्ध अवस्था। स्मरणीय है कि उनके मत में चित्त वृत्तियों के निरोध से पुरुष को मुक्ति एवं व्युत्थान से बन्धन हुआ करता है।

वृत्तियाँ–यद्यपि असंख्य हो सकती हैं, किन्तु पतञ्जलि के अनुसार उनका वर्गीकरण प्रमाण विपर्यय विकल्प निद्रा एवं स्मृति इन पाँच में किया जाता है। ये राग द्वेष आदि से उत्पन्न हुआ करती है, जिनके आधार पर उन वृत्तियों में से कुछ वृत्तियाँ क्लिष्ट कही जाती हैं, और कुछ अक्लिष्ट। जो वृत्तियाँ अभ्यास और वैराग्य से प्रसूत होने के कारण क्लिष्ट वृत्तियों की निरोधक होती हैं, और कालान्तर में पर वैराग्य से स्वयं भी निरुद्ध हो जाती हैं, ऐसी वृत्तियों को मोक्ष की साधक होने के कारण अक्लिष्ट वृत्तियाँ कहा जाता है। कालान्तर में चित्त में संस्कारमात्र के शेष रहने पर योगी के चित्त का भी लय हो जाता है, उस समय पुरुष की मुक्ति हो जाती है।

प्रमाण–सूत्रकार पतञ्जलि ने वृत्तियों के केवल पाँच प्रकार स्वीकार किये हैं:–प्रमाण विपर्यय विकल्प निद्रा और स्मृति, इसकी चर्चा पूर्व पंक्तियों में की जा चुकी है। इनमें **प्रमाण** का अर्थ है 'प्रमा का करण होना'। यहाँ प्रमा का तात्पर्य है अज्ञात अर्थ के सम्बन्ध में पौरुषेय बोध अर्थात् अज्ञात अर्थ का चित्त में प्रतिबिम्बित होना। पतञ्जलि ने कुल तीन प्रमाण माने हैं:– प्रत्यक्ष अनुमान और आगम (शब्द)। इन प्रमाणों में 'इन्द्रियों के माध्यम से चित्त का सामान्य या विशेषरूप लौकिक पदार्थों से सम्बन्ध होने पर तद्विषयक निश्शेष स्वरूप की अवधारणा, जिस वृत्ति में होती हैं, उसे **प्रत्यक्ष प्रमाण** कहते हैं। इस वृत्ति में उस पदार्थ के सम्बन्ध में जब चित्त वृत्ति अर्थाकार हो जाती है, उस समय उसमें चिद्रूप पुरुष का भी प्रतिबिम्ब पड़ता है, फलतः उस काल में वह पुरुष भी वृत्ति सम्बन्ध के कारण अर्थाकार होने का अनुभव करता है, यही प्रत्यक्ष प्रमाण का फल है। इसी प्रकार सामान्यतः ज्ञात परोक्ष-अर्थ का भी समाधि के द्वारा इन्द्रिय सम्बन्ध के बिना चित्त में प्रतिबिम्ब होने पर जो बोध होता है, उसे भी प्रत्यक्ष बोध एवं उस प्रक्रिया के विशिष्ट करण को प्रत्यक्ष

प्रमाण कहते हैं। कभी-कभी किसी वस्तु से इन्द्रिय द्वारा अथवा योगज-समाधि द्वारा सम्बन्ध न होने पर भी प्रत्यक्ष की जाती हुई वस्तु के साथ नियत-सहचार- सम्बन्ध (जिसे शास्त्रीय शब्दों में व्याप्ति कहते हैं) के आधार पर विशिष्ट ज्ञान होता है। ऐसे ज्ञान को अनुमिति और उसके करण (मुख्यतम कारण) को अनुमान कहते हैं। अनुमान प्रमाण से किसी भी वस्तु का बोध होने की स्थिति में जिस वस्तु का उससे बोध हो रहा है, शास्त्रीय भाषा में उसे **साध्य** कहते हैं, जिस स्थल या काल में वह बोध हो रहा है, उसे **पक्ष** कहा जाता है। जिस वस्तु का प्रत्यक्षबोध इतर के बोध करने का साधन बनता है, उसे हेतु या **लिङ्ग** कहते हैं। साध्य और हेतु के नियत सम्बन्ध को **व्याप्ति** कहते हैं। इस प्रकार हेतु का पक्ष में प्रत्यक्ष होने पर हेतु और साध्य के मध्य विद्यमान नियत सम्बन्ध (व्याप्ति) का स्मरण करके साध्य का बोध अनुमान प्रमाण से होता है। अनुमान प्रमाण की सामग्री पूर्ण होने पर ज्ञाता को होने वाला यह बोध केवल वर्त्तमान कालिक ही नहीं, भूत अथवा भविष्यत्कालिक भी हो सकता है। न्यायशास्त्र में अनुमान के स्वरूप का भेदोपभेदों सहित अत्यन्त सूक्ष्म विवेचन किया गया है,[1] योग सूत्र एवं उसकी टीकाओं में उसकी उपेक्षा करके केवल संकेतमात्र कर दिया गया है। शास्त्रों के अध्ययन तथा गुरु आदि आप्तजनों के उपदेश से होने वाले बोध को शाब्दबोध तथा इसके बोधक प्रमाण को आगम या शब्दप्रमाण कहते हैं। योग शास्त्र में उपर्युक्त केवल तीन प्रमाणों की चर्चा करने से यह कल्पना करना उचित न होगा कि पतञ्जलि-व्यास अथवा उनके टीकाकारों को केवल तीन प्रमाण ही अभिमत हैं। योगशास्त्र में केवल तीन प्रमाणों की चर्चा करने का प्रयोजन केवल यह है कि योगशास्त्र में अथवा उसके सम्बन्ध में जो बोध होता है, अथवा जिस बोध का विश्लेषण सम्भव है, उसके लिए केवल प्रत्यक्ष अनुमान और आगम प्रमाण ही पर्याप्त हैं।

विपर्यय–किसी वस्तु का यथार्थ बोध होने पर उस वस्तु के विषय में उससे पूर्व अयथार्थ बोध था अथवा यथार्थ से भिन्न-विभिन्न प्रकार का जो बोध सम्भव है, उसे **विपर्यय** कहते हैं। इसका ही दूसरा नाम अविद्या है। अविद्या से ही **अस्मिता राग द्वेष** और **अभिनिवेश** की उत्पत्ति होती है, अतः इन्हें भी विपर्यय (अविद्या) के अन्तर्गत ही परिगणित किया जाता है। विपर्यय के ये प्रकार क्लेश के मूल हैं, अतः इन्हें भी अनेक बार क्लेश नाम से अभिहित किया जाता है।

---

१. अनुमान प्रमाण के विषय में विस्तृत जानकारी के लिए लेखक के अन्य ग्रन्थ 'भारतीय न्यायशास्त्र : एक अध्ययन' का प्रमाणविमर्श देखें।

विकल्प–शब्दों और अर्थों का सम्बन्ध एक प्रकार से नित्य सम्बन्ध है, क्योंकि शब्दों के बिना हम किसी वस्तु की कल्पना भी नहीं कर पाते; उसके सम्बन्ध में चर्चा कर पाना या उसका व्यवहार कर पाना तो बहुत दूर की बात है। इसी प्रकार किसी शब्द को सुनते ही हमें वस्तु विशेष का स्मरण या बोध होने लगता है, अर्थात् अर्थ के बिना हम किसी शब्द का भी व्यवहार नहीं करते। कभी-कभी दो या अधिक शब्दों का इस भाँति प्रयोग कर लिया जाता है कि उनके स्वतन्त्र अर्थ के होते हुए भी उन संयुक्त पदों का कोई वस्तुभूत अर्थ नहीं बनता। यथा नरशृङ्ग, आकाशकुसुम आदि। इसीप्रकार पुरुष चैतन्यस्वरूप है, यह बोध रहने पर चैतन्य से भिन्न रूप में पुरुष का विकल्प, भावों से भिन्न कोई अभाव पदार्थ नहीं है, यह ज्ञान रहने पर भी पुरुष में सभी भावों का अभाव है, ऐसा विशेषणविशेष्यभावरूप विकल्प, राहु का शिर आदि विकल्प इस विकल्पवृत्ति के ही उदाहरण हैं। उपर्युक्त सभी वृत्तियाँ सामान्यतः चित्त की जाग्रत् अवस्था में ही हो सकती हैं, किन्तु विकल्पवृत्ति स्वप्नावस्था में भी हुआ करती है। कभी-कभी स्वप्न अवस्था में इतर वृत्तियों की भी सम्भावना हो जाती है।

निद्रा–जाग्रत् और स्वप्न अवस्था में होने वाली वृत्तियों का अभाव होने में हेतुभूत तमस् के आलम्बन से युक्त वृत्ति को निद्रा कहते हैं। निद्रा में अभाव प्रत्ययों का ही आलम्बन रहता है। इस वृत्ति में भी सत्त्व की किञ्चित् अधिकता होने पर 'मैं सुखपूर्वक सोया, इत्यादि बोध जगने पर होता है। इसीप्रकार रजोगुण का किंचित् उद्रेक होने पर 'मैं दुःखपूर्वक सोया' तथा तमस् का ही सर्वतोभावेन आधिक्य होने पर 'मैं ऐसी गाढ़ निद्रा में सोया कि कुछ भी बोध नहीं रहा' इत्यादि प्रकार का स्मरण हुआ करता है।

स्मृति–स्मृति वृत्ति की स्थिति में पूर्वकाल में अनुभूत विषयों का कालान्तर में बोध होता है। स्मृति वृत्ति में सत्त्व रजस् और तमस् में से किसी की भी अधिकता हो सकती है।

वृत्तियों की निवृत्ति का उपाय वैराग्य–

चित्त की उपर्युक्त वृत्तियों का निरोध करने के लिए निरन्तर अभ्यास की अपेक्षा होती है। इस अभ्यास क्रम में विषयों के प्रति राग का त्याग अनिवार्यतः आवश्यक होता है। राग के इस त्याग को ही **वैराग्य** कहते हैं। यह चार प्रकार का हो सकता है : **यतमानसंज्ञा व्यतिरेकसंज्ञा एकेन्द्रियसंज्ञा** और **वशीकारसंज्ञा**। ऐन्द्रिय विषयों में प्रवर्त्तक राग आदि चित्त के विकारों के विनाश के लिए गुरु के उपदेश एवं शास्त्रों के अभ्यास द्वारा दोष दर्शन के लिए यत्न

यतमान संज्ञा वैराग्य कहा जाता है। इतने विषयों के प्रति दोषदर्शन हो चुका है, तथा अमुक विषयों के प्रति दोषदर्शन करना है, इस प्रकार का अवधारण **व्यतिरेकसंज्ञक वैराग्य** है। विषयों के प्रति दोषदर्शन होने पर भी उनके प्रति मन में औत्सुक्य शेष रहना, किन्तु स्थूलतः उनका त्याग **एकेन्द्रिय संज्ञक** वैराग्य कहा जाता है। इसी प्रकार लौकिक विषय स्त्री अन्न-पान आदि तथा आनुश्रविक (वैदिक) स्वर्ग आदि विषयों के प्रति 'ये विनाशशील है, इनसे परिणामतः परिताप का ही अनुभव होता है, इनसे भी अधिक उत्कृष्ट अन्य प्राप्तव्य विषय शेष हैं, इत्यादि प्रकार से दोषदर्शन का अभ्यास करने पर उन विषयों के प्रति तृष्णा का अभाव उत्पन्न होता है, इस तृष्णा-अभाव को **वशीकार संज्ञक वैराग्य** कहते हैं। यह वशीकार संज्ञक वैराग्य पूर्वोक्त चारों वैराग्यों में श्रेष्ठ है।

समाधि–

इस **वशीकार संज्ञक वैराग्य** की सिद्धि की स्थिति में यम नियम आदि योगाङ्गों के अनुष्ठान से चित्त के विशुद्ध हो जाने पर गुरु एवं शास्त्रों से प्राप्त **विवेकख्याति** एवं उससे उत्पन्न **धर्ममेघ** नामक एकाग्रता (धर्ममेघ-समाधि) से रजस् एवं तमस् के नष्ट हो जाने पर चित्त में सत्त्वमात्र शेष रहता है, उस स्थिति में वह (चित्त) अत्यन्त निर्मल (प्रसादयुक्त) हो जाता है। यह स्थिति धर्ममेघ समाधि के अनन्तर प्राप्त होती है। क्योंकि इस स्थिति में गुणों के प्रति भी तृष्णा समाप्त हो जाती है, अतः इसे परवैराग्य कहते हैं। इसका उदय होने पर समस्त क्लेश नष्ट हो जाते हैं, समस्त कर्माशय विलीन हो जाते हैं, कालान्तर में विवेकख्यति के प्रति भी योगी को उपेक्षा हो जाती है और वह स्वयं को कृतार्थ समझता है, यह स्थिति परवैराग्य कहाती है। इसके अनन्तर वृत्तियाँ संस्कारमात्र शेष रह जाती है, एवं चित्त में **असम्प्रज्ञात समाधि** का उदय होता है।

चित्त वृत्ति के निरोध की विविध स्थितियों में से **वितर्कानुगत विचारानुगत आनन्दानुगत** और **अस्मितामात्र** स्थितियों को **सम्प्रज्ञात समाधि** तथा निरालम्बन निरोध की स्थिति को **असम्प्रज्ञात** अथवा **निर्बीज समाधि** कहा जाता है। वितर्कानुगत निरोध का तात्पर्य है, स्थूल पदार्थ शालग्राम आदि का साक्षात्कार करते हुए उसके ध्यान में चित्त वृत्तियों का निरोध। इसी प्रकार विचारानुगत समाधि में स्थूल पदार्थों के कारणभूत पञ्चतन्मात्र आदि का साक्षात्कार करते हुए चित्तवृत्तियों का निरोध होता है। **आनन्दानुगत समाधि** में आनन्द गुण विशिष्ट आत्म तत्त्व में चित्त निरुद्ध किया जाता है, तथा

अस्मितानुगत समाधि में शुद्ध चैतन्य आत्मतत्त्व का चित्त में साक्षात्कार होता है। असम्प्रज्ञात में आलम्बन का सर्वथा अभाव रहता है। उसके सिद्ध होने पर कर्म के बीजों का भी अभाव हो जाता है। पतञ्जलि के अनुसार समाधि दो प्रकार की है: **भवप्रत्यय** और **उपायप्रत्यम**। भव-प्रत्यय का तात्पर्य है—उत्पत्ति के कारणभूत अविद्या अर्थात् अनात्म बुद्धि से सहकृत समाधि। यह **भवप्रत्यय समाधि** विदेह और प्रकृतिलय योगियों को जन्म से हुआ करती हैं। विदेह से तात्पर्य उन योगियों से है, जो भूत अथवा इन्द्रियों में लीन है, तथा **प्रकृतिलय** से तात्पर्य उन योगियों से है, जो अव्यक्त महत् अहंकार एवं पंचतन्मात्राओं जो कि प्रकृतिरूप होने से अनात्म है, में आत्मभाव का बोध करते हुए उसमें लीन होने वाले हैं। क्योंकि अनात्म में आत्मभाव का बोध अविद्या है, अतः यह कहना अनुचित न होगा कि इस प्रकार के योगियों के चित्त में समाधि अवस्था में भी अविद्या विद्यमान रहती है। उनके चित्त में संस्कार ही शेष रहता है। इनमें से प्रथम अर्थात् भवप्रत्यय में, क्योंकि इन्द्रिय आदि अनात्म वस्तुओं में आत्मभाव रखते हुए उनमें लीनता रहती है, अतः इसे अविद्यामूलक माना जाता है, जबकि द्वितीय अर्थात् उपायप्रत्यय समाधि श्रद्धा आदि उपायों पर आश्रित होती है। ये उपाय भी प्राचीन जन्म के संस्कारों के कारण मृदु, मध्य एवं अधिमात्र हो सकते हैं, जिनके कारण योगियों में सफलता की अवधि में तारतम्य की सम्भावना रहती है, अर्थात् मृदु उपाय वालों को कुछ विलम्ब से, मध्य उपाय वाले योगियों को अपेक्षाकृत शीघ्र एवं अधिमात्र उपाय वालों को शीघ्रतम अवधि में सफलता का लाभ होता हैं। इनमें भी मृदु मध्य एवं तीव्र संवेग के आधार पर सफलता की क्षिप्रता में तारतम्यपूर्ण अन्तर हो सकता है। श्रद्धा आदि समाधि के उपायों में **ईश्वरप्रणिधान** भी एक उपाय है, जो अन्य सब उपायों की अपेक्षा शीघ्र फलदायी है।

ईश्वर—

सांख्य और योग शास्त्रों को प्रायः परस्पर सम्पृक्त माना जाता है। सांख्यशास्त्र में ईश्वर की चर्चा नहीं हुई हैं। जबकि योगशास्त्र में ईश्वर का न केवल विस्तृत एवं गहन विवेचन हुआ है, बल्कि ईश्वर के प्रणिधान को योग के अंग के रूप में स्वीकार करते हुए ईश्वर को बहुत अधिक महत्त्व दिया गया है। योगपरम्परा के अनुसार पुरुषविशेष ही ईश्वर कहा जाता है। इस पुरुषविशेष का वैशिष्ट्य यह है कि वह अविद्या आदि क्लेशों, धर्म अधर्मरूपी कर्मों, उनके फलों तथा फलानुकूल संस्कारों से त्रिकाल में परे है। पुरुष को क्लेश कर्म आदि से सर्वथा परे मानने पर एक सन्देह हो सकता है कि क्योंकि क्लेश कर्म आदि चित्त के धर्म हैं, अतः ईश्वर में भी चित्त का अभाव

होना चाहिए तथा चित्त का अभाव मानने पर उसमें सर्वज्ञता आदि ज्ञान शक्तियों तथा भक्तवत्सलता आदि क्रिया शक्तियों की सम्भवना कैसे हो सकती है? अर्थात् चित्त के बिना इच्छा सम्भव नहीं है, इच्छा के बिना ईश्वर ने अपने लिए चित्त का निर्माण कैसे कर लिया? योगपरम्परा में इस प्रश्न का समाधान इस प्रकार दिया जाता है कि ईश्वर चित्त रहित नहीं है, उसके पास भी अनादिसिद्ध शुद्धसत्त्व से निर्मित निरतिशय ज्ञान और क्रिया से युक्त चित्त रहा करता है। इस चित्त की स्थिति अनादि है। सृष्टि के आदि में चित्त के ग्रहण का ईश्वर का प्रयोजन संसार सागर में डूबते हुए प्राणियों के उद्धार की कामना है। ईश्वर की सर्वज्ञता का बोध उसकी निरतिशयता से होता है।

ईश्वर के स्मरण तथा उसके ध्यान के उपाय के रूप में उसके नाम प्रणव अर्थात् ओंकार का जाप और अर्थ की भावना अपेक्षित होती है, इसके फलस्वरूप आत्मसाक्षात्कार के प्रसंग में आने वाले अन्तरायों की निवृत्ति होती है, और अन्त में ईश्वर का साक्षात्कार भी हो जाता है। इसे योगशास्त्र की भाषा में ईश्वर प्रणिधान और लौकिक भाषा में मन्त्र योग कहते है। यह ईश्वर प्रणिधान पतञ्जलि के समय प्रचलित (मन्त्रयोग) साधना विधि रही है। इस साधना का साधक आत्म साक्षात्कार तक पहुंचता है।

क्रियायोग एवं नियमों में परिगणित ईश्वर प्रणिधान, ईश्वर प्रणिधान का दूसरा स्वरूप है वह है :– उस परमगुरू के प्रति पूर्ण समर्पण। अपनी समस्त इच्छाओं का कामनाओं का, क्रियाओं का, क्रियाओं (कर्मों) से प्राप्त होने वाले अथवा संभावित फलों का परमगुरू परमेश्वर में समर्पण। इस स्थिति में साधक के कर्म प्रभु के लिए सम्पन्न होते हैं। वह उनमें लिप्त नहीं होता। इसे ही सामान्य भाषा में भक्तियोग कहते है।

पतंजलि ने स्वयं द्वारा स्वीकृत साधना पद्धति के साथ ही अपने समय में प्रचलित योग-साधना की कुछ अन्य शाखाओं का, अन्य परम्पराओं का भी वर्णन किया है। मन्त्र योग रूप ईश्वर प्रणिधान, जिसे भक्तियोग रूप-ईश्वर प्रणिधान का अंग कह सकते हैं, उनमें अन्यतम है। प्रच्छर्दन विधारण (रेचक पूरक क्रियाओं पर चित्त की अवधानता), विशोका ज्योतिष्मती प्रवृत्ति, वीतराग विषयता आदि सात अन्य साधना पद्धतियों की ओर पतंजलिने संकेत किया है। इन सबके द्वारा भी चित्त में स्थिरता प्राप्त होती है।

वाम और दक्षिण नासारन्ध्रों द्वारा क्रमशः रेचक और पूरक करते हुए श्वास–प्रश्वास की क्रिया का मन से निरीक्षण करना और श्वास प्रश्वास के साथ चित्तका सन्तुलन स्थापित करना, चित्त में स्थिरता लाने का एक उत्तम उपाय है।

अन्तराय–

योग के प्रसंग में अन्तराय का तात्पर्य है, चित्त के विक्षेप। चित्त वृत्तियों के निरोध में वे बाधक हुआ करते हैं। पतञ्जलि ने उनका परिगणन व्याधि स्त्यान संशय प्रमाद आलस्य अविरति भ्रांतिदर्शन अलब्धभूमिकता और अनवस्थितता अर्थात् स्थिरता का अभाव के नाम से किया है। योगसूत्र के टीकाकार रामानन्दयति आदि के अनुसार व्याधि का अर्थ वात पित्त कफ अन्नरस एवं इन्द्रियों की विषमता है। कर्म करने की असमर्थता को स्त्यान तथा ज्ञान की अनिश्चतता को संशय कहते हैं। इसी प्रकार योगांगों के अनुष्ठान में शिथिलता को प्रमाद तथा चित्त के भारीपन को आलस्य कहते हैं। इन चित्त विक्षेपों के प्राप्त होने पर योगागों के अनुष्ठान में प्रवृत्ति का अभाव उत्पन्न होता है। चित्त विक्षेपों में अविरति का अर्थ विषयों की लालसा माना जाता है। भ्रान्ति दर्शन का अर्थ है, निश्चयात्मक विपरीत ज्ञान। इसी प्रकार समाधि की मधुमती आदि भूमियों की प्राप्ति न होना **अलब्धभूमिकत्व**, तथा इन मधुमती आदि भूमिकाओं को प्राप्त करके भी उनमें स्थिर रहने की शक्ति का अभाव अनवस्थितता कही जाती है। साधना के क्रम में लगे हुए योगियों को व्याधि आदि चित्तविक्षेपों के साथ दौमर्नस्य अर्थात् क्षोभ कम्पन प्राणायाम से विपरीत श्वास प्रश्वास आदि का व्यतिक्रम इत्यादि अन्तराय भी हुआ करते हैं। इन अन्तरायों की निवृत्ति निरन्तर अभ्यास में लगे रहने से स्वतः हो जाती है।

परिकर्म-

चित्त की एकाग्रता में बाधा मुख्यरूप से चित्त की मलिनता के कारण होती है, इसीलिए पतञ्जलि ने चित्त की मलिनता की निवृत्ति को अर्थात् चित्त के प्रसादन को बहुत महत्त्वपूर्ण माना है। इसके लिए उन्होंने मैत्री करुणा मुदिता और उपेक्षा इन चार परिकर्मों के अभ्यास पर विशेष बल दिया है, मैत्री आदि की भावना से साधक के मन में सात्त्विक भावों का उदय होता है। जिसके फलस्वरूप ईर्ष्या का नाश होकर चित्त में स्थिरता की योग्यता आती है।

इन परिकर्मों के अतिरिक्त श्वास प्रश्वास के अवेक्षण रूप प्राणसाधना भी चित्त में स्थिरता लाने का एक प्रमुख उपाय है। बौद्ध परम्परा में इसे विपश्यना कहा गया है। इनके अतिरिक्त चित्त की स्थिरता के लिए पतञ्जलि ने विशोका ज्योतिष्मती तथा अभीष्ट के स्वरूप का ध्यान आदि को भी उपाय के रूप में स्वीकार किया है। विशोकाज्योतिष्मती का एक अर्थ मन की वह स्थिति है, जो प्राणायाम द्वारा ऊर्ध्वमुख अष्टदलकमल की कर्णिका में स्थित सुषुम्ना नामक नाड़ी में मन के संयम से प्राप्त होती है। इस स्थिति में मन सात्त्विक वृत्तियों

से पूर्ण रहता है। उसमें सूर्य चन्द्र एवं मणियों की दीप्ति के समान दीप्ति आ जाती है। साथ ही उसमें दुःखों का सर्वथा अभाव भी रहता है। कुछ विद्वान् इसे ज्ञानयोग मानते हैं।

उपर्युक्त उपायों के द्वारा वृत्तियों के क्षीण होने पर प्रशस्त स्फटिक के समान निर्मल चित्त क्रमशः ग्राह्य पृथिवी आदि पांच महाभूत आदि विषयों में स्थित होने पर ग्राह्य के आकार को, ग्रहण के साधन इन्द्रियों में स्थित होने पर ग्रहण के आकार को तथा ग्रहीता अस्मितारूप पुरुष में स्थित होने पर अस्मिता के आकार को प्राप्त कर लेता है। योगशास्त्र की भाषा में इसे सम्प्रज्ञात समापत्ति या समाधि कहा जाता है। यह समापत्ति या समाधि सवितर्का निर्वितर्का सविचारा और निर्विचारा आदि भेद से छ प्रकार की स्वीकार की जाती है। सवितर्का समापत्ति में शब्द अर्थ एवं ज्ञान का विकल्प विद्यमान रहता है–यथा–गो शब्द का उच्चारण करने पर हमें गो शब्द अर्थ तथा शब्द और अर्थ के सम्बन्ध का ज्ञान तीनों की अभिन्न प्रतीति होती है। इस प्रतीति में तीन विकल्प हो सकते हैं। प्रथम विकल्प के अनुसार इस अभिन्न प्रतीति में शब्द प्रधान है, जिसमें अर्थ तथा शब्द और अर्थ का ज्ञान संश्लिष्ट रहा करता है, इस विकल्प को शब्दविकल्प कहते हैं। द्वितीय विकल्प में गो अर्थ की प्रधानतया प्रतीति मानी जाती है। गो शब्द तथा शब्द और अर्थ का ज्ञान संश्लिष्ट रहते हैं। इस विकल्प को अर्थ विकल्प कहा जाता है। तृतीय विकल्प में ज्ञान की प्रधानता होती है, तथा शब्द और अर्थ की प्रतीति अप्रधान होकर संश्लिष्ट रहती है। इस विकल्प को ज्ञान विकल्प कह सकते हैं। सवितर्का समापति में ये तीनों विकल्प एक साथ रह सकते है, क्योंकि प्रमाता किसी शब्द को सुनने के अनन्तर संकेत को स्मरण कर अर्थ सहित शब्द का बोध करता है, अथवा अर्थ का साक्षात्कार होने पर संकेतस्मरणपूर्वक शब्दज्ञान सहित अर्थ का ज्ञान करता है। समाधि की भावना से सर्वप्रथम स्मृति की परिशुद्धि अर्थात् निवृत्ति होती है तथा स्मृति शुद्धि के फलस्वरूप पूर्वोक्त विकल्पों से रहित चित्त में केवल अर्थमात्र का निर्भासन हुआ करता है, इस स्थिति को निर्वितर्का समापत्ति कहते हैं। उपर्युक्त ग्राह्य समापत्तियों में अन्यतम की स्थितियों में जिस समय किसी सूक्ष्मविषय के साथ चित्त की एकरूपता हो रही हो, उसस्थिति में उस ग्राह्य विषय के कारण आदि विशेषणों के विचार के साथ समापति होती है, तो उसे सविचारासमापत्ति कहते हैं। और जब समस्त विशेषणों से रहित केवल सूक्ष्म परमाणु आदि का ही साक्षात्कार होता है। तब उसे निर्विचारा समापति कहते हैं। प्रस्तुत सन्दर्भ में सूक्ष्मविषय से तात्पर्य पृथ्वी आदि के परमाणु, उनमें विद्यमान गन्ध आदि तन्मात्राएं, उनके

कारणभूत अहंकार की तथा अहंकार की भी प्रकृति महत् तथा महत् की भी प्रकृति प्रधान या मूल प्रकृति से है। प्रधान प्रकृति से सूक्ष्म कोई अन्य उपादान नहीं है। इस प्रकार पतञ्जलि के अनुसार ग्राह्यसमापति के केवल चार प्रकार ही स्वीकार किये जाते हैं।

ग्रहणसमापति केवल दो प्रकार की है। सानन्दा और आनन्दमात्रा। इसी प्रकार गृहीतृसमापत्ति भी केवल एक प्रकार की होती है: अस्मितामात्रा। पूर्वोक्त चार समापत्तियों के साथ इन तीन समापतियों को मिलाकर सातों समापत्ति-प्रकारों को सबीज समापत्ति भी कहा जाता है। इनमें से प्रत्येक उत्तरोत्तर क्रमशः उत्कृष्टतर होती गयी है। ग्राह्य समापत्तियों में अन्तिम अर्थात् निर्विचारसमापति के सिद्ध होने पर चित्त में अध्यात्मप्रसाद हो जाता है, अर्थात् ग्राह्यविषयाकार भाव की समापत्ति हो जाती है। जिसके फलस्वरूप योगी को स्वरूप साक्षात्कार की योग्यता प्राप्त हो जाती है और उसे ऐकान्तिक सत्य का बोध होता है। इसे ही ऋतम्भरा प्रज्ञा कहते हैं। यह बोध लौकिक प्रत्यक्ष अनुमान आदि से प्राप्त होने वाले बोध से सर्वथा विशिष्ट और उत्कृष्ट साथ ही सूक्ष्म तथा देश और काल के व्यवधान को भी लांघ कर हुआ करता है। इस प्रसंग में यह सन्देह हो सकता है कि चित्त का इन्द्रियों से सम्बन्ध न रहने के कारण पुरुष को बाह्य विषयों का साक्षात्कार कैसे हो सकता है? क्योंकि विषयों का साक्षात्कार तो इन्द्रियों के माध्यम से ही हुआ करता है। इसका समाधान यह है कि बुद्धि सत्त्वप्रधान होने से स्वयंप्रकाशस्वरूप है। इसलिए वह स्वतः समस्त अर्थो के ग्रहण करने में समर्थ है। किन्तु तमस् से आवृत होने के कारण वह अल्प विषयग्राही तथा इन्द्रियापेक्षी हो जाती है। जब समाधि के कारण तमस् का आवरण उस से हट जाता है, तब वह सर्वतः प्रकाशमान होकर मर्यादातीत हो जाती है। उस समय उसके लिए कुछ भी अगोचर नहीं रह जाता।

ऋतम्भराप्रज्ञा के द्वारा उत्पन्न संस्कार से अन्य सभी प्रकार के संस्कार निरुद्ध हो जाते हैं, फलतः उनमें व्युत्थान अर्थात् समाधिविषयक अन्तरायों की सम्भावना नहीं रह जाती हैं; एवं समस्त क्लेशों की निवृत्ति हो जाने के कारण चित्त भोगों से विरक्त हो जाता है। फलतः उसे पुरुषविषयक बोध हो जाता है। इसे विवेकख्याति कहते हैं। विवेकख्याति का उदय होते ही उसे कृतार्थता का अनुभव हो जाता है, कालान्तर में उस विवेकख्याति का भी निरोध हो जाता है। इस स्थिति को निर्बीज समाधि कहते हैं। तात्पर्य यह है कि श्रवण मनन निदिध्यासन अर्थात् पुरुषमात्र का ध्यान एवं अभ्यास के द्वारा पहले धर्ममेघसमाधि होती है। उससे ऋतम्भरा प्रज्ञा का उदय, उसका भी निरोध होने पर निर्बीज समाधि की सिद्धि होती है। कालक्रम से निर्बीज अर्थात् निरोधसंस्कार

के भी निरुद्ध हो जाने पर चित्त अपनी प्रकृति अर्थात् प्रधान में लीन हो जाता है। उस समय पुरुष स्वरूपमात्र में प्रतिष्ठित हो जाता है। इसे ही कैवल्य अथवा मोक्ष प्राप्ति कहते है।

योगसूत्र के प्रथम पाद में योग का स्वरूप एवं वृत्तियों का विवेचन करने के अनन्तर उनके निरोध के दो उपाय बताए है; अभ्यास एवं वैराग्य। अभ्यास और वैराग्य के लिए चित्त की शुद्धि आवश्यक है। अतः द्वितीय पाद में चित्त शुद्धि के हेतुभूत क्रियायोग का सर्व प्रथम वर्णन किया गया है।

क्रियायोग के अन्तर्गत तपस् स्वाध्याय एवं ईश्वरप्रणिधान का ग्रहण होता है। यहाँ तपस् का तात्पर्य शरीरशोषण नहीं है। क्योंकि शरीरशोषण से धातुवैषम्य अर्थात् रोगों की उत्पत्ति होती है, जो कि योग में अन्तराय (विघ्न) स्वरूप है। अतः यहाँ तपस् से ब्रह्मचर्य गुरुसेवा सत्यभाषण कौष्ठमौन अर्थात् एकान्तवास आकारमौन अर्थात् वाक्संयम, आश्रमधर्म का पालन, शीत उष्ण आदि द्वन्द्वों की सहिष्णुता, स्वल्पाहार इत्यादि लेना चाहिए। इसी प्रकार स्वाध्याय से प्रणवजाप एवं रुद्रसूक्त आदि का जप एवं मोक्ष प्रतिपादक शास्त्रों का अध्ययन तथा ईश्वर प्रणिधान से फलों की कामना का त्याग करते हुए किये गये समस्त कर्मों का परमगुरु ईश्वर के प्रति समर्पण समझना चाहिए। क्रियायोग की साधना से क्लेश क्षीण होते हैं, एवं समाधि की योग्यता प्राप्त होती है। सांसारिक प्रपञ्च में पड़े हुए किन्तु योग से लगाव रखने वाले साधकों के लिए पतञ्जलि ने संक्षिप्त साधना क्रियायोग का विधान किया है।

क्लेश-प्रकार—

समाधि के विरोधी क्लेश जिन्हें क्रियायोग के माध्यम से क्रमशः क्षीण किया जाता है, निम्नलिखित हैं—अविद्या अस्मिता राग द्वेष एवं अभिनिवेश। इनमें से अविद्याजन्य क्लेश प्रसुप्त तनु विच्छिन्न और उदार भेद से चार प्रकार के हो सकते हैं। पतञ्जलि के अनुसार विदेह एवं प्रकृतिलय योगियों के क्लेश प्रसुप्त प्रकार के होते हैं। इन योगियों में विवेकख्याति का उदय न होने से वे दग्धभाव को प्राप्त नहीं होते, फलतः वे पुनः उत्पन्न हो सकते हैं। क्रियायोगियों के क्लेश तनु अर्थात् क्षीण होते हैं। विषयों के सम्पर्क से युक्त जनों के क्लेश विच्छिन्न एवं उदार होते हैं। उदार और विच्छिन्न क्लेश विषयसंगीजनों में साथ हो सकते है। उदाहरणार्थ देवदत्त का जिसके प्रति राग है, उसके प्रति क्रोध विच्छिन्न होगा और राग उदार; तथा जिसके प्रति उसमें क्रोध है, उसके प्रति राग विच्छिन्न होगा और क्रोध उदार होगा। क्लेश की उपर्युक्त चार अवस्थाओं (प्रकारों) के अतिरिक्त एक पाँचवी अवस्था भी होती है,

वह है क्षीण अवस्था।

अविद्या–

अविद्या का अर्थ है, देव आदि अनित्य पदार्थों को अमर अर्थात् नित्य समझना, जिसके फलस्वरूप देवत्व की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करके बन्धन का भोग होता है। इसी प्रकार अशुचि स्त्री आदि के शरीर को शुचि समझना, जिसके फलस्वरूप उसके प्रति राग एवं बन्धन की प्राप्ति होती है। इतना ही नहीं, परम श्रोत्रिय का शरीर भी स्थान अर्थात् गर्भ में मलमूत्र के साथ स्थिति, बीज अर्थात् शुक्रशोणित से उत्पत्ति, उपष्टम्भ अर्थात् श्लेष्म आदि मलों द्वारा स्थिति, निष्यन्द अर्थात् शरीर के छिद्रों से मलों का निस्सरण, एवं मृत्यु आदि के कारण अशुचित्व दोष से युक्त है, उसे शुचि समझना भी अविद्या है। इसी प्रकार शरीर इन्द्रिय मन एवं बुद्धि अर्थात् विज्ञान जो कि आत्मा नहीं हैं, को आत्मा समझना अविद्या है। ऊपर की पंक्तियों में अविद्या के केवल चार प्रकार बताये गये हैं, सुक्ति में रजत आदि विपर्ययरूप मिथ्या ज्ञान आदि भी अविद्या के अनेक प्रकार हो सकते हैं। उनका परिगणन अविद्या को परिभाषित करते हुए पतञ्जलि ने नहीं किया है? इसका कारण यह है कि इस प्रकार के विपर्यय मिथ्या ज्ञान होते हुए भी बन्ध के साक्षात् कारण नहीं बनते, अतः उनकी चर्चा यहाँ नहीं की गयी है।

अस्मिता–

अस्मिता का अर्थ है दृक् शक्ति अर्थात् पुरुष एवं दर्शन शक्ति अर्थात् चित्त, जो कि क्रमशः भोक्ता और भोग्य होने से परस्पर पूर्णतः भिन्न हैं, को अभिन्न समझना। इसे ही उपनिषद् में हृदयग्रन्थि के नाम से स्मरण किया गया है।

राग-द्वेष–

राग पद से यहाँ तृष्णा का ग्रहण किया गया है, जिसकी उत्पत्ति सुख–साधनों के प्रति स्मरण पूर्वक तब होती है, यदि पहले उनका अनुभव किया गया हो। इसी प्रकार जिसने दुःख का अनुभव किया हैं, उसे दुःख के साधनों (कारणों) की दुःख जनकता का स्मरण होने पर उनके प्रति जो क्रोध होता है, उसे द्वेष कहते हैं।

अभिनिवेश–

अभिनिवेश का अर्थ है मिथ्या आग्रह पूर्ण कामना, जैसे यह सुनिश्चित है कि जो वस्तु उत्पन्न हुई है उसका नाश अवश्य होगा। यदि जन्म हुआ है,

तो मृत्यु होना भी निश्चित है। फिर भी मूर्ख हो या विद्वान् बालक हो या वृद्ध उनकी कामना रहती है कि ऐसा न हो कि मैं न रहूँ, अर्थात् मेरी मृत्यु कभी न हो। यह कामना तो कभी पूर्ण होनी नहीं है, अतः मृत्यु को स्मरण करके भी क्लेश होता है। अतः इस अभिनिवेश को मिथ्या आग्रह को पतंजलिने क्लेश माना है।

इन उपर्युक्त पाँच क्लेशों को क्रमशः तमस् मोह महामोह तामिस्र और अन्धतामिस्र भी कहा जाता है। योगसूत्र के व्याख्याकार रामानन्द यति ने इन्हें स्पष्ट करते हुए कहा है कि अव्यक्त (मूल प्रकृति) महत् अहंकार एवं पाँच तन्मात्राएँ इन आठ अनात्म वस्तुओं में आत्मबुद्धि तमस् है। अणिमा आदि आठ ऐश्वर्यों के प्राप्त होने पर मैं अणु हूँ, मैं महान् हूँ, इत्यादि रूप से उनसे तादात्म्य का अनुभव मोह है। शब्द आदि दस विषय जो कि दिव्य और अदिव्य भेद से बीस प्रकार के हो जाते हैं, में राग महामोह है। किसी भांति ऐश्वर्यों का विघात होने पर अथवा ऐश्वर्य-मूलक विषयों की उपलब्धि न होने की स्थिति में अठारह प्रकार के ऐश्वर्य विघातकों के प्रति द्वेष तामिस्र कहलाता है। इसीप्रकार अठारह अभीष्ट पदार्थों (आठ ऐश्वर्यो एवं दस इन्द्रियों के विषयों) के नाश होने का भय अन्धतामिस्र कहा जाता है।

उपर्युक्त पाँच क्लेश पुरुषख्याति द्वारा दग्ध होने पर संस्काररूप होने से सूक्ष्म तथा क्रियायोग एवं मैत्रीभावना आदि परिकर्मों द्वारा तनूकृत होने से दस प्रकार के कहे जा सकते हैं, उनका नाश 'प्रतिप्रसव' अर्थात् चित्त का उसकी प्रकृति मूल प्रकृति में लय द्वारा करना चाहिए; तथा जिन कर्मों का भोग आरम्भ चुका है, उनकी सुख दुख एवं मोहात्मक वृतियों का नाश ध्यान द्वारा करना चाहिए। इसे और अधिक स्पष्ट करते हुए वस्त्र का उदाहरण दिया जा सकता है, जिसप्रकार वस्त्र का कुछ स्थूल मल केवल धोने मात्र से छूट जाता है, तथा कुछ को दूर करने के लिए विशिष्ट क्षार द्रव्यों (साबुन आदि) की आवश्यकता होती है, किन्तु मल की वासना वस्त्र के नाश होने से ही नष्ट होती है। इसीप्रकार क्रियायोग से सघन क्लेश विरल हो जाते हैं, ध्यान द्वारा वे क्षीण हो जाते हैं, किन्तु सूक्ष्म क्लेश तो चित्त के नाश होने से ही नष्ट होते है।

कर्माशय—

उपर्युक्त क्लेशों के मूल कर्माशय है। यहाँ आशय का अर्थ कर्मो से उत्पन्न धर्म-अर्धमरूप संस्कार से हैं। संस्कारों की आशय संज्ञा अन्वर्थ है, क्योंकि इन संस्कारों में ही सांसारिक पुरुष विद्यमान रहते हैं (आशेरते

सांसारिकाः पुरुषाः अस्मिन्निति आशयः कर्मणां धर्माधर्मरूपः संस्कारः) यह कर्माशय दो प्रकार का है (१) प्रथम वह जिसका भोग इसी जन्म में होना है (२) और द्वितीय वह जिसका भोग जन्मान्तर में होना है। यथा—नन्दीश्वर ने तीव्र संवेग पूर्वक मन्त्र तप और समाधि आदि से ईश्वर का आराधन करके इसी देह में देवत्वजाति दीर्घ आयुष्य एवं दिव्य भोगों को प्राप्त कर लिया था। विश्वामित्र ने जाति एवं आयुष्य को प्राप्त किया था। किन कर्माशयों का भोग इसी आयु में होता है? इस सन्दर्भ में योगसूत्र के टीकार रामानन्द स्वामी का कहना है कि भयभीत अस्वस्थ कृपण (दीन) विश्वस्त एवं महानुभाव पुरुषों के प्रति किये गये अपराधों का भोग सद्यः होता है। यथा—राजा नहुष महर्षि अगस्त्य के प्रति अपराध करने के कारण तत्काल सर्प हो गया था।

यह कर्माशय केवल उसी स्थिति में विपाक होने पर क्लेशजनक होता हैं, यदि वह विवेकख्याति द्वारा दग्धभाव को प्रान्त नहीं हुआ है। विवेकख्याति द्वारा दग्धभाव को प्राप्त होने पर वह कर्मबीज ठीक उसी प्रकार फलों का जनक नहीं होता, जिस प्रकार धान आदि के बीज छिलके से रहित कर देने पर अथवा भून देने पर अंकुर के जनक नहीं होते।

कर्माशय के विकार तीन प्रकार के होते हैं—देव आदि के रूप में जन्म अथवा जाति विशेष की प्राप्ति, दीर्घ आयुष्य तथा इन्द्रियों द्वारा विषयों का भोग। इनमें भोग मुख्य है। जाति और आयुष्य उसके शेष कहे जा सकते हैं। क्योंकि एक जन्म में अनेक प्रकार के भोग प्राप्त होते हैं, अतः एक जन्म में अनेक कर्मों का भोग होता है, अतः यह कहा जा सकता है कि मृत्यु के समय अभिव्यक्त अनेक कर्म एक जन्म के कारण हैं। इस प्रकार के कर्माशय को **एकभविककर्माशय** कहते हैं। इसी प्रकार कोई कर्माशय कभी जाति का कभी आयुष्य का और कभी भोग का हेतु होता है। कभी वह जाति आयु और भोग में से दो का आरम्भ करने वाला और कभी तीनों का आरम्भ करने वाला भी हो सकता है। इस प्रकार कर्माशय की विचित्रता अनन्त प्रकार की हो सकती है। यह कर्माशय कर्म और परिणाम के आधार पर दो-दो प्रकार का कहा जा सकता है। यदि वह पुण्य कर्मों से उत्पन्न है, तो सुख का जनक होता है, और यदि अपुण्य कर्मो से उत्पन्न है, तो दुःखों का जनक होता है। कभी वह मिश्र भी हो सकता है।

ऊपर की पंक्तियों में कर्माशय को यद्यपि कभी-कभी सुख का हेतु भी कहा गया है, किन्तु विवेकी के लिए वह सुखपरिणाम भी ताप एवं संस्काररूप दुःखों के कारण दुःख रूप ही होता है। उदाहरणार्थ विषय भोगों की प्राप्ति में सुख की अनुभूति होती है, किन्तु उनसे कामाग्नि बढ़ती है, तथा कालान्तर में

काम्य की प्राप्ति न होने पर दुःख अवश्यंभावी हो जाता है। काम्य की प्राप्ति होने पर भी कभी संकोच होता है, तो संकोच के हेतु के प्रति द्वेष उत्पन्न होता है; फलतः काम और द्वेष के परिपाक की स्थिति में दुःख होता है। संकोच न होने की स्थिति में व्याधि एवं पाप होता है, जिसका परिणाम भी दुःख ही है। इस प्रकार प्रत्येक सुख का परिणाम दुःखरूप ही है। इसी प्रकार सुखभोग के समय सुखों के नाश का भय होता है, तथा नाशक के प्रति द्वेष। इस प्रकार सुखभोग तापदुःख का भी हेतु है। इसीभाँति सुखभोग होने के अनन्तर संस्कार से उनकी स्मृति होती है, स्मृति से राग की उत्पत्ति होती है, तथा राग से विविध पुण्य और अपुण्य कर्म होते हैं, इस प्रकार धर्म और अधर्मजन्य कर्माशय की वृद्धि होने से अनन्त दुःख सन्तान उत्पन्न होता है। यदि भोग होने पर संस्कार उत्पन्न न होता, तब तो भोग दुःख का जनक न बन पाता, किन्तु उससे संस्कार होता ही है, अतः उनमें संस्कार दुःखता भी है ही। ये सभी तथाकथित सुख योगी अर्थात् विवेकी पुरुष को ठीक उसी प्रकार दुःख का अनुभव कराते हैं, जिस प्रकार स्थूल चर्म (शरीर के अन्य भाग की त्वचा) में प्रिय वस्तुओं का स्पर्श अत्यन्त सुखद प्रतीत होता हुआ भी नेत्र की कोमल त्वचा में दुःखदायक ही होता है। इसी प्रकार गुणों की वृत्तियों में भी परस्पर विरोध होने से सर्वत्र दुःखानुभूति ही होती है। क्योंकि चित्त गुणों का ही परिणाम है तथा गुणों में सत्त्व की वृत्ति सुखात्मक रजस् की दुःखात्मक एवं तमस् की मोहात्मक होती है, एवं तीनों में परस्पर विरोध अर्थात् उपमर्द्य- उपमर्दकभाव विद्यमान रहता है; फलतः सत्त्ववृत्ति वाले चित्त से धर्म का आरम्भ होने पर भी रजस् एवं तमस् से उसका उपमर्दन हो जाता है। अतः उसका परिणाम सुख से आरम्भ होकर भी दुःख एवं मोह के रूप में प्रगट हो जाता है। इस प्रकार समस्त गुणों की वृत्तियों से मिलकर दुःख का ही अनुभव होता है।

उपर्युक्त कर्माशय के कारण होने वाले भूत (अनुभूत) अनुभूयमान एवं अनागत दुःखों में केवल अनागत्त दुःखों की निवृत्ति के लिए प्रयास अपेक्षित होता है। क्योंकि अनुभूत दुःख तो भुक्त हो चुका, उसके सम्बन्ध में कुछ करणीयता शेष नहीं है, तथा अनुभूयमान का भोग से क्षय अत्यन्त निकट है, अतः केवल अनागत कर्माशय के ही हान के हेतु प्रयास अपेक्षित होता है।

सर्वविध हेय दुःख का कारण द्रष्टा पुरुष एवं दृश्य बुद्धि का संयोग है। इनमें से दृश्य अर्थात् बुद्धि त्रिगुणात्मक होने के कारण गुणों के स्वभाव वाला अतएव प्रकाशशील, क्रियाशील एवं स्थितिशील है। इनमें सत्त्व मृदु होने से ताप्य तथा रजस् तापक है। इनके ताप्यतापकभाव के कारण मोह उत्पन्न हो जाता है, जो तमस् का स्वभाव है। इस प्रकार ये तीनों ही परस्पर मिलकर भोग

के विषय बनते हैं। जिन्हें अविवेकी पुरुष भोग्य तथा विवेकी पुरुषत्याज्य समझता है। ये भोग्य गुण पाँच स्थूलभूत, पाँच तन्मात्राएँ, दस इन्द्रियाँ (पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ एवं पाँच कर्मेन्द्रियाँ), बुद्धि, अहंकार और मन तीन अन्तकरण के रूप में परिणत होते है। इनके माध्यम से ही भोग और मोक्ष दोनों को प्राप्त किया जा सकता है।

सांख्ययोग परम्परा का अनुवर्त्तन करते हुए योगसूत्र के टीकाकार रामानन्द यति आदि ने गुणों के परिणामों का वर्णन निम्नलिखित रूप से किया है—आकाश वायु अग्नि जल एवं पृथिवी ये पांच महाभूत, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ एवं पाँच कमेन्द्रियाँ ये सोलह विकार कहे जाते हैं अर्थात् ये स्वयं तन्मात्र एवं अहंकार के विकार हैं, किन्तु इनके कोई अन्य विकार नहीं है। इन्हें विशेष भी कहा जाता है, क्योंकि ये परस्पर भिन्न है। इन विकारों की प्रकृतियाँ छ हैं—शब्द स्पर्श रूप रस एवं गन्धतन्मात्राएं ये पाँच तन्मात्र (जिन्हें अविशेष कहते हैं) एवं अहंकार। सांख्यपरम्परा में पञ्चतन्मात्राओं की उत्पत्ति अहंकार से मानी जाती है, किन्तु योगपरम्परा के अनुसार ये बुद्धि के विकार हैं, अतएव अहङ्कार के अनुज (भ्राता) है। सात्त्विक अहंकार से ज्ञानेन्द्रियों एवं राजस अहङ्कार से कर्मेन्द्रियों की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार अहंकार इनकी प्रकृति तथा बुद्धि (महतत्त्व) की विकृति है। अहंकार की प्रकृति महत् या बुद्धि है। इसे लिंगमात्र भी कहते हैं, क्योंकि इसका प्रधान अर्थात् मूलप्रकृति में लय होता है। इसका स्वरूप निर्विकल्प अध्यवसायरूप है। गुणों की साम्यावस्था, जिसे प्रधान कहते हैं, अलिङ्ग है, क्योंकि इसका लय किसी अन्य में नही होता। इस प्रकार विशेष अविशेष लिङ्ग और अलिङ्ग ये चार गुणपर्व कहे जाते है। यहाँ पर्व का तात्पर्य अवस्था विशेष है।

यह प्रकृति पुरुष के प्रयोजन (दर्शनरूप प्रयोजन) के लिए प्रवृत्तियुक्त होती है, अतः जो पुरुष इसका पूर्ण साक्षात्कार कर लेता है, प्रयोजन सम्पन्न हो जाने के कारण प्रकृति पुनः उसके प्रति प्रवृत्त नहीं होती। उसके लिए वह नष्ट हो चुकी है। फलतः कृतार्थ पुरुष को भोग का अनुभव नहीं होता एवं जिस पुरुष ने अभी साक्षात्कार नहीं किया है, उसके प्रति उसकी प्रवृत्ति होती है, अर्थात् वह नष्ट नहीं है। इस प्रकार कुछ पुरुषों के मुक्त हो जाने पर भी प्रधान की प्रवृत्ति होते रहने से अन्य मुक्त नहीं होते।

यहाँ प्रश्न हो सकता है कि प्रधान तो जड़ है, फिर उसमें प्रवृत्ति किस प्रकार होती है? इसका उत्तर सूत्रकार ने स्वयं दिया है कि भोग्य प्रकृति (स्व) और भोक्ता पुरुष (स्वामी) के मध्य अनादिकाल से विद्यमान स्वस्वामिभावरूप सम्बन्ध ही संयोग है। इस प्रकार स्वरूपोपलब्धि ही संयोग

का हेतु है। [स्वस्वामिशक्त्योः स्वरूपोपलब्धिहेतुः संयोगः १ २.२३] तथा इस स्वस्वामिभाव– सम्बन्ध नामक संयोग का कारण अविद्या है। इस अविद्या की निवृत्ति विवेकख्याति से होती है तथा अविद्यारूप कारण की निवृत्ति होने से उक्त संयोग की निवृत्ति हो जाती है, इसे ही **कैवल्य** कहते हैं।

अविद्या की निवर्त्तक विवेकख्याति के प्राप्त हो जाने पर पुरुष की प्रज्ञा में सात चरम अवस्थाएँ होती हैं, इनके परिणाम स्वरूप क्रमशः जिज्ञासा जिहासा प्रेप्सा चिकीर्षा शोक भय एवं विकल्पों का अन्त हो जाता है। (१) प्रथम अवस्था में 'मैंने सभी ज्ञातव्य जान लिए हैं, अब कुछ ज्ञातव्य शेष नहीं हैं, यह अनुभव होने पर जिज्ञासा समाप्त हो जाती है। (२) द्वितीय अवस्था में मैंने सभी हेय का हानकर लिया है, अब कोई हातव्य शेष नहीं है, यह अनुभव होने पर जिहासा समाप्त हो जाती है। (३) प्रज्ञा की तृतीय चरमावस्था में मैंने सभी प्राप्तव्यों को प्राप्त कर लिया है, अब कुछ भी प्राप्तव्य शेष नहीं है। ऐसा अनुभव होने पर प्रेप्सा समाप्त हो जाती है। (४) प्रज्ञा की चतुर्थ चरमावस्था में 'मैंने सभी करणीय कर लिये हैं, अब कुछ भी कर्त्तव्य शेष नहीं है,' ऐसा अनुभव होने पर चिकीर्षा समाप्त हो जाती है। इन चारों प्रज्ञावस्थाओं को **कार्यविमुक्ति** नाम से स्मरण किया जाता है। (५) मेरा बुद्धिसत्त्व कृतार्थ हो गया है' यह बोध प्रज्ञा की पाँचवीं चरमावस्था है। (६) 'अविद्यारूप आधार के नष्ट हो जाने से अब गुण निराधार होकर अपने कारण में लीन हो रहे हैं' यह प्रज्ञा की छठी चरमावस्था है। तथा (७) चित्त का गुणातीत होकर एकरस अर्थात् निरुद्ध हो जाना, जिसे **समाधि** भी कहते हैं, प्रज्ञा की सातवीं चरमावस्था है। अन्तिम तीन चरमावस्थाओं को **चित्तविमुक्ति** नाम से स्मरण किया जाता है।

इस सप्तविध चरमावस्थाओं से युक्त विवेकख्याति की उपलब्धि तब होती है, जब योग के अंगों का अनुष्ठान करने से अशुद्धि का क्षय हो जाता है, तथा ज्ञान की दीप्ति अर्थात् विशुद्धि हो जाती है।

पूर्व पंक्ति में योगाङ्गों का तात्पर्य **यम नियम आसन प्राणायाम प्रत्याहार धारणा ध्यान एवं समाधि** से हैं। अहिंसा सत्य अस्तेय ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये पाँच **यम** तथा शौच सन्तोष तप स्वाध्याय एवं ईश्वरप्रणिधान ये पांच **नियम** कहाते हैं।

यमों में **अहिंसा** का तात्पर्य है : मन वचन एवं कर्म से किसी प्राणी को पीड़ा न पहुँचाना। इसे सर्वोत्कृष्ट एवं शुक्ल धर्म कहा जाता है। वस्तुतः अन्य यम सत्य आदि इस अहिंसा की शुद्धि के लिए ही हैं। **सत्य** का यहाँ तात्पर्य है, परहित के लिए यथार्थ का कथन। व्यास के अनसार जिस यथार्थ कथन से

परपीडन हो वह सत्य नहीं है। बलपूर्वक अथवा एकान्त में दूसरे के धन का हरण स्तेय और उसका त्याग **अस्तेय** कहाता है। उपस्थ इन्द्रिय के संयम को **ब्रह्मचर्य** कहते हैं। स्त्रियों का दर्शन, सम्भाषण, स्पर्श, उनकी चर्चा सुनना, उनका ध्यान इन पाँचों का त्याग ब्रह्मचर्य का अंग है। अथवा ब्रह्म में विचरण (विहार) ब्रह्मचर्य है। **अपरिग्रह** का अर्थ है, देह यात्रा के लिए अनिवार्य साधनों से अधिक भोग के साधनों को स्वीकार न करना। ये पाँचों यम हिंसा अनृत चोरी स्त्रीसङ्ग एवं परिग्रह के विपरीत हैं, अतः यमों के पालन करने पर इनके होने की कोई सम्भावना भी नहीं हो सकती है। अर्थात् इनका पूर्णतया त्याग अपेक्षित होता है। अहिंसा आदि पाँच यम **सार्वभौम व्रत** हैं, अर्थात् मैं तीर्थ में अथवा अमुक पर्व में हिंसा नहीं करूँगा इत्यादि निश्चय पूर्वक वैसा पालन करने पर भी पूर्ण अहिंसा नहीं हो सकती। इनका पालन सभी देश और सभी काल में होने पर ही यमों का पालन कहा जा सकेगा। इसीलिए इन्हें सूत्रकार ने **महाव्रत** की संज्ञा दी है।

सूत्रकार पतंजलि ने हिंसा आदि को वितर्क नाम से भी स्मरण किया है। उनके अनुसार किसी प्राणी को स्वयं कष्ट पहुँचाना, कष्ट देने के लिए किसी अन्य पुरुष का प्रयोग करना अथवा हिंसा आदि में लिप्त व्यक्ति के कर्मों का अनुमोदन करना ये हिंसा के तीन प्रकार हैं। उनके अनुसार हिंसा आदि वितर्कों के तीन मुख्य कारण हैं: लोभ मोह और क्रोध। इन तीनों मनोभावों के तारतम्य के आधार पर अनेक स्तर हैं। सभी स्तरों में इन लोभ मोह क्रोध के विसर्जन की साधना अहिंसा आदि यमों की साधना के अन्तर्गत समझनी चाहिए, और यह साधना योग साधक के जीवन में अन्त तक चलनी चाहिए।

नियमों में शौच का तात्पर्य है: शुद्धि। यह शुद्धि बाह्य और आभ्यन्तर भेद से दो प्रकार की है। मिट्टी जल आदि से बाह्य शरीर की एवं गो मूत्र आदि पावन तथा मेध्य द्रव्यों के आहार से आन्तर शरीर की शुद्धि बाह्य शुद्धि कहाती है। चित्त के मलों का पूर्णतया निवारण आभ्यन्तर शुद्धि कहाती हैं। जितना प्राण धारण के लिए अनिवार्य है, केवल उतने की प्राप्ति से ही तुष्ट होना **सन्तोष** कहाता है। शीत-उष्ण, क्षुधा-पिपासा तथा अंन्य कठिनाइयों को सह लेना **तपस्** कहा जाता है। प्रणव आदि मन्त्रों का अभ्यास **स्वाध्याय** है। परमगुरु ईश्वर को समस्त पुण्य कर्मों का अर्पण **ईश्वर प्रणिधान** कहलाता है। ये सभी यम और नियम योग (समाधि) के विरोधी हिंसा—भावना आदि वितर्कों के विरोधी हैं, अतः समाधि के मार्ग में आने वाले विघ्नों की निवृत्ति के साधन होने से योगाङ्ग कहे जाते हैं। इनकी साधना हेतु लोभ मोह क्रोध की पूर्ण निवृत्ति आवश्यक है अतः ये वैराग्य साधना के भी अंग हैं।

समाधि के विरोधी वितर्क हिंसा आदि के प्रसंग में भाष्यकार व्यास का अनुसरण करते हुए भोज रामानन्दयति आदि प्रायः सभी टीकाकारों ने हिंसा आदि के निम्नलिखित प्रकार से इक्यासी उपभेद बताये हैं–

हिंसा के सर्व प्रथम तीन भेद हैं: स्वयं की गयी, दूसरे द्वारा करायी हुई एवं अनुमोदित अर्थात् हिंसा करने वाले का समर्थन। उपर्युक्त तीनों प्रकार की हिंसा में कारण भेद से पुनः तीन-तीन प्रकार हो जाते हैं। ये कारण हैं लोभ क्रोध और मोह। अर्थात् लोभवश स्वयं की हुई हिंसा, क्रोधवश स्वयं की हुई हिंसा, एवं मोहवश स्वयं की हुई हिंसा। इसी प्रकार लोभ क्रोध एवं मोह वश कराई गयी हिंसा; तथा लोभ क्रोध अथवा मोह के कारण समर्थित हिंसा, ये तीन तीन प्रकार होंगे। इस प्रकार हिंसा के नौ (३×३=९) प्रकार हुए। उपर्युक्त लोभ क्रोध और मोह मृदु मध्य एवं अधिमात्र भेद से तीन तीन प्रकार के हो सकते हैं। इस प्रकार तीन से गुणित होने पर (९×३=२७) हिंसा के सत्ताईस प्रकार हुए। ये मृदु मध्य और अधिमात्र प्रकार पुनः मृदु मध्य एवं तीव्र हो सकते हैं। अर्थात् मृदु में मृदुमृदु मध्यमृदु एवं तीव्रमृदु ये तीन प्रकार; मध्य में भी मृदुमध्य, मध्यमध्य एवं तीव्रमध्य तीन प्रकार तथा अधिमात्र में मृदुअधिमात्र मध्य-अधिमात्र एवं तीव्रअधिमात्र ये तीन प्रकार होगे। फलतः उनके अनुसार हिंसा के (२७×३=८१) कुल इक्यासी प्रकार हो सकते हैं। हिंसा के समान ही अनृत स्तेय आदि में भी इक्यासी-इक्यासी प्रकार होंगे। सूत्रकार के अनुसार साधक इन हिंसा आदि के फल के रूप में नरक की प्राप्ति, स्थावर योनि की प्राप्ति, संशय एवं भ्रान्ति भेद से त्रिविध अज्ञान का आगमन आदि अनन्त अनभीष्ट फलों की भावना करता हुआ इनका समग्ररूप से त्याग करे।

अहिंसा आदि यमों के पालन से क्रमशः सर्वविध वैरत्याग, क्रियासाफल्य, सर्वविधरत्नों की प्राप्ति, अनन्त शक्तिलाभ एवं जन्म जन्मान्तर के विवरण का ज्ञान, तथा शौच आदि नियमों में शौच के पालन से दूसरों से संसर्ग का अभाव सत्त्वशुद्धि इन्द्रियजय एवं आत्मसाक्षात्कार की योग्यता की प्राप्ति, सन्तोष से सर्वोत्कृष्ट सुख की प्राप्ति, तप से शरीर को अणिमा आदि ऐश्वर्यो की प्राप्ति तथा इन्द्रियों में दूर एवं सूक्ष्म आदि अतीन्द्रिय विषयों के ग्रहण की योग्यता, स्वाध्याय से अभीष्ट देवता का साक्षात्कार उनसे सम्भाषण आदि तथा ईश्वरप्रणिधान अर्थात् भक्ति से समाधि की प्राप्ति आदि फलों का लाभ होता है।

यहाँ एक प्रश्न हो सकता है कि यदि ईश्वरप्रणिधान अर्थात् ईश्वर भक्ति से ही समाधि का लाभ हो सकता है, तो अन्य यम नियम आदि की क्या आवश्यकता है? इस प्रश्न का समाधान करते हुए रामानन्द यति आदि का

कहना है कि योगाङ्गों और भक्ति दोनों में से किसी के द्वारा भी समाधि की सिद्धि हो सकती है। इसके अतिरिक्त यम एवं अन्य नियम भक्ति के लिए योग्यता के भी जनक है; अतः भक्ति पक्ष में भी यम एवं नियम निरर्थक नहीं कहे जा सकते है। इस प्रकार यम एवं नियम ठीक उसी प्रकार भक्ति और योग दोनों के ही साधन हैं, जिस प्रकार दधि (दही) यज्ञ और भोजन सुख दोनों का साधन होता है। यदि यह आशङ्का उपस्थित की जाए कि यदि योग के ये अङ्ग भक्ति और योग दोनों में ही आवश्यक है, तो भक्ति (ईश्वर प्रणिधान) की क्या आवश्यकता है ? इसके उत्तर में इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि भक्ति अर्थात् ईश्वर प्रणिधान के विना योग सिद्धि अर्थात् समाधि लाभ की कोई संभावना नहीं है। तथा भक्ति के द्वारा योग सिद्धि आसन्नतम अर्थात् अत्यन्त सुलभ हो जाती है। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि भक्ति द्वारा समाधि सिद्धि अचिरात् होती है, एवं यम नियमादि के द्वारा कुछ विलम्ब से होती है। इस प्रकार दोनों को विकल्प के रूप स्वीकार किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त दूसरा उत्तर यह भी हो सकता है कि जिस प्रकार यमों में अहिंसा प्रधान है, एवं अहिंसा सापेक्ष सत्य आदि का पालन योग में स्वीकार किया गया है, उसी प्रकार नियमों में ईश्वर प्रणिधान अर्थात् भक्ति प्रधान है। शौच आदि नियम ईश्वर प्रणिधान की योग्यता प्राप्त कराने के साधन है, अतः वे भक्ति के सोपान है।

योगाङ्गों में आसन बैठने का वह प्रकार है, जिससे स्थिरतापूर्वक एवं सुख सहित चिरकाल तक बैठा जा सके अथवा पूर्वोक्त प्रकार से बैठने की योग्यता प्राप्त हो सके। आसन दो प्रकार के होते हैं—बाह्य एवं शारीरिक। वस्त्र चर्म अथवा कुश आदि बाह्य आसन हैं, जिन पर बैठने से बैठने में सुख एवं स्थिरता प्राप्त होती है, तथा पद्म स्वस्तिक भद्र आदि शारीरिक आसन हैं।

स्वाभाविक कम्पन आदि क्रियाएं क्योंकि चलन रूप है, अतः निश्चित ही वे आसन विरोधी है; अतः उनके शान्त होने पर आसन सिद्धि होती है। स्थिरता अतिशय बलदायी है, चित्त में इस प्रकार की भावना करने से देहाभिमान की निवृत्ति हो जाने पर आसन की साधना में दुःख का अनुभव नहीं होता है। अथवा आसन कुण्डलिनी के आश्रय मेरुदण्ड को सबल बनाते हैं तथा मेरुदण्ड की सबलता समस्त लौकिक एवं पारलौकिक क्रियाओं का मूल है; इस प्रकार की भावना से आसन की साधना में दुःख का अनुभव नहीं होता। आसन विषयक सिद्धि होने पर शीत उष्णता आदि योग की साधना में बाधक नहीं बन पाते। साथ ही योगाङ्गों में अन्यतम प्राणायाम की साधना भी

आसन सिद्धि के अनन्तर ही सम्भव हो पाती है।

प्राणायाम शब्द का अर्थ है: प्राण का आयाम अर्थात् विस्तार। प्राण श्वास-प्रश्वास से भिन्न एक सूक्ष्म शक्ति है। श्वास प्रश्वास की क्रिया प्राणशक्ति की अभिव्यक्त सहायक क्रिया है। श्वास प्रश्वास से सम्बन्धित साधना प्राणशक्ति को आयाम देने की स्थूल क्रियाएं हैं; अतः श्वास-प्रश्वास सम्बन्धी क्रियाओं को प्राणायाम कहा जाता है। हठयोग साधना के परवर्त्ती ग्रन्थों में यद्यपि प्राणायाम के अनेक प्रकार बताये गये हैं, किन्तु वस्तुतः वे प्राणायाम नहीं है। श्वास प्रश्वास सम्बन्धी क्रियाएं होने के कारण उन्हें भी प्राणायाम कह लिया गया है। वे सभी क्रियाएं रोग निवारक होने के कारण शारीरिक स्वास्थ्य की दृष्टि से अत्यन्त उपयोगी हैं। मुख्य प्राणायाम से सम्बद्ध न होने के कारण सूत्रकार पतंजलि उनकी चर्चा नहीं करते।

प्राणायाम की मुख्य चार क्रियाएं है–

१. **बाह्यवृत्ति**, जिसे **रेचक** नाम से अधिक जाना जाता है।
२. **आभ्यन्तर वृत्ति**, जिसे प्रायः **पूरक** नाम से जाना जाता है।
३. **स्तम्भ वृत्ति**, जिसका प्रचलित नाम **कुम्भक** है।
४. **केवल कुम्भक**, जिसमें बाह्य और आभ्यन्तर विषय का आक्षेप अर्थात् निषेध हो जाता है।

अन्तर की वायु को रेचन क्रिया द्वारा बाहर निकाल कर बाहर ही रोक रखना, बाह्यवृत्ति प्राणायाम है, इसे रेचक कहते हैं। बाहरी वायु को अन्दर लेकर वहीं धारण करना आभ्यन्तर वृत्ति है, इसे पूरक कहते हैं। रेचन और पूरण के बाद उसको केवल धारण करने के प्रयत्न से ही गति का विच्छेद करना स्तम्भवृत्ति प्राणायाम है। इसे कुम्भक भी कहते हैं। इस प्राणायाम में वायु कोष्ठ के अन्तर्गत रहता है, अतः इसे रेचक नहीं कहा जा सकता तथा कोष्ठ में प्राणवायु ग्रहण करने की प्रक्रिया न होने के कारण इसे पूरक भी नहीं कह सकते हैं। क्योंकि पूरक में स्थूल वायु कोष्ठ में प्रविष्ट होकर देह को पूर्ण करता है। इस प्राणायाम के अभ्यास से कोष्ठान्तर्गत वायु उसी प्रकार संकुचित होकर सूक्ष्म हो जाता है, जिस प्रकार तप्त शिलातल पर जल बिन्दु संकुचित होकर अत्यन्त सूक्ष्म हो जाता है। इस क्रिया को कुम्भक इसलिए कहा जाता है कि जिस प्रकार कुम्भ में स्थित जल निश्चल हो जाता है उसी प्रकार रेचन पूरण के प्रयत्न के विना इसमें एक बार के प्रयत्न से सूक्ष्म प्राण का धारण हो जाता है।

पूर्वोक्त तीन प्रकार के प्राणायामों में देशपरिमाण कालपरिमाण एवं संख्या

आदि के भेद से दीर्घ एवं सूक्ष्म आदि अनेक भेद हो सकते हैं।

इन पूर्वोक्त बाह्यवृत्ति एवं आभ्यन्तर वृत्ति प्राणायाम का आक्षेप अर्थात् त्याग करके केवल कुम्भवृत्ति प्राणायाम चतुर्थ प्राणायाम है। वसिष्ठ संहिता एवं दत्तात्रेय योगशास्त्र आदि में इस चतुर्थ प्राणायाम को केवलकुम्भक संज्ञा दी गयी। इस प्राणायाम से चित्तसत्त्व पर विद्यमान आवरण नष्ट हो जाता है एवं सुषुम्ना नाड़ी के मुख पर विद्यमान कफ आदि मल का निवारण होता है तथा मन को एक निश्चित स्थल पर धारण करने की योग्यता प्राप्त होती है।

यम आदि योगांगों की साधना से क्रमशः प्रत्याहार की सिद्धि होती है। प्रत्याहार का अर्थ है–इन्द्रियों का अपने विषयों से विरत होकर चित्त की ओर उन्मुख होना, जिसके फलस्वरूप चित्त के निरुद्ध होने पर इन्द्रियाँ स्वतः निरुद्ध हो जाती हैं, इस प्रत्याहार की सिद्धि होने पर इन्द्रियाँ पूर्णतया योगी के वश में हो जाती है।

पतंञ्जलि ने अन्तिम तीन योगाङ्ग धारणा ध्यान एवं समाधि को योग की सीमा में स्वीकार किया है। अर्थात् ये योग के साधन ही नहीं ये योग के अन्तरङ्ग अङ्ग हैं। इसीलिए उन्होंने अन्य योगाङ्गों का विवेचन साधनपाद में एवं धारणा ध्यान तथा समाधि का विभूतिपाद में किया है।

धारणा का अर्थ है चित्त को देश विशेष में स्थिर करना। यहाँ देश विशेष का तात्पर्य है: नाभिचक्र, हृदयपुण्डरीक एवं नासिकाग्र आदि। इन स्थलों पर चित्त का बन्ध अर्थात् नियमन धारणा कहाती हैं। इसके अतिरिक्त रामानन्द यति ने विष्णु पुराण को उद्धृत करते हुए विष्णु आदि के स्वरूप में चित्त के स्थिर करने को भी धारणा स्वीकार किया है।

देश विशेष में चित्त के नियमन का जब तक अभ्यास चल रहा है, तब तक वह धारणा है, किन्तु जब वह एकतान स्थिर होने लग जाए तो उसे धारणा न कहकर ध्यान कहेंगे। ध्यान की स्थिति में विजातीय वृत्ति के परिहार के लिए प्रयत्न की अपेक्षा नहीं होती, अनायास ही एकतानता प्राप्त होती है इसके विपरीत धारणा में विजातीय वृत्तियों के परिहार के लिए प्रयत्न की अपेक्षा निरन्तर बनी रहती है। विष्णु पुराण के अनुसार पूर्वोक्त यम नियम आसन प्राणायाम प्रत्याहार एवं धारणा इन छ योगांगों की साधना के बाद ही ध्यान की सिद्धि हो पाती है, अन्यथा नहीं–'तद् ध्यानं प्रथमैरंगैः षड्भिर्निष्पाद्यते नृप। (विष्णु पुराण)।

अतिस्वच्छ चित्तवृत्ति के प्रवाहरूप ध्यान की चरम अवस्था समाधि कही जाती है, इसमें चित्त अर्थमात्र के रूप में निर्भासित होता है। इस स्थिति में ज्ञान के स्वरूप की भी प्रतीति नहीं रहती। इसे स्पष्ट करने के लिए स्फटिक

मणि का उदाहरण दिया जा सकता है, अर्थात् जिस प्रकार निर्मल स्फटिक में जपा कुसुम का प्रतिबिम्ब पड़ने पर मणि जपा कुसुम के रूप में ही भासित होता है। उसकी स्फटिकरूपता का भान नहीं होता, उसी प्रकार समाधि में चित्त ध्येय के रूप में ही भासित होता है, उसका अपना रूप अवभासित नहीं होता है। दूसरे शब्दों में धारणा की स्थिति में चित्त में ध्येय के अवभासन के साथ ही विजातीय वृत्तियाँ भी भासित होती हैं, जबकि ध्यान में विजातीय वृत्तियों से चित्त विच्छिन्न नहीं होता। समाधि में न केवल विजातीय वृत्तियों का अवभासन नहीं होता, बल्कि ध्येय ध्यान एवं ध्याता में से केवल ध्येय मात्र अवभासित होता है। यही समाधि जब दीर्घकालव्यापी होती है, तब उसे **सम्प्रज्ञातयोग** कहते हैं और जब ध्येय स्फूर्ति भी विलीन हो जाती है, तब उसे **असम्प्रज्ञात योग** कहा जाता है। पूर्वोक्त धारणा ध्यान एवं समाधि जब एकविषयक हो तो उसे संयम कहा जाता है। इस संयम की सिद्धि होने पर **समाधिजप्रज्ञा** में निर्मलता आती है, जिसके फलस्वरूप उसका ज्ञान संशय भ्रान्ति एवं विपर्यय आदि मलों से रहित हो जाता है, एवं केवल ध्येय तत्त्व का बोध होता है। इस ध्येयमात्र के बोध के लिए संयम की साधना से ही साधक क्रमशः **सवितर्क निर्वितर्क सविचार** एवं **निर्विचार** आदि चित्तभूमियों को प्राप्त करता हुआ उत्तरोत्तर निर्बीज समाधि की ओर अग्रसर होता है, क्योंकि सूक्ष्मतम के साक्षात्कार के लिए सर्वप्रथम स्थूल लक्ष्य पर अभ्यास करते हुए उत्तरोत्तर सूक्ष्म सूक्ष्मतर विषय के साक्षात्कार के लिए प्रयत्न किया जाता है।

योगाङ्ग के रूप में जिन यम नियम आदि का वर्णन पहले किया गया है, उनमें यम नियम आसन प्राणायाम और प्रत्याहार ये पाँच योग के बहिरङ्ग साधन हैं, जब कि धारणा ध्यान और समाधि ये तीन अन्तङ्ग साधन हैं। क्योंकि यम आदि पाँच समाधि के प्रतिबन्धक चित्त शरीर प्राण एवं इन्द्रियों के मलों की निवृत्ति के द्वारा समाधि के साधन में सहायक होते हैं, जबकि धारणा और ध्यान समाधि के पूर्वरूप हैं, क्योंकि इनके विषय वही होते हैं, जो सम्प्रज्ञात समाधि के हैं। इस प्रकार संम्प्रज्ञात समाधि (सम्प्रज्ञात योग) के समान विषयक होने से धारणा और ध्यान को सम्प्रज्ञात समाधि का पूर्व रूप, दूसरे शब्दों में साक्षात्स्वरूप से उपकारक माना जाता है। किन्तु निर्बीज अर्थात् असम्प्रज्ञात योग के प्रति ये भी बहिरंग साधन हैं, अन्तरङ्ग नहीं।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि संप्रज्ञातसमाधि में चित्त ध्येयाकार हो जाता है। इसकी ध्येयाकारता होने पर भी ध्येय एवं ध्यातृ-बोध इस अवस्था में समाप्त नहीं होता है। इस कारण निर्बीज समाधि की दृष्टि से इसे व्युत्थान कहा जाता है। उसका भी निरोध परवैराग्य द्वारा हुआ करता है। इस उपर्युक्त

व्युत्थान चित्त में जिस क्षण निरोध संस्कार का उदय होता है, उस समय निरोध संस्कार के उदयमात्र से संप्रज्ञात के संस्कारों का अभिभव हो जाता है, और परवैराग्य (निरोध) संस्कार की ही अभिव्यक्ति होती है। इसे निर्बीज समाधि या निर्बीज निरोध परिणाम कहा जाता है। सम्प्रज्ञातयोग और असम्प्रज्ञातयोग (निर्बीज समाधि) के मध्य उपर्युक्त यात्रा में चित्त के उत्तरोत्तर तीन अवस्था परिणाम भी होते हैं : एकाग्रतापरिणाम, समाधिपरिणाम एवं निरोधपरिणाम। चित्त के समान ही ग्राह्य पञ्चभूत आदि एवं ग्रहण साधन इन्द्रियों में भी परिणाम हो सकते हैं। परिणाम मूलतः तीन प्रकार के होते हैं–**धर्मपरिणाम लक्षण परिणाम** एवं **अवस्थापरिणाम**। उदाहणार्थ मिट्टी का पिण्ड पृथिवी का एक परिणाम है, और घट दूसरा परिणाम है। पिण्ड परिणाम का अभिभव होने पर घटपरिणाम प्रगट होता है। इसीप्रकार चित्त में व्युत्थान परिणाम का अभिभव होने पर **निरोधपरिणाम** का आविर्भाव होता है। यह चित्त का धर्मपरिणाम है। लक्षणपरिणाम उक्त धर्म का होता है। लक्षण का यहाँ तात्पर्य व्यावर्त्तकत्व है। यह तीन कालों के रूप में स्वीकार किया जाता है। जैसे घट का अनागतत्व **प्रथम अध्वा** है अर्थात् **लक्षणपरिणाम** है। **वर्त्तमानत्व** द्वितीय एवं **अतीतत्व** तृतीय। **अनागतपरिणाम** के अभिभव होने पर ही वर्त्तमान परिणाम प्रकट होता है, इसीप्रकार **वर्त्तमानपरिणाम** के अभिभव होने पर **अतीतपरिणाम** प्रगट होता है। यह त्रिविध **लक्षणपरिणाम** है। **लक्षणपरिणाम** से युक्त धर्म में **अवस्थापरिणाम** होते हैं, यथा अनागत पदार्थ जो कल्पान्तर में होना है, वह अनागततम अवस्था वाला; जो इसी कल्प में किन्तु कुछ दिनों बाद होगा, वह अनागततर अवस्था वाला और जो कल होने वाला है, उसे अनागत अवस्था वाला कह सकते हैं। सद्योजात पदार्थ वर्त्तमान कहा जाएगा। वर्त्तमान क्योंकि अतीत का उत्तरवर्त्ती एवं अनागत का पूर्ववर्ती है, अतः वह क्षणमात्र स्थायी है। उस पर विचार प्रारम्भ करते ही वह अतीत में बदल जाता है। किन्तु लोक व्यवहार में वर्त्तमान शब्द का प्रयोग सापेक्षभाव से किया जाता है, अतः किसी क्रिया के प्रारम्भ होने के बाद से पूर्णता तक की काल अवधि को और कभी-कभी विचार की दीर्घकालीन काल-अवधि को भी वर्त्तमान कहकर व्यवहार किया जाता है। इस स्थिति में इसमें भी नवत्व और पुराणत्व आदि अवस्थाएँ संभव हैं।

धर्मों के समान धर्मी भी अनेक प्रकार का हो सकता है। जिस धर्मी का व्यापार शान्त हो गया है, उसे अतीत; जिसमें व्यापार चल रहा है उसे वर्त्तमान; जिसमें व्यापार अभी प्रगट नहीं है, अव्यपदेश्यरूप में विद्यमान है, उसे अनागत धर्मी कह सकते हैं। एक ही धर्मी में ये परिणाम क्रमशः होते हैं, एक साथ नहीं।

इन परिणामों का कारण भावपदार्थों का प्रतिक्षण परिणामी होना है। भाष्यकार को उद्धृत करते योगसूत्र के टीकाकारों ने चित्त के अनेकविध धर्म स्वीकार किये हैं—काम सुख आदि प्रत्यक्ष धर्म हैं तथा निरोध कर्मसंस्कार जीवन परिणाम चेष्टा और शक्ति आदि अप्रत्यक्ष धर्म हैं, इन धर्मों के आधार पर धर्मी में भी अनेक प्रकारों की कल्पना की जा सकती है।

संयम साधन के क्रम में धर्मपरिणाम लक्षणपरिणाम एवं अवस्था परिणाम—विषयक संयम की साधना से योगी को अतीत और अनागत का भी बोध होने लगता है। क्योंकि चित्त सत्त्व स्वभाव से प्रकाशशील है, अतः साधना द्वारा रजस् एवम् तमस् प्रसूत मलों की निवृत्ति हो जाने पर वह सर्व प्रकाशक हो जाता है। शब्दप्रत्यय एवं अर्थप्रत्यय तथा उनके इतरेतर सम्बन्ध में संयम से सब प्राणियों की ध्वनियों का बोध होने लगता है। इस प्रसंग में वैयाकरणों का स्फोट सिद्धान्त स्मरणीय है। उनके अनुसार शब्दतत्त्व वर्णों द्वारा प्रकट होने वाला गो आदि को पद, तथा शक्ति द्वारा अर्थ के बोधक तत्त्व को वाक्य कहते हैं। इसीप्रकार अर्थतत्त्व का तात्पर्य द्रव्य गुण कर्म जाति आदि द्वारा वाच्य अथवा लक्ष्य अर्थ है। शब्दजन्य अर्थ विषयक बुद्धिस्थ प्रत्यय को प्रत्ययतत्त्व या ज्ञानतत्त्व कहते हैं।

संस्कारों की चर्चा पहले की जा चुकी है। वे संस्कार दो प्रकार के हैं, अनुभव से उत्पन्न एवं कर्मजन्य। ये संस्कार क्रमशः स्मृति क्लेश तथा सुख एवं दुःख के हेतु हुआ करते हैं। ये चित्त के धर्म हैं, जिनका पूर्व जन्मों की परम्परा में संचय हुआ है। इन संस्कारों का ज्ञान आगमप्रमाण अथवा अनुमान प्रमाण से हुआ करता है। संयम अर्थात् धारणा ध्यान एवं समाधि द्वारा इनका साक्षात्कार कर लेने पर पूर्व जन्मों के विवरण का ज्ञान हो जाता है। इस प्रसङ्ग में रामानन्द यति ने जैगीषव्य एवं आवट्य संवाद को उद्धृत किया है, जिसमें जैगीषव्य ने पूर्वजन्म के अनुभव के आधार पर विश्व की दुःखमयता का वर्णन किया हैं।

दूसरे के चित्त में संयम करने से उसका ज्ञान भी साधक को हो जाता है, उस समय उसे उसे परचित्त में विद्यमान हर्ष शोक आदि विषयों का साक्षात्कार तो हो जाता है, किन्तु चित्त के आलम्बन का ज्ञान उसे नहीं हो पाता।

साधक जब शरीर के 'रूप में संयम करता है, जो रूप शरीर के चाक्षुष प्रत्यक्ष का हेतु है, तो उस संयम के परिणाम स्वरूप उसके शरीर के रूप की

चक्षुर्ग्राह्यता शक्तिका स्तम्भन हो जाता, फलतः अन्य व्यक्तियों के चक्षु के द्वारा वह ग्राह्य नहीं हो पाता। इस प्रकार वह अन्तर्धान हो जाता है, ऐसा कहा जाता है। इसीप्रकार जब साधक निज शब्द स्पर्श रस एवं गन्ध में संयम करता है, तब उसके शब्द आदि साधक की इच्छानुसार अन्य व्यक्तियों की इन्द्रियों से गृहीत नहीं हो पाते।

साधक के अपने पूर्व जन्म में किये हुए कर्म दो प्रकार के हैं, सोपक्रम जिनका भोग अतिशीघ्र होना है, और निरुपक्रम जिनका भोग चिरकाल बाद होना है। इन उभयविध कर्मों में संयम से उसे कर्मफल के भोग के लिए अपेक्षित आयुष्य का (समय की अवधि का) ज्ञान हो जाता है। फलतः शीघ्र मोक्ष के लिए वह अनेक शरीरों के माध्यम से एक काल में ही उन्हें भोग लेता है, और अपनी इच्छानुसार शीघ्र शरीर त्याग कर मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। साथ ही वह अरिष्टों एवं आध्यात्मिक आधिभौतिक एवं आधिदैविक स्वर्गदर्शन आदि फलों के दर्शन का सामर्थ्य भी प्राप्त कर लेता है। क्योंकि ये अरिष्ट मनुष्य (साधक) को शत्रुवत् पीड़ा पहुँचाते हैं तथा मृत्यु के सूचक हैं, अतः इनका ज्ञान होने से योगी अपनी मृत्यु के समय को भी जान लेता हैं। इसी प्रकार मैत्री भावना आदि परिकर्मो में संयम से वे मैत्री भावना आदि सशक्त होते हैं। जिस किसी भी प्राणी की शक्ति में संयम करने से उस प्राणी की शक्ति का लाभ उसे हो जाता है।

इसी प्रकार ज्योतिष्मती (विशोका) प्रवृत्ति में संयम से सूक्ष्म व्यवहित एवं दूरस्थ पदार्थो का ज्ञान, सूर्य में संयम से अथवा सूर्य नाम से अभिहित पिङ्गला में संयम से समस्त भुवनों का ज्ञान, चन्द्र में संयम से नक्षत्र मण्डल का ज्ञान, ध्रुव में संयम से उसकी गति का ज्ञान, नाभिचक्र में संयम से शरीर संरचना का ज्ञान, जिसमें वात पित्त कफ इन दोषों तथा त्वचा रुधिर माँस स्नायु (नस नाड़ी) हड्डी मज्जा एवं शुक्र इन धातुओं का ज्ञान भी सम्मिलित है, प्राप्त हो जाता है।

कण्ठ प्रदेश में संयम से क्षुधा और पिपासा की निवृत्ति, कूर्म नाड़ी में संयम से स्थिरता, ब्रह्मरन्ध्र में संयम से सर्व सामान्य के लिए अदृश्य सिद्ध पुरुषों के दर्शन की सिद्धि साधक को होती है। विवेकख्याति में संयम से वितर्क मात्र से वह समस्त अभीष्ट का ज्ञान प्राप्त कर लेता है। हृदय (हृत्पद्म) में संयम करने से समस्त वासनाओं के सहित चित्त का ज्ञान होता है।

बुद्धिसत्त्व और पुरुष भोग्य और भोक्ता, अचेतन और चेतन रूप होने से

यद्यपि परस्पर भिन्न हैं, तथापि बिम्बप्रतिबिम्बभाव द्वारा उनमें सारूप्य आ जाता है, फलतः चित्त के सत्त्व धर्म सुखादि का पुरुष में आरोप होता है, यही भोग कहाता है, यह भोग बुद्धि में होता है, किन्तु बुद्धि के परार्थ होने से पुरुष उसका भोक्ता होता है। इनके सम्बन्ध में संयम से साधक को पुरुष का (द्रष्टा का) साक्षात्कार होता है और उसके फलस्वरूप उसे दिव्य स्पर्श रूप रस एवं गन्धों का ग्रहण होने लगता है।

दिव्य विषय को ग्रहण करने वाले श्रोत्र त्वचा नेत्र रसना एवं घ्राण की क्रमशः श्रावण वेदन आदर्श आस्वाद एवं वार्ता ये तान्त्रिक संज्ञाएं है, जिनका सूत्रकार ने इन शब्दों से ही निर्देश किया है।

उपर्युक्त सभी ज्ञानरूप सिद्धियाँ योग के पथ के पथिक के लिए व्युत्थान के प्रसंग में सिद्धियाँ कही जा सकती हैं, किन्तु निरोध के प्रसंग में अर्थात् समाधि के मार्ग में ये उपसर्ग अर्थात् विघ्न हैं।

उपर्युक्त ज्ञानरूप सिद्धियों के अतिरिक्त कुछ क्रियाविषक सिद्धियों का भी वर्णन पतञ्जलि एवं उनके व्याख्याकारों ने किया है। यथाः—बन्ध के कारणभूत धर्म और अधर्म एवं नाड़ी समूह में संयम से किस समय प्राण किस नाड़ी में संचरण कर रहा है, इसका बोध साधक को होने लगता है, जिसके फलस्वरूप उसे परशरीर में चित्त के प्रवेश की क्षमता प्राप्त हो जाती है। चित्त प्रवेश के साथ ही इन्द्रियाँ भी उस शरीर में प्रविष्ट हो जाती हैं।

शरीरगत पाँच प्राणों में अन्यतम उदान नामक प्राण पर संयम से वह साधक के वशीभूत हो आता है, और उसके फलस्वरूप समुद्र पङ्क कण्टक आदि के संसर्ग में योगी नहीं पड़ता अर्थात् समुद्र में नहीं डूबता, कीचड़ में नहीं फंसता उसे कांटे आदि नहीं चुभते। इस प्रकार वह उन सबके ऊपर निर्बाध रूप से गमन करता है। उदर में स्थित अग्नि को प्रदीप्त करने वाले समान नामक प्राण को संयम पूर्वक वश में कर लेने पर शरीर अग्नि के समान तेजोमय हो जाता है। इसी प्रकार अन्य प्राणों के जय से भी विविध क्रियासिद्धियाँ प्राप्त होती है।

श्रोत्र आदि इन्द्रियाँ एवं उनके आधारतत्त्व आकाश आदि के मध्य विद्यमान सम्बन्ध में संयम से श्रोत्र आदि इन्द्रियाँ दिव्यशक्ति सम्पन्न हो जाती है। शरीर एवं आकाश के सम्बन्ध में संयम से शरीर रुई के समान हलका हो जाता है और साधक योगी को आकाश में भी गमन करने की क्षमता प्राप्त हो जाती है।

सामान्यतः देह के प्रति अहंभाव रहने पर साधक धारणा योगाङ्ग की साधना करता हुआ कल्पना द्वारा मन को देह से बाहर नियमित करता हैं। उस धारणा को **कल्पितविदेहधारणा** कहते हैं। इस धारणा द्वारा देह के प्रति अहंभाव का त्याग हो जाने पर जब स्वतः देह से बाहर चित्त का नियमन होने लगता है, तो उसे **महाविदेहधारणा** कहते हैं। इस महाविदेहधारणा से योगी के प्रकाशस्वरूप चित्त पर विद्यमान क्लेश कर्म आदि के आवरण का नाश हो जाता है। इसीप्रकार महाभूतों के पञ्चविध धर्म स्थूलता, काठिन्य आदि, उनके कारणरूप सूक्ष्म परमाणु एवं तन्मात्र, कारण से सम्बन्धरूप अन्वय तथा भोग-अपवर्गरूप सामर्थ्य में संयम से इन भूतों पर विजय का लाभ साधक को होता है, और इसके परिणामस्वरूप अणिमा महिमा लघिमा गरिमा प्राप्ति सत्यसंकल्पता सर्वभूतनियन्तृत्वरूप वशित्व तथा भूतनिर्माणशक्तिरूप ईशित्व सिद्धियों का लाभ होता है।

इन्द्रियों के विषयों का उनके द्वारा ग्रहण, इन्द्रियों का प्रकाशक स्वरूप, अस्मितारूप सात्विक अहंकार इनका परस्पर सम्बन्ध (अन्वय) एवं अर्थवत्व अर्थात् प्रयोजन इनका साक्षात्कार करने पर इन्द्रियों पर विजय प्राप्त होती है। इस इन्द्रियजय के परिणामस्वरूप साधक को मन के सदृश शीघ्र गमन की शक्ति शरीर के बिना ही वृत्तियों (भोग वृत्तियों) के ग्रहण का सामर्थ्य तथा सर्ववशित्व सिद्धि प्राप्त होती है। इन पूर्वोक्त सिद्धियों को **मधुप्रतीका** सिद्धि कहा जाता है। इन्हें मधुप्रतीका कहने का कारण इनका मधु अर्थात् ऋतम्भरा प्रज्ञा का साक्षात् कारण होना है। इसी प्रकार अन्तरिन्द्रिय में संयम द्वारा विशुद्धसत्त्व बुद्धि एवं पुरुष में भेद का विवेक हो जाने पर समस्त प्रकृति के विकारों एवं पुरुषों को स्वेच्छापूर्वक प्रेरित करने का सामर्थ्य भी साधक को प्राप्त हो जाता है।

उपर्युक्त सिद्धियों के प्रति साधक का पूर्ण वैराग्य अर्थात् इनके प्रति राग का अभाव होने पर क्लेशों के बीज **भ्रान्ति संस्कार** का **सर्वथा** तिरोभाव हो जाता है, फलतः साधक को कैवल्य की सिद्धि हो जाती है। इसे ही संस्कारशेषा सिद्धि भी कहते हैं।

मधुभूमिका (द्वितीय स्तर) भूमि में पहुँचे हुए योगी को साधना के प्रसंग में तत् तत् स्थानीय देवता विविध भोगों के लिए आमन्त्रित करते हैं, उस समय उसे भोग संग की कामना अथवा अहो मेरा कितना प्रभाव है, ऐसा स्मय (अभिमान) इत्यादि नहीं करना चाहिए, अपितु भोगों के प्रति प्रतिपक्ष की भावना अर्थात् ये विषय तृष्णामूलक हैं, स्वप्न सदृश हैं इत्यादि भावना करते हुए इनसे बचना चाहिए।

साधना की दृष्टि से योगियों के निम्नलिखित ये चार प्रकार हैं :—(१) प्रथमकल्पिक, (२) मधुभूमिक, (३) प्रज्ञाज्योति एवं (४) अतिक्रान्तभावनीय। इनमें से प्रथमकल्पिक योगी वह है, जिसने साधना प्रारम्भ तो की है, किन्तु अभी विभूतियों का उदय नहीं हुआ है। सम्प्रज्ञात योग से मधुमती चित्तभूमि **ऋतम्भरा प्रज्ञा** की अवस्था को प्राप्त कर जो साधक विभूतियों को पार करता हुआ **मधुप्रतीका, विशोका** एवं **संस्कारशेषा** भूमियों की प्राप्ति हेतु प्रयत्नशील रहता है, वह **मधुभूमिक** योगी कहा जाता है। **प्रज्ञाज्योति** योगी वह है, जो भूतेन्द्रियजय आदि को प्राप्त कर **मधुमतीका** और **मधुप्रतीका भूमिकाओं** को प्राप्त कर **विशोका** एवं **संस्कारशेष** भूमियों की प्राप्ति हेतु संयमरत है। चतुर्थ **अतिक्रान्त-भावनीय** योगी वह है, जिसने विशोका भूमि को प्राप्त करके विवेकख्याति का भी लाभ कर लिया है, एवं उसके प्रति भी विरक्त है, और इसी वैराग्य के कारण शंका से रहित जीवन्मुक्त है। दूसरे शब्दों में उसे **सप्तधा प्रान्तभूमि प्रज्ञा** प्राप्त हो चुकी है।

समय की लघुतम इकाई क्षण में और उससे क्रमशः दीर्घ और दीर्घतर इकाइयों में संयम करने से अति सूक्ष्मतम भेदों के बोध की क्षमता प्राप्त होती है। इसे ही **विवेकज ज्ञान** कहते हैं, यह विवेकज ज्ञान क्योंकि संसार सागर से पार कराने वाला है, अतः इसे **तारक** संज्ञा दी जाती है। इस प्रकार जो साधक योगी विवेकख्याति से बुद्धि सत्त्व को रजस् एवं तमस्-कृत मलों से रहित कर लेते हैं, उन्हें कैवल्य लाभ हो जाता है। इन पूर्वोक्त सिद्धियों में अतीत एवं अनागत विषयक ज्ञान आदि सिद्धियाँ योग के प्रति श्रद्धा की उत्पादक होने से योग की अंग है, जब कि **इन्द्रियजय** साक्षात् योग की अंग है।

विभूति पाद में जिन सिद्धियों की चर्चा की गई है, वे समाधि के अतिरिक्त मन्त्र औषधि एवं तप से भी प्राप्त की जा सकती है। उदाहणार्थ यक्ष आदि को एवं कपिल मुनि को आकाश गमन आदि की सिद्धि जन्मतः प्राप्त रही है। माण्डव्य आदि को रसायन आदि के उपयोग से सिद्धि प्राप्त हुई। इसी प्रकार मन्त्र साधना के द्वारा भी किन्हीं को सिद्धि हो जाती है। विश्वामित्र को तप से सिद्धि लाभ हुआ। रामानन्द यति के अनुसार ये सिद्धियाँ उन्हें ही प्राप्त होती हैं, जिन्होंने पूर्व जन्म में योगाभ्यास किया है।

योगी अपने आयु और भोग को जानकर अपने भोगों को इसी शरीर में और अति शीघ्र समाप्त कर लेने के लिए अनेक चित्तों का निर्माण कर अनेक शरीरों को धारण कर लेता है; उस समय उसके अन्य चित्त, जिन्हें **निर्माणचित्त** कहते हैं, की सृष्टि अस्मितामात्र से होती है। योगी का मूल चित्त

ही अन्य निर्माण चित्तों का प्रयोजक रहा करता है। ये सभी निर्माणचित्त समाधिजन्य होते हैं, कर्माशयजन्य नहीं।

कर्म चार प्रकार के होते हैं : शुक्ल, कृष्ण, शुक्ल-कृष्ण एवं अशुक्लाकृष्ण। स्वाध्याय एवं तप में संलग्न साधकों के वाक् और मनस् द्वारा किये गये पुण्य कर्मों को शुक्ल कर्म कहते हैं। केवल दुःख देने वाले दुरात्माओं के कर्म कृष्ण कर्म कहे जाते हैं। विविध यज्ञ याग आदि में संलग्न व्यक्ति जो एक ओर दक्षिणा दान आदि परोपकार करते हैं, और दूसरी ओर यज्ञ के साधन के लिए पशु अन्न बीज आदि का वध करते हैं, एवं चींटी आदि क्षुद्र जन्तुओं को पीड़ा पहुँचाते हैं, उनके कर्म शुक्लकृष्ण हुआ करते हैं। जबकि योगियों के कर्म क्योंकि बाह्य साधनों से साध्य नहीं होते, अतः कृष्ण नहीं होते; और योगसाधन साध्य कर्मों को वे ईश्वर को अर्पित कर देते हैं, अतः वे शुक्ल भी नहीं रहते; इस प्रकार उनके कर्म अशुक्ल-अकृष्ण हुआ करते हैं। इन कर्मों में प्रथम त्रिविध कर्मों की वासनाओं की अभिव्यक्ति विपाक के अनुकूल हुआ करती है। इन कर्मों में और उनके विपाक में यद्यपि जन्म देश और काल का अत्यधिक व्यवधान रहता है, तथापि उनके भोग में व्यवधान नहीं रहता, क्योंकि स्मृति के समान संस्कार उनका अव्यवहितत्व सम्पन्न करा देते हैं। इस प्रसंग में स्मरणीय है कि स्मृति और संस्कार परस्पर अभिन्न ही हैं। जिस प्रकार ज्ञानसंस्कार स्मृति के रूप में उद्‌बुद्ध होता है, उसी प्रकार क्रिया-संस्कार भी क्रियारूप में उद्‌बुद्ध होकर भोग में परिणत होते हैं, फलतः जिस प्रकार स्मृति संस्कार अतिशय काल आदि के व्यवधान में भी ज्ञान के साथ व्यवधान को नियमित कर देता है, उसी प्रकार क्रिया संस्कार भी काल आदि के व्यवधान को तिरोहित कर देता है।

कर्म की ये वासनाएँ अनादि काल से विद्यमान हैं, इसका अनुमान उत्पन्नमात्र जन्तु में कम्प आदि द्वारा अनुमित मृत्युभय आदि द्वेष्य दुःखों की स्मृति आदि से होता है। यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि यदि आत्मा (पुरुष) नित्य है, तथा शरीर इसी जन्म में प्राप्त है, तो कर्म संस्कार द्वारा मृत्युभय किसे होता है? इस का समाधान देते हुए रामानन्द स्वामी का कहना है कि यह भय चित्त को होता है। चित्त अनादि वासनाओं से अनुविद्ध है तथा अहंकाररूप होने से विभु है, अनेक देहों में देह के परिणाम के अनुसार उसका संकोच और विकास आदि होने से सम्बन्ध होता रहता है, अतः जन्म एवं मृत्यु वृत्तियों का सम्बन्ध चित्त से ही है।

ये वासनाएँ यद्यपि अनादि कही जाती हैं, किन्तु इनका अनादित्व पुरुष के समान नहीं है, ये प्रवाह अनादि हैं। वैसे ये वासनाएँ अविद्या एवं अस्मिता

से उत्पन्न होती हैं, किन्तु इनका चक्र अहर्निश चलता रहता है, अर्थात् अविद्या आदि क्लेश कर्मों से वासनाएँ उत्पन्न होती हैं। देह आयु और भोग इन वासनओं से उत्पन्न होते हैं, चित्त इनका आश्रय है, शब्द आदि आलम्बन। ये हेतु फल आश्रय इन वासनाओं के आलम्बन होते हैं, अतः इनके अभाव के द्वारा ही वासनाओं का उच्छेदन किया जा सकता है। ये वासनाएँ अतीत और अनागत रूप से सदा विद्यमान रहती है। वर्त्तमान में उनकी सत्ता होते हुए भी केवल उनकी अभिव्यक्ति नहीं रहती है।

यहाँ एक प्रश्न हो सकता है कि चित्त में अनेक अतीत एवं अनागत वासनाधर्म किस प्रकार रहते हैं? इस आशंका के समाधान में रामानन्द यति ने 'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः' इत्यादि [गीता २.१६] एवं 'वेदाहं समतीतानि' वर्त्तमानानि चार्जुन। [गीता ७.२६] इत्यादि वचनों को उद्धृत करते हुए तर्क दिया है कि यदि ये चित्तधर्म सर्वथा नहीं होते तो वे कभी भी अनुभव के विषय नहीं हो सकते, क्योंकि उनका कालान्तर में प्रत्यक्ष होता है, अतः वे हैं। किन्तु उनके सत्त्वमात्र से यह सोचना उचित न होगा कि यदि वासनाएँ अनादि काल से हैं, तो उनकी निवृत्ति न होगी; क्योंकि तत्त्वज्ञान से अविद्यामूलक अनागत वासनाओं की निवृत्ति हो जाने एवं प्रारब्ध कर्माशय का भोग हो जाने पर वासनाएँ निश्शेष हो जाती हैं।

ये अनादि वासनाएँ एवं धर्मी चित्त त्रिगुणात्मक हैं। कभी ये व्यक्तरूप में और कभी सूक्ष्मरूप में रहा करते हैं। ये गुण स्वयं परिणामी—नित्य हैं, शेष अन्य सभी भाव प्रतिक्षण परिणामी एवं क्षणिक हैं। केवल पुरुष कूटस्थ नित्य है। पुरुष के अतिरिक्त समस्त भाव पदार्थ यद्यपि त्रिगुणमय हैं, तथापि वे एक परिणाम के कारण एक कहे जाते हैं। यथा तेल बत्ती और अग्नि मिलकर एक प्रकाशरूप परिणाम के कारण एक दीप के नाम से व्यवहृत होते हैं। इस स्थिति में तीनों गुणों में से एक प्रधान एवं अन्य अंग के रूप में रहते हैं। यथा—सत्त्व के अंगी एवं रजस् तथा तमस् के अंग रहने पर एक महत् परिणाम, रजस् के प्रधान एवं अन्य के अंग होने पर अहंकार एवं तमस् के प्रधान एवं अन्य के अंग रहने पर तन्मात्र परिणाम होते हैं। इसी प्रकार सात्त्विक अहंकार से ज्ञानेन्द्रियाँ राजस अहंकार से कर्म इन्द्रियाँ राजस-अहंकार से ही अनुपात भेद में उभयेन्द्रिय मनस् परिणाम होता है। तन्मात्राओं में भी एक के अंगी एवं अन्य के अंग होने पर क्रमशः आकाश आदि पञ्चभूत उत्पन्न होते हैं।

कूटस्थ पुरुष एवं बुद्धि के सम्बन्ध तथा दृश्य के साक्षात्कार की प्रक्रिया को स्पष्ट करते हुए कहा जा सकता है कि जिस प्रकार क्रिया के बिना भी

सूर्य का जल में प्रतिबिम्ब पड़ता है, उसी प्रकार बुद्धि में चित् (पुरुष) का प्रतिबिम्ब पड़ता है, जिससे बुद्धि चिद्रूप हो जाती है, फलतः स्वभोग्य बुद्धि का पुरुष को भान होता है। द्रष्टा से उपरक्त चित्त में समस्त विषयों का भी प्रतिबिम्बन होता है, जिससे उनका भी भोग होता है। इस प्रसंग में रामानन्द स्वामी ने चित्त से भिन्न भोक्ता पुरुष (चित् शक्ति) की सिद्धि करते हुए चित् शक्ति की द्विविधता का प्रतिपादन किया है। उनका कहना है कि चित् शक्ति दो प्रकार की है :– नित्य उदिता और अभिव्यङ्ग्या। इनमें बुद्धि में अप्रतिबिम्बित कूटस्थ चित् शक्ति को नित्य उदिता एवं बुद्धिसत्त्व में प्रतिबिम्बित सुखादि सारूप्य को प्राप्त प्रतिबिम्बरूप चित् शक्ति को अभिव्यङ्ग्या कहते हैं। चित्त (बुद्धिसत्त्व) में प्रतिबिम्बित चित् शक्ति का बोध, जिसे अभिव्यङ्गया कहा गया है, **चिदवसानरूप** भोग कहा जाता है। चित् शक्ति के प्रतिबिम्ब सहित चित्त में सुखादि के साधनों का प्रतिबिम्बन होकर जब सुख आदि का भोग होता है, तो उस भोग को **परिणाम भोग** कहते हैं।

असंख्य वासनाओं से युक्त यह चित्त ठीक उसी प्रकार परार्थ है, जिस प्रकार विविध स्तम्भ काष्ठ आदि से निर्मित घर आदि पदार्थों को परार्थ (दूसरे के प्रयोजन का साधक) स्वीकार किया जाता है।

द्रष्टा दृश्य आदि के उपर्युक्त तथ्य का बोध जिस पुरुष को हो जाता है, उसे 'मैं बुद्धि आदि से भिन्न हूँ' यह बोध हो जाता है, उसे पुनः विषयों के साक्षात्कार की इच्छा नहीं होती; तथा जो व्यक्ति देह इन्द्रिय अथवा बुद्धि आदि को ही भोक्ता मान बैठता है, उसमें अनात्मभाव दृढ़बद्ध होने के कारण उसे तत्त्वज्ञान नहीं होता, इसके विपरीत उसे विषयदर्शन की कामना निरन्तर होती रहती है। इस प्रकार चित्त की दो अवस्थाएँ से कही जा सकती हैं : **विवेकनिम्न एवं विषयनिम्न। विवेकनिम्न चित्त** में ही कैवल्य का उदय होता है, **विषयनिम्न चित्त** में नहीं। विवेकनिम्न चित्त में व्युत्थान संस्कार विनश्यत् अवस्था में होकर भी कभी-कभी व्युत्थित होते हैं। किन्तु जिस प्रकार अविद्या आदि क्लेश क्रियायोग द्वारा तनूकृत होकर विवेक साक्षात्कार द्वारा नष्टराग होकर फलदायकता से रहित हो जाते हैं, उसी प्रकार व्युत्थान संस्कार भी जब राग रहित हो जाते हैं, अर्थात् उनके प्रति योगी का किञ्चित् मात्रा में भी राग नहीं रहता, उस स्थिति में विवेकख्याति से धर्ममेघ समाधि का उदय होता है, यह स्थिति ज्ञान की पराकाष्ठा है, उस समय समस्त क्लेश कर्म समाप्त हो जाते हैं, तथा चित्त के पूर्ण निर्मल हो जाने से ज्ञेय प्रायः कुछ भी नहीं रहता। इसके बाद साधक को निर्बीजयोग की सिद्धि होती है, इसे ही **परवैराग्य** कहा जाता है। इस कृतार्थता की स्थिति में जिस क्रम में गुणों की

साम्यवास्था से विकारों की सृष्टि होती है, उसी क्रम से विकार अपनी प्रकृति में लीन हो जाते हैं। अर्थात् व्युत्थानसंस्कार समाधि संस्कार में, समाधि संस्कार परवैराग्य में एवं पर वैराग्य मन में लीन हो जाते हैं, मन अस्मिता में अर्थात् अहंकार में लीन हो जाता है। अस्मिता का लय महत् में हो जाता है, तथा महत्तत्त्व का लय गुणों की समष्टि प्रकृति में लय हो जाता है। इस प्रकार परार्थ-प्रधान (प्रकृति) के अर्थ की (प्रयोजन की) समाप्ति हो जाने के कारण प्रधान को कैवल्य की प्राप्ति होती है; जिसे उपचरित भाषा में पुरुष को कैवल्य लाभ होता है, ऐसा कहा जाता है।

इस प्रकार योगसूत्रों में पतञ्जलि ने योग साधना के सन्दर्भ में सभी पक्षों का दार्शनिक परिचय देकर न केवल साधक के लिए साधना के मार्ग को स्पष्ट किया है, अपितु साधना के क्षेत्र के पथिक के पथ का, पथ की परिस्थितियों का, पथ में आने वाले अन्तराय अथवा साधनभूत विभूतियों और सिद्धियों का तथा उनसे बच निकलने के उपायों का जो क्रमिक और व्यवस्थित विवेचन किया है, उससे योग का दुर्गम मार्ग भी साधक के लिए राजपथ की भांति प्रशस्त हो गया है। योगसूत्र पर व्यास भाष्य एवं भोज रामानन्द आदि की वृत्तियाँ तथा भाष्य पर विज्ञानभिक्षु वाचस्पत्ति आदि आचार्यकल्प विद्वानों के व्याख्यानों के द्वारा वह पतञ्जलि प्रणीत योगमार्ग इतना आलोकित हो उठा है कि सच्चे साधक को कहीं भी भटकने की सम्भावना नहीं रह गयी है।

●●●

विषय प्रवेश

योग शब्द युज समाधौ एवं युज संयने धातु से निष्पन्न होता है। युज्यते अनेन इति योगः इस व्युत्पत्ति के अनुसार चित्त वृत्तियों का निरोध एवं एकाग्रता रूप समाधि और वह जिसके द्वारा हो, उन साधनाओं को योग कहा जाता है। सामान्यतः चित्त की वृत्तियाँ विषयों की ओर, जगत् की ओर उन्मुख रहा करती हैं, और उस स्थिति में चित्त आत्मा की ओर उन्मुख नहीं हो सकता। आत्मा की ओर उन्मुख न होने के कारण चित्त में विषयों का ही प्रतिबिम्ब पड़ता रहता है, अतः प्रमाता को विषयों का ही साक्षात्कार होता रहता है, आत्मा का साक्षात्कार उसे नहीं हो पाता। आत्मा के साक्षात्कार के लिए आवश्यक है कि चित्त की वृत्तियों का निरोध किया जाए। चित्तवृत्तियों का यह निरोध ही योग कहाता है। उस स्थिति में प्रमाता को द्रष्टा आत्मा का साक्षात्कार होता है।[१] योगदर्शन में चित्तवृत्तियों के निरोध के उपाय और उसके फलों का विशद एवं क्रमिक-विवेचन किया गया है। अतः जो व्यक्ति आत्मसाक्षात्कार के और उसके अनन्तर कैवल्य (मोक्ष) के अभिलाषी हैं, उनके लिए पतंजलि का योगदर्शन अमूल्य निधि है। जो शरीर इन्द्रिय और मन के समस्त बन्धनों से रहित, शुद्ध आत्मा के दर्शन और उसके अनन्तर कैवल्य लाभ प्राप्त करना चाहते है, उनके लिए योग एकमात्र उपयोगी साधन है।

आत्मसाक्षात्कार के साधन के रूप में योग की महिमा को प्रायः सभी भारतीय दर्शनों में स्वीकार किया गया है। इतना ही नहीं वेद और उपनिषद् स्मृति और पुराण आदि प्रायः सभी प्राचीन ग्रन्थों में योगाभ्यास का उल्लेख मिलता है।[२] जब तक मनुष्य का अन्तःकरण निर्मल नहीं होता, और स्थिर नहीं होता तब तक उसे विवेक ज्ञान नहीं हो सकता। शुद्ध और शान्त मन से ही सत्य को अथवा आत्मा के स्वरूप को जाना जा सकता है और इसके लिए योगसाधन ही सर्वोत्तम उपाय है। इससे शरीर और चित्त निर्मल होता है।

पातंजल योगदर्शन में योग के स्वरूप और उसके विभिन्न प्रकारों का सूक्ष्म विवेचन किया गया है। इसमें योग के विविध अंगों उनसे सम्बद्ध अन्यान्य आवश्यक विषयों पर भी पूर्ण विचार किया गया है। भारतीय दर्शन की विविध शाखाओं मुख्यतः सांख्यदर्शन और योगदर्शन का प्रमुख सिद्धान्त है कि विवेकज्ञान

---

१. योगसूत्र १.१-२।
२. कठोपनिषद् ६.१, ६। श्वेताश्वतर २.८ एवं २.११।

अर्थात् आत्मा शरीर इन्द्रिय आदि से भिन्न है, इस प्रकार के ज्ञान के बिना सांसारिक दुःखों से मुक्ति प्राप्त कर सकना सम्भव नहीं है, परन्तु मनुष्य इस ज्ञान का अधिकारी तभी बन पाता है, जब वह शारीरिक एवं मानसिक वृत्तियों का दमन करते हुए आत्मा अथवा पुरुष के यथार्थ स्वरूप को पहचाने। आत्मा के स्वरूप का ज्ञान होने पर ही उसे यह ज्ञान हो पाता है कि शरीर मन इन्द्रिय बुद्धि और सुख-दुःख के भोक्ता अहंकार से आत्मा पृथक् है। वह आत्मा सर्वविध बन्धन से परे शुद्ध शाश्वत एवं चेतन है। वह पाप रोग जरा जन्म और मृत्यु से परे है, यह ज्ञान ही आत्म-ज्ञान है, इसे ही विवेकज्ञान कहते हैं। इसके द्वारा ही जीव समस्त दुःखों से छूट पाता है। आत्मज्ञान के साधन के लिए योगदर्शन में व्यावहारिक मार्ग बताया गया है। इसकी प्राप्ति के लिए उसमें यम नियम आसन प्राणायाम प्रत्याहार धारणा ध्यान और समाधि का निर्देश किया गया है।

प्राचीन काल से सांख्य और योगदर्शन को परस्पर अभिन्न माना जाता रहा है।[१] दोनों ही दर्शनों में जीव स्वतन्त्र पुरुष है, जो उभयविध शरीर (स्थूल शरीर तथा इन्द्रिय मन बुद्धि और अहंकाररूप सूक्ष्मशरीर) से सम्बद्ध रहता है। जीव (पुरुष) स्वभावतः शुद्ध चैतन्य स्वरूप है। वह वस्तुतः शारीरिक बन्धनों और मानसिक विकारों से मुक्त रहता है, परन्तु अज्ञान के कारण चित्त के साथ अपना तादात्म्य स्थापित कर लेता है, और उसके फलस्वरूप वह स्वयं को कर्त्तृत्व और भोक्तृत्व से सम्पन्न मानकर सुख दुःख का अनुभव करता है। चित्त जिसे सांख्य दर्शन में महत्तत्त्व अथवा बुद्धि कहते हैं, प्रकृति का प्रथम विकार है; जिसमें सत्त्व की प्रधानता एवं रजोगुण एवं तमोगुण की अप्रधानता रहती है। चित्त स्वभावतः जड़ है, परन्तु आत्मा के सम्पर्क के कारण वह आत्मा के प्रकाश से प्रकाशित रहता है। निर्मल होने के कारण उसमें आत्मा का प्रकाश पड़ता है, जिसके फलस्वरूप उसमें (चित्त में) चैतन्य का आभास हो जाता है, जब चित्त का किसी विषय से सम्बन्ध होता है, तब विषय का प्रतिबिम्ब पड़ने के कारण वह विषयाकार प्रतीत होता है। चित्त में प्रतिबिम्बित होने के कारण ही उसे सहप्रतिबिम्बित विषयों का ज्ञान होता है। यद्यपि आत्मा में कोई विकार अथवा परिणाम नहीं होता, तथापि परिवर्तनशील चित्तवृत्तियों में प्रतिबिम्बित होने के कारण उसमें भी परिवर्तन का आभास होता है। यही उसका कर्त्तृत्व और भोक्तृत्व है।

सामान्यतः चित्तवृत्तियाँ पाँच हैं :- यथार्थ ज्ञान (प्रमाण), अयथार्थ ज्ञान (विपर्यय) कल्पना (विकल्प) निद्रा और स्मरण।[२] इन वृत्तियों के निरोध का नाम ही योग है। इनका निरोध हो जाने पर चित्त में एक मात्र प्रतिबिम्बित पुरुष ही रह

---

१. भगवद्गीता ५.४।

२. योगसूत्र १.५।

जाता है और उसे अपने स्वरूप का ही ज्ञान होता है। जिसके फलस्वरूप पुरुष और शुद्ध सत्त्व (चित्त) के परस्पर भिन्न होने का ज्ञान होता है। यही सत्त्व पुरुष–अन्यताख्याति अथवा विवेक ज्ञान है, इसे ही तत्त्वज्ञान या आत्मज्ञान कहते हैं।

योगदर्शन का संक्षिप्त ऐतिहासिक परिचय

इस योगशास्त्र का आरम्भ कब हुआ, इसके सम्बन्ध में प्रमाणिक रूप से कुछ भी कह सकना सम्भव नहीं है। जैसा कि संस्कृत वाङ्मय के प्रसिद्ध इतिहासकार प्रोफेसर ए०वी० कीथ ने स्वीकार किया है, भारत में साहित्य विषयक, इतिहास के अध्ययन की परम्परा का सर्वथा अभाव रहा है, और इसीलिए वे यह भी स्वीकार करते हैं कि भारत ने संस्कृत साहित्य के इतिहास का कोई लेखक उत्पन्न नहीं किया है[1] और इस स्थिति में यह अत्यन्त स्वाभाविक है कि अन्य शास्त्रों के समान ही योगशास्त्र का भी क्रमिक इतिहास उपस्थित कर सकना सरल नहीं है।

ब्रह्मवैवर्त्त पुराण के अनुसार योग का प्रारम्भ ब्रह्मा से हुआ है। उसके अनुसार एक बार देवादिदेव ब्रह्मा इडा आदि छ नाड़ियों को निरुद्ध कर मूलाधार आदि छ चक्रों का लंघन करके प्राणों को ब्रह्मरन्ध्र में स्थापित करके योगस्थ हो गये। उस समय उन्होंने विष्णु द्वारा पहले कभी दिये गये, एकाक्षर मन्त्र का जप करते हुए भगवान् के चरण कमलों को बारम्बार ध्यान करते हुए उनके अद्भुत स्वरूप का दर्शन किया था, उस समय उन्हें जो दृष्टिगत हुआ वह अत्यन्त आश्चर्यजनक था और उसके द्वारा ही उन्होंने परमेश्वर को संन्तुष्ट कर लिया।[2]

योग की ब्रह्मा द्वारा उत्पत्ति के उपर्युक्त सन्दर्भ को यह कहते हुए भले ही उपेक्षित कर दिया जाए कि पौराणिक परम्परा में प्रत्येक शास्त्र प्रत्येक विद्या प्रत्येक वंश आदि की उत्पत्ति ब्रह्मा से ही मानने की एक स्थायी प्रक्रिया है, किन्तु इससे इतना तो सिद्ध होता ही है कि योग शास्त्र का उदय अत्यन्त प्राचीन काल में हुआ था।

यदि प्रयत्न किया जाए तो वेदों ब्राह्मणग्रन्थों एवं उपनिषदों में भी योग विषयक पर्याप्त सामग्री उपलब्ध की जा सकती है। श्री हरि शंकर जोशी कृत वैदिक योगसूत्र इसका स्पष्ट निदर्शन है। पुराणों में योग विषयक सिद्धान्तों की व्यापक रूप से चर्चा मिलती है। अग्निपुराण में उसे मोक्ष का साधन स्वीकार किया गया है।[3] इसके अतिरिक्त उसमें अष्टांगयोग का विस्तार से वर्णन हुआ।[4]

---

१. संस्कृत साहित्य का इतिहास पृ० ४६।
२. ब्रह्मवैवर्त्तपुराण श्रीकृष्ण खण्ड अ० २०।
३. अग्निपुराण।
४. वही अध्याय ३७२-३७६।

विष्णुपराण में विषयों से चित्त (विज्ञानात्मक मन) को हटाकर परमेश्वर के चिन्तन में उसे लीन करने पर ब्रह्म की प्राप्ति हो जाती है, ऐसा स्वीकार करते हुए मन की इस अवस्था को योग माना गया है।[१] इस योग की साधना के लिए उक्त पुराण में ही यम नियम आसन प्राणायाम प्रत्याहार धारणा ध्यान और समाधि का विस्तृत विवरण दिया गया है।[२]

गरुड पुराण में योग के एक विशिष्ट प्रकार ध्यान-योग का विस्तृत वर्णन उपलब्ध होता है[३] श्रीमद्भागवत में ज्ञानयोग कर्मयोग और भक्तियोग भेद से योग के तीन प्रकारों की चर्चा की गयी है।[४] देवी भागवत के टीकाकार योग का अर्थ प्रीति स्वीकार करते हैं।[५] जो भक्ति योग के समानान्तर रखी जा सकती है, जिसका विवरण हमें देवी भागवत में उपलब्ध होता है।

एक अन्य स्थल पर गरुड़ पुराण में षटचक्रसाधना का वर्णन उपलब्ध होता है।[६] ब्रह्मपुराण में चित्त की एकाग्रता (ब्रह्म में एकाग्रचित्तता) को योग मानते हुए उसके साधन के लिए यम नियम आसन प्राणायाम प्रत्याहार धारणा ध्यान और समाधि इन आठ योगाङ्गों की चर्चा की गयी है।[७] इसी प्रकार लिंग पुराण में योग के सन्दर्भ में उपस्थित होने वाले अन्तरायों का विशद वर्णन मिलता है।[८] मार्कण्डेय पुराण में योग द्वारा चिकित्सा विषयक पूरा एक अध्याय ही है, जो योगचिकित्साध्याय कहा जाता है।[९] तात्पर्य यह है कि योग का प्रारम्भ अत्यन्त प्राचीन काल में हुआ है और परम्परा से उसका क्रमिक विकास होता रहा। यह दूसरी बात है कि इतिहास लेखन की व्यापक परम्परा न होने से आज उसका क्रमिक इतिहास मिलना सम्भव न हो।

ऐतिहासिक क्रम से यदि योग के मूल का पता लगाना चाहें तो इतना ही कहा जा सकता है कि पाणिनि के व्याकरण में दो ऐसी धातुएँ हैं जिनसे योग

---

१. विष्णुपुराण अंश ६ अध्याय ३।
२. वही अंश ६ अध्याय ३।
३. गरुड़ पुराण अध्याय १४।
४. भागवत् ११. २०.६।
५. (क) देवी भागवत् ३. १५.१३।
   (ख) देवी भागवतटीका ३.१५.१३।
६. गरुड़ पुराण अध्याय १५.६२-८७।
७. ब्रह्म० पु० १२, १-२।
८. लिङ्ग पुराण अध्याय ६।
९. मार्कण्डेय पुराण अध्याय ३६।

शब्द की सिद्धि हो सकती है; एक है, युजिर[१] और दूसरी युज।[२] युजिर धातु का अर्थबोधक योग शब्द चूँकि स्वयं युज् धातु से ही निष्पन्न है, अतः वहाँ प्रामाणिक रूप से यह कहना कठिन है कि वहाँ पाणिनि को धातु का क्या अर्थ अभिप्रेत है। किन्तु 'युज' धातु का अर्थ समाधि देखकर तो निश्चित रूप से यह स्वीकार किया जा सकता है कि पाणिनि के समय (ई० पूर्व ७००-६००)[३] में समाधि, जो योगाङ्गों में अन्तिम है, का प्रचार रहा है। इसके अतिरिक्त एक अन्य युज धातु संयमन अर्थ में उपलब्ध है।[४] जिससे संयम परक योग की परिभाषा का सम्बन्ध खोजा जा सकता है।

भगवद्गीता में न केवल योग शब्द का अनेक बार प्रयोग मिलता है,[५] अपितु उसके अनेक प्रकारों की ओर भी संकेत मिलता है।[६] इसके अतिरिक्त उसमें योगी शब्द का भी अनेक बार प्रयोग हुआ, जिसके द्वारा एक प्रकार की विशिष्ट साधना पद्धति की सूचना मिलती है।[७] इसके अतिरिक्त वहाँ श्रीकृष्ण को योगेश्वर के नाम से सम्बोधित किया गया है।[८] जिससे यह अनुमान किया जा सकता है कि योगविद्या अत्यन्त प्रतिष्ठित होकर राजकुलों में भी प्रवेश पा चुकी थी।

भगवद्गीता के चतुर्थ अध्याय में प्रसंगतः संकेत किया गया है कि योग विद्या मुख्यतः कर्मयोग का सर्वप्रथम उपदेश विष्णु ने विवस्वान् को, विवस्वान् ने मनु को, मनु ने इक्ष्वाकु को और इक्ष्वाकु ने अपनी सन्तानों को किया था। इस प्रकार यह योग विद्या (कर्मयोग) राजर्षियों में परम्परा से प्रचलित रही है। यह दूसरी बात है कि कालान्तर में वह लुप्त हो गयी थी, जिसका पुनः उपदेश भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन को द्वापर के अन्त में (न्यूनतम आज से पाँच हजार एक सौ पचास वर्ष पूर्व) महाभारत के युद्ध के समय किया था।[९]

कौटिल्य अर्थशास्त्र में दार्शनिक अध्ययन की परम्पराओं की चर्चा करते हुए सांख्य योग और लोकायत दर्शनों का उल्लेख किया है।[१०] जिससे पता चलता

---

१. सिद्धान्तकौमुदी धातुसंख्या १५३५।
२. वही संख्या १२५४।
३. (क) पतञ्जलिकालीन भारत पृ० २५।
   (ख) गोल्डस्टुकर : पाणिनि-हिज प्लेस इन संस्कृत लिट्रेचर पृ० ५४-५६।
४. सिद्धान्तकौमुदी धातुसंख्या १६४५।
५. भगवद्गीता २-३६, ४८, ५३, ४-१, २७, २८, ४१; ५-२, ४, ८-८; १०-७, १२-६।
६. वही २-४८, १३-२४; १४-२६।
७. वही ४-२५; १२-१४; १५-११।
८. वही ११-४, ६।
९. वही ४.१-३।
१०. कौटिल्य अर्थशास्त्र १-२ पृ० १०।

है कि कौटिल्य के समय योगशास्त्र पूर्ण प्रतिष्ठा को प्राप्त कर चुका था।

प्राचीनतम बौद्ध सूत्रग्रन्थ सतिपट्ठानसुत्त में भी योग समाधि का पूर्ण परिचय मिलता है। त्रिपिटक के अनुसार बोधगया पहुँचने से पूर्व भगवान् बुद्ध ने भी राजगिरि में पर्याप्त समय तक एक विशिष्ट प्रकार की साधना में अपना जीवन बिताया था एवं वह साधना योग विषयक ही थी।

कठ और श्वेताश्वतर उपनिषद् में योग साधना का स्पष्ट उल्लेख हुआ है, तथा मैत्रायणी ध्यानविन्दु नादविन्दु योगतत्त्व योगचूडामणि योगशिखा योगकुण्डली, वराह, जावालदर्शन आदि उपनिषदों में योग साधना के सिद्धान्तों का सुस्पष्ट विवरण हुआ है। इनमें मैत्रायणी आदि उपनिषदों के रचनाकाल के सम्बन्ध में भले ही कुछ कहना संभव न हो किन्तु कठ और श्वेताश्वतर तो निश्चय ही हजारों वर्ष पुरानी हैं।

मैत्रायणी उपनिषद् में योग के निम्नलिखित छ अंग स्वीकार किये गये हैं। प्राणायाम प्रत्याहार ध्यान धारणा तर्क और समाधि। योगसूत्रकार पतंजलि ने इनमें से तर्क की उपेक्षा करते हुए यम, नियम और आसन को अतिरिक्त जोड़ दिया है। ब्रह्मजाल सुत्त में वर्णित बासठ मिथ्या दृष्टियों को देखने से हमें पता चलता है कि उस काल में त्रिविध उपासना अथवा तर्क-वितर्क के द्वारा लोगों का विश्वास बन गया था कि समस्त बाह्य जगत् और आत्मा नित्य है। तर्कवादियों के सम्पर्क में आये हुए योगियों का भी एक अलग चिन्तकों का वर्ग बन गया था, जिन्हें शाश्वतवादी कहा जाता था। योगाङ्गों में तर्क की गणना को देखते हुए यह अनुमान किया जा सकता है कि यह उपनिषद् उस काल की योग परम्परा का प्रतिनिधित्व करता है, जब सांख्य और योग के मध्य भेद का प्रारम्भ ही हुआ था, मूलतः दोनों को अभिन्न समझा जाता रहा है। स्मरणीय है कि भगवद्गीता में सांख्य और योग को पृथक् समझने वालों को बाल संज्ञा दी गई है।[1] योगपरम्परा में तर्क के स्थान पर आसन की प्रतिष्ठा देखकर प्रतीत होता है कि मैत्रायणी उपनिषद् के कुछ काल के बाद ही सांख्य और योग दर्शनों की परम्परा परस्पर भिन्न रूप से प्रतिष्ठित हुई है। योगदर्शन में अहिंसा सत्य अस्तेय ब्रह्मचर्य अपरिग्रह इन पांच यमों तथा शौच सन्तोष तपस् स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान इन पांच नियमों का वर्णन हुआ है। नियमों में शौच सन्तोष इन दो नियमों का योग परम्परा में समावेश यह मानकर किया गया है कि चारित्रिक उत्थान के बिना योग में सफलता प्राप्त नहीं हो सकती। और यह समावेश सर्वप्रथम योगसूत्रों में हुआ है। यह कार्य सम्भवतः उस समय में हुआ है, जब बौद्धों और ब्राह्मणों के सम्बन्ध परस्पर कटु नहीं हुए थे। इसी प्रकार योगसूत्र के अतिरिक्त अन्य किसी

१. गीता ४-५।

मोक्ष प्रतिपादक शास्त्र में मैत्री करुणा मुदिता और उपेक्षा का इतने महत्त्व के साथ उल्लेख नहीं मिलता। स्मरणीय है कि आचाराङ्गसूत्र उत्तराध्ययन सूत्र सूत्रकृतांगसूत्र आदि आदिकालीन तथा उमास्वातिकृत तत्त्वार्थाधिगमसूत्र से लेकर हेमचन्द्र के योगशास्त्र तक प्रायः समस्त जैनयोग विषयक ग्रन्थों को देखकर पता चलता है कि जैनियों की एक स्वतन्त्र योग परम्परा का विकास हुआ था; जिसमें यम आदि के द्वारा चारित्रिक सुधार की ओर ही अत्यधिक ध्यान दिया गया था। अलवरूनी अनूदित किताब पातंजल से पता चलता है कि उसमें स्पष्ट शब्दों में इन चारित्रिक सुधार विषयक व्यवस्थाओं के सम्बन्ध में कहा गया है कि इनके द्वारा कैवल्य प्राप्त नहीं होता। और इस तथ्य को स्वीकार करने के कारण ही कालान्तर में जैनियों की साधना पद्धति से पूर्णतया भिन्न हिन्दू साधना पद्धति योगशास्त्र का विकास हुआ है। स्मरणीय है कि पतंजलि ने योगांगों में अहिंसा आदि यमों का समावेश केवल चारित्रिक सुधार के लिए ही नहीं किया है, बल्कि उनके अनुसार इन के द्वारा मन के लोभ मोह और क्रोध रूपी मलों का निवारण होता है। यह उपलब्धि वैराग्य के द्वारा होती है, और वैराग्य इनकी साधना से पुष्ट होता है। अतः इनकी साधना प्रारम्भ से अन्त तक चलती है। इसलिए पतंजलि की दृष्टि में इनका महत्त्व अनुपेक्षणीय है। तभी तो उन्होंने हिंसा आदि वितर्कों की चर्चा करते हुए लोभ आदि के निवारण को अनिवार्य माना है।[1]

इसके अतिरिक्त शाण्डिल्य योगतत्त्व ध्यानबिन्दु हंस अमृत नादविन्दु एवं योगकुण्डली आदि उपनिषदों में योग का विस्तृत परिचय प्राप्त होता है। उनसे यह भी पता चलता है कि विविध सम्प्रदायों में योग की प्रक्रिया भिन्न-भिन्न रही है। उदाहरणार्थ शैव और शाक्तों की योग प्रक्रिया परस्पर सर्वथा भिन्न है। योगतत्त्वोपनिषद् के अनुसार उस काल में मन्त्रयोग लययोग हठयोग एवं राजयोग ये चार प्रकार विशेष प्रसिद्ध रहे हैं। इनमें जैगीषव्य प्रणीत धारणा शास्त्र को पातंजल योग की अपेक्षा तन्त्रयोग से अधिक निकट कहा जा सकता है। स्मरणीय है कि जैगीषव्य की चर्चा व्यास भाष्य में अनेक स्थानों पर उपलब्ध होती है।

प्रसिद्ध दार्शनिक-इतिहास लेखक सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त के अनुसार पतंजलि ने योगसूत्र में न केवल प्रचलित विविध योग प्रक्रियाओं को संकलित कर दिया है, अपितु योग से सम्बद्ध अथवा सम्बद्ध होने योग्य विचारों को एक सूत्र में पिरोकर उन्हें एकरूपता प्रदान की है। व्यासभाष्य के टीकाकार वाचस्पतिमिश्र और विज्ञानभिक्षु भी इस उपर्युक्त तथ्य को स्वीकार करते हैं कि पतंजलि योगसिद्धान्त के प्रवर्तक न होकर केवल संकलनकर्ता है। योगसूत्रों के विश्लेषणात्मक एवं आलोचनात्मक अध्ययन से भी इस तथ्य की ही पुष्टि होती है कि उनकी

---

१. योगसूत्र २.३४।

रचना मौलिक प्रयास न होकर एक पूर्ण व्यवस्थित संकलन हैं। मुख्यतः प्रारम्भ के तीन पादों में दी गयी परिभाषाएँ विभाजन इत्यादि विषय सामग्री की पूर्व सत्ता की निश्चित सूचना प्राप्त होती है, जिनका कि ग्रथन पतंजलि ने किया है। उनमें न तो नवीन सिद्धान्तों की स्थापना का उत्साह झलकता प्रतीत होता है और न ही योग विषयक सिद्धान्तों को अन्य दार्शनिक सिद्धान्तों की तुलना में महत्त्व प्रदर्शन की उत्सुकता। हाँ केवल एक क्रम का निर्वाह निर्बाध रूप से दिखाई पड़ता है : वह है विषय की व्याख्या के लिए अपेक्षित तारतम्य। इनमें इस दर्शन की स्थापना की उत्सुकता की अपेक्षा तथ्यों के क्रमिक नियोजन की प्रवृत्ति विशेष दिखाई पड़ती है। योगदर्शन के चार पादों में से प्रथम तीन पादों में योग के सिद्धान्तों का क्रमिक विवेचन करने के अनन्तर चतुर्थ पाद में बौद्ध सिद्धान्तों की आलोचना की गयी है।

विवेचन के इस विशिष्ट क्रम के आधार पर कुछ लोगों का विचार है कि इनकी (योगसूत्रों की) रचना दो समय में अथवा दो व्यक्तियों द्वारा की गयी है: जिसमें प्रथम द्वितीय तृतीय पाद एक व्यक्ति कृत या एक समयकृत हैं, तथा अन्तिम पाद अन्य व्यक्ति कृत अथवा कालान्तर में कृत है। उनका इस सन्दर्भ में यह भी तर्क होता है कि इसीलिए तृतीय पाद के अन्त में समाप्ति सूचक इति पद का प्रयोग भी उपलब्ध होता है।[१] किन्तु इस उपर्युक्त वैचित्र्य के आधार पर रचयिता अथवा रचना काल में भेद की कल्पना अनावश्यक प्रतीत होती है, क्योंकि प्रत्येक लेखक एक विषय के क्रम में यह अधिक प्रशस्त मानेगा कि परिचयात्मक विवरण अलग निबद्ध किया जाए एवं आलोचनात्मक विवरण को अलग एवं एक प्रकार के विवरण के पूर्ण होने पर विषय की पूर्णता की दृष्टि से 'इति' पद के प्रयोग में कोई अस्वाभाविकता नहीं प्रतीत होती। इसके विपरीत योग की क्रियात्मक विधि के परिचय के मध्य विवेचनात्मक (आलोचनात्मक) विषय का निबन्धन न करके पृथक् निबन्धन में अधिक औचित्य प्रतीत होता है, क्योंकि ऐसा करने से साधना विधि का विवरण अधिक सुस्पष्ट और सुबोध हो सका है।

योगसूत्रकार पतंजलिः–

संस्कृत वाङ्मय में पतंजलि के नाम से तीन ग्रन्थ प्रचलित हैं। योगसूत्र, पाणिनिकृत अष्टाध्यायी का व्याख्यान महाभाष्य तथा आयुर्वेद का प्रसिद्ध ग्रन्थ चरक। अधिकाशं भारतीय विद्वान् तीनों ग्रन्थों को एक पतंजलि की रचना मानते हैं, तथा इस मत की पुष्टि में भर्तृहरिकृत वाक्यपदीय के श्लोक :–

> 'कायवाग्बुद्धिविषया ये मलाः समवस्थिताः।
> चिकित्सालक्षणाध्यात्मशास्त्रैस्तेषां विशुद्धयः।।[२]

---

१. योगसूत्र ३.५५। २. वाक्यपदीय १-१४८।

एवं व्याकरण के विद्वानों में अध्ययन से पूर्व मंगलाचरण के लिए परम्परा से प्रचलित एवं वासदत्ता की शिवरामकृत टीका में उपलब्धः—

'योगेन चित्तस्य पदेन वाचां मलं शरीस्य च वैद्यकेन।
योऽपाकरोत्तं प्रवरं मुनीनां पतंजलिं प्रांजलिरानतोऽस्मि।।'[१]

श्लोक को प्रमाण रूप से उपस्थित करते हैं।

रामभद्र दीक्षित कृत 'पतंजलि-चरितम्' के अनुसार शेषावतार गोणिकापुत्र पतंजलि ने ही व्याकरण महाभाष्य की रचना के अनन्तर योगशास्त्र पर सूत्रों की एवं वैद्यक शास्त्र पर वार्त्तिकों की रचना की।[२] चरक के टीकाकार चक्रपाणि ने टीका के प्रारम्भ में चरक के प्रति-संस्कर्त्ता पतंजलि को महाभाष्य एवं योगसूत्रों के रचयिता पतंजलि से अभिन्न माना है।[३] यही मत राजमार्त्तण्ड वृत्तिकार भोज का है।[४] लीविख और चक्रवर्त्ती महाभाष्य के प्रथम वाक्य 'अथ शब्दानुसाशनम्' के समान ही योगसूत्र के प्रारम्भ में 'अथ योगानुशासनम्' वाक्य को देखकर दोनों के रचयिता पतंजलि अभिन्न है' ऐसा स्वीकार करते है।[५]

इसके विपरीत प्रो० रेनो महाभाष्य और योगसूत्र दोनों में ही प्रत्याहार उपसर्ग प्रत्यय एवं विकरण आदि शब्दों का प्रयोग सर्वथा भिन्न अर्थो में देखकर दोनों रचनाओं के रचयिता भिन्न-भिन्न मानते हैं।[६] डा० प्रभुदयाल अग्निहोत्री का विचार है कि पतंजलि नामक व्यक्ति एकाधिक हुए हैं, महाराजा कनिष्क की कन्या को रोगमुक्त करने वाले पतंजलि ईसा की दूसरी शताब्दी में तथा योगसूत्र कर्त्ता पतंजलि ईसा की तीसरी या चौथी शताब्दी में उत्पन्न हुए थे।[७] मैक्समूलर भी महाभाष्यकार एवं योगसूत्रकार पतंजलि को अभिन्न मानने वाले लैसेन और गार्वे के मत का खण्डन करते हुए कहते हैं कि परस्पर असम्बद्ध विषयों पर एक ही विद्वान् का इतने प्रामाणिक ग्रन्थ का लिखना अशक्य है, अतः दोनों के रचतिाओं को परस्पर अभिन्न मानना उचित नहीं है।[८] किन्तु इन तर्कों में कोई अधिक बल नहीं है। न्याय सूत्र के भाष्यकार वात्स्यायन कामशास्त्र के भी लेखक हैं। महाकवि

---

१. वासवदत्ता टीका पृ० २३६।
२. पातञ्जलि चरितम् ५।२५-२६।
३. चरक टीका पृ० १।
४. भोजवृत्ति पृ० १।
५. पतञ्जलिकालीन भारत से उद्धृत पृ० ५३।
६. वही पृ० ५४।
७. वही पृ० ५४।
८. शिवरामकृत वासवदत्ता-टीका की प्रस्तावना (Ed. Bible, Ind.) पृ० २३६।

कालिदास को ईश्वर कृष्ण से अभिन्न मान कर सांख्य कारिका का भी लेखक माना जाता है। वाचस्पति मिश्र कृत छओं दर्शन शास्त्रों पर व्याख्याएं प्रामणिक स्वीकार की जाती है। प्रस्तुतः ग्रन्थ के लेखक के न्याय शास्त्र काव्यशास्त्र मीमांसाशास्त्र पर अनेक ग्रन्थ है और विद्वानों में समादृत भी। अतः केवल विषय भेद देखकर ग्रन्थ कर्त्ता में भिन्नता की कल्पना आदरणीय नहीं हो सकती।

जे० एच० वूड के अनुसार महाभाष्यकार एवं योगसूत्रकार पतंजलि को एक मानने की परम्परा पर्याप्त उत्तरकालीन है और इसका प्रारम्भ नाम साम्य से उत्पन्न भ्रम के कारण हुआ है। उनका कथन है कि 'योगेन चित्तस्य पदेन वाचां' इत्यादि पद्य ज़ो सर्वप्रथम शिवराम कृत वासवदत्ता की टीका में उपलब्ध होता है अठारहवीं शताब्दी का पद्य है,[१] क्योंकि उसके रचयिता शिवराम का समय आफ्रेट (Aufrecht) के अनुसार अठारहवीं शताब्दी है।[२] पतंजलिचरितम् के रचयिता रामभद्र दीक्षित का समय भी निर्विवाद रूप से अठारहवीं शताब्दी ही माना जाता है, तथा दोनों ही इतिहास से विशेष सम्बद्ध नहीं है, अतः इन्हें प्रमाण मानकर पतंजलि के सम्बन्ध में कोई निर्णय नहीं किया जा सकता। जहाँ तक ग्यारहवीं शताब्दी के लेखक भोज और चक्रपाणिदत्त के लेख का प्रश्न है, ये भी अत्यन्त प्राचीन नहीं कहे जा सकते। वैयाकरणों की प्राचीन परम्परा, जिनमें कात्यायन, वामन, जयादित्य, नागेश आदि को लिया जा सकता है, इस मान्यता के सन्दर्भ में सर्वथा मौन है। जो निस्सन्देह तीन ग्रन्थों के रचयिताओं को एक मानने के विरुद्ध पड़ता है। इसीलिए जे० एच० वूड्स उपर्युक्त परम्परा को ग्राह्म नहीं मानते। वूड्स महाभाष्यकार एवं योगसूत्रकार पतंजलि को भिन्न भिन्न मानते हुये तर्क देते हैं कि व्यासभाष्य के अनुसार सूत्रकार पतंजलि के मत में द्रव्य सामान्यविशेषात्मक (सामान्य एवं विशेष) गुण रूप में हुआ है[३] जब कि महाभाष्यकार के अनुसार द्रव्य गुण का आश्रय होता है।[४] अर्थात् एक मत में द्रव्य और गुण में तादात्म्य सम्बन्ध रहता है और दूसरे मत में दोनों में आश्रय आश्रयिभाव सम्बन्ध है। इस प्रकार उनके अनुसार द्रव्य के सम्बन्ध में दो विरोधी विचार एक लेखक के नहीं हो सकते।

किन्तु इस तर्क में विशेष बल नहीं है क्योंकि इस प्रकार के विचारों में वैविध्य एक लेखक के एक ही ग्रन्थ में देखने को मिल जाता है। उदाहरणार्थ

---

१. Ind. to the yoga-system of the Patanjali, P. XIV.

२. Ibid. P. XVII.

३. व्यासभाष्य पृ० ३६७।

४. (क) महाभाष्य १।२-३४। पृ० ६६।

(ख) महाभाष्य टिप्पणी पृ० ६६।

पाणिनि की अष्टाध्यायी में ही शब्द जाति का बोधक है एवं वह द्रव्य का बोधक भी है। इन विरोधी विचारों को 'जात्याख्यायामेकस्मिन्बहुवचनमन्यतरस्याम्' एवं 'सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ'[1] सूत्रों में देखा जा सकता है। इसके विपरीत महाभाष्यकार के 'यत्सास्नालांगूलककुदखुरविषाण्यर्थरूपम्'[2] एवं योगभाष्य में उपलब्ध द्रव्य की परिभाषा' अयुतसिद्धावयवभेदानुगतः समूहः द्रव्यम्'[3] में पूर्णतः साम्य दुष्टिगोचर होता है। इन्हीं कारणों से सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त महाभाष्यकार एवं योगसूत्रकार पतंजलि को अभिन्न मानना अधिक उचित मानते हैं।

महाभाष्यकार पतंजलि सांख्य एवं योग दर्शन की मान्यताओं को अनेक स्थानों पर स्वीकार करते हुए प्रतीत होते हैं, उदाहरणार्थ सांख्य-योग का गुण सिद्धान्त 'सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ' तथा 'स्त्रियाम्' सूत्रों के भाष्य में देखा जा सकता है।[4] सत्कार्य वाद का परिचय 'स्थानेऽन्तरतमः'[5] के भाष्य में, विकार से गुणान्तराधान का सिद्धान्त 'कम्बलाच्च संज्ञायाम्' तथा 'विभाषा हविरपूपादिभ्यः'[6] के भाष्य में एवं इन्द्रियों से बुद्धि के भेद का सिद्धान्त 'क्षिप्रवचने लिट्' सूत्र[7] के व्याख्यान में उपलब्ध है। इसी प्रकार स्फोटवाद को महाभाष्यकार एवं योगसूत्रकार दोनों ही स्वीकार करते प्रतीत होते हैं; अतः योगसूत्रकार पतंजलि एवं महाभाष्कार पतंजलि को अभिन्न मानना ही अधिक उचित प्रतीत होता है।

पतंजलि का समय एवं योगसूत्र का रचना कालः—

महाभाष्यकार और योगसूत्रकार पतंजलि को अभिन्न मान लेने पर पतंजलि का अथवा योगसूत्र की रचना का समय निर्धारण करना अधिक कठिन नहीं रह जाता। क्योंकि महाभाष्य में ऐसी सामग्री पर्याप्त मात्रा में भरी हुई है, जिससे उसके रचयिता का समय निर्धारण करने में अत्यधिक सुविधा मिलती है। उदाहरणार्थ पतंजलि ने शुंगवंशीय राजा पुष्यमित्र द्वारा किसी ऐसे विशाल यज्ञ के किये जाने का संकेत किया है, जिसमें अनेक पुरोहितों ने भाग लिया था। पतंजलि भी इस यज्ञ में आचार्य थे। इस यज्ञ के लिए वरण किये गये पुरोहितों में कुछ क्षत्रिय भी थे तथा ब्राह्मण होने के कारण पतंजलि ने क्षत्रिय याज्ञिकों पर कटाक्ष भी किया है।[8] पुष्यमित्र के इस यज्ञ में आचार्य होने के कारण पतंजलि को

---

१. अष्टाध्यायी १.२.५८ एवं १.२.६४।
२. महाभाष्य १.१.१ पृ०।
३. व्यासभाष्य पृ० ३६७।
४. महाभाष्य ४.२.६४ एवं ४-१-३।
५. वही १. १-५०।
६. वही ५, १-३-४।
७. वही ३.३.१३३।
८. वही ३-३-१४७ पृ० ३०२।

एक स्थान पर पर्याप्त समय तक रुकना पड़ा था और वहाँ वे छात्रों को व्याकरण पढ़ाते थे।[1] यज्ञ के इस प्रसंग में उन्होंने यह भी स्पष्ट किया है कि यज् धातु का अर्थ केवल अग्नि में आहुति डालना ही नहीं है, अपितु त्याग करना भी है, इसीलिए अत्यधिक दान देने पर 'अहो यजते' यह प्रयोग भी होता है। इसी प्रकार यज्ञ में द्रव्य का त्याग पुष्यमित्र करता है, याजक लोग केवल उसके प्रेरक हैं, अतएव 'पुष्यमित्रो यजते, याजका याजयन्ति' यह कथन संगत होता है, इसके विपरीत 'पुष्यमित्रो याजयते याजका यजन्ति' यह प्रयोग नहीं होता।[2] पुष्यमित्र के इस अश्वमेघ यज्ञ में भाष्यकार ने 'प्रवृत्तस्याविरामः' कहकर वर्त्तमान कालिक प्रयोग किया है।[3] अतः निस्सन्देह पतंजलि को पुष्यमित्र का समकालीन होना चाहिए। ऐतिहासिकों के अनुसार पुष्यमित्र के सिंहासनारोहण का समय ईसा पूर्व १८५ बी० सी० होना चाहिए तथा मत्स्यपुराण के अनुसार पुष्यमित्र का शासनकाल केवल छतीस वर्ष है।[4] अतः उसका शासन काल ईसा पूर्व १८५ से १४६ ई० पू० तक होना चाहिए। इसी अवधि में पतंजलि का कार्यकाल महाभाष्य एवं योगसूत्रों की रचना का समय माना जा सकता है।

उपर्युक्त पुष्यमित्र के यज्ञ विवरण के अतिरिक्त पतंजलि ने महाभाष्य में यवन द्वारा साकेत एवं माध्यमिका पर डेरा डालने का संकेत भी किया है। भाष्यकार ने यद्यपि इन दोनों आक्रमणों को नहीं देखा किन्तु वे उसे देख सकते थे। ये दोनों घेरे एक ही यवन द्वारा डाले थे, किन्तु वह उन्हें जीत न सका और बीच में ही उसे घेरा उठाना पड़ गया अथवा उसे पराजित होकर भाग जाना पड़ा, ऐसी सूचना भी मिलती है।[5] गोल्डस्टूकर के अनुसार साकेत और माध्यमिका का अवरोध करने वाला मिनाण्डर था, जिसका शासन काल ईसा पूर्व द्वितीय शताब्दी है। प्रो० लेसेन के अनुसार वह १४४ ई० पू० में हुआ है, उसने भारत के अंगभूत पंजाब और अफगानिस्तान पर अपना शासन स्थापित कर लिया था। इसकी सूचना मुद्राओं पर अंकित 'महाराजस्स ....मिलिन्दस्स' इत्यादि वाक्यांश से मिलती है। अतः पतंजलि एवं उनकी रचना योगसूत्र तथा महाभाष्य की रचना का समय भी ईसा पूर्व द्वितीय शताब्दी मानना अनुचित नहीं है।[6]

बेवर पतंजलि का समय ईसा की प्रथम शताब्दी का पूवीर्ध मानते हैं। वे 'अरुणद् यवनो माध्यमिकाम्' में यवन पद से राजा कनिष्क तथा माध्यमिक पद

१. महाभाष्य ३.२. १२३ पृ० २५४।
२. वही ३-१-२६ पृ० ७४।
३. वही ३-२-१२३ पृ० २४५।
४. मत्स्यपुराण अ० २७१ श्लोक २६ पृ० ७५४।
५. महाभाष्य ३-२-१११ पृ० २४६-२४७।
६. Collected Works of Dr. Bhandarkar Part 1 P. 108-114.

से बौद्धों की माध्यमिक शाखा का ग्रहण करते हैं, तथा उनके अनुसार कनिष्क बौद्धधर्म (महायान) में दीक्षित होने से पूर्व हीनयान का पक्षपाती रहा है एवं वह माध्यमिकों के नाश के लिए निरन्तर प्रयत्न करता रहा है।

इसके अतिरिक्त जे० एच० वूड्स के अनुसार योगसूत्रकार पतंजलि का समय ३०० से ५०० ई० के मध्य होना चाहिए।[1] उनका विचार है कि योगदर्शन के सूत्र 'शान्तोदिताव्यपदेश्यधर्मानुपाती धर्मी', (३-१४) 'क्रमान्यत्वं परिणामान्यत्वे हेतुः' (३-१५), 'परिणामैकत्वाद् वस्तुतत्त्वम्' (४-१४), 'वस्तुसाम्ये चित्तभेदात्तयोः विविक्तः पन्था' (४-१५) 'तदुपरागापेक्षितत्वाच्चित्तस्य वस्तुज्ञाताज्ञातम्' (४-१७), 'सदाज्ञाताश्चित्तवृत्तयः तत्प्रभोः पुरुषस्यापरिणामित्वात्' (४-१७), 'न तत्स्वाभासं दृश्यत्वात्' (४-१६), 'एक समये चोभयानवधारणम्' (४-२०), 'चित्तान्तरदृश्ये बुद्धिबुद्धेरतिप्रसङ्गः स्मृतिसंकरश्चः' (४-२१), चितेरप्रतिसंक्रमायास्तदाकारापतौ स्वबुद्धिसंवेदनम् (४-२२) सूत्रों में बौद्धों के निरालम्बन सम्प्रदाय (विज्ञानवाद) का खण्डन किया गया है। उनके अनुसार यद्यपि यहाँ वसुबन्धु के विज्ञानवाद का खण्डन किया गया है, यह निस्सन्दिग्ध रूप से कहना संभव नहीं है, किन्तु इसकी संभावना को भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता; तथा यह भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि वसुबन्धु से पूर्व भी विज्ञानवाद के बीज उसी प्रकार विद्यमान थे, जिस प्रकार पतंजलि से पूर्व योगदर्शन के विद्यमान थे; तथापि वाचस्पति मिश्र का यह स्वीकार करना कि यहां पतंजलि वसुबन्धु के विज्ञानवाद का खण्डन कर रहे हैं, दूसरे पक्ष में पर्याप्त सबल प्रमाण हो सकता है। उनका कहना है कि विज्ञानवाद की आलोचना में सूत्रकार ने भले ही वसुबन्धु का नाम नहीं लिया है और ऐसा करना सूत्र में सम्भव भी नहीं था, किन्तु सूत्रकार का आक्रमण निस्सन्देह विज्ञानवाद पर है। एवं वाचस्पति मिश्र उस विज्ञानवादी आचार्य को वसुबन्धु से अभिन्न स्वीकार करना चाहते हैं। एक अन्य स्थल पर वाचस्पति मिश्र वसुबन्धु से भिन्न किसी अज्ञातनामा बौद्ध आचार्य से वसुबन्धु के विज्ञानवाद का अन्तर प्रस्तुत करते हैं। यदि यह तथ्य स्वीकार किया जाये तो यह स्पष्ट हो जाता है कि पतंजलि का संकेत प्रसिद्ध शून्यवाद के व्याख्याता नागार्जुन की ओर है, जिनका समय वसुबन्धु से कुछ ही पूर्व अर्थात् ईसा की द्वितीय शताब्दी है। चीनी भाषा में उपलब्ध नागार्जुन के ग्रन्थों से पता चलता है कि नागार्जुन योग परम्परा से अपरिचित नहीं थे। उदाहरणार्थ चीनी भाषा में ४७२ ई० में अनूदित नागार्जुन के उपाय कौशल्य हृदयशास्त्र में दर्शनिकों के आठ सम्प्रदायों की चर्चा मिलती है जो निम्नलिखित हैं:– (१) अग्निपूजक, (२) मीमांसक, (३) वैशेषिक, (४) सांख्य, (५) योग, (६) निर्ग्रन्थ, (७) ब्रह्मवादी एवं

---

१. Introduction to the yoga system of Patanjali p.XVII-XX.

(८) बहुदेवतावादी। पतंजलि बौद्ध लेखकों के लिए अपरिचित नहीं थे, फिर भी यह कथमपि नहीं कहा जा सकता कि नागार्जुन का संकेत पतंजलि की ओर है, जो कि निरालम्बन सम्प्रदाय की दोनों ही शाखाओं (शून्यवाद और विज्ञानवाद) का खण्डन करते हैं। अधिक संभव है कि नागार्जुन का संकेत जैगीषव्य अथवा पंचशिख की ओर हो, जिनका उल्लेख व्यासभाष्य में मिलता है। इस प्रकार उनके अनुसार इतना तो निश्चित रूप से स्वीकार किया जा सकता है कि पतंजलि का समय विज्ञानवाद और शून्यवाद के प्रारम्भ के बाद का है।

पतंजलि की परवर्ती सीमा के सन्दर्भ में महावंश में सुनिश्चित प्रमाण मिल सकता है, यदि उसकी (महावंश की) प्रामाणिकता स्वीकार की जा सके। महावंश का निम्नलिखित पद्य इस सन्दर्भ में द्रष्टव्य है :–

'विहारमेकमागम्म रतिं पातंजलीततं परिवत्तेति'।[१]

यहाँ यह विवरण बुद्ध घोष से सम्बन्धित है, जिनका समय पंचम शताब्दी का पूर्वार्ध सुनिश्चित है[२], विंटरनित्ज ने महावंश का रचनाकाल पाँचवी शताब्दी का अन्तिम भाग माना है[३], तथा प्रो० गाइगर के अनुसार महावंश का रचनाकाल ईसा की षष्ठ शताब्दी का प्रथम चतुर्थांश होना चाहिए।[४] अतः पतंजलि की अन्तिम समय सीमा पंचम शताब्दी के बाद नहीं हो सकती। किन्तु इस सन्दर्भ में इतना विचारणीय अवश्य है कि यदि बुद्धघोष पातंजल योगपद्धति से परिचित रहे हैं, तो उन्होंने सम्पूर्ण विसुद्धि मग्ग में एवं अत्थसालिनी टीका में पतंजलि का उल्लेख क्यों नहीं किया है ?

पतंजलि की अन्तिम सीमा निर्धारण के सन्दर्भ में एक अन्य प्रमाण उमास्वाति के तत्त्वार्थाधिगम सूत्र में मिलता है। तत्त्वार्थाधिगम की सूत्र संख्या २-५२ में योगदर्शन के विभूतिपादान्तर्गत 'सोपक्रमं निरुपक्रमं च कर्म तत्संयमादपरान्तज्ञानमरिष्टेभ्यो वा' (यो० सू० ३-२२) का स्पष्ट उल्लेख है। उमास्वाति के समय का निर्धारण यद्यपि अब तक प्रामाणिक रूप से न हो सका है, किन्तु उनके टीकाकार सिद्धसेन का समय प्रोफेसर जेकोवी ने षष्ठ शताब्दी का मध्यभाग स्वीकार किया है। इस आधार पर यदि टीका और मूलग्रन्थ तथा मूलग्रन्थ और उसके उद्धृत योगसूत्र के बीच का १५० वर्ष का भी समय मान लिया जाए तो पतंजलि का समय ५०० ई० के बाद नहीं रखा जा सकता।

---

१. महावंश ३७-१६७।
२. पाली साहित्य का इतिहास पृ० ५६१।
३. History of Indian Literature II p. 522, 536.
४. JRS. 1909 p. 5 f. n. 1.

जे० एंच० वूड्स के अनुसार पतंजलि की पूर्व सीमा अधिक पहले नहीं रखी जा सकती, क्योंकि दिङ्नाग उनसे सर्वथा अपरिचित है, तथा उनका समय ५५० ई० या उससे पूर्व है, जैसा कि स्चेरवात्स्की की रिपोर्ट से पता चलता है। दूसरा कारण योगसूत्र के भाष्य का अधिक प्राचीन न होना है। अतः योग सूत्र का रचना काल अधिक पहले ले जाना सम्भव नहीं है। अतएव वे इसे ३०० से ५०० ई० के मध्य की रचना स्वीकार करते हैं।

वूड्स के उपर्युक्त मत को अब तक प्रतिष्ठा न मिल सकी है : उसका मुख्य कारण उनके तर्कों का नितान्त निर्बल होना है। उनके अनुसार पतंजलि कृत सूत्रों में निरालम्बवादी बौद्धों का खण्डन स्वीकार करने पर भी उनकी रचना का काल वसुबन्धु के बाद सिद्ध नहीं होता, क्योंकि उस सम्प्रदाय के बीज उनसे पूर्व भी दार्शनिक जगत् में पर्याप्त रूप से अंकुरित हो चुके थे, जैसा कि वे स्वयं स्वीकार करते है। तथा ४७२ ई० में चीनी भाषा में अनूदित नागार्जुन के ग्रन्थ उपायकौशल्य हृदयशास्त्र में योग की सुप्रतिष्ठित दार्शनिक सम्प्रदायों के मध्य चर्चा होने से यह तो भावना पड़ेगा कि उसी काल में या एक सौ वर्ष पूर्व प्रवर्त्तित दार्शनिक सम्प्रदाय इतने कम समय में इतना प्रतिष्ठित नहीं हो सकता कि उसे नागार्जुन उल्लेखनीय समझें।

इसके अतिरिक्त कौटिल्य के अर्थशास्त्र में योगदर्शन का उल्लेख होने से उसकी विद्यमानता कौटिल्य अर्थशास्त्र की रचना काल से पूर्व तो अवश्य ही माननी चाहिए।

इसी प्रकार महाभाष्यकार पतंजलि और योगसूत्रकार पतंजलि को परस्पर भिन्न मानने के लिए उनके द्वारा दिये गये तर्कों को सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त ने सर्वथा निर्मूल सिद्ध कर दिया है; अतः दोनों को अभिन्न मानने पर योगसूत्रकार पतंजलि को भी पुष्यमित्र का समकालीन अर्थात् ईसा पूर्व द्वितीय शताब्दी का मानना ही एक मात्र विकल्प रह जाता है। फलतः योगसूत्र का रचना काल ईसा पूर्व द्वितीय शताब्दी मानना समुचित होगा।

योगसूत्रकार पतंजलि से अतिरिक्त एक अन्य पतंजलि भी हुए हैं, जिनके कार्यकाल आदि के सम्बन्ध में निश्चयपूर्वक कुछ सकना सम्भव नही है। इन पतंजलि का अनुमान अलबरूनी द्वारा अनूदित 'किताब पातंजल' नामक ग्रन्थ के नाम से ही किया जाता है। अलबरूनी के अनुसार उसके समय में यह ग्रन्थ अत्यन्त प्रसिद्ध रहा है। उसने इसका अनुवाद, जिसे वह कपिल द्वारा रचित सांक (सांख्य) कहता है, के नाम के साथ लिया है। यह ग्रन्थ गुरु और शिष्य के संवाद के रूप में लिखित है और निस्सन्देह वर्त्तमान योगसूत्र से भिन्न है। इस ग्रन्थ का प्रयोजन भी योगसूत्र के समान ही मोक्ष मार्ग का प्रतिपादन करना है, इसमें आत्मा का आराध्य के साथ तादात्म्य स्थापित करने की प्रक्रिया का निर्देश किया

गया है। अलबरूनी इस ग्रन्थ का नाम 'किताब पातजल' कहता है, जिसका अर्थ 'पतंजलि का ग्रन्थ' होना चाहिए। उसके अनुसार उसके समय में इस ग्रन्थ पर भी व्याख्यात्मक भाष्य विद्यमान था। वह उस भाष्य का उद्धरण अनेक स्थलों पर देता है, किन्तु उसने उसके लेखक की कोई चर्चा नहीं की है। इस ग्रन्थ में परमात्मा, आत्मा, बन्धन कर्म और मोक्ष आदि का विवेचन किया गया है, जो कि योगसूत्र के वर्ण्य विषय से पर्याप्त साम्य रखता है, किन्तु इनका विवेचन इसमें जिस प्रकार से किया गया है, जिसकी सूचना अलवरूनी के द्वारा प्राप्त होती हैं, उससे पता चलता है कि योगसूत्र के सिद्धान्तों से उसमें कुछ परिवर्त्तन हो गया है। उदाहरणार्थ अलवरूनी अनूदित किताब पातंजल में वर्णित ईश्वर योगसूत्र के ईश्वर के समान ही सर्वव्यापक एवं सार्वकालिक है, किन्तु उसके अनुसार ईश्वर मनुष्यों को वेदों का ज्ञान प्रदान करता है, उन्हें योग का मार्ग दिखाता है और उन्हें उस पथ का पथिक बना देता है कि वे उसका साक्षात्कार कर सकें। उक्त ग्रन्थ के अनुसार नाम बिना वस्तु के नहीं हो सकता एवं ईश्वर का नाम है, अतः ईश्वर भी अवश्य है। आत्मा उसका साक्षात्कार करता है, चिन्तन के द्वारा उसके गुणों की प्रतीति होती है। उपास्य के साथ अभेदानुभूति को ही समाधि कहते हैं। योग सूत्र में इन विषयों का कहीं उल्लेख नहीं है।

जीवात्मा और चित्त आदि के सम्बन्ध में उसका योगसूत्र से विचार भेद नहीं है। उसके अनुसार योग अर्थात् जीव और ईश्वर के मिलन की प्रथमावस्था में ही आठ सिद्धियों की प्राप्ति होती है, तदनन्तर योग की चार अवस्थाएँ वितर्क, विचार, आनन्द और अस्मिता, जिनका वर्णन योग सूत्र में भी मिलता है, प्राप्त होती हैं। उसके अनुसार योग (समाधि) सिद्धि के लिए चार उपाय हैं, (१) अभ्यास, (२) वैराग्य (३) ईश्वर प्रणिधान एवं (४) रसायन। योगसूत्र में अभ्यास वैराग्य एवं ईश्वर प्रणिधान का वर्णन तो मिलता है, किन्तु रसायन का नहीं। रसायन का ईश्वर अथवा मोक्ष प्राप्ति के साधन के रूप में वर्णन केवल रसेश्वर दर्शन में मिलता है, जिसमें यह स्वीकार किया गया है कि शारीरिक स्थिरता पारद आदि रसों के सेवन से सम्भव है तथा शारीरिक स्थिरता मोक्ष के प्रति आवश्यक है। इस प्रकार पारद आदि मोक्ष के प्रति कारण हैं।[1] इतना ही नहीं, वहां अभ्रक को पार्वती का एवं पारद को शिव का बीज बताते हुए[2] माना गया है कि संसार से पार कराने वाला होने से ही पारद को पारद कहा जाता है।[3] मोक्ष के सन्दर्भ में किताबपातंजलकार का वही मत प्रतीत होता है, जैसा कि योगदर्शन के 'तदभावे संयोगाभावो हानं तद्दृशेः कैवल्यम्' तथा 'पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यम् स्वरूपप्रतिष्ठा

१. भारतीय न्यायशास्त्र : १ अध्ययन पृ० ६-१०।
२. रसार्णवतन्त्र शिवपार्वती संवाद।
३. गोविन्दपादकारिका।

वा चितिशक्तेरिति'[1] इत्यादि सूत्रों में वर्णित है। किन्तु मुक्तावस्था के सन्दर्भ में वहाँ एक स्थल पर कहा गया है कि जीवात्मा ब्रह्म में लीन हो जाता है, अथवा उसका सान्निध्य प्राप्त कर लेता है। ब्रह्म के सम्बन्ध में वहाँ कहा गया है कि वह ऊर्ध्व 'मूल अवाक्शाख अश्वत्थ है, जैसा कि उपनिषदों में वर्णित है,[2] यहाँ मूल के रूप में ब्रह्म, शाखा के रूप में वेद तथा टहनियों के रूप में विविध सम्प्रदायों के सिद्धान्त लिये जा सकते हैं, तथा इन सभी को शक्ति उस मूल ब्रह्म से ही प्राप्त होती रहती है। उपासक उपासना अथवा अभ्यास आदि उपायों के द्वारा शाखाओं को छोड़कर मूल को प्राप्त कर लेता है।[3]

किताबपातंजल एवं योगसूत्र में मुख्य रूप से अन्तर निम्नलिखित हैः—

१—इस ग्रन्थ में ईश्वर का महत्त्व अत्यधिक है, केवल ईश्वर का ध्यान ही मोक्ष प्राप्ति का एक मात्र साधन है, जब कि योगसूत्र में पतंजलि ने अभ्यास और वैराग्य की समन्वित साधना को सर्वाधिक महत्त्व दिया है। उनके अनुसार ईश्वर प्रणिधान ईश्वर का ध्यान न होकर उसके प्रति सर्वात्मना समर्पण है, जैसा कि भाष्यकार व्यास स्वीकार करते है।[4]

२—इस ग्रन्थ के अनुसार यम और नियमों का महत्त्व अत्यन्त अल्प है; जब कि योगसूत्र में यमों और नियमों को योग के आठ अंगों में अन्यतम स्वीकार किया गया है।[5] वे लोभ, क्रोध मोह की निवृत्ति से सिद्ध होते हैं, जो वैराग्य साधना का मूल है।

३—योगसूत्र के अनुसार ईश्वर के बिना भी धारणा एवं ध्यान आदि के अनन्तर चित्तवृत्तियों का निरोध (समाधि लाभ) हो सकता है, जब कि किताब पातंजल में ऐसी कोई व्यवस्था नहीं है।[6]

४—वहाँ योग-समाधि तथा मोक्ष तीनों ही जीव और ईश्वर के अभेद द्वारा परिभाषित किये गये है।[7] जब कि योगसूत्र में योग की परिभाषा 'चित्तवृत्तियों का निरोध' की गयी है।

५—वहाँ ब्रह्म का विशिष्ट वर्णन किया गया है;[8] जब कि योगसूत्र में उसे महत्त्व नहीं दिया गया है।

---

१. योगसूत्र २-२५ एवं ४-३४।
२. (क) कठोपनिषद् २-३-६। (ख) भगवद्गीता १५।१-३।
३. दि हिस्ट्री ऑफ इंडियन फिलॉसफी, दासगुप्ता पृ० २३४-३५।
४. व्या० भा० २.१। ५. योगसूत्र २, २६।
६. दि हिस्ट्री ऑफ इंडियन फिलॉसफी, दासगुप्ता पृ० २३५।
७. (क) वही पृ० २३५। (ख) योगसूत्र १-१।
८. दि हिस्ट्री ऑफ इंडियन फिलॉसफी, दासगुप्ता पृ० २३५।

६. वहाँ योग के साधनों में अभ्यास, वैराग्य, ईश्वर प्रणिधान, एवं रसायन का स्वतन्त्र चार उपायों के रूप में उल्लेख हुआ है, जबकि पतंजलि ने अभ्यास और वैराग्य को एक उपाय माना है। ईश्वर प्रणिधान को स्वतन्त्र उपाय न मान कर क्रियायोग और योगांगों में अन्यतम नियम का एक अंग माना है, तथा रसायन की चर्चा भी नहीं की है। स्मरणीय है कि 'ईश्वर प्रणिधानाद्वा' सूत्र में वर्णित ईश्वर प्रणिधान अर्थभावनापूर्वक प्रणव जप रूप है ध्यान रूप नहीं। साथ ही यह प्रणवजप प्रच्छर्दन विधारण रूप प्राणसाधना, विशोका ज्योतिष्मती प्रवृत्ति, विषयवती प्रवृत्ति तथा यथाभिमत ध्यान आदि पतंजलि स्वीकृत पथ न होकर उस काल में पूर्व से प्रचलित साधना पद्धतियां हैं, जिनका संकेत उन्होंने बिना टिप्पणी के किया है। साथ ही यह भी माना है कि इन उपायों द्वारा योगी को परमाणु-परममहत् पर्यन्त ही पहुँच हो पाती है। जबकि अभ्यास वैराग्य की साधना निर्बीज समाधि (असंप्रज्ञातयोग) तक पहुँचाकर कैवल्य तक प्रदान करती है। वहाँ योग के साधनों में रसायन का भी समावेश किया गया है।[१]

उपर्युक्त विवरण के आधार पर कहा जा सकता है कि इस ग्रन्थ (किताब पातंजल) में योग के सिद्धान्तों को वेदान्त, तन्त्र एवं रसेश्वर दर्शन से प्रभावित होकर योगसूत्र के आधार पर विकसित किया गया है। इस ग्रन्थ में रसायन को योग के अन्यतम साधन के रूप में देखकर कहा जा सकता है कि सम्भवतः इसका रचयिता नागार्जुन के अनन्तर हुआ है। और यह भी सम्भव है कि इसका लेखक ही पातंजल तन्त्र का भी लेखक हो,[२] जिसका कि उल्लेख शिवदास ने रसायन के सन्दर्भ में किया है। सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त के अनुसार संभवतः इसकी रचना के समय तक योगसूत्र पर व्यास का भाष्य नहीं लिखा गया था, अथवा उसको ख्याति प्राप्त नहीं हुई थी।[३] अलवरूनी के अनुसार उसके समय इस ग्रन्थ को अत्यधिक ख्याति मिली हुई थी। इस आधार पर यह अनुमान किया जा सकता है कि इस ग्रन्थ की रचना ३००-४०० A. D. के मध्य हुई है, एवं इसका लेखक योगसूत्रकार पतंजलि से भिन्न है। नाम साम्य के कारण ही संभवतः चक्रपाणि और भोज को इसके लेखक (महाभाष्यकार) और योगसूत्रकार पतंजलि के बीच अभेद का भ्रम हो गया है। अधिक सम्भव है योगभाष्यकार व्यास ने 'स्थूलस्वरूपसूक्ष्मान्वयार्थवत्त्वसंयमाद्‌:' (३-४४) सूत्र की व्याख्या में जिस पतंजलि का उल्लेख किया है[४] वह यही पतंजलि हों।

---

१. दि हिस्ट्री ऑफ इंडियन फिलॉसफी, दासगुप्ता पृ० २३५।
२. वही २३५।
३. वही २३५।
४. व्यासभाष्य पृ० ३६७।

कुछ विद्वानों का विचार है कि पतंजलि आचार्य शंकर के गुरु गोविन्दपाद से अभिन्न हैं। आचार्य उदयवीर शास्त्री के अनुसार आचार्य शंकर का समय ईसा पूर्व तृतीय चतुर्थ शताब्दी है, अतः गोविन्दपाद का समय तृतीय चतुर्थ शताब्दी पूर्व होना चाहिए। जो ऐतिहासिक विद्वान् आचार्य शंकर को ईसा की आठवीं शताब्दी में स्वीकार करते हैं उनके अनुसार बुद्धघोष (पांचवी शताब्दी) उमास्वाति (पांचवी शताब्दी) के ग्रन्थों में पतंजलि का उल्लेख होने से यह मत मान्य नहीं हो सकता।

महर्षि व्यास और उनका योगभाष्य–

संस्कृत वाङ्मय के इतिहास में व्यास नाम अत्यधिक विवादास्पद रहा है। महाभारत १८ पुराण १८ उपपुराण वेदान्त सूत्र एवं योगसूत्र पर भाष्य इस विशाल निधि के लेखक एक ही व्यास हैं, ऐसी मान्यता प्राचीन विद्वानों की रही है। किन्तु आधुनिक आलोचकों और इतिहासविदों का विचार है कि प्राचीन काल में विद्वानों की क्रमिक परम्परा में सर्व प्रतिष्ठित विद्वान् व्यास कहे जाते रहे हैं, दूसरे शब्दों में किसी पीठ विशेष के अध्यक्ष पद पर प्रतिष्ठित विद्वान् को व्यास कहा जाता रहा है, अथवा यह एक पद रहा है, जिस पर प्रतिष्ठित विद्वान् को व्यास नाम से पुकारा जाता रहा है। इस मान्यता के अनुसार व्यास नामक मुनि एक न होकर असंख्य हुए हैं और उसी परम्परा के पीठासीन विद्वानों द्वारा अथवा उनके द्वारा नियुक्त विद्वानों द्वारा रचित साहित्य व्यासकृत साहित्य के रूप में प्रतिष्ठित हुआ है। इस पीठ क़े प्रतिष्ठापक आचार्य ने सर्वप्रथम वेदों का वर्गीकरण (व्यास) किया था और इस कारण वे व्यास के नाम से प्रसिद्ध हुए हैं। पुराणों के अनुसार इनके पिता का नाम पाराशर एवं माता का नाम सत्यवती रहा है।[1] इनके पुत्र का नाम शुक रहा है। इन्हें ही कृष्ण द्वैपायन अथवा केवल द्वैपायन भी कहा जाता है। बहुत सम्भव है इनका नाम कृष्ण रहा हो, द्वीप में जन्म लेने के कारण इन्हें द्वैपायन और वेदों का वर्गीकारण करने के कारण वेद व्यास कहा जाता हो।

देवी भागवत के अनुसार वेदों का वर्गीकरण प्रायः प्रत्येक द्वापर में होता आया है, और यह कार्य अब तक २८ बार हुआ है, अतः कुल वेद व्यासों की संख्या २८ है, जिनमें प्रथम स्वयंभू एवं अन्तिम कृष्ण द्वैपायन हैं।[2] पुराणों में व्यास के काल की चर्चा प्रायः नहीं हुई है। यदि यह मान लिया जाये कि प्रतिबार वेदों के व्यास (वर्गीकरण) करने वाले द्वापर में ही हुए हैं, जैसा कि देवी भागवत में वर्णन मिलता है, साथ ही यदि वेदों के वर्गीकरण का कार्य द्वापर में भी समाप्ति के अवसर पर मान लिया जाये तो भी व्यास का समय कलि समय अर्थात् ईसा से

---

१. (क) देवीभागवत १-४-४।
   (ख) पाराशर्य स्मृति १-४-३२।
२. देवीभागवत १, ३।२६-१।

३१०० वर्ष पूर्व सिद्ध होगा क्योंकि ज्योतिष् गणना के अनुसार ईसा का जन्म कलिसंवत् के ३१०० में वर्ष में हुआ था। किन्तु प्रमाणों के अभाव के कारण ऐतिहासिक विद्वान् महाभारत पुराणों के अथवा वेदान्तसूत्र आदि के रचयिता व्यास का उपर्युक्त स्थितिकाल मानने के पक्ष में नहीं हैं, इसका मुख्य कारण पुराणों की ऐतिहासिक प्रामाणिकता का अभाव है।

व्यास के स्थितिकाल की अनिश्चिता के समान ही यह भी निश्चित नहीं है कि योगभाष्य के रचयिता व्यास वेदव्यास ही हैं, अथवा उनसे भिन्न कोई अन्य। वाचस्पति मिश्र ने व्यासभाष्य पर टीका करते हुए उन्हें वेदव्यास के नाम से ही स्मरण किया है।[1] यही मत वार्तिककार विज्ञानभिक्षु का है।[2] किन्तु इन वेदव्यास का स्थिति काल क्या है ? इसके सम्बन्ध में ऐतिहासिकों का अब तक कोई अन्तिम निर्णय न हो सका है।

जे० एच० वूड्स का अनुमान है कि व्यास भाष्य की रचना ६५० से ८५० के मध्य में हुई है। इस सम्बन्ध में उनके तर्क निम्नलिखित हैं :—

१—व्यास भाष्य का रचना काल ३५० से पूर्व नहीं रखा जा सकता क्योंकि व्यास ने 'जातिलक्षणदेशैरन्यतानवच्छेदात् तुल्ययोस्ततः प्रतिपत्तिः'[3] सूत्र के भाष्य में 'अपरेतु वर्णयन्ति-येऽन्त्या विशेषास्तेऽन्यता प्रत्ययं कुर्वन्तीति,....... अत उक्तं मूर्तिव्यवधिज्ञातिभेदाभावान्नास्ति मूलपृथक्त्वमिति वार्षगण्यः'[4] इत्यादि द्वारा अपने पूर्ववर्त्ती आचार्य वार्षगण्य का उल्लेख किया है। इसी प्रकार एक अन्यस्थल पर भाष्यकार ने 'तथा च शास्त्रानुशासनम्' कहते हुए—

> "गुणानां परमं रूपं न दृष्टिपथमृच्छति।
> यत्तु दृष्टिपथं यातं तन्मायेव सुतुच्छकम्"।।[5]

इत्यादि पद्य उद्धृत किया है। व्यास भाष्य में उपलब्ध इन उद्धरणों से व्यास के स्थितिकाल के निर्धारण में पर्याप्त संकेत मिलता है। वाचस्पति मिश्र के अनुसार वार्षगण्य योगशास्त्र के आचार्यों में अन्यतम हैं तथा व्यासभाष्य में 'गुणानां परमं रूपं' इत्यादि पद्य को भी उन्होंने वार्षगण्य के नाम से उद्धृत किया है।[6] इस प्रकार वाचस्पति मिश्र के प्रामाण्य के आधार पर कहा जा सकता है कि

---

१. तत्त्ववैशारिदी १-२।
२. योगवार्तिक १-२।
३. योगसूत्र ३-५३।
४. योगभाष्य ३-५३ पृ० ३६६-८७।
५. वही ४-१३ पृ० ४१४-१५।
६. वेदान्तसूत्र २।१-२-३। निर्णयसागरसंस्करण पृ० ३५२।

वार्षगण्य व्यास से प्राचीन योगविद्या के आचार्य हैं। क्योंकि व्यासभाष्य में वार्षगण्य का उद्धरण दो बार हुआ है। अतः यह भी कहा जा सकता है कि वार्षगण्य के वचनों को उस काल में शास्त्रानुशासन के रूप में प्रामाणिक स्वीकार किया जाता रहा है। उनका यह भी विचार है वार्षगाण्य वसुबन्धु के प्राचीनतम टीकाकार हैं। प्रो० टकाकुसु (Takakusu) ने परमार्थ के चीनी अनुवाद से तुलना करते हुए वसुबन्धु का समय ४२ ई० से ५०० ई० के मध्य स्वीकार किया है।[1] प्रो० सिल्वेन लेवी ने असंग नामक ग्रन्थ में उपर्युक्त मान्यता की पुष्टि की है। किन्तु प्रो० वोगिहर (Wogihara) एवं मोनशेर न्योलपेर (Monsieur Noel Peri) ने अनेक प्रमाणों के आधार पर वसुबन्धु का मृत्युकाल ३५० निर्धारित किया है।[2] इसी प्रकार बी० शीवो (B. shiewo) के अनुसार वसुबन्धु का स्थिति काल २७० से ३५० ई० के मध्य होना चाहिए। प्रो० बूह्लर (Buhler) ने भी वसुबन्धु का यही समय स्वीकार किया है। अतः जे० एच० वूड्स के अनुसार वसुबन्धु के टीकाकार वार्षगण्य का उल्लेख करने वाले योगभाष्यकार व्यास का समय समय ३५० से पूर्व कथमपि नहीं हो सकता है।[3]

जे० एच० वूड्स के अनुसार योगभाष्यकार व्यास की तिथि के निर्धारण में 'एतेन भूतेन्द्रियेषु धर्मलक्षणावस्थापरिणामाः व्याख्याताः'[4] सूत्र की व्याख्या करते हुए प्रासंगिक रूप से लिखित 'यथैका रेखा शतस्थाने शतं दशस्थाने दशैकं चैकस्थाने'[5] इत्यादि वाक्य में दशमलव प्रणाली का प्रयोग महत्त्वपूर्ण है। ऐतिहासिकों के अनुसार दशमलव प्रणाली का प्राचीनतम प्रयोग ५१६ ई० के गुर्जर अभिलेख में मिलता है। इसी प्रकार वाराहमिहिर से पूर्व गणित की पुस्तकों में दशमलव पद्धति का प्रयोग नहीं है, क्योंकि ऐतिहासिकों के अनुसार वाराहमिहिर का समय षष्ठ शताब्दी है, अतः व्यासभाष्य का रचनाकाल भी इसी के लगभग होना चाहिए। इस प्रकार वूड्स के अनुसार योगभाष्य के रचयिता व्यास ५०० ई० से पूर्व के नहीं हो सकते।[6]

---

१. जे०आर०ए०एस० जनवरी १६०५ पृ० १६-१८।

२. असंग भाग २ पृ० १-२, असंगबोधिसत्त्वभूमि, लिपजिंग १६०८ पृ० १४।

३. इंट्रोडक्शन टू योग सिस्टम ऑफ पतञ्जलि पृ० XX

४. योगसूत्र ३-१३।

५. योगभाष्य ३-१३ पृ० ३०४

६. इंट्रोडक्शन टू योग सिस्टम ऑफ पतञ्जलि पृ० २०-२१।

जे० एच० वूड्स ने व्यास की उत्तर सीमा निर्धारण के लिए माघकवि माघ के शिशुपालवध महाकाव्य से :—

> मैत्र्यादिचित्तपरिकर्मविदो विदग्ध-
> क्लेशप्रहाणमिह लब्धसबीजयोगाः।
> ख्यातिं च सत्त्वपुरुषान्यतयाधिगम्य
> वाञ्छन्ति तामपि समाधिभृतो निरोद्धुम्।।[१]

पद्य को उद्धृत किया है। इस पद्य में न केवल 'मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणाम्' इत्यादि योगसूत्र[२] का उल्लेख हुआ है अपितु इस सूत्र पर व्यास द्वारा दी गयी अवतरणिका का भी संकेत मिलता है। इस अवतरणिका में प्रयुक्त परिकर्म शब्द का प्रयोग संस्कृत साहित्य में प्रायः नहीं हुआ है। हाँ, बौद्ध साहित्य में अवश्य ही कभी-कभी यह शब्द प्रयुक्त हुआ है, किन्तु यहाँ शिशुपालवध में इस शब्द के प्रयोग के अनन्तर तत्काल ही मैत्री आदि का भी उद्धरण है, अतः निर्विवाद रूप से शिशुपालवध के उक्त पद्य में व्यासभाष्य गत परिकर्म शब्द का ही प्रयोग हुआ है, यह मानना चाहिए। क्योंकि महाकवि माघ का समय सप्तम शताब्दी का पूर्वार्ध सुनिश्चित है, अतः जे० एच० वूड्स के अनुसार भाष्यकार व्यास का समय भी ६५० ई० से पूर्व होना चाहिए।[३]

वूड्स द्वारा निर्धारित अन्तिम सीमा के सम्बन्ध में कोई विवाद नहीं होना चाहिए किन्तु जहाँ तक पूर्व सीमा निर्धारण के लिए उन्होंने जो तर्क दिये में उनमें कोई बल प्रतीत नहीं होता। व्यासभाष्य में वार्षगण्य आचार्य के मत का उल्लेख हुआ है, इसमें कोई सन्देह नहीं। वसुबन्धु के काल-निर्धारण के लिए भी उन्होंने अनेक तर्क दिये हैं किन्तु उन्होंने ऐसा कोई प्रमाण उपस्थित नहीं किया कि वार्षगण्य को वसुबन्धु का टीकाकार किस आधार पर स्वीकार किया जाए और इसे स्वीकार किये बिना उनके द्वारा तिथि निर्धारण के लिए लिये गये सभी प्रयत्न निरर्थक सिद्ध हो जाते हैं। इसी प्रकार उनका दूसरा तर्क व्यासभाष्य में दशमलव प्रणाली के संकेत के आधार पर है। उनका कहना कि दशमलव प्रणाली का प्रयोग छठी शताब्दी से पूर्व नहीं मिलता है, अतः व्यास को भी छठी शताब्दी के आसपास होना चाहिए जब कि वास्तविकता यह है कि पाणिनि की अष्टाध्यायी में ईसवीय शताब्दी के कई सौ वर्ष पूर्व दस बीस तीस चालीस पचास साठ सत्तर अस्सी नब्बे और सौ संख्यावाचक शब्दों के प्रयोग मिलते हैं।[४] जिससे पता चलता

---

१. शिशुपालवध ४-५५।
२. योगसूत्र १-३३।
३. इंट्रोडक्शन टू योग सिस्टम ऑफ पतञ्जलि पृ० २२१।
४. अष्टाध्यायी ४-१-५६।

है पाणिनि के समय में भी संख्याओं का विभाजन दस-दस के वर्गों में किया हुआ था अतः व्यास भाष्य में संख्याओं के दस-दस के विभाजन कें आधार पर व्यास को ५०० ईसवी बाद का निश्चित करना ठीक नहीं है। यह दूसरी बात है कि व्यास की तिथि निर्धारण करने के लिए समुचित प्रमाणों के अभाव में प्रमाणिक रूप से कोई तिथि निर्धारित करना संभव न हो।

राजमार्तण्डवृत्तिकार भोज :–

राजमार्त्तण्डवृत्ति, जिसे सामान्यतः भोजवृत्ति के नाम से जाना जाता है, की रचना दशम शताब्दी में भोज द्वारा की गयी है, ऐसा ऐतिहासिक विद्वान् स्वीकार करते हैं। वृत्ति के अन्त में पुष्पिका पद्य में भोज ने स्वयं को प्रतापी राजा स्वीकार किया है, तथा वे स्वयं को धारेश्वर कहते हैं, और अपनी वृत्ति को राजमार्त्तण्डवृत्ति'।[1] धाराधिपति भोज परमारवंशीय क्षत्रिय राजा थे। ऐतिहासिकों के अनुसार वे राजा मुंज के लघुभ्राता सिन्धुराज के पुत्र थे। भोजवृत्ति के अनुसार इनका वास्तविक नाम रणरंगमल्ल था। इन्होंने धारानगरी और इससे संबद्ध प्रदेश पर १००० से १०५५ ई० तक राज्य' किया था। रोहक इनके प्रधानमन्त्री तथा भुवनपाल प्रधानसेनापति थे। अपने बाहुबल और पराक्रम से इन्होंने अपने निकटवर्ती सभी दिशाओं में विद्यमान राज्यों को जीतकर विशाल साम्राज्य की स्थापना की थी। कहा जाता है कि इन्हें एक बार चालुक्य जयसिंह के पुत्र सोमेश्वर से पराजित भी होना पड़ा था, और धारा नगरी पर कुछ काल के लिए सोमेश्वर का अधिकार हो गया था, किन्तु कुछ ही काल में इन्होने पुनः धारा पर अधिकार कर लिया था। भोज ने जीवन का अधिकाशं भाग-युद्ध में ही व्यतीत किया था, एवं क्रमशः लाट देश कोङ्कण गुजरात चन्देलप्रदेश, कान्यकुब्ज आदि प्रदेशों को जीतकर अपने उज्ज्वल प्रताप को प्रतिष्ठापित किया था। इनकी सभा में विद्वानों का बड़ा सम्मान था। यह स्वयं भी अत्यन्त विद्या प्रेमी थे। डी० सी० गांगुली के अनुसार इन्होंने धर्म खगोलविद्या कला कोशरचना भवननिर्माण काव्यशास्त्र औषधशास्त्र आदि विभिन्न विषयों पर पुस्तकें लिखी है।[2] संस्कृत साहित्य शास्त्र से सम्बन्धित इनके ग्रन्थ सरस्वतीकण्ठाभरण और शृङ्गारप्रकाश संस्कृत साहित्यशास्त्र के इतिहास में अपना अद्धितीय स्थान रखते है।

भोज के स्थितिकाल के सम्बन्ध में किसी प्रकार के विवाद का स्थान नहीं है। भोज के सम्बन्ध में विक्रम संवत् १०७४ एवं १०७८ में लिखित तीन प्रशस्तियों एवं धारा नगरी में स्थित १०९१ वि० में लिखित सरस्वती लेख में इनके स्थिति काल एवं प्रतापपूर्ण जीवन का यथार्थ और प्रामाणिक परिचय प्राप्त हो जाता है। भोज ने

---

१. पुष्पिका पद्य अन्तिम पृष्ठ

२. हिस्ट्री ऑफ दि परमार डाइनेस्टी–डी०सी० गांगुली हिन्दी विश्वकोश से उद्धृत भा० ७ पृ० १०१।

अपने शासन काल में धारा नगरी में एक सरस्वती मन्दिर का निर्माण कराया था और उसमें सरस्वती की प्रतिमा की स्थापना की थी। यह मूर्ति इस समय-इंग्लैड के ऐतिहासिक संग्रहालय में सुरक्षित है।

योगसूत्र पर अब तक उपलब्ध भाष्य और वृत्तियों में प्रामाणिकता की दृष्टि से व्यासभाष्य के बाद भोजकृत राजमार्त्तण्डवृत्ति का ही स्थान है। भोजवृत्ति के प्रारम्भ में निबद्ध पंचम पद्य के अनुसार भोज सर्वतोमुखी विद्वान् थे। उन्होंने शब्दशास्त्र से सम्बन्धित किसी ग्रन्थ का निर्माण किया था, पातंजल योगसूत्र पर वृत्ति का निर्माण किया था तथा आयुर्वेद से सम्बन्धित राजमृगांक नामक विशाल ग्रन्थ की रचना की थी।[1] इसके अतिरिक्त राजमृगांक नामक इनका एक ग्रन्थ ज्योतिष् विषयक भी है, ऐसा कुछ विद्वान स्वीकार करते है। शिल्प एवं युद्धशिल्प विषयक भोज कृत एक ग्रन्थ समराङ्गणसूत्रधार अपने विषय का अद्भुत ग्रन्थ है। युक्ति कल्पतरु ग्रन्थ भी इसी विषय का है। उपर्युक्त ग्रन्थों के साथ ही तत्त्वप्रकाश एवं भुजबलनिबन्ध की चर्चा भी कहीं कहीं मिलती है।

भोज का संस्कृत विद्वानों की परम्परा में महान् आदर रहा है। कविवर बल्लाल ने भोज प्रबन्ध में भोज को न केवल एक प्रतापी राजा के रूप में अपितु इन्हें विद्याव्यसनी कविप्रिय एवं विद्वान् कवि के रूप में प्रतिष्ठापित किया है। अमरकोष के टीकाकार क्षीरस्वामी एवं सुभूतिचन्द्र ने इनके मत का अनेक बार उल्लेख किया है।[2] क्षीर-तरङ्गिणी में भोज के शब्द सम्बन्धी मत की चर्चा की गयी है।[3] अष्टाङ्गहृदय एवं सुश्रुतकी टीकाओं में भोज के आयुर्वेद सम्बन्धी मत का उल्लेख है।[4] इसी प्रकार चिकित्सा संग्रह एवं उसकी टीका में भोज के सिद्धान्तों की सादर चर्चा की गयी है।[5] साहित्य के क्षेत्र में विमलबोध ने विराट पर्व की टीका में एवं राघवभट्ट ने अभिज्ञानशाकुन्तलम् की टीका में भोज के वाक्यों का भी उल्लेख किया है।[1] वास्तुशिरोमणि में शंकर ने राजमार्त्तण्ड नामक

---

१. भोजवृत्ति मंगल श्लोक ५।

२. (क) अमरकोश-क्षीरस्वामीटीका पृ० ४१, ७१ (हरिदत्त शर्मा संस्करण)

(ख) डेट ऑफ सुभूतिचन्द्राज कमेण्ट्री ऑन अमरकोश-कुप्पू स्वामी शास्त्री कोमेमोरेशन वाल्यूम पृ० ४७-५१।

३. क्षीरतरङ्गिणी पृ० १४, ११२, ११४, १५४ रामशंकरभट्टाचार्य सम्पादित।

४. (क) अष्टांग हृदय केरलीव्याख्या पृ० ४०३

(ख) सुश्रुत डल्हण कृत टीका।

५. चिकित्सा संग्रह टीका पृ० ३७०।

ज्योतिष् ग्रन्थ से अनेक उद्धरण दिये हैं।[2] इसी भांति अन्य अनेक विद्वानों ने अनेक स्थानों में भोज का उल्लेख किंया है।

इस प्रकार यह निर्विवाद रूप से स्वीकार किया जा सकता है विविध विद्या निष्णात, राजमार्तण्डवृत्तिकार परमारवंशी भोज ने धारा पर १०००-१०५५ ई० के मध्य शासन करते हुए जिन विविध ग्रन्थों की रचना की पातंजल योगसूत्रों पर राजमार्तण्डवृत्ति उनमें अन्यतम है।

व्यास और भोज के अतिरिक्त मणिप्रभाकार रामानन्दयति, योग सिद्धान्त चन्द्रिकाकार नारायण, वृत्तिकार भावगणेश मिश्र एवं नागोजिभट्ट योगसुधाकर के लेखक सदाशिवेन्द्र सरस्वती, चन्द्रिकाकार अनन्तदेव योगप्रदीपिकाकार बलदेव मिश्र, बालराम उदासीन, तथा हरिदास स्वामी आदि अनेक विद्वानों ने योगसूत्र पर तथा आचार्यशंकर वाचस्पति मिश्र विज्ञान भिक्षु हरिहरानन्द आदि अनेक विद्वानों ने योग सूत्र के व्यास भाष्य पर महत्त्वपूर्ण एवं प्रामाणिक-व्याख्याएं लिखी हैं। विस्तार भय से हम उनकी चर्चा यहां नहीं कर रहे हैं।

●●●

१. (क) विमलबोधकृत विराटपर्व की टीका १७-११।
   (ख) राघवभट्टकृत अभिज्ञानशाकुन्तलम् की व्याख्या पृ० ५५।
२. शंकरकृत वास्तुशिरोमणि पृ० १८, १३६ बी० ओ० आर० आई० वाल्यूम ३५ पृ० ३५-४१।

योग का स्वरूप और उसके प्रकार

भारतीय प्राचीन वाङ्मय मे योग शब्द का प्रथम प्रयोग कब हुआ यह कह सकना कठिन है, किन्तु सुनिश्चित है कि इसका प्रयोग चिरकाल से होता आ रहा है। उपनिषद् साहित्य में इसका प्रयोग अनेक बार हुआ है। श्वेताश्वतर उपनिषद् में कहा गया है कि पृथिवी आदि पंचभूतों से निर्मित शरीर में भी उस समय रोग जरा अथवा दुःखों की संभावना नहीं रहती जब योग के द्वारा वह इन पांचो तत्त्वों पर विजय प्राप्त कर योगाग्निमय शरीर को प्राप्त कर लेता है।[1] वहीं आगे कहा गया है कि योग में प्रवृत्त होते ही योगी का शरीर भार रहित हो जाता है, उसे शारीरिक व्याधियों मोह अथवा लोलुपता आदि आधियों (मानसिक रोग) में नहीं फंसना पड़ता। उसका शरीर अत्यन्त कान्ति सम्पन्न और वाणी मधुर स्वर सम्पन्न हो जाती है, इतना ही नहीं उसका स्थूल शरीर भी सुगन्धयुक्त हो जाता है।[2] कठोपनिषद् में योग को परमगति के समानान्तर स्वीकार किया गया है।[3] इसी प्रकार रामायण महाभारत[4] एवं श्रीमद्भागवत[5] में योग की चर्चा अनेक बार की गयी है। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि योग शब्द संस्कृत वाङ्मय में चिरकाल से प्रयुक्त होता आया है।

योग शब्द 'युज्यते अनेन' इस व्युत्पत्ति के अनुसार युजिर् योगे धातु से करण अर्थ में घञ् प्रत्यय करके बना है, जिसके अनुसार इस शब्द का अर्थ 'संयमन' अथवा 'समाधि' होना चाहिए। पाणिनिकृत धातु पाठ में समाधि अर्थ में भी युज धातु उपलब्ध है, अतः योग पद समाधि का वाचक है और पाणिनि से पूर्व भी चित्त वृत्ति निरोध रूप समाधि को योग के नाम से अभिहित किया जाता रहा है यह स्वीकार किया जा सकता है। यद्यपि विविध स्थलों में प्रयुक्त योग शब्द इससे भिन्न अर्थ को भी प्रगट करता है। भाषाविदों के अनुसार भी अनेक बार शब्द का व्युत्पत्ति निमित्तक अर्थ भिन्न हुआ करता है और प्रवृत्तिनिमित्तक अर्थात् प्रयोग परम्परा में प्राप्त अर्थ भिन्न हुआ करता है।।[6] अतः योगशास्त्र के सन्दर्भ में व्युत्पत्ति निमित्तक अर्थ की अपेक्षा स्वयं

---

१. श्वेताश्वतर अ० २ मं० १२। २. वही २-१३।
३. कठोपनिषद् २-६-१०-११।
४. भगवद्गीता महाभारत ४.१–३। ५.२, ४। ६.२–३; १२, १६, १७, १६ इत्यादि
५. श्रीमद्भागवत ५-१६-१३।
६. व्यक्तिविवेक पृ० २५।

योगशास्त्र में स्वीकृत इस शब्द के अर्थ को देखना अधिक उचित होगा।

योगशास्त्र के प्रवर्त्तक महर्षि पतंजलि के अनुसार योग का अर्थ है : चित्तवृत्तियों का निरोध।[1] भाष्यकार व्यास के अनुसार यह योग चित्त का एक धर्मविशेष है।[2] भाष्यकार ने स्वयं चित्त की जो पांच भूमियाँ यथावसर निर्दिष्ट की है। उनमें अन्तिम दो एकाग्र और निरुद्ध भूमियाँ बहुत कुछ योग की परिभाषा के निकट है। निरुद्धभूमि तो वृत्ति निरोध से सर्वथा अभिन्न है ही; एकाग्र में भी चित्त का स्वातिरिक्त विषयों से निरोध ही रहता है। अन्तर केवल इतना ही है कि एकाग्र में पदार्थान्तर का विषय के रूप में त्याग हो चुका है, किन्तु 'स्व' विषय के रूप वह में शेष रहता है; जब कि 'निरुद्ध' भूमि में 'स्व' की भी विषयरूपता समाप्त हो जाती है। इस प्रकार एकाग्र और निरुद्ध दोनों भूमियों में योग की उपर्युक्त परिभाषा संगत कही जा सकती है। इसीलिए भाष्यकार ने सम्प्रज्ञात योग, जिसमें सद्भूत अर्थ का प्रकाश होता है, क्लेशों का नाश होता है, बन्धन शिथिल होते हैं तथा क्रमशः निरोधाभिमुखता प्राप्त होती है, को चित्त की एकाग्र अवस्था का ही परिणाम माना है।[3] उनका कहना है कि एकाग्रभूमि में अर्थात् सम्प्रज्ञातयोग (समाधि) की स्थिति में 'स्व' का निरोध भले ही न हो किन्तु अन्य का निरोध तो होता ही है; अतः चित्तवृत्तिका निरोध वहाँ भी है, इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। हाँ यदि कदाचित् सूत्रकार ने 'निरोध' शब्द के साथ सर्व विशेषण का प्रयोग किया होता, तो उस स्थिति में सम्प्रज्ञातयोग को योग कह सकना सम्भव न होता। चूँकि सूत्रकार ने सर्वशब्द का प्रयोग नहीं किया है, अतः सम्प्रज्ञात को भी योग कहा जाए, यह सूत्रकार को अभीष्ट है, ऐसा स्वीकार किया जा सकता है।[4]

दार्शनिकों की परम्परा में सांख्य और योग दर्शन परस्पर अभिन्न अथवा एक दूसरे के पूरक स्वीकार किये जाते है[5] एवं सांख्यशास्त्र के सर्वविदित सिद्धान्त के अनुसार समस्त जागतिक पदार्थ त्रिगुणमय हैं, अतः चित्त को भी त्रिगुणात्मक होना चाहिए। क्योंकि सत्त्व रजस् एवं तमस् इन तीनों गुणों का क्रमशः प्रकाश (प्रख्या) प्रवृत्ति और नियम (स्थिति) स्वभाव है;[6] अतः चित्त को भी अनिवार्य रूप से प्रकाश (प्रख्या) प्रवृत्ति और नियम (स्थिति) शील होना चाहिए।[7]

---

१. योगसूत्र १.२।
२. व्यासभाष्य पृ० ६-७।
३. योगभाष्य पृ० ६।
४. वही पृ० १२।
५. (क) गीता ४-५।
(ख) गीता ५-५।
६. सांख्यकारिका १२।
७. योगभाष्य पृ० १२-१३।

त्रिगुणात्मक चित्त में गुणों के न्यूनाधिक्य से अथवा चित्त के उपादान भूत तीनों गुणों की क्रियाशीलता के न्यूनाधिक्य से चित्त में विविध वृत्तियों (व्यवहारों) का उदय होता है। उदाहरणार्थः—प्रकाश स्वभाव वाले सत्त्वगुण की प्रधानता एवं रजस् और तमस् की सामान्य स्थिति में चित्त में अणिमा महिमा आदि लौकिक ऐश्वर्यो और शब्द स्पर्श आदि विषय सुखों की कामना का उदय होता है। जब उसमें रजोगुण की प्रधानता होती है एवं सत्त्व तथा तमस् सामान्य स्थिति में रहते हैं, उस स्थिति में उसमें उपर्युक्त ऐश्वर्यों एवं विषयों की प्राप्ति तो नहीं रहती किन्तु उनके प्रति लगाव बना रहता है; तथा जब तमोगुण का प्राधान्य एवं सत्त्व और रजस् की सामान्य स्थिति होती है, उस समय उसमें ज्ञान का अभाव अथवा विपरीत ज्ञान (मिथ्याज्ञान) का उदय होता है, सर्वत्र उसकी कामनाएं प्रतिहत होती है एवं अधर्म आदि की ओर ही उसकी प्रवृत्ति होती है। इसी प्रकार इन गुणों की न्यूनाधिकता की स्थिति में विश्व के समस्त व्यवहार चलते हैं।

गुणों के प्राधान्य अप्राधान्य की स्थिति में चित्त की स्थितियों का विश्लेषण करते हुए उसकी अनन्त प्रकार की स्थितियाँ स्वीकार की जा सकती हैं, उन स्थितियों को मुख्यरूप से पाँच वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। उन प्रमुख पाँच स्थितियों को ही योगशास्त्र में क्षिप्त मूढ विक्षिप्त एकाग्र एवं निरुद्ध अवस्थाएँ अथवा चित्तभूमियाँ कहा जाता है।

क्षिप्तावस्था में रजोगुण की प्रधानता रहती है, सत्त्व और तमस्, उससे अभिभूत रहते हैं। फलस्वरूप चित्त में राग द्वेष का साम्राज्य रहता है। चित्त की अस्थिरता की प्रधानता रहती है। रजोभिभूत सत्त्व और तमस् में भी सत्त्व का प्राधान्य होने पर उसमें धर्म भावना का उदय होता है, लौकिक ज्ञान के साथ साथ कभी कभी पारलौकिक ज्ञान की ओर भी प्रवृत्ति होती है। किन्तु जब तमोगुण भी सत्त्व को अभिभूत कर लेता है, तब उसकी समस्त प्रवृत्तियाँ अधर्ममय होती हैं। उसका ज्ञान यथार्थ से विपरीत रहा करता है।

मूढावस्था में तमोगुण सत्त्व और रजस् दोनों को अभिभूत कर अवस्थित रहता है। इस स्थिति में उसमें काम क्रोध लोभ और मोह की भावनाएँ प्रदीप्त अवस्था में रहती है। ज्ञान कर्म और वैराग्य आदि वृत्तियों का लेश भी चित्त में उदित नहीं होता। निद्रा और आलस्य की प्रधानता मूढावस्था का प्रधान धर्म है।

विक्षिप्त अवस्था सत्त्व के प्राधान्य की स्थिति में होती है। रजोगुण एवं तमोगुण सत्त्व में अभिभूत रहते है। फलस्वरूप मन थोड़ी देर के लिए धर्म ज्ञान आदि विषयों में लगता है, किन्तु उसमें स्थिरता नहीं रह पाती, थोड़ी देर में ही वह अन्य विषय में रमण करने लगता है। इसमें चित्त में आंशिक स्थिरता ही रहती है।

एकाग्र अवस्था में चित्त में सत्त्व न केवल प्रधान रहता है, अपितु वह अपनी प्रधानता के कारण तमोगुण को पूर्णतः अभिभूत करके अवस्थित रहता है। केवल रजोगुण किंचित् क्रियाशील रहता है। फलस्वरूप चित्त में धर्म, ज्ञान और वैराग्य का ही प्राधान्य रहता है। लौकिक कर्मों में भी चित्त की प्रवृत्ति नहीं रहती। वह निर्मल स्फटिक की भाँति स्वच्छ रहता है। इसीलिए उसमें परमाणुओं से लेकर विश्व के समस्त स्थूल पदार्थों तक का यथार्थ ज्ञान उदित हो सकता है; फलतः इस अवस्था को कभी कभी विवेकख्याति भी कहा जाता है। किन्तु विश्व के इन समस्त ज्ञेय विषयों का ज्ञान होने पर भी रजोगुण के अभिभूत रहने के कारण उनके प्रति चित्त की प्रवृत्ति नहीं होती। उस समय उसमें केवल स्वरूप का अवभासन रहा करता है। अतः यह कहा जा सकता है कि उस समय बाह्य विषयों से चित्त की वृत्तियाँ निरुद्ध रहती है। इस प्रकार आंशिक रूप से चित्त वृत्तियों का निरोध होने के कारण यह अवस्था योग की अवस्था कही जा सकती है। योगशास्त्रीय भाषा में इस अवस्था को सम्प्रज्ञात योग अथवा सम्प्रज्ञात समाधि कहा जाता है।

निरुद्धावस्था चित्त की पाँचवी और सर्वोत्तम अवस्था है। इस अवस्था में चित्त की सभी वृत्तियों का, यहाँ तक कि ध्येय विषय तक का अवरोध हो जाता है, इसमें चित्त अपनी स्वाभाविक स्थिर शान्त अवस्था में आ जाता है। इस निरोधावस्था में सब संस्कारों के तिरोभाव के साथ ही विवेकख्याति का भी निरोध हो जाता है, केवल परवैराग्य के संस्कारमात्र शेष रहते हैं। अविद्या अस्मिता राग द्वेष और अभिनिवेश ये पाँचो क्लेश नष्ट हो जाते हैं, तथा उनके मूल कर्माशय चाहे वे दृष्टजन्मवेदनीय (इसी जन्म में भोक्तव्य रहे हों) चाहे अदृष्टजन्मवेदनीय (जन्मान्तर में भोग्य) सभी भुने हुए बीज की तरह अपनी उत्पादन क्षमता से रहित हो जाते है। यह अवस्था ही योग की पूर्णावस्था है, क्योंकि इसमें ही चित्त की वृत्तियों का सर्वथा निरोध होता है। इसे ही असम्प्रज्ञात समाधि अथवा असम्प्रज्ञात योग भी कहते हैं, क्योंकि इस अवस्था में ज्ञाता ज्ञान और ज्ञेय का किंचिन्मात्र भी ज्ञान नहीं रह जाता। इसे निर्बीज समाधि भी कहते हैं, क्योंकि इसमें क्लेश के बीज, और उभयविध कर्माशय भी नष्ट हो जाते हैं।

ऊपर की पंक्तियों में चित्त की जिन पाँच भूमियों का वर्णन किया गया है। इनका प्राणियों के किसी वर्ग विशेष से सम्बन्ध है, अर्थात् किसी वर्ग में केवल क्षिप्तावस्था रहती है और किसी वर्ग में मूढ़ावस्था तथा किसी में विक्षिप्त अवस्था इस प्रकार को कोई निर्धारण सूत्रकार अथवा भाष्यकार किसी ने नहीं किया है। इसके आधार पर अनुमान किया जा सकता है कि वे यह स्वीकार करते हैं कि एक ही प्राणी कालविशेष में क्षिप्त मूढ़ विक्षिप्त एकाग्र एवं निरोध अवस्था से

सम्पन्न हो सकता है। सत्संगति गुरूपदेश और अभ्यास आदि के द्वारा क्षिप्त अथवा मूढ अवस्था वाला व्यक्ति भी क्रमशः विक्षिप्त एवं एकाग्र अवस्थाओं को प्राप्त कर सकता है।

किन्तु वृत्तिकार भोज चित्त की उपर्युक्त सभी अवस्थाओं को अविकल रूप से स्वीकार करते हुए भी उन्हें प्राणियों के वर्ग विशेष में नियत मानते हैं। उनका विचार है कि क्षिप्त अवस्था केवल दैत्य और दानवों के चित्त की हुआ करते हैं।[1] मूढ अवस्था सदा ही राक्षस और पिशाच आदि के चित्त की हुआ करती है।[2] इसी प्रकार विक्षिप्तावस्था सदैव देवों के चित्त की हुआ करती है।[3] एकाग्र और निरुद्ध अवस्थाओं के सम्बन्ध में वृत्तिकार भोज मौन हैं। क्योंकि देवों से भी उत्कृष्ट कोई योनि पुराण आदि में प्रसिद्ध ही नहीं है, अतः उन के लिए मौन अवलम्ब आवश्यक हो गया है।

भोज द्वारा अधिकांश चित्तवृत्तियों का योनि विशेष के साथ नियमन कहाँ तक उचित है ? यह विचारणीय है। क्योंकि यदि चित्त की तीन अवस्थाएँ योनि विशेष के साथ नियत हों, तो अन्य दो अवस्थाओं को भी किसी योनि विशेष से नियत होना चाहिए। और यदि से सभी अवस्थाएँ जन्मतः ही योनि विशेष के साथ संबद्ध हैं तथा एकाग्र और निरुद्ध अवस्थाएँ भी जन्मतः ही नियत हैं तो योग के लिए साधना क्यों की जाए ? और ऐसी स्थिति में योगशास्त्र की भी क्या आवश्यकता है। इस प्रकार चित्त की अवस्थाओं का वर्ग विशेष से के साथ नियत सम्बन्ध मानने पर योगशास्त्र का उपदेश ही निरर्थक सिद्ध होने लगेगा। अतः अधिक उचित यही प्रतीत होता है कि इन अवस्थाओं को प्राणियों के वर्ग विशेष के साथ नियत न मानकर काल विशेष में प्रत्येक चित्त में इनकी सम्भावना को स्वीकार किया जाए; और यह माना जाए कि साधना के द्वारा मानव पूर्व अवस्था को छोड़कर उत्तरोत्तर अवस्था को प्राप्त कर सकता है।

चित्त भूमियों के विवेचन के अवसर पर एक प्रश्न विचारणीय है कि तीन गुणों की चर्चा अथवा उल्लेख करते हुए सांख्यदर्शन तथा अन्य समस्त शास्त्रों में एक निश्चित क्रम से ही इनका परिगणन उल्लेख अथवा विवेचन किया जाता है। यह क्रम है—सत्त्व रजस् और तमस्। अर्थात् सत्त्वगुण का उल्लेख सर्वप्रथम होता है, तमोगुण का सबसे अन्त में तथा रजोगुण का दोनों के मध्य में। किन्तु चित्त की पूर्वोक्त पाँच भूमियों में क्षिप्त को प्रथम स्थान दिया गया है, जो रजस्

---

१. भोजवृत्ति १-२ पृ० ३।
२. वही पृ० ३।
३. वही पृ० ३।

के प्राधान्य की स्थिति में उत्पन्न होती है; तथा विक्षिप्तावस्था को तृतीय स्थान पर रखा गया है जो कि सत्त्व की आंशिक प्रधानता में उत्पन्न हुआ करती है। तमः प्रधान मूढावस्था को दोनों के मध्य में रखा गया है। जब कि इसे या तो सर्वप्रथम रखा जाना चाहिए था अथवा सत्त्वप्रधान विक्षिप्तावस्था को सर्वप्रथम रखते हुए इसे .रजः प्रधान क्षिप्तावस्था के बाद तृतीय स्थान पर रखा जाना चाहिए था।

इस क्रम विलंघन के औचित्य पर विचार करते हुए वृत्तिकार भोज का कहना है कि रजोगुण के समस्त प्रवृत्तियों का मूल होने के कारण यह गुण ही समस्त चित्त भूमियों का भी मूल माना जा सकता है और इस कारण रजोगुण की प्रधानता में उत्पन्न चित्त की क्षिप्तावस्था को सर्व प्रथम रखना उचित ही है, कारण कि प्रवृत्ति के दर्शन के बिना निवृत्ति का साक्षात्कार संभव ही नहीं है।[१] सत्त्वप्रधान विक्षिप्तावस्था को उन दोनों अवस्थाओं के अनन्तर रखना इसलिए भी उचित है कि इस अवस्था के अनन्तर जिन दो अवस्थाओं एकाग्र और निरुद्ध का वर्णन किया जाना है उनमें भी सत्त्वगुण की ही प्रधानता है, तथा यह प्रधानता उत्तरोत्तर बढ़ती गयी है और क्रमशः प्राप्य लक्ष्य का संकेत करती हैं, अतः उनका उल्लेख एवं विवेचन विक्षिप्त एकाग्र और निरुद्ध इस क्रम से किया गया है।[२]

क्रम व्यतिक्रम के हेतु के रूप में निर्दिष्ट वृत्तिकार के उपर्युक्त तर्क के अतिरिक्त यह भी कहा जा सकता है कि मूलतः सत्त्व रजस् और तमस् इन गुणों के उल्लेख के लिए अथवा विवेचन के लिए क्रम अनिवार्य नहीं है। तीनों ही उपमर्द्य-उपमर्दक भाव से क्रियाशील होकर समस्त विश्व और उसकी समस्त क्रियाओं को उत्पन्न करते हैं। किन्तु इनकी प्रधानता में उत्पन्न विशिष्ट प्रवृत्तियों की ग्राह्मता के क्रम से सामान्यतः सत्त्व रजस् एवं तमस् इस क्रम से चर्चा की जाती है। किन्तु जब चित्त की अवस्थाओं का वर्णन करना है, वह भी त्याज्य और उपादेय की दृष्टि से, तो मूल का निर्देश करने के अनन्तर प्रथम त्याज्य का निर्देश करना चाहिए, तदनन्तर उपादेय अवस्थाओं का।

यह तो सर्व स्वीकृत तथ्य है कि रजोगुण प्रवृत्ति का जनक है, अतः उसकी प्रधानता में होने वाली चित्त की क्षिप्तावस्था का सर्वप्रथम वर्णन किया जाना चाहिए। रजस् की क्रियाशीलता से ही सत्त्व और तमोगुण में क्रियाशीलता आती है। अतः जब रजोगुण की गति से ही सत्त्व और तमस् गतिशील होते हैं तथा अवसर विशेष में सत्त्व अथवा तमस् की प्रधानता होती है, तो चित्त में क्रमशः विक्षिप्त और मूढ अवस्थाएँ उत्पन्न होती है। अतः इन दोनों की ही उत्पत्ति

१. भोजवृत्ति पृ० ३।
२. वही पृ० ३।

निश्चित ही क्षिप्तावस्था के बाद होगी, किन्तु इनमें कोई पौर्वपर्य का क्रम नहीं है। जिस चित्त में रजस् से गति प्राप्त कर सत्त्व ही प्रधानतया गतिशील हो गया वहाँ तो विक्षिप्तावस्था ही आयेगी, वहाँ मूढावस्था की कोई सम्भावना ही नहीं है। किन्तु चित्त में रजस् की प्रेरणा के फलस्वरूप तमस् की प्रधानता में चित्त में क्रिया उत्पन्न होगी, वहाँ क्षिप्त के अनन्तर मूढावस्था का उदय होगा। और ऐसी स्थिति में आवश्यक होगा कि मूढावस्था का त्यागकर विक्षिप्तावस्था को प्राप्त किया जाए। इस प्रकार जिस चित्त में अयोगावस्था की केवल दो अवस्थाओं का प्रादुर्भाव होगा वहाँ क्षिप्त और विक्षिप्त अवस्थाओं का क्रम रहेगा। और जहाँ अयोगावस्था की तीनों चित्त भूमियों का उदय होगा वहाँ यह अनिवार्य है कि प्रथम क्षिप्त अवस्था का उदय हो तदनन्तर मूढ अवस्था का। और कालान्तर में मूढावस्था का निरोध होने पर विक्षिप्तावस्था का। इस प्रकार इन तीन चित्त वृत्तियों में क्षिप्त मूढ और विक्षिप्त यह क्रम ही स्वाभाविक और तर्क संगत है, अन्य नही। विक्षिप्तावस्था के अनन्तर क्रमशः एकाग्र एव निरुद्ध अवस्थाएँ होंगी।

कठोपनिषद् में प्रभव एवं अप्यय को योग कहा गया है।[१] प्रभव का सामान्य अर्थ है उत्पत्ति। योगप्रदीपकार स्वामी ओमानन्द तीर्थ के अनुसार यहाँ उत्पत्ति (प्रभव) का अर्थ है, निरोध संस्कारों का उदय।[२] कुछ भाष्यकार उत्पत्ति से शान्ति और कृतकृत्यता अर्थ लेना चाहते हैं।[३] इसी प्रकार 'अप्यय' का अर्थ है लय, अर्थात् व्युत्थान के संस्कारों की विलीनता।[४]

श्रीमद्भगवद्गीता में कर्मों में अनासक्ति को योग कहा गया है, जिसके फलस्वरूप कार्य की सिद्धि अथवा असिद्धि दोनों की ही स्थिति में योगी में समभाव ही रहता है।[५] वहीं एक अन्य स्थल पर कर्म की कुशलता को योग कहा गया है, और यह भी स्वीकार किया गया है कि इस योग की साधना के फलस्वरूप साधक को सुकृत और दुष्कृत में सम्पर्क नहीं होता, क्योंकि उसके सभी कर्म योगबुद्धि द्वारा किये जाते हैं।[६]

कठोपनिषद् एवं भगवद्गीता में उपलब्ध योग की परिभाषाएँ योगसूत्र में दी गयी चित्तवृत्ति निरोध रूप योग की परिभाषा से भिन्न नहीं है। कठोपनिषद् की प्रभव और अप्यय अवस्था में निरोध संस्कारों का उदय और कर्माशयों की लीनता

---

१. कठोपनिषद् २-३-११।
२. योग प्रदीप–(ओमानन्दतीर्थकृत योगभाष्य) पृ० ५।
३. (क) उपनिषत्प्रभाकर भाष्य कठोनिषद् २-३-११।
   (ख) कठोनिषद् शंकरभाष्य पृ० १४६।
४. योग प्रदीप पृ० ५।
५. गीता २, ४८। ६. गीता २-५०।

रूप चित्तवृत्ति निरोधात्मक योग में भी समान रूप से रहा करती है। चित्तवृत्तियों के निरुद्ध होने पर क्लेश और उसके मूल कर्माशयों का भी क्षय (लय) निरुद्धावस्था में हो जाता है, यह पहले ही कहा जा चुका है। गीता की समबुद्धि भी चित्तवृत्तियों के निरोध का ही परिणाम है और यहाँ कारण और कार्य में अभेद व्यवहार एवं समभावरूपी कार्य के अवश्यंभाव की व्यंजना के लिए योग के कार्य को योग कह दिया गया है। कर्म के कौशल को योग कहने की स्थिति भी कुछ इसी प्रकार की है। महर्षि व्यास ने चित्त शब्द के स्थान पर बुद्धि शब्द का प्रयोग करते हुए उसकी एकाग्रावस्था का बुद्धियुक्त पद से संकेत किया है। जीवन के किसी भी क्षेत्र में चित्त की एकाग्रता, कार्य में तन्मयता के कारण उसमें कौशल का आधान कर देती है। सामान्यतः कार्य के प्रति एकाग्रता के समय भी सामान्य कर्ता के मानस में फल के प्रति आसक्तिवश तन्मयता का आंशिक अभाव अनिवार्य रूप से रहा करता है और उस स्थिति में कार्य के प्रति किंचिन्मात्र मानसिक अन्तराय का होना तो स्वाभाविक ही है। किन्तु योगी अपनी असामान्य अवस्था एवं फल के प्रति आसक्ति से भी मुक्त होने के कारण सामान्य कर्त्ता की अपेक्षा अधिक तन्मयता को प्राप्त करता है। फलस्वरूप उसका सामान्य कार्य भी अपनी असामान्य पूर्णता को प्राप्त कर लेता है।

स्मरणीय है कि योगदर्शन में चित्तवृत्तियों के निरोध को आवश्यक बताते हुए भी संन्यास अथवा कर्म संन्यास का विधान कहीं भी नहीं किया गया है, अपितु क्रिया योग के सन्दर्भ में ईश्वर प्रणिधान की चर्चा करते हुए कर्म विशेष की ईश्वर के प्रति समर्पण व्यवस्था की गयी है, कर्मत्याग की नहीं।

योगसूत्र में फलमुखेन योग की परिभाषा देते हुए कहा गया है कि योग अर्थात् चित्तवृत्तियों का निरोध होने पर द्रष्टा के स्व-रूप में अवस्थिति होती है।[१] द्रष्टा का स्वरूप क्या है, इसे स्पष्ट करते हुए वहीं कहा गया है कि जिसप्रकार कैवल्य अवस्था में चितिशक्ति प्रतिष्ठित रहती है, उसी प्रकार की स्थिति चित्तवृत्तियों के निरोध होने पर भी होती है; जबकि व्युत्थित चित्त में वह स्वरूप प्रतिष्ठा नहीं रहा करती,[२] क्योंकि उस अवस्था में चित्त अविद्यादि वृत्तियों के सम्पर्क में रहने के कारण तद्रूप रहा करता है।[३] उपर्युक्त अर्थ को ही कुछ अधिक स्पष्ट करते हुए वृत्तिकार भोज ने कहा है कि 'विवेकख्याति के उत्पन्न हो जाने पर चित्त में वृत्तियों के संक्रमण न होने के कारण कर्त्तृत्व अभिमान भी निवृत्त हो जाता है, उस स्थिति में निर्मल बुद्धि में आत्मा ही स्वरूपतः भासमान हुआ करता है।[४] तात्पर्य

१. योगसूत्र १.३।
२. योगभाष्य पृ० १८-१६।
३. योगसूत्र १-४।
४. भोजवृत्ति १-३ पृ० ५।

यह है कि योग की अवस्था में चित्तवृत्तियों का निरोध होने के कारण आत्मा विशुद्ध चैतन्य रूप से भासमान हुआ करता है।

श्रीमद्भगवद् गीता में भी इसी अर्थ को इस प्रकार स्पष्ट किया गया है कि उस समय चित्त बाह्य स्पर्शों से असक्त रहा करता है, अतः वह योगयुक्त आत्मा स्वयं (आत्मा) में ही विद्यमान रहने के कारण सुख का अनुभव करता है।[१] इत्यादि।

इस प्रकार योगलक्षण की फलमुखेन परीक्षा करते हुए यह देखा जा सकता है कि गीता और योगसूत्र में दिये गये योगलक्षण में मूलतः कोई अन्तर नहीं है।

श्रीमद्भगवद्गीता में योग के सन्दर्भ में बुद्धियुक्त[२] स्थितप्रज्ञ,[३] संयमी[४] स्थिर बुद्धि[५] (स्थितधी) तथा योगी आदि शब्दों का प्रयोग योगी अर्थ में किया गया है, इन शब्दों में बुद्धियुक्त शब्द का प्रयोग करने से तत्काल पूर्व गीताकार ने सिद्धि और असिद्धि में समान होकर असङ्ग होकर कार्य करने की व्यवस्था दी है,[६] और इस असङ्ग (अनासक्ति अर्थात् आसक्ति से रहित) भावनायुक्त बुद्धि के लिए ही अग्रिम श्लोकों में बुद्धियुक्त शब्द का दो बार प्रयोग किया गया है।[७] स्थिरबुद्धि अथवा स्थितप्रज्ञ शब्दों का प्रयोग तो कवि ने एक विशेष प्रकरण में उसका विस्तृत परिचय देते हुए किया है, जो प्रकरण स्वयं दार्शनिकों की परम्परा में स्थितप्रज्ञदर्शन के नाम से प्रसिद्धि प्राप्त कर चुका है और उस सम्पूर्ण प्रकरण में मुख्यरूप से एक ही बात कही गयी है, वह है कामनाओं का त्याग।[८] इसका तात्पर्य यह है कामनाओं का त्याग कर कर्म में प्रवृत्त होने वाली बुद्धि को स्थिर-बुद्धि अथवा स्थिरा प्रज्ञा कहा जाता है तथा उस बुद्धि से युक्त पुरुष (योगी) को गीताकार ने स्थितप्रज्ञ अथवा स्थिरबुद्धि संज्ञा प्रदान की है। इसीलिए एक अन्य स्थल पर गीताकार ने अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है, कि जो व्यक्ति कर्मफल के प्रति आसक्त न होकर कार्य कर्म करता है, वही योगी है, पूर्णतः कर्मों का ही त्याग करने वाला नहीं।[९] क्योंकि वे मानते हैं कि मनुष्य एक क्षण भी कर्म किये बिना रह नहीं सकता।[१०] अतः उसके द्वारा कर्म तो निरन्तर होता ही रहेगा। इतना अवश्य है उसके (कर्म के) प्रति सङ्ग न रहने के कारण असक्त (अनासक्त) भाव से कर्म करने पर वह उन कर्मों के फलों का अधिकारी नहीं बनता और उसके सभी कर्म विलीन हो जाते है[११]।

---

१. गीता ५-२१।
२. गीता २-५०, ५१।
३. गीता २-५४, ५५।
४. गीता २-६६।
५. गीता ५-२०, ५६।
६. गीता २-४७, ४८।
७. गीता २-४६, ५०।
८. गीता २-५५।
९. गीता ६-१।
१०. गीता ३-५।
११. गीता ४-२३।

इस प्रकार भगवद्गीता में उपलब्ध योग के समग्र विवेचन को देखकर सरलतापूर्वक यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि गीताकार बाह्य इन्द्रियों के निरोध की नहीं, अपितु चित्तवृत्तियों के निरोध की व्यवस्था देता है और उसे योग स्वीकार करता है। फलतः गीताकार की योग विषयक मान्यता योगसूत्रकार पतंजलि की परिभाषा 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' से सर्वथा अभिन्न है, यह स्वीकार किया जा सकता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि उपनिषद् भगवद्गीता आदि ग्रन्थों में योग के जिस स्वरूप का वर्णन किया गया है, वह पतंजलि वर्णित योग की इस परिभाषा से सर्वथा अभिन्न है और यह परिभाषा है :—'अविद्या आदि चित्त की क्लिष्ट और अक्लिष्ट वृत्तियों का पूर्ण निरोध।'[1] इस निरोध का परिणाम यह होता है कि चित्त बाह्य वृत्तियों से असम्बद्ध होकर स्फटिक की भाँति स्वच्छ रूप से अवभासित होता है और उसके फलस्वरूप द्रष्टा अपने स्वरूप को देखता हुआ उसमें ही अवस्थिति को प्राप्त करता है।[2] यही स्थिति समाधि की है, इसलिए प्रायः समाधि और योग शब्द पर्यायवाची शब्द के रूप में भी व्यवहृत होते हैं।

योग अर्थ में समाधि शब्द के प्रयोग का कारण यह भी है कि चित्तवृत्तियों के निरोध करने अर्थात् योग की साधना में प्रवृत्त होने पर अहिंसा आदि यमों और शौच सन्तोष आदि नियमों द्वारा कायिक वाचिक एवं मानसिक शुद्धि हुआ करती है, तदन्तर आसन और प्राणायाम की साधना से शरीर और चित्त की चंचलता दूर होती है एवं क्रमशः चित्त में स्थिरता का उदय होता है। इसके अनन्तर क्रमशः देश विशेष में चित्त का बन्ध (धारणा) और उस देश में ही चिरकाल तक (एकतान) अवस्थिति होती है। यही अवस्थिति दृढ़ होने पर समाधि कही जाती है।[3] समाहित-चित्त की यह अतिशय एकाग्रता (निरोध) ही योग साधना का अभीष्ट (लक्ष्य) है। अतः अनुचित नहीं है कि योग और समाधि को पर्यायवाची शब्द के रूप में व्यवहार किया जाए।

योग के भेद—

योग के भेद अथवा उसके प्रकार से अनेक बार ध्यान योग के सम्प्रदायों (राज योग हठयोग आदि) की ओर चला जाता है; किन्तु प्रस्तुत प्रंसग में हमारा अभीष्ट उन भेदों से है, जो पतंजलि निर्दिष्ट साधना मार्ग पर चलते हुए चित्तवृत्तियों के निरोध होने पर क्रमशः प्राप्त हुआ करते हैं, जिन्हें समाधि के भेद कहा जा सकता है, क्योंकि समाधि ही योग है, यह पूर्व पृष्ठों में स्पष्ट किया जा चुका है।

---

१. योगसूत्र १-२।
२. योगसूत्र १.२।
३. योगसूत्र १.३।

योग (समाधि) के मुख्यतः दो भेद हैः सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात।[१] सम्प्रज्ञात समाधि में चित्तवृत्तियाँ बाह्य विषयों से निरुद्ध रहती है, इस तक पहुँचने के लिए योगसाधक को पहले विविध बाह्य अथवा आभ्यन्तर देशों में चित्त को निबद्ध करना होता है, जिसे धारणा कहते हैं।[२] तदनन्तर उन स्थल विशेष में ही अतिशय (पूर्ण) एकाग्रता के लिए (ध्यान के लिए) वह अभ्यास करता है।[३] जिसका परिणाम होता है चित्त की अभीष्ट स्थल पर पूर्ण एकाग्रता। इसके अनन्तर वस्तु के स्वरूप की भी चित्त को अनुभूति नहीं होकर अर्थमात्र के रूप में उसका अवभासन होता है, इसी का नाम समाधि है।[४] यही योग की प्रथम अवस्था है। समाधि की इस प्रथमावस्था को सम्प्रज्ञातसमाधि अथवा सम्प्रज्ञातयोग कहते है। इस अवस्था में साधक अन्य विषयों को छोड़कर केवल एक वस्तु 'ध्येय' को ही चित्त में रखने की भावना करता है। इस भावना का विषय अर्थात् ध्येय ग्राह्य-ग्रहण और ग्रहीता (ग्रहीतृ) भेद से तीन प्रकार का हो सकता है। इन तीनों में भी ग्राह्य विषय स्थूल और सूक्ष्म भेद से दो प्रकार का है, स्थूल ग्राह्य विषय में पांचों स्थूल भूत एवं स्थूल इन्द्रियों को लिया जाता है एवं सूक्ष्म ग्राह्य विषय में सूक्ष्म भूत अर्थात् पृथिवी जल अग्नि वायु और आकाश के सूक्ष्मरूप गन्धतन्मात्रा रसतन्मात्रा, रूपतन्मात्रा, स्पर्शतन्मात्रा एवं शब्दतन्मात्राओं तथा सूक्ष्म इन्द्रियों अहंकार और महत्तत्व का परिगणन किया जाता है। इसी प्रकार कभी स्थूल और सूक्ष्म दोनों ही प्रकार के विषयों के चित्त में अवभासन के बिना ही केवल अहं मात्र की प्रतीति होती है। अर्थात् केवल ग्रहीतृ भाव ही अवभासित होता है—ग्राह्य और ग्रहण नहीं। इस प्रकार समाधि की इस प्रक्रिया में ग्राह्य-ग्रहण और गृहीता (गृहीतृ) तथा ग्राह्य के भी स्थूल और सूक्ष्म भेद होने के कारण यह समाधि चार प्रकार की कही जाती है—वितर्कानुगत-विचारानुगत-आनन्दानुगत और अस्मितानुगत। ये चारों ही प्रकार सम्प्रज्ञात समाधि के अन्तर्गत स्वीकार किये जाते हैं।[५]

१—वितर्कानुगत सम्प्रज्ञात समाधि :—

वितर्क का अर्थ है चित्त के आलम्बन अर्थात् ध्येय के विषय में स्थूल आभोग।[६] अर्थात् चित्त में स्थूल विषय के सम्बन्ध में संशय विपर्यय रहित ज्ञान की परिपूर्णता को वितर्क कहते है।[७] इस वितर्क से अनुगत समाधि को वितर्कानुगत

१. योगकारिका १-४२, ४५।
२. योगसूत्र ३-१।
३. वही ३-२।
४. वही ३-३।
५. वही १-१७।
६. योगभाष्य पृ० ५२।
७. भास्वती पृ० ५१।

सम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं। तात्पर्य यह है कि जिस भावना द्वारा ग्राह्यरूप स्थूलविषय योनिजप्राणी आदि अथवा विराट् महाभूत सूर्य चन्द्र आदि किसी स्थूल वस्तु पर चित्त को एकाग्र कर संशय[1] और विपर्यय[2] से रहित उस वस्तु के समग्र स्वरूप का साक्षात्कार किया जाए, उसे (उस भावना को) वितर्कानुगत सम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं।[3]

२–विचारानुगत सम्प्रज्ञात समाधि :–

विचार का अर्थ है सूक्ष्म।[4] अतः विचारानुगत का अर्थ हुआ सूक्ष्मविषयक आभोग, अर्थात् स्थूल के कारणभूत पंचतन्मात्र तथा लिङ्गालिङ्गरूप विषयों के[5] संशय विपर्यय रहित ज्ञान की परिपूर्णता को विचार कहते हैं। इस विचार से अनुगत समाधि को विचारानुगत सम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं। तात्पर्य यह है कि जिस भावना द्वारा ग्राह्यरूप स्थूलभूतों के कारण गन्ध रस रूप स्पर्श और शब्द–तन्मात्राओं का एवं शक्तिमात्र इन्द्रियों अहंकार और महत्तत्व का संशय विपर्ययादि रहित साक्षात्कार किया जाए उसे विचारानुगत सम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं। वितर्कानुगत समाधि में ध्येय (ज्ञेय) स्थूलविषय रहा करता है, जबकि विचारानुगत समाधि में वह (ध्येय) सूक्ष्म पंचतन्मात्रा आदि या उससे भी सूक्ष्मतर अहंकार तथा सूक्ष्मतम महत्तत्व पर्यन्त रहा करता है। यद्यपि योगी को इस अवस्था में अर्थात् विचारानुगत में स्थूलतत्त्व ध्येय (ज्ञेय) अथवा साक्षात्कार के विषय नहीं हुआ करते। यही वितर्कानुगत से इस का मुख्य अन्तर है। सम्प्रज्ञातसमाधि के ये दोनों ही भेद ग्राह्यविषयक कहे जा सकते हैं।

आनन्दानुगत सम्प्रज्ञात समाधि :–

आनन्दानुगत समाधि ग्राह्यविषयक न होकर ग्रहणविषयक समाधि है। आनन्द का अर्थ है आह्लाद।[6] यह आह्लाद विषयों के ग्रहण करने वाली इन्द्रियों तथा उनके मूल सात्त्विक अहंकार आदि से भिन्न आत्मा पर चित्त में आभोग होने पर हुआ करता है। चित्त सत्त्वगुण प्रधान है, उसमें आत्मा का प्रतिबिम्ब होने पर जब उस आत्म प्रतिबिम्ब में एकाग्रता रूप समाधि होगी तब चित्त सहकृत आत्मा का

---

१. न्यायसूत्र १-१-२३।
२. योगसूत्र १-८।
३. भास्वती पृ० ५२।
४. योगभाष्य पृ० ५२।
५. भास्वती पृ० ५२।
६. योगभाष्य पृ० ५२-५३।
७. वैशेषिकसूत्र २-१-२४।

आत्मा द्वारा ग्रहण होने पर ग्रहण रूप सानन्दा सम्प्रज्ञात समाधि कही जाएगी। उस आनन्द से अनुगत होने के कारण इस समाधि को आनन्दानुगत सम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं। इसी आनन्दानुगत सम्प्रज्ञात समाधि का परिचय देते हुए श्रीमद्भगवद्गीता में कहा गया है :–

सुखमात्यन्तिकं यत्तद् बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः।।
तं विद्यात् दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्।।[२]

अर्थात् जिस अवस्था में स्थित चित्त वाला योगी इन्द्रियों से अतीत केवल शुद्ध हुई सूक्ष्म बुद्धि द्वारा ग्रहण करने योग्य अनन्त का साक्षात्कार करता है, उसे दुःखसंयोग के वियोग से युक्त अर्थात् आनन्द से अनुगत (आनन्दानुगत) योग (सम्प्रज्ञात योग) कहते हैं।

अस्मितानुगत सम्प्रज्ञात समाधि :–

योगभाष्यकार व्यास के अनुसार अस्मिता का अर्थ है एकात्मिका संविद्।[३] विज्ञान भिक्षु के अनुसार एक शब्द से यहाँ भाष्यकार व्यास का तात्पर्य 'केवल' अर्थ से है।[४] फलतः अस्मिता अथवा एकात्मिता का अर्थ होगा, वह संविद् जिसमें केवल एक आत्मा ही विषय के रूप में विद्यमान हो। अस्मिता में केवल पुरुषाकार चित्त की संविद् होगी। उस समय चित्त में आत्मा विषयक 'मैं हूँ' (अस्मि) इससे भिन्न कोई अन्य ज्ञान नहीं रह जाता है। अर्थात् अस्मितानुगत सम्प्रज्ञात योग में भी चित्त समस्त स्थूल सूक्ष्म विषयों से निरुद्ध होकर केवल आत्ममात्र का साक्षात्कार करता है, इसीलिए चित्तवृत्तियों के निरोध के परिणामस्वरूप अर्थात् योग साधना की चरम परिणति होने पर महर्षि पतंजलि ने योग के फल के रूप में द्रष्टा आत्मा का ही साक्षात्कार करता है, ऐसा कहा है।[५] किन्तु इससे दोनों में अर्थात् सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात समाधि में अभेद नहीं मानना चाहिए, क्योंकि सम्प्रज्ञात समाधि में द्रष्टा को विषय के रूप में आत्मा (द्रष्टा) का साक्षात्कार होते हुए भी अपने द्रष्टृत्व (साक्षात्कार क्रिया के कर्तृत्व) का भान रहता ही है, उसमें 'अस्मि' मैं हूँ–द्रष्टा हूँ, इस प्रकार का भान निरन्तर बना ही रहता है; इस अवस्था में ज्ञान के तीन अंग ज्ञाता ज्ञान और ज्ञेय तीनों की सत्ता बनी रहती है।

---

१. तत्ववैशारदी पृ० ५२।
२. भगवद्गीता ६-२१, २३।
३. योगभाष्य पृ० ५३।
४. योगवार्तिक पृ० ५३।
५. योगसूत्र १-३।

वैशिष्ट्य केवल यह है कि ज्ञेय कुछ और न होकर पुरुष ही रहता है, अर्थात् यद्यपि यहां ज्ञाता और ज्ञेय पुरुष ही रहता है, किन्तु ज्ञाता पुरुष को 'मैं स्वयं को जान रहा हूँ' इस प्रकार का बोध ज्ञातृत्व भाव बना रहता है। जब कि असम्प्रज्ञात समाधि में उसमें इस प्रकार के ज्ञान का लेश मात्र अवसर भी नहीं होता है। इस अहं-भाव (अस्मिभाव) के सम्यक् ज्ञात रहने के कारण ही उसका नाम सम्प्रज्ञात समाधि तथा अन्य, जिसमें अहंभाव (अस्मिभाव) ज्ञात नहीं रहता, को असम्प्रज्ञात समाधि नाम दिया गया है। इस अस्मिभाव (अस्मिता-अस्मि इति भावः)[1] से अनुगत रहने के कारण हो सम्प्रज्ञातसमाधि की चरमावस्था को अस्मितानुगत सम्प्रज्ञातसमाधि नाम दिया गया है। अस्मितानुगत सम्प्रज्ञात-समाधि में अस्मिभाव विद्यमान रहता है तथा 'अस्मि' भाव और अहंभाव परस्पर अर्थतः अभिन्न हैं।

पूर्व पृष्ठों में कहा गया है कि आनन्दानुगत सम्प्रज्ञात समाधि में च्रित्त चित्तसहकृत आत्मा के स्वरूप का साक्षात्कार करता है, अतः यह सन्देह हो सकता है कि आनन्दानुगत एवं अस्मितानुगत समाधि परस्पर अभिन्न हैं। किन्तु वस्तुतः यहाँ सन्देह की कोई सम्भावना नहीं, क्योंकि यह समाधि की वह अवस्था है, जहाँ वह चित्त की प्रतीति के साथ आत्मा का साक्षात्कार करता है, जब कि अस्मिता में चित्त का बोध लीन रहता है; अतः उस समय प्रतीति बहिर्मुख न होकर प्रतिलोम अर्थात् अन्तर्मुख रहा करती है। फलतः इस अवस्था में चित्त में 'अस्मि' इस भाव की प्रतीति में केवल सत्ता का ही अवभासन होता है।[2]

इस अस्मितानुगत सम्प्रज्ञातसमाधि की स्थिति में चेतनप्रतिबिम्बित चित्त, जिसमें बीज रूप से अहंभाव विद्यमान रहता है और आत्मा (पुरुष) की एकाकार प्रतीति होती है। क्योंकि अस्मिता अहं-भाव का कारण है, अतः वह चित्त सहकृत बोध से निश्चय ही सूक्ष्मतर है, और इसलिए यह समाधि तभी सम्भव है, जब चित्त की एकाग्रता (चित्तवृत्तियों का निरोध) इतनी अधिक बढ़ जाए कि अस्मिता में धारणा करने से उसका संशय विपर्यय रहित यथार्थ रूप साक्षात् होने लगे।

यह स्थिति भी योगी की उत्कृष्टतम अर्थात् अभीष्टतम अवस्था नहीं है क्योंकि इस स्थिति को आत्मस्थिति समझकर साधक जब स्वयं को कृतार्थ मान लेता है, और साधना से विरत हो जाता है, तो उनका लगाव भौतिकजगत्, इन्द्रिय अथवा तन्मात्ररूप सूक्ष्म जगत् एवं उनके कारणभूत अहंकार से तो छूट जाता है, किन्तु अस्मिता में बना रहता है; फलतः वे साधक विदेह अथवा

---

१. पाणिनीय अष्टाध्यायी ५.१, ११६।

२. भोजवृत्ति पृ० २१।

प्रकृतिलय अवस्था को तो प्राप्तकर लेते हैं, किन्तु उन्हें कैवल्य लाभ नहीं होता। कैवल्य लाभ के लिए उन्हें पुनः शरीर धारण करना पड़ता है। इतना अवश्य है कि उन्हें अग्रिमजन्म में भी अस्मितानुगत समाधि की सिद्धि प्राप्त रहती है[1] और ऐसा वातावरण प्राप्त रहता है कि वे वहाँ से अपनी अग्रिम यात्रा प्रारम्भ कर सकें। गीता में उपर्युक्त चारों अवस्थाओं में से कहीं भी विरत हो जाने वाले साधक को योगभ्रष्ट कहा है और स्वीकार किया है वे अग्रिम जन्म में ऐसे कुलों में जन्म ग्रहण करते हैं, जिनमें पवित्रता और तेजस्विता का निरन्तर निवास हैं,[2] जिसके परिणामस्वरूप साधक को अग्रिमजन्म में अपनी साधना प्रारम्भ करने में कोई असुविधा नहीं रहा करती।

सम्प्रज्ञात समाधि के उपर्युक्त चार भेदों में से किसी भी एक तक पहुंचकर शरीर त्याग करने वाला समय विशेष तक जीवन मरण के बन्धन से मुक्त हो जाता है, ऐसी पुराणों की मान्यता है। वायु पुराण के अनुसार इन्द्रिय चिन्तक को अर्थात् जिसे विचारानुगत सम्प्रज्ञात समाधि की सिद्धि है, उस साधक को दशमन्वन्तर पर्यन्त दुःखों से मुक्ति मिल जाती है। भौतिक अर्थात् तन्मात्र का चिन्तन करने वाले अर्थात् विचारानुगत समाधि की उच्च सफलता से सौ मन्वन्तर, आभिमानिक अर्थात् अहंकारानुगत सम्प्रज्ञात समाधि के साधक सहस्रमन्वन्तर पर्यन्त दुखहीन होकर आनन्द का अनुभव करते हैं। इसी प्रकार महत्तत्त्व तथा अव्यक्त प्रकृति का चिन्तन करने वाले साधक क्रमशः दस हजार एवं सौ हजार (एक लाख) मन्वन्तरों तक के लिए दुःखों से छूट जाते हैं, किन्तु निर्गुण पुरुष का साक्षात्कार कर लेने पर मोक्ष सुख के भोगने की कोई सीमा है ही नहीं।[3]

वायुपुराण के इस अर्थवादपूर्ण श्लोक को तत्त्ववैशारदीकार वाचस्पति मिश्र ने तथा योगवार्तिककार विज्ञानभिक्षु ने उद्धृत किया है।[4] किन्तु इसमें दो बातें विचारणीय हैं—प्रथम यह कि इसमें समाधि को छः सीढियाँ की गयी है इन्द्रियानुगत, भौतिकानुगत, अभिमान अनुगत (अहंकारानुगत) बुद्धि-अनुगत, अव्यक्तानुगत और पुरुषानुगत। जब कि पतंजलि ने एक असम्प्रज्ञात समाधि एवं चार प्रकार की सम्प्रज्ञात समाधि, इस प्रकार मिलाकर समाधि के कुल पाँच भेद स्वीकार दिये हैं। यदि निर्वितर्का और निर्विचारा इन भेदों को भी जोड़ लिया जाए, जिनकी चर्चा अग्रिम पृष्ठों में की जाएगी, तो पतंजलि स्वीकृत समाधि भेदों की संख्या सात हो जाती है, छः तब भी नहीं रहती। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि

---

१. योगसूत्र १-१६।
२. गीता ६.४१।
३. वायुपुराण।
४. सांख्ययोगदर्शन पृ० ४६।

वायु पुराणगत कल्पना से स्पष्ट होता है कि सम्प्रज्ञात समाधि सिद्ध योगियों की मुक्ति सावधिक है। जब कि असम्प्रज्ञात समाधि से कैवल्य लाभ होने पर पुनर्जन्म होता ही नहीं है।

दूसरा प्रश्न है कि क्या इन्द्रियचिन्तक योगी को प्रथम सोपान पर एवं भौतिक चिन्तन में लगे योगियों को द्वितीय सोपान पर स्थित माना जाए जैसा कि वायु पुराण में स्वीकार किया गया है, अथवा वितर्कानुगत और विचारनुगत इस क्रम को स्वीकार किया जाए, जिसका निर्देश पतंजलि ने दिया है ? जहाँ तक ध्यान की साधना का प्रश्न है, वहाँ स्थूल से सूक्ष्म की ओर बढ़ने का क्रम अधिक स्वाभाविक कहा जा सकता है। लक्ष्यवेध की साधना लक्ष्य का वेध सिद्ध होने पर क्रमशः सूक्ष्म सूक्ष्मतर और सूक्ष्मतम लक्ष्यवेध की सिद्धि प्राप्त की जाती है। यही स्थिति यौगिक ध्यान (चित्त की एकाग्रता) में होनी चाहिए। अब प्रश्न है कि इन्द्रियाँ सूक्ष्म हैं अथवा पृथिवीआदि पंच भूत ? सांख्य दर्शन में उत्पत्ति की प्रक्रिया के क्रम में सूक्ष्म से स्थूल की उत्पत्ति मानते हुए अहंकार से इन्द्रियों एवं तन्मात्राओं की उत्पत्ति स्वीकार कर तन्मात्राओं से पंचभूतों की उत्पत्ति स्वीकार की जाती है।[1] व्यवहार में भी हम ऐसा ही देखते हैं, ज्ञानेन्द्रियों का हम इन्द्रियों से साक्षात्कार नहीं कर पाते, अपितु सामान्यतोदृष्ट अनुमान द्वारा उसकी जानकारी पाते हैं, जब कि पाँचों भूतों का इन्द्रियों से साक्षात्कार किया जाता है, उनके अनुमान की कोई आवश्यकता ही नहीं रहती, अतः व्यवहार ज्ञान से भी इन्द्रियों की अपेक्षा पंचभूतों की स्थूलता सिद्ध होती है। अतः पंचभूतों का एकाग्रतापूर्वक चिन्तन पहले सम्भव है, इन्द्रियों का उसके अनन्तर यह मानना उचित होगा। फलतः इन्द्रियचिन्तन का फल भी भूतचिन्तन के फल से भिन्न और उत्कृष्ट होना चाहिए, जब कि पुराण के उक्त पद्यों में उसके विपरीत भूतचिन्तन का फल ही इन्द्रिय चिन्तन से दस गुना अधिक बतलाया है, अतः यहां यह मानना उचित होगा कि पुराणकार को भौतिक से महाभूतों के कारण भूत तन्मात्र अभीष्ट है महाभूत पृथिवी आदि नहीं।

इसके साथ ही यह भी स्मरणीय है कि वायुपुराणकार ने भूतचिन्तन को योग की एक कोटि विशेष स्वीकार किया है एवं ये भूत गण पृथक्-पृथक् इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य होते हैं, अतः उनके चिन्तन में इन्द्रिय सापेक्ष चित्त का ज्ञान होने के कारण वह लौकिक प्रत्यक्ष से भिन्न नहीं है, अतः उसे योग की स्थिति में (चित्तवृत्तिनिरोध की स्थिति में) किस प्रकार रखा जा सकेगा ? पतंजलि स्वीकृत सवितर्का समापत्ति (समाधि) में भी यद्यपि भौतिक पदार्थों का स्वरूप चिन्तन अवश्य है, किन्तु वह प्रत्यक्ष भूतों के द्वारा नहीं है, अपितु उसकी तत्सदृश प्रतीयमानता मात्र है, इसीलिए पतंजलि ने उसे सवितर्का नाम दिया है, सभौतिकी

---

१. सांख्यसूत्र १-६१।

नहीं। वितर्क में वस्तु की सत्ता नहीं रहा करती इसे वितर्क की परिभाषा देते हुए पतंजलि ने स्वयं स्वीकार किया है।[१] अतः सवितर्का समापत्ति (समाधि) में भौतिक विषय की सम्भावना नहीं रहती। यदि यह आशंका की जाए कि पतंजलि के अनुसार वितर्क भी चित्तवृत्तियों में अन्यतम है। अतः उसके चिन्तन होने पर उसे समाधि कैसे कहा जा सकेगा ? तो यह उचित नहीं है क्योंकि वितर्क चित्तवृति भले ही हो, किन्तु विषय नहीं है, जब कि पंचभूत विषय हैं। तथा समाधि से पूर्व की सोपान 'ध्यान' तब तक सम्भव नहीं है, जब तक कि मन निर्विषय न हो जाए,[२] जबकि समाधि में ध्येय की अर्थमात्र निर्भासता रहती है, उसका स्वरूप शून्य हो जाता है।[३] जहाँ तक सवितर्का आदि में चित्त में किंचिदवभासन के कारण निरोध के सर्वथा अभाव की बात है, उसे पतंजलि स्वयं स्वीकार करते हैं। और इसीलिए वे सवितर्का आदि के लिए प्रायः समाधि नाम प्रयोग न करके समापत्ति शब्द का प्रयोग करते हैं।

वायुपुराणकार ने उपर्युक्त प्रकार से इन्द्रियचिन्तक, भौतिक, आभिमानिक, बौद्धिक और अव्यक्तचिन्तक आदि भेदों को किस आधार पर परिगणित किया है ? इस प्रश्न के उत्तर में इतना ही कहा जा सकता है कि वायुपुराण योग को लक्ष्य बनाकर लिखा गया कोई ग्रन्थ नहीं है, अतः उसकी भेद विषयक कल्पना को प्रामाणिक स्वीकार किया जाना और उसके लिए किसी स्वीकार्य तथ्य की खोज करना आवश्यक नहीं है। अधिक सम्भव है कि पुराणकार ने केवल इस आधार पर इस भेदोपभेद की कल्पना कर ली हो कि हम स्थूलतम से लेकर प्रकृति तक (सूक्ष्मतम) पदार्थों का ज्ञान जिस प्रकार और जिस क्रम से करते है, उसे ही यहाँ योग के भेदोपभेद की प्रक्रिया का आधार स्वीकार कर लिया जाय। क्योंकि हमारे ज्ञान का सर्वप्रथम साधन इन्द्रियगण है, अतः उसका चिन्तन सर्वप्रथम, उसके अनन्तर क्योंकि हम इन्द्रियों को जानकर भूतगणों के मूल तन्मात्र के माध्यम से उसके कारण भूत अहंकार को तथा अहंकार से महत्तत्त्व (बुद्धि) को और बुद्धि से अव्यक्त प्रकृति को जानते है; अतः उसी क्रम से पुराणकार ने चिन्तन विशेष को उसके क्रमिक फल के साथ संकलित कर दिया है। इसलिए यह कहना उचित है कि वायुपुराणकार का यहाँ भौतिक शब्द से तात्पर्य पंचभूत के चिन्तकों से न होकर पंचतन्मात्राओं के चिन्तकों से है और इसीलिए पुराणकार ने भौतिकों के अनन्तर आभिमानिकों का नाम लिया है, और यह निर्विवाद स्वीकृत हैं कि अहंकार का स्थान पंचतन्त्रमाओं के पूर्व (कारण के रूप में) है पंचभूतों के पूर्व में नहीं। यद्यपि सांख्य शास्त्र में पंच-मात्राओं के लिए

१. योगसूत्र १-६।
२. सांख्यसूत्र ६।२५।
३. योगसूत्र ३, ३।

भूत का प्रयोग कहीं भी नहीं किया गया है। तथापि तन्मात्र भूतों के कारण है अतः पुराण में भौतिक शब्द का गौण अर्थ में प्रयोग कर लिया है। हां यह प्रश्न अवश्य हो सकता है कि सांख्य सिद्धान्त में अभिमान (अहंकार) से पंचतन्मात्राओं और इन्द्रियों की उत्पत्ति स्वीकार करते हुए, यह स्वीकार किया गया है कि इन्द्रियगण की उत्पत्ति सात्त्विक अहंकार से तथा तन्मात्र की उत्पत्ति तामस अहंकार से हुआ करती है।[1] तथा सत्त्वगुण लघु एवं तमोगुण गुरु हुआ करता है।[2] अतः तामस अहंकार से उत्पन्न तन्मात्र की अपेक्षा सात्त्विक अहंकार से उत्पन्न इन्द्रियगण को लघु अर्थात् अपेक्षाकृत सूक्ष्म होना चाहिए; जिसके परिणाम स्वरूप भौतिक चिन्तन की अपेक्षा इन्द्रिय चिन्तन का फल उत्कृष्ट होना चाहिए, जब कि वायुपुराण में इसके विपरीत फल निर्देश है, अतः यह प्रश्न अवश्य विचारणीय है।

पूर्व पृष्ठों में यह देखा जा चुका है कि पतंजलि ने सम्प्रज्ञात समाधि के चार भेद स्वीकार किये हैं—१. वितर्कानुगत, २. विचारानुगत ३. आनन्दानुगत और ४. अस्मितानुगत। योगभाष्यकार व्यास और वृत्तिकार भोज दोनों के ही अनुसार उपर्युक्त चारों ही समालम्बन समाधियों में एक क्रमिक तारतम्य है :—प्रथम वितर्कानुगत समाधि में वितर्क विचार आनन्द और अस्मिता चारों ही आलम्बन विद्यमान रहते हैं। द्वितीय सविचार समाधि में वितर्क का आलम्बन समाप्त हो जाता है, अतः उसमें केवल तीन आलम्बन शेष रह जाते हैं। तृतीय आनन्दानुगत में वितर्क और विचार दो आलम्बन समाप्त हो जाते हैं एवं केवल दो ही आलम्बन शेष रह जाते हैं। तथा अन्तिम अस्मितानुगत में केवल एक अस्मिता का ही आलम्बन शेष रह जाता है।[3] इसी कारण इसे अस्मितामात्र कहा गया है।

उपर्युक्त चारों आलम्बनों में से प्रथम दो सवितर्क और सविचार अपेक्षाकृत स्थूल हैं; जिसके फलस्वरूप इनका विभाजन और किया जा सकता है; अतएव महर्षि पतंजलि ने इनके दो दो भेदों के आधार पर सवितर्का और सविचारा समाधि के भी दो दो भेद किये है :—१ (क) सवितर्का (ख) निवितर्का तथा २—(क) सविचारा (ख) निर्विचारा। जब ध्यान का विषयभूत पदार्थ शब्द अर्थ और उसका ज्ञान इन अंशों से युक्त होता है, तब उसे सवितर्का और जब स्मृति परिशुद्धि के कारण स्वरूप की शून्यता के साथ केवल अर्थमात्र का निर्भासन होता है, तब उसे निर्वितर्का समापत्ति कहते है।[4] इसे सवितर्का एवं सविचारा समापत्ति (सम्प्रज्ञात समाधि) का मध्यवर्ती कहा जा सकता है।

---

१. सांख्यकारिका २५।
२. वही १३।
३. (क) योगभाष्य पृ० ५३-५४।
   (ख) भोजवृत्ति पृ० २१।
४. योगसूत्र १-४२-४३।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि सविचार सम्प्रज्ञात समाधि में सूक्ष्म विषय तन्मात्रा आदि का चित्त में अवभासन होता है, साथ ही देश काल आदि निमित्तों का अवभासन भी हुआ करता है।[१] इस सविचारा समापत्ति में भी जब सूक्ष्मविषयक ज्ञान देशानुभव, काल-अनुभव एवं निमित्तानुभव आदि अवच्छेदों के रहित ही नहीं शब्द आदि विकल्पों से भी रहित होता है, तब उसे निर्विचारा समापत्ति कहते है।' तात्पर्य यह है कि सूक्ष्म तन्मात्र आदि विषयक ज्ञान में देश विषयक ऊपर नीचे पूर्व पश्चिम आदि का ज्ञान; काल विषयक शान्त (भूत) उदित (वर्त्तमान) अव्यपदेश्य भविष्य आदि का ज्ञान, निमित्त विषयक रूप आदि तन्मात्राओं के लिए प्रकाश आदि का इसी प्रकार रूप आदि में भी नील पीत रक्त आदि अवच्छेदक धर्मो का अवभासन रहा करता है, तथा उपयुक्त धर्मों से विशिष्ट सूक्ष्मविषयक ज्ञान का अवभासन जिस समाधि में रहता है उसे सविचारा समापत्ति कहते है।[२] किन्तु सूक्ष्मविषयक उपर्युक्त ज्ञान में से जब ऊपर नीचे आदि देशानुभव, शान्त उदित अव्यपदेश्य आदि कालानुभव, प्रकाश आदि निमित अनुभव आदि से रहित एवं शब्दादिविकल्प रहित ज्ञान का अवभासन होता है, तब उसे निर्विचारा समापत्ति कहते हैं।[३]

इस प्रकार स्थूल विषय का विकल्प सहित अवभासन होने पर सवितर्का तथा विकल्प रहित अवभासन होने पर निर्वितर्का, तथा सूक्ष्म विषयों का विकल्प सहित अवभासन होने पर सविचारा एवं विकल्परहित अवभासन होने पर निर्विचारा समापत्ति (सम्प्रज्ञात समाधि) हुआ करती है। इन चारों प्रकार कीं समापत्तियों (समाधियों) को सबीज समाधि अथवा सबीज योग कहा जाता है।[४]

निर्विचार समाधि की सिद्धि होने पर योगी का चित्त (बुद्धि सत्त्व अर्थात् सत्त्व-प्रधानाबुद्धि) रजोगुण एवं तमोगुण से अनभिभूत अत्यंत स्वच्छ निर्मल हो जाता है; इसे वैशारद्य कहते हैं, तथा इसके फलस्वरूप उसे अध्यात्मप्रसाद की प्राप्ति होती है, अर्थात् उसे समस्त भौतिक अभौतिक विषय का क्रमों आदि से रहित सुस्पष्ट ज्ञान होने लगता है।[५] उस समय उसके चित्त में जो ज्ञान उत्पन्न होता है, वह ऋतम्भर अर्थात् केवल यथार्थरूप होता है, उसमें विपर्यास का लेश भी नहीं रहता।[६] उस समय उसका ज्ञान विशुद्ध प्रत्यक्षरूप होता है, उसमें शाब्द

---

१. योगभाष्य पृ० ११६।
२. योगभाष्य पृ० १२०।
३. योग भास्वती पृ० १२०।
४. योगभाष्य पृ० १२८।
५. (क) योगसूत्र १-४७।
(ख) योगभाष्य पृ० १२५।
६. (क) योगसूत्र १-४८।
(ख) योगभाष्य पृ० १२६।

ज्ञान अथवा अनुमिति का सम्पर्क भी नहीं रहता।[1] जब कि लौकिक प्रत्यक्ष में हमारा अधिकाशं ज्ञान शाब्द-ज्ञान एवं अनुमानजन्यज्ञान पर अवलम्बित रहा करता है। उदाहरणार्थ जब हम किसी व्यक्ति को देखते हैं, तब हमें उसका केवल एक अंश दिखाई पड़ता है। दृश्यमान मनुष्य के केवल चेहरे को और कभी कभी चेहरे के सहित उसके हाथ और पैरों के कुछ भाग को ही देख पाते है। उसका पृष्ठभाग तो हमें दिखाई देता ही नहीं, अग्रभाव भी वस्त्रादि से आच्छन्न रहा करता है, किन्तु हम अनुभव करते हैं कि हमें अमुक व्यक्ति का पूर्ण साक्षात्कार हो रहा है। एक्सरे आदि पारदशक यन्त्रों द्वारा भी हम उसके केवल एक अंश को ही देख पाते है समग्र को नहीं। समग्र का यह बोध अनुमान से मिश्रित रहता है। किन्तु आध्यात्म प्रसाद की स्थिति में योगी का ज्ञान समग्र रूप से और सर्वथा यथार्थ हुआ करता है, उसमें असमग्रता अथवा विपर्यास आदि का लेश भी नहीं रहा करता। जिसका परिणाम यह होता है कि उस ज्ञान से उद्भूत संस्कार अन्य समग्र अयथार्थ संस्कारों का प्रतिबन्धन कर देते हैं। संस्कारान्तर के न रहने पर यह संस्कार भी स्वयं निरुद्ध हो जाता है। क्योंकि संस्कार एक विशेष प्रकार का परिच्छिन्न ज्ञान है एवं ऋतम्भरा प्रज्ञा के उदय होने पर समस्त स्थूल सूक्ष्म सूक्ष्मतर एवं सूक्ष्मतम पदार्थों का, यहाँ तक कि अव्यक्त का भी ज्ञान प्राप्त हो जाता है। फलस्वरूप चित्त में अनन्त प्रकाशरूपता का उदय हो जाने पर योगी के लिए कोई भी प्राकृत पदार्थ ज्ञेय नहीं कर जाता। एवं समग्र के दर्शन हो जाने पर अब उसके ज्ञान के लिए प्राकृत ज्ञेय की ओर प्रवृत्ति नहीं होती। केवल आत्मतत्त्व ही ज्ञेय रहता है। यह सम्प्रज्ञात समाधि की उत्कृष्ट अवस्था है, इस स्थिति में केवल आनन्दानुगत एवं अस्मितानुगत बोध सम्प्रज्ञात समाधि में विद्यमान रहता है। इसके बाद की समाधि को असम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं।[2]

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन के अनन्तर यह कहा जा सकता है कि महर्षि पतंजलि और उनके व्याख्याकार व्यास एवं भोज के अनुसार चित्त की अनेक अवस्थाओं क्षिप्त मूढ विक्षिप्त एकाग्र एवं निरुद्ध में से अन्तिम दो अवस्थाएँ योग की अवस्थाएं कही जाती हैं। दूसरे शब्दों में एकाग्र एवं निरुद्ध अवस्था में चित्त का होना योग कहा जाता है। एकाग्र और निरुद्ध अवस्था में विद्यमान चित्त की भी पाँच अवस्थाएँ मुख्य रूप से मानी जा सकती है १–वितर्कानुगत, २–विचारनुगत, ३–आनन्दानुगत, ४–अस्मितानुगत एवं ५–निर्विषय। इन पाँच अवस्थाओं में से प्रथम दो में भी दो-दो और उप अवस्थाएं मानी जा सकती है : सवितर्क और निर्वितर्क तथा सविचार और निर्विचार। इस प्रकार चित्त की कुल

---

१. योगसूत्र १-४६।
२. योगसूत्र १-५१।

सात अवस्थाओं में से विशुद्ध निरुद्धावस्था निर्विषयमन की ही हुआ करती है, जिसे असम्प्रज्ञात समाधि निर्बीज समाधि आदि नामों से अभिहित किया जाता है। यद्यपि केवल इसे ही योग कहा जाना चाहिए, किन्तु इस अवस्था के लिए उपयोगी होने, तथा बाह्य विषयों से चित्त वृत्तियों का निरोध होने के कारण सम्प्रज्ञात समाधि की वितर्कानुगत आदि एकाग्र भूमियों को भी योग की सीमा के अन्तर्गत स्वीकार किया जाता है। इनमें पूर्व अवस्था उत्तर के प्रति सहायक हुआ करती है, अतः उत्तरोत्तर को पूर्व की उपेक्षा उत्कृष्टतर स्वीकार किया जा सकता है।

●●●

पातञ्जल योग में मनोवैज्ञानिक तत्त्व

मनोविज्ञान शब्द का अर्थ है 'मन का विज्ञान'। अंग्रेजी में मनोविज्ञान के पर्यायवाची के रूप में साइकोलॉजी (Psychology) शब्द का व्यवहार होता है, जिसका शाब्दिक अर्थ है 'आत्मा का विज्ञान'। पाश्चात्य विचारधारा में आत्मा और मन परस्पर भिन्न नहीं हैं, अतः उस विचार धारा के अनुसार दोनों शब्दों को पर्यायवाची स्वीकार किया जा सकता है, जब कि भारतीय दर्शन में आत्मा और मन सर्वथा भिन्न दो पदार्थ हैं। सांख्य एवं योग दर्शन के अनुसार आत्मा, जिसे इन दर्शनों में पुरुष के नाम के अभिहित किया जाता है एक नित्य चेतन तत्त्व है। जब कि मन चेतनाहीन (जड़)। आत्मा (पुरुष) त्रिणातीत (निर्गुण) है, जब कि मन सत्त्व् रजस् और तमस् रूप। आत्मा (पुरुष) द्रष्टा है, मन दर्शन का करणमात्र। आत्मा (पुरुष) नित्य है, जबकि मन अहंकार का विकार रूप है। इस प्रकार आत्मा (पुरुष) और मनस् को एक मानने का कोई प्रश्न ही इस दर्शन में नही उठता।

इस प्रकार पाश्चात्य दर्शन की परम्परा में प्रचलित साइकोलॉजी (Psychology) और भारतीय परम्परा में प्रचलित मनोविज्ञान नाम के मूल में पर्याप्त अन्तर होते हुए भी दोनों परम्पराओं में स्वीकृत अध्ययन के क्षेत्र अथवा उपविषयों में पर्याप्त अभेद है। दोनों ही परम्पराओं में शरीर के आन्तर तत्त्वों का, अन्तर-इन्द्रिय मन बुद्धि चित्त आदि ज्ञान साधनों का, ज्ञान और उसके साधन प्रमाण आदि का, व्यक्तित्व, संवेग, विचार, चेतना, क्रिया, प्रतिक्रिया, इच्छा आदि का अध्ययन किया जाता है। इतना अन्तर अवश्य है कि भारतीय मनोविज्ञान के अनुसार चित्त तथा मस्तिष्क आदि ज्ञान साधनों के साथ ही चेतन सत्ता, जिसे पुरुष जीव अथवा आत्मा आदि नामों से पुकारा जाता है, का अध्ययन भी अनिवार्यतः मनोविज्ञान के अन्तर्गत होना चाहिए। भारतीय चिन्तकों का विचार है कि मनोविज्ञान से चेतनसत्ता का अध्ययन निकाल देने पर चित्त का अध्ययन करना भी सम्भव न हो सकेगा। जिस प्रकार विद्युत यन्त्रालय में यन्त्रों, बिजली के तारों, बल्बों तथा स्विच आदि समस्त साधनों के होने पर भी विद्युत के बिना कोई कार्य सम्पन्न नहीं हो सकता। अतः उस यन्त्रालय के अभियन्ता के लिए आवश्यक है कि वह अन्य समस्त साधनों के साथ ही विद्युत धारा के सम्बन्ध में

भी पूर्ण जानकारी रखे; उसी प्रकार मनोविज्ञान के क्षेत्र में भी मन बुद्धि·इन्द्रिय आदि समस्त ज्ञान साधनों के साथ ही चेतन सत्ता पुरुष (जिसे अन्य दर्शनों में आत्मा या जीव कहा जाता है) का भी अध्ययन अनिवार्य रूप से आवश्यक है। इसीलिए पातंजलयोगसूत्र में अध्ययन के अन्य विषयों के साथ ही पुरुष का भी अध्ययन किया जाता है।

वर्तमान मनोविज्ञान के अध्ययन की परम्परा में अध्यात्म जीवन के अध्ययन की अपेक्षा लोकजीवन का ही अध्ययन विशेषरूप से किया जाता है, अतः उसमें मनोविज्ञान को सामान्य मनोविज्ञान, असामान्य मनोविज्ञान, समाज मनोविज्ञान, बाल मनोविज्ञान, शिक्षा मनोविज्ञान, उद्योग मनोविज्ञान, अपराध मनोविज्ञान एवं न्याय मनोविज्ञान आदि अनेक शाखाएँ हो गयी हैं। किन्तु योगशास्त्र में प्रतिपादित मनोविज्ञान के अध्ययन में अध्यात्म पर ध्यान के केन्द्रित रहने के कारण मनोविज्ञान की इन शाखाओं का अध्ययन प्रायः नहीं हुआ है। यह दूसरी बात है कि प्रयत्नपूर्वक व्याख्या करते हुए आंशिक रूप से मनोविज्ञान के अध्यात्मेतर अंशों-असामान्य, बाल, समाज, शिक्षा, उद्योग आदि से सम्बन्धित मनोविज्ञान की शाखा के भी संकेत योगदर्शन में प्राप्त किये जा सकें।

योगदर्शन में मनोविज्ञान से सम्बन्धित जिन अंगों का विशिष्ट विवेचन हुआ है, उनमें मुख्य निम्नलिखित हैं :—ईश्वर, पुरुष, चित्त, उसकी कार्यविधि, कर्माशय, संस्कार (वासना), मूल प्रवृत्तियाँ, संवेदना अथवा ज्ञान, ज्ञान के साधन (लौकिक प्रत्यक्ष अलौकिक प्रत्यक्ष अनुमान तथा आगम) चित्त की भूमियाँ, सूक्ष्मशरीर-एवं नाड़ी चक्र आदि।

योगदर्शन में उपलब्ध मनोविज्ञान विषयक उपर्युक्त विषयों का अध्ययन करने से पूर्व यह समझ लेना नितान्त आवश्यक है कि भारतीय मनोविज्ञान विशेषतः योगशास्त्रीय मनोविज्ञान एवं पाश्चात्य मनोविज्ञान के अध्ययन अथवा परीक्षण की प्रक्रिया में अन्तर है। पाश्चात्य मनोविज्ञान भौतिक विज्ञान के अध्ययन की पद्धति पर आधारित है, जब कि भारतीय मनोविज्ञान भौतिकवाद पर आधारित नहीं है। जिसके फलस्वरूप पाश्चात्य मनोविज्ञान केवल उसी क्षेत्र में गतिशील हो पाता है, जहाँ तक भौतिक परीक्षणों का किया जाना सम्भव हो। भौतिक विज्ञान अब तक ऐसे किसी भी यन्त्र का अविष्कार न कर सका है, जिसके द्वारा मन बुद्धि एवं आत्मा का साक्षात्कार किया जा सके। अतः पाश्चात्य मनोविज्ञान आत्मा आदि के सम्बन्ध में कोई प्रकाश डालने में सर्वथा असमर्थ रहता है। इसी प्रकार वर्तमान जन्म से पूर्व अथवा पर जन्म के सम्बन्ध में भी पाश्चात्य मनोविज्ञान सर्वथा मौन है, जब कि भारतीय मनोविज्ञान इन विषयों का विवेचन मुख्य रूप से करता है। क्योंकि पुनर्जन्म और आत्मा आदि के सम्बन्ध में अब तक भौतिक

प्रयोग नहीं किये जा सके हैं, अतः पाश्चात्य मनोविज्ञानिक यह आरोप लगाना चाहते हैं कि भारतीय मनोविज्ञान प्रयोग अथवा परीक्षणों पर आधारित न होकर केवल कल्पना पर आधारित है। किन्तु उनका यह आरोप सर्वथा निराधार है; क्योंकि योगी द्वारा आत्मसाक्षात्कार के लिए किया जाने वाला सतत अभ्यास विशुद्ध क्रियात्मक अथवा प्रयोगात्मक पद्धति ही है, अतः उससे प्राप्त ज्ञान को कल्पना पर आधरित मानना .उचित नहीं है। जहां तक किसी तथ्य तक पहुँचने के लिए अथवा वस्तु के स्वरूप का साक्षात्कार करने के लिए भौतिक साधनों के प्रयोग की बात है, योगी को उनकी आवश्यकता ही नहीं होती। योग साधना द्वारा उनकी दृष्टि इतनी प्रखर हो जाती है कि वे सूक्ष्म एवं सूक्ष्मतर वस्तुओं का ही नहीं सूक्ष्मतम वस्तुओं का भी साक्षात्कार ठीक उसी प्रकार अपनी अन्तर्दृष्टि से कर लेते हैं, जिस प्रकार एक वैज्ञानिक किन्हीं सूक्ष्म वस्तुओं का साक्षात्कार अणुवीक्षण यन्त्र आदि के द्वारा करता है। जिस प्रकार दृष्टिमान्द्य से ग्रस्त मानव किसी दूरस्थ अथवा निकटस्थ वस्तु के देखने के लिए चश्मा अणुवीक्षण आदि यन्त्रों की सहायता ग्रहण करता है, किन्तु उनके अभाव में वस्तु का साक्षात्कार नहीं कर पाता, जबकि स्वस्थ एवं सबल दृष्टि वाले व्यक्ति को उन साधनों की अपेक्षा नहीं होती; वह यन्त्रों की सहायता के बिना ही उन वस्तुओं का साक्षात्कार कर लेता है, अतः केवल भौतिक साधनों को न अपनाने के कारण ही उसके ज्ञान को काल्पनिक नहीं कहा जाता। जिसप्रकार मनोरोग से ग्रस्त व्यक्ति औषधि के प्रयोग के अनन्तर किंचित्काल के लिए मानसिक अस्थिरता से मुक्त होकर किसी वस्तु के स्वरूप को पहचान पाता है, किन्तु स्वस्थ मन वाले व्यक्ति को उक्त औषधि के प्रयोग के बिना ही उसी वस्तु का पूर्ण साक्षात्कार होता है, तथा उसके ज्ञान को केवल भौतिक वस्तु (औषधि) के उपयोग न करने के कारण ही काल्पनिक नहीं कहा जाता; ठीक उसी प्रकार एक योगी, जिसने निरन्तर साधना के द्वारा अपने मन (चित्त) को, अपनी इन्द्रियों को अत्यन्त शक्तिशाली बना लिया है, को किसी वस्तु का प्रत्यक्ष यदि भौतिक साधनों के बिना ही हो जाता है, जिसके लिए अन्य व्यक्तियों को यन्त्रों अथवा प्रयोगों की आवश्यकता होती है, तो यह उसकी महान् सफलता है, दोष नहीं। यदि उसका चित्त स्थूल प्रयोगों के बिना ही यथार्थ का साक्षात्कार सतत साधना के कारण कर लेता है, तो उस ज्ञान को केवल कल्पना पर ही आधारित नहीं कहा जा सकता।

इस प्रकार यह स्वीकार करने में किसी विचारक को कोई आपत्ति न होनी चाहिए कि पाश्चात्य मनोवैज्ञानिकों द्वारा भारतीय मनोविज्ञानिकों पर किया गया केवल कल्पना पर आधारित रहने का आरोप सर्वथा मिथ्या और निराधार है।

पाश्चात्य मनोवैज्ञानिकों के अनुसार समस्त ज्ञान विषयक चेष्टाओं का एक

मात्र कर्त्ता मन (Mind) है, जब कि भारतीय मनोविज्ञानिक (सांख्य एवं योग के अनुयायी) मन (चित्त) को आत्मा से भिन्न मानते हैं। उनका विचार है कि मन जड़ प्रकृति का विकार विशेष है, उसका विकास अथवा उसमें गति चेतन सत्ता के सन्निधान के बिना संभव नहीं है। क्योंकि अचेतन तत्त्व आत्मा के प्रकाश के बिना प्रकाशित नहीं हो सकते, तथा चित्त जड़ प्रकृति का विकार होने के कारण जड़ है, अतएव वह सदा ही चेतन सत्ता आत्मा के प्रकाश से प्रकाशित हो कर ही ज्ञान प्रदान करता है। फलतः चित्त अथवा मन को भी प्रकाशित करने वाले आत्मा का विवेचन मनोविज्ञान में अवश्य होना चाहिए। उसका विवेचन किये बिना मानसिक क्रियाओं का ज्ञान किस प्रकार किया जा सकता है? पाश्चात्य मनोविज्ञान की यह बहुत बड़ी न्यूनता है कि वह मनोविज्ञान के अन्तर्गत मन और आत्मा को अध्ययन का विषय न मानकर केवल स्थूल शरीर (नाड़ियाँ मस्तिष्क और ज्ञानेन्द्रियाँ आदि तक) सीमित रहता है।

पुरुष :—

पातंजलयोग सूत्र तथा उसके भाष्य एवं वृत्ति में चेतनतत्त्व पुरुष का विशद विवेचन किया गया है। पतंजलि के अनुसार चेतनतत्त्व का नाम पुरुष है। सांख्य में पुरुष त्रिगुण प्रपंच से सर्वथा भिन्न विवेक सम्पन्न चेतन अन्य विकारों को उत्पन्न न करने वाला अर्थात् अपरिणामी है।[१] यह कर्त्ता न होकर मध्यस्थ के समान केवल द्रष्टा एवं साक्षी मात्र है।[२] यह स्वयं यद्यपि कर्त्तृत्व आदि से सर्वथा परे है, किन्तु लौकिक विषयों के प्रतिबिम्ब के कारण विषयाकारता को प्राप्त बुद्धि में प्रतिबिम्बित होने से ही पुरुष भी स्वयं को बुद्धिगत कर्त्तृत्व और भोक्तृत्व से युक्त समझने लगता है।[३] योग दर्शन के अनुसार पुरुष के दो भेद हैं। एक पुरुष अविद्या आदि पाँच क्लेश, शुक्ल कृष्ण अथवा अशुक्लाकृष्ण त्रिविध कर्मों तथा उसके विपाक से सर्वथा अपरामृष्ट है; इस पुरुष को ही ईश्वर कहा जाता है।[४] ईश्वर नाम से अभिधीयमान इस पुरुष में निरतिशय सर्वज्ञता विद्यमान रहती है।[५] यह पुरुष संख्या में केवल एक है। इसके विपरीत अन्य पुरुष उपर्युक्त अविद्या आदि पाँच क्लेशों, शुक्ल कृष्ण और अशुक्लाकृष्णा त्रिविध कर्मों तथा उससे प्रसूत कर्माशय से सम्पन्न हुआ करते हैं।[६] ये संख्या में अनन्त हैं। स्वकृत कर्मों से उत्पन्न वासना

---

१. सांख्यकारिका ११।
२. वही १९।
३. (क) युक्तिदीपिका ११७।
(ख) सांख्यतत्त्व कौमुदी पृ० ८०।
४. योगसूत्र १.२४।
५. वही १-२५।
६. (क) वही २-३।
(ख) वही ४-७।
(ग) योगसुधाकर १३ पृ० ६३।

के कारण पुरुष दिव्य अथवा अदिव्य सुख दुःखों का भोग किया करता है। यह पुरुष ही निरन्तर की जाने वाली अष्टाङ्गयोगसाधना के कारण समाधि की भावना करता है, क्लेशों का तनूकरण करता है, तथा साधना द्वारा क्रमशः विविध विभूतियों का साक्षात्कार करता हुआ अन्त में कैवल्य भाव को प्राप्त करता है। जिसके फलस्वरूप वह सर्वविध दुःखों से निर्मुक्त हो जाता है।

मन :—

पाश्चात्य मनोविज्ञान के अनुसार मस्तिष्क की क्रिया को मन कहा जाता है। उसके अनुसार वह कोई स्वतन्त्र सत्तावान् पदार्थ नहीं है। जब कि भारतीय दर्शन (अथवा मनोविज्ञान) में मन आत्मा (पुरुष) से भिन्न एक स्वतन्त्र पदार्थ है। इसके अनुसार मन की सहायता से ही पुरुष को सुख दुःखादि की अनुभूति हुआ करती है।[1] प्रत्येक आत्मा के साथ एक मन नियत रूप से रहता है। यह मन परिणाम में अणु अर्थात् अत्यन्त सूक्ष्म है। इसकी अतिशय सूक्ष्मता अर्थात् अणु परिमाण के कारण ही व्यापक आत्मा और विषयों का सम्बन्ध नित्य विद्यमान रहने पर भी निरन्तर उनका साक्षात्कार न होकर काल विशेष में ही हो पाता है।[2] प्रत्येक आत्मा के लिए पृथक् पृथक् नियत होने के कारण मन संख्या में अनन्त हैं।[3] न्याय वैशेषिक परम्परा के अनुसार मन भी द्रव्य पदार्थों में अन्यतम है। साथ ही नित्य भी है।[4] जब कि सांख्य-योगपरम्परा में इसे त्रिगुणात्मिका प्रकृति का एक विकार माना गया है। उनके अनुसार त्रिगुणात्मिका प्रकृति से महत् तत्त्व की उत्पत्ति होती है, महत् से अहंकार एवं अहंकार से पंचतन्मात्राओं के साथ साथ ग्यारह इन्द्रियाँ उत्पन्न होती है, मन उन ग्यारह इन्द्रियों में अन्यतम है।[5] इस मन का मुख्य कार्य यद्यपि संकल्पविकल्प करना आदि है, तथापि अन्य इन्द्रियों के समान ही सात्त्विक अहंकार से उत्पन्न होने के कारण इसे भी इन्द्रिय माना जाता है।[6] क्योंकि सांख्य और योग को विद्वान् लोग प्रायः अभिन्न मानते हैं,[7] अतः यह कहा जा सकता है, कि मन के सम्बन्ध में योग दर्शन की मान्यता भी उपर्युक्त

---

१. तर्कसंग्रह पृ० ४२।
२. (क) न्यायसूत्र १-१-१६।
   (ख) वैशेषिकसूत्र ३-२-१।
३. (क) तर्क संग्रह पृ० ५२।
   (ख) भारतीय न्याय शास्त्रः एक अध्ययन पृ० ७१।
४. तर्क संग्रह पृ० ५२।
५. सांख्य सूत्र—१-६१।
६. (क) सांख्यकारिका २७।
   (ख) तत्त्वकौमुदी पृ० १४७।
७. भगवद्गीता ५, ४-५।

कथन से अभिन्न है। स्मरणीय है कि योगदर्शन में मनः के स्थान पर प्रायः चित्त शब्द का प्रयोग हुआ है (यद्यपि चित्त मन से भिन्न अन्य अन्तरिन्द्रिय है।)। योगसूत्रकार द्वारा प्रयुक्त चित्त शब्द से अभिप्रेत मन है, इसमें सन्देह किसी को भी नहीं होना चाहिए; क्योंकि कई बार वे एक ही प्रकरण में चित्त और मन दोनों शब्दों का प्रयोग करते हैं। उदाहरणार्थः—मैत्री करुणा आदि वृत्तियों को वे चित्त प्रसादन अथवा चित्त की एकाग्रता का उपाय स्वीकार करके 'प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य' एवं 'विषयवती वा प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसः स्थितिनिबन्धिनी' इत्यादि[१] कहते हुए वे प्राणायाम एवं विषयवती प्रवृत्ति को मन की स्थिरता का उपाय बताते हुए चित्त के स्थान पर मन शब्द का प्रयोग करते हैं। भाष्यकार व्यास भी पूर्वोक्त 'प्रच्छर्दन विधारणाभ्यां वा प्राणस्य' की व्याख्या के समय 'वा' पद द्वारा निर्दिष्ट चित्त प्रसादन के ही इतर उपाय को स्पष्ट करते हुए 'ताभ्यां वा मनसः स्थितिं सम्पादयेत्'[२] शब्दों द्वारा चित्त प्रसादन एवं मन की स्थिरता को अभिन्न स्वीकार कर लिया है। जिससे स्पष्ट होता है कि भाष्यकार ने मन एवं चित्त को पर्यायवाची ही स्वीकार किया है। व्यास की यह मान्यता अनुचित नहीं है। क्योंकि स्वयं सूत्रकार ने भी अग्रिम सूत्र 'विषयवती वा प्रवृत्तिर्मनसः स्थितिनिबन्धिनी' में चित्त प्रसादन एवं मन के स्थिति निबन्धन को अभिन्न ही माना है। इसी प्रकार प्राणायाम के फल का निर्देश करते हुए पुनः साधनपाद के अन्त में सूत्रकार मन में 'धारणा हेतु योग्यता' को फल मानते हैं।[३] तथा उन्हीं के अनुसार धारणा चित्त का देश विशेष में बन्ध है।[४] अतः यह स्वीकार किया जा सकता है कि योगसूत्रकार की दृष्टि से मन और चित्त अभिन्न ही हैं अथवा उन्होंने मन के लिए भी चित्त पद का प्रयोग किया है।

योग दर्शन के समानतन्त्र सांख्य शास्त्र में महत् अहंकार और मनस् इन तीन अन्तः कारणों का विशद वर्णन मिलता है। उसके अनुसार मन का कार्य संकल्प करना एवं अहंकार का कार्य अभिमान (ममत्व आदि) है; तथा बुद्धि समस्त ज्ञान की प्रकाशिका है। निर्मल स्फटिक के समान बुद्धि (महत्) में इन्द्रियों के माध्यम से विषय प्रतिबिम्बित होते हैं, और छायापत्त्या ही पुरुष उसका दृष्टा अथवा भोक्ता होता है।[५] योगदर्शन में बुद्धि (महत्तत्व) का यह कार्य भी चित्त से ही लिया गया है। दूसरे शब्दों में योगदर्शन में बुद्धि के लिए भी चित्त शब्द का ही

---

१. योगसूत्र १-२४-२५।
२. योगभाष्य पृ० ६८-६६।
३. योगसूत्र २-५३।
४. वही ३-१।
५. सांख्यतत्वकौमुदी पृ० १६५। (ख) सांख्यकारिका ३५।

प्रायः प्रयोग हुआ है।[१] इसीलिए सूत्रकार चित्त का ही विषयोपराग से उपरक्त होना स्वीकार करते है।[२] दूसरे शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि योगदर्शन में प्रयुक्त चित्तपद मन बुद्धि चित्त और अंहकार चारों ही अन्तरिन्द्रियों की ओर संकेत रखता है। अतः योगसूत्र में चित्त पद यथावसर इन चारों अन्तरिन्द्रियों का वाचक है, ऐसा स्वीकार करना अनुचित न होगा।

सांख्यदर्शन की परम्परा में मन मध्यम आकार (परिणाम) का स्वीकार किया जाता है। एवं न्याय वैशेषिक में वह अणु परिमांण का माना गया है।[३] जब कि इसके विपरीत योग दर्शन में चित्त (मन) को आकाश के समान विभु परिमाण वाला स्वीकार किया गया है। यह चित्त दो प्रकार का है : कारणचित्त और कार्यचित्त। कारणचित्त का परिमाण विभु तथा अपरिवर्त्तनीय हैं, किन्तु कार्यचित्त, जो कि प्रत्येक जीव के साथ अलग अलग नियत है, विभु होते हुए भी वह कारणचित्त के समान अपरिवर्तनीय नहीं है। यह शरीर के अनुकूल फैलता और संकुचित होता हुआ प्रतीत होता है। विभु होने पर भी वासनाएँ इसे सीमित कर देती हैं। अज्ञान के कारण सीमित चित्त में विषयों की पूर्ण अभिव्यक्ति नहीं हो पाती। अतः योग की साधना द्वारा कार्यचित्त को कारणचित्त में परिवर्तित करने का प्रयत्न किया जाता है। कारणचित्त के रूप में परिणत चित्त स्वच्छ दर्पण के समान निर्मल हो जाता है, फलस्वरूप उसमें भूत भविष्य और वर्तमान में अवस्थित स्थूल सूक्ष्म और व्यवहित सभी प्रकार के विषयों का अवभासन होने लगता है। ऐसे चित्त में इन्द्रिय आदि करणों के बिना ही समस्त वस्तुएँ हस्तामलकवत् अवभासित होने लग जाती है।[४] दूसरे शब्दों में योगी को सर्वज्ञता ही प्राप्त हो जाती है।

पाश्चात्त्य मनोविज्ञान में मन को मस्तिष्क की क्रियामात्र माना गया है। सम्भवतः वहाँ यह भूलं चेतना और मस्तिष्क के भौतिक स्पन्दनों के मध्य सहभाव के कारण हुई है। किन्तु दोनों के मध्य अभेद कौन कहे, कार्यकारणभाव सम्बन्ध भी नहीं है। दोनों में यदि कोई सम्बन्ध कहा जा सकता है, तो यह कि मन की क्रियाएं मस्तिष्क द्वारा नियन्त्रित होती हैं, ठीक उसी भाँति जैसे शरीर की क्रियाएं मन द्वारा नियन्त्रित होती हैं, किन्तु केवल इसी आधार पर यदि शरीर को न मन की क्रिया कहा जाता है और न ही मन की क्रिया का कार्य, तो उसी प्रकार मन को भी न तो मस्तिष्क की क्रिया कहा जा सकता है और न ही मस्तिष्क की क्रिया का कार्य।

---

१. योगसूत्र ४-२२।
२. वही ४-१६।
३. तर्क संग्रह पृ० ५२।
४. ग्रोगमनोविज्ञान पृ० ६१-६२ एवं ३२८-२६।

अमेरिकन मनोवैज्ञानिक जे० वी० वाटसन मन के व्यवहार (क्रियाओं) के अध्ययन के आधार पर ही मन को ज्ञान मानते हुए अन्तः निरीक्षण पद्धति पर किये गये मनोविषयक अध्ययन को अस्वीकार करते हैं। इनके अनुसार मनोविज्ञान के लिए व्यक्ति के मानसिक व्यवहारों का ही अध्ययन आवश्यक है।[1] किन्तु समस्त मानसिक अथवा मनोनियन्त्रित शारीरिक व्यवहार मन के एक अंश पर ही आधारित हुआ करते हैं, अतः उनके अनुसार समग्र मन का ज्ञान प्राप्त किया जा सके, यह संभव नहीं है। इसीलिए डा० मैक्सवरदीमर कर्टकौफका एवं वुल्फ गेंगकोहलर चेतना का पूर्णता के रूप में अध्ययन आवश्यक मानते हैं।[1]

डाक्टर मैक्सवरदीमर कर्ट कौफका तथा वुल्फगेंग कोहकर चेतना का समग्र रूप से अध्ययन करने का प्रयास करते हैं। उनके अनुसार चेतना एक सम्पूर्ण इकाई है, अतः उसके अलग़ अलग अवयवों का अध्ययन करने से उसका समग्र रूप से ज्ञान हो सकना संभव नहीं है। अतः मूल प्रवृत्तियों अथवा प्रत्यक्षों का अध्ययन चेतना के अवयव का ही अध्ययन है, समग्र चेतना का नही। उनके अनुसार चेतना के मूल मन की तीन अवस्थाएँ हैं चेतन, अचेतन एवं अतिचेतन।[2]

श्रीमद्भागवत के अनुसार मन की चार अवस्थाएँ है :—जाग्रत् स्वप्न सुषुप्ति और तुरीया।[3] प्रश्न उपनिषद् में भी मृत्यु अवस्था से पूर्व बाह्य आभ्यन्तर एवं मध्यम अवस्थाओं की चर्चा करते हुए उपर्युक्त जाग्रत् स्वप्न आदि अवस्थाओं को स्वीकार किया गया है।[4] इसे स्पष्ट करते हुए आचार्य शंकर ने बाह्य आभ्यन्तर एवं मध्यमा अवस्था को जाग्रत् सुषुप्ति एवं स्वप्न का बोधक माना है।[5] भाष्यकार व्यास ने 'प्रकाशक्रियास्थितिशीलम्' इत्यादि सूत्र के भाष्य में चित्त की चार अवस्थाओं की ओर संकेत किया है।[6] जिसे स्पष्ट करते हुए योगवार्तिककार विज्ञानभिक्षु ने भी उपर्युक्त जाग्रत् स्वप्न सुषुप्ति एवं तुरीया चार वृत्तियों को स्वीकार किया है।[7]

उपर्युक्त चार अवस्थाओं में से प्रथम तीन अर्थात् जाग्रत् स्वप्न और सुषुप्ति अवस्थाएँ प्रत्येक मानव के चित्त की होती है।

---

१. योगमनोविज्ञान पृ० ३२५।
२. वही पृ० ३२६-२७।
३. भागवत पु० ११-१३-२७।
४. प्रश्नोपनिषद् ५-६।
५. वही।
६. योगभाष्य पृ० २००।
७. योगवार्त्तिक पृ० २००।

जाग्रत् अवस्था–

जाग्रत् अवस्था में चित्त का सम्बन्ध भौतिक जगत् में कार्य करने वाले स्थूल शरीर से रहता है। इसमें समस्त स्थूल विषय पृथक् पृथक् सत्तावान् प्रतीत होते हैं। वह दिशा और काल के बन्धन में पूर्णतः आबद्ध रहता है। इस अवस्था में पुरुष (आत्मा) स्थूलशरीर सूक्ष्मशरीर तथा कारणशरीर से सीमित रहता है। योगवासिष्ठ के अनुसार जाग्रत् अवस्था में पुरुष (जीव) स्थूलशरीर के अन्दर तेज और वीर्य में स्थित रहता है तथा शरीर की क्रियाओं के लिए जीव प्राणों के द्वारा क्रिया करने वाले अंगों की ओर प्रवाहित होता है। वह जीव ज्ञानेन्द्रियों के माध्यम से बाह्यजगत् की ओर उन्मुख होकर उसका साक्षात्कार करता है।[1] स्मरणीय है कि योग-वासिष्ठ में जाग्रत् आदि अवस्थाओं की चर्चा पुरुष (जीव) में अध्यारोपित करते हुए की गयी है।

वेदान्त के अनुसार जाग्रत् अवस्था मन की निम्न अवस्था वाले व्यक्तियों की है, जिनका स्थूल दृष्टिकोण होता है। इस अवस्था में पाँच ज्ञानेद्रियों, पाँच कर्मन्द्रियों एवं मन बुद्धि चित्त और अहंकार इन चार अन्तरिन्द्रियों, इनके देवताओं तथा इनके विषयों का व्यापार चलता है। वेदान्त के अनुसार यह अवस्था स्थूल देह की है, आत्मा अथवा चित्त की नहीं।

योगपरम्परा के अनुसार इस अवस्था में पुरुष (आत्मा) अज्ञान के कारण अपने को स्थूल शरीर, मन, इन्द्रिय आदि समझ बैठता है, तथा अपने को बाह्य विषयों से सम्बन्धित कर लेता है। इस अज्ञान के कारण ही जाग्रत् अवस्था का सारा व्यवहार चलता है। श्रीमद्भागवत के अनुसार सत्त्वगुणप्रधान चित्त की अवस्था का नाम जाग्रत् अवस्था है।

स्वप्न–

स्वप्नावस्था रजोगुण प्रधान अवस्था है। इस अवस्था में स्थूल शरीर के व्यापार बन्द हो जाते हैं, इन्द्रियों का बाह्य जगत् से सम्बन्ध नहीं रहता। चेतन मन की क्रियाएँ भी शान्त हो जाती हैं, किन्तु अचेतन मन क्रियाशील रहता है। योगसूत्र के भाष्यकार व्यास के अनुसार ग्राह्याकारपूर्वास्मृति के दो भेदों भावितस्मर्त्तव्यविषया और अभावितस्मर्त्तव्यविषया स्मृति में प्रथम अर्थात् भावितस्मर्तव्यविषया स्मृति ही स्वप्नावस्था में प्रधान रूप से रहती है।[2] यह स्मृति जाग्रत् अवस्था के अनुभवों पर आधारित है, किन्तु स्वप्न के विषय साक्षात् अनुभव की स्मृति नहीं होते। उसके विषय तो बहुत परिवर्तित रूप से उपस्थित होते हैं।

---

१. योगवासिष्ठ ४-१६, १५, १६, १७, १६।
२. व्यासभाष्य पृ० ४२-४३।

स्वप्न को साक्षात्स्मृति के स्थान पर स्मृति की स्मृति कहना अधिक उपयुक्त होगा। क्योंकि स्वप्न में स्मरण करने का ज्ञान नहीं हुआ करता है। योगवासिष्ठ के अनुसार जिस प्रकार बीज में वृक्ष को अनुभव करने की कल्पना की जा सकती है, जो कि उसमें अव्यक्त रूप से विद्यमान है, उसी प्रकार स्वप्नावस्था में जीव समस्त विश्व को अपने में समाहित अनुभव करता है। इस अवस्था में उसे अपनी वासनाओं के अनुकूल स्वप्न दिखाई पड़ते हैं।[1] इसमें (स्वप्न में) जाग्रत् अवस्था के समान विषयों का ज्ञान तो रहता है, किन्तु ज्ञानेन्द्रियों का व्यापार अवरुद्ध होने से उनके साथ विषयों का सन्निकर्ष नहीं होता। इस अवस्था में ज्ञान के विषय भी वास्तविक न होकर कल्पित होते हैं। इसी प्रकार इस में सुख–दुःख भी वास्तविक न होकर कल्पित ही होते हैं। इस प्रकार स्वप्नावस्था का समस्त जगत् ही जाग्रत् अवस्था से भिन्न हुआ करता है। आचार्य प्रशस्तपाद के अनुसार यह अविद्या का एक प्रकार है।[2]

आधुनिक वैज्ञानिकों के अनुसार यह स्वप्नावस्था मानव की वासनाओं की तृप्ति कराने वाली अवस्था है। उनके अनुसार जाग्रत् अवस्था में जिन अनेक इच्छाओं की पूर्ति नहीं हो पाती, उनकी पूर्ति (तृप्ति) स्वप्नावस्था में होती है। इस प्रकार स्वप्नावस्था अतृप्त वासनाओं की तृप्ति का साधन है।

सुषुप्ति–

श्रीमद्भागवत के अनुसार सुषुप्ति तमोगुण प्रधान होती है।[3] यह अवस्था स्वप्न रहित निद्रा की अवस्था है। इस अवस्था में जाग्रत् अवस्था और स्वप्न अवस्था दोनों के ही विषयों का अभाव रहा करता है। विषयों का अभाव रहते हुए भी इसमें कोई अनुभव नहीं होता, ऐसी बात नहीं है। क्योंकि सुषुप्ति से जगने पर 'मैं सुखपूर्वक सोया' इत्यादि स्मरण होता है, अतः यह तो निश्चित है कि इस अवस्था में अनुभव तो अवश्य ही रहता है।

योगसूत्रकार के अनुसार निद्रा में जाग्रत् और स्वप्नावस्था की वृत्तियों के अभाव की प्रतीति हुआ करती है।[4] इस अभावात्मक प्रतीति का कारण यह है कि इस अवस्था में तमोगुण प्रधान होता है, तथा वह सत्त्व और रजस् को दवा लेता है, अतः चित्त में तमोगुण का ही प्रधान रूप से परिणाम होता है, जिसके

---

१. योगवासिष्ठ ४-१६, २६-३३।

२. (क) प्रशस्तपादभाष्य पृ० ८५।
   (ख) कणाद रहस्यम् पृ० ११५।

३. भागवत् ११, २५-२०।

४. योगसूत्र १-१०।

फलस्वरूप ज्ञान (प्रकाश) के अत्यन्त क्षीण होने से अभावात्मक प्रतीति होती है। अभावात्मक प्रतीति का यह अर्थ नहीं है कि इस समय सभी वस्तुओं का अभाव हो जाता है। वस्तुतः जिस प्रकार कमरे में अनेक वस्तुओं की स्थिति रहने पर भी अन्धकार के बढ़ जाने पर किसी भी वस्तु की प्रतीति नही होती, केवल अन्धकार की ही प्रतीति होती है। इसी प्रकार चित्त में तमोगुण का प्रभाव बढ़ जाने पर किसी भी वस्तु की प्रतीति नहीं होती।

बृहदारण्यक उपनिषद् के अनुसार पुरुष ह्रदय से निकल कर पुरीतत् को जाने वाली हिता नामक बहतर हजार नाड़ियों के द्वारा पुरीतत् में प्रवेश कर विश्राम करता है। उस समय चित्त सहित अन्तर इन्द्रियों एवं बाह्य इन्द्रियों से उसका कोई सम्पर्क नहीं रह जाता, तथा उसे उस समय कुछ भी भान नहीं होता। इस अवस्था का ही नाम सुषुप्ति अवस्था है।[१] इसे मन अथवा पुरुष (आत्मा) किसी की भी अवस्था मानने में कोई व्यवहारिक दोष उपस्थित नहीं होता।

प्रश्नोपनिषद् के अनुसार इन्द्रियों के मन में लीन होने पर व्यक्ति सुषुप्ति अवस्था को प्राप्त करता है। जिस प्रकार सूर्यास्त के समय सूर्य की समस्त किरणें सूर्य में लौटकर सूर्य के साथ एक रूप हो जाती हैं, उसी प्रकार सुषुप्ति के समय समस्त इन्द्रियाँ परमदेव मन में एकत्र हो जाती हैं। फलतः उस काल में पुरुष न सुनता है, न देखता है, न सूँघता है, न रसास्वादन करता है, न स्पर्श करता है, न बोलता है, न ग्रहण करता है, न आनन्द का भोग (सम्भोग) करता है, न मलोत्सर्ग करता है, न कोई चेष्टा करता है, उस समय 'वह सोता है' ऐसा कहा जाता है।[२] इस समय समस्त इन्द्रियाँ शान्त एवं क्रियाहीन हो जाती हैं, केवल प्राण ही जागृत रहते हैं; और उनके कारण ही शरीर जीवित रहता है। सुषुप्ति से उद्‌बोध होने पर समस्त इन्द्रियाँ मन से अलग होकर अपने अपने कार्यों में प्रवृत्त हो जाती हैं, जैसे सूर्य के निकलने पर उसकी किरणें पुनः सर्वत्र फैल जाती हैं।

छान्दोग्य उपनिषद् के अनुसार सुषुप्ति अवस्था में मन (चित्त) जब विविध विषयों में भटक कर थक जाता है, तब वह अन्यत्र कहीं भी आश्रय न पाकर प्राणों का आश्रयण करता है; जैसे कि धागे में बंधा हुआ पक्षी इधर उधर उड़कर जब थक जाता है, तब विश्राम के लिए अपने बन्धन स्थल पर ही लौट जाता है एवं वहीं किंचित् काल के लिए विश्राम का अनुभव करता है।[३]

---

१. बृहदारण्यकोपनिषद् २।१।१६।

२. प्रश्नोपनिषद् ४-२।

३. छान्दोग्योपनिषद् ६-८-२।

वेदान्त परम्परा में सुषुप्ति अवस्था को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि जिस प्रकार बालक अपने साथियों के बीच खेलते हुए जब थक जाता है, तब वह माता की गोद में पहुँचकर सो जाता है, उस समय उसे बाह्य विश्व का कुछ भी पता नहीं होता। और जब पुनः उसके साथी खेलने के लिए बुलाते है, तो माता की गोद से निकलकर खेल में प्रवृत्त हो जाता है। प्रकृत में मनरूपी बच्चा कर्मरूपी खेल खेलता हुआ थकावट का अनुभव करने के अनन्तर शरीर अथवा अविद्यारूपी माता की गोद में लीन होकर सुषुप्ति अवस्थारूप घर में विश्राम (सुख) का अनुभव करता है एवं कालान्तर में जब कर्मरूप साथी उसे बुलाते हैं, तब वहाँ (सुषुप्ति) से निकलकर जाग्रत् एवं स्वप्नरूप अवस्थाओं में व्यवहाररूप खेल खेलने लगता है।[१]

आचार्य शंकर के अनुसार सुषुप्ति अवस्था में ज्ञान का सर्वथा अभाव रहता है।[२] उस समय बुद्धि अपने कारण अविद्या में लीन हो जाती है। इस समय शरीर में किसी भी प्रकार की क्रिया नहीं होती। स्थूल अथवा सूक्ष्म किसी भी शरीर से आत्मा का सम्बन्ध अवभासित नहीं होता। उनके अनुसार जब तक चित्त आत्मा में लीन रहता है, तब तक उसे धर्म और अधर्म से उत्पन्न होने वाले किसी भी प्रकार के सुख अथवा दुःख की अनुभूति नहीं होती।[३] इस अवस्था में जाग्रत् एवं स्वप्न अवस्था की समस्त क्रियाएं अवरुद्ध हो जाती है। इस प्रकार स्थूल और सूक्ष्म शरीर की समस्त क्रियाओं के प्रशान्त होते हुए भी सुषुप्ति अवस्था एवं कैवल्य अवस्था में समानता नहीं कही जा सकती हैं; क्योंकि कैवल्य अथवा मोक्ष अवस्था में अविद्या की पूर्णरूपेण समाप्ति हो जाती है, जबकि सुषुप्ति में अविद्या में ही चित्त निमग्न रहता है; अतएव कालान्तर में सुषुप्ति के निवृत्त होने पर चित्तकी समस्त क्रियाएँ पुनः प्रारम्भ हो जाती हैं।

सुषुप्ति और निर्विकल्पक समाधि की अवस्था में भी बहुत अधिक अन्तर है; क्योंकि सुषुप्ति वृत्ति रहित अवस्था है; जब कि निर्विकल्पक समाधि में चित्त में निरन्तर ब्रह्म के स्वरूप का प्रतिभासन होने पर वह ब्रह्माकार रहा करता है।[४]

तुरीया अवस्था

जाग्रत् स्वप्न और सुषुप्ति से भिन्न चित्त की चतुर्थ अवस्था को तुरीयावस्था कहा जाता है। चतुर्थ अवस्था का यह नाम गणनाक्रम में चतुर्थ होने के कारण

---

१. योगमनोविज्ञान पृ० २७६।
२. बृहदारण्यक् शांकरभाष्य पृ० ४४६। २-१-२६।
३. वही पृ० ४५१।
४. (क) योगसूत्र १-४३। (ख) योगभाष्य १-४४ पृ० १२१।

पड़ा है। चित्त की स्थिति के स्वरूप के आधार पर इस अवस्था की कोई संज्ञा विशेष प्रचलित नहीं है। इस अवस्था का अनुभव पूर्वोक्त अवस्थाओं के अनुभव से नितान्त भिन्न है। इसकी प्राप्ति सर्व सामान्य को नहीं हो पाती। यह अवस्था विषय एवं विचारों से रहित विशुद्ध चेतन अवस्था है, जो स्वयं आनन्दपूर्ण अवस्था में प्रकाशित होती रहती है। यह अनन्तता पूर्णता पूर्णसन्तोष एवं अनिर्वचनीय सुख की अवस्था है। इस अवस्था में जीव ब्रह्म से तादात्म्य प्राप्त करता है। इस अवस्था में पुरुष (आत्मा) का लगाव स्थूल सूक्ष्म एवं कारण तीनों ही शरीरों से नहीं रह जाता, वह अपने विशुद्ध रूप में विद्यमान रहता है। इस अवस्था में उसे अपने चरम अभीष्ट स्वरूपावस्थान की प्राप्ति हो जाती है। उसे अपने स्वरूप का पूर्ण ज्ञान हो जाता है एवं वह ब्रह्म (परमात्मा) से तादात्म्य अवस्थापित कर लेता है। इससे पूर्व की तीनों अवस्थाओं में क्रमशः स्थूल सूक्ष्म एवं कारण से तादात्म्य रहा करता है, अर्थात् जाग्रत् अवस्था में स्थूल शरीर से, स्वप्नावस्था में सूक्ष्म शरीर से एवं सुषुप्ति अवस्था में कारण शरीर से पुरुष का तादात्म्य रहता है। किन्तु इस अवस्था में अविद्या की पूर्ण निवृत्ति हो जाने के कारण उन शरीरों से तादात्म्य समाप्त हो जाता है। इस अवस्था में अहंकार एवं अस्मिता का भी सर्वथा विलय हो जाता है। केवल विशुद्ध असीम चेतनता ही विद्यमान रहती है। इस अवस्था में इन्द्रियों का विषयों से सम्बन्ध न होने के कारण विषय सम्बन्धी ज्ञान भी नहीं हुआ करता, अतएव इसमें बाह्य भौतिक जगत् का कोई अनुभव नहीं होता। इतना ही नहीं मनोगत संकल्प विकल्प का भी इस अवस्था में पूर्णतः विलय हो जाता है। इस प्रकार संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि जिस अवस्था में अहंकार आदि का त्याग होने पर समता की प्राप्ति एवं चित्त की पूर्ण शान्ति का अनुभव होता है, उस अवस्था को तुरीयावस्था कहते हैं। इस अवस्था में बाह्य जगत् का अनुभव शान्त और लीन हो जाता है।[१]

सूत्रकार, भाष्यकार (व्यास) एवं वृत्तिकार (भोज) के शब्दों में तुरीयावस्था को समाधि कहा जा सकता है। जैसा कि 'योग का स्वरूप' नामक परिच्छेद में बताया जा चुका है[२] कि समाधि सम्प्रज्ञात अथवा सबीज और असम्प्रज्ञात अर्थात् निर्बीज भेद से दो प्रकार की है। सम्प्रज्ञात समाधि भी वितर्कानुगत, विचारानुगत, आनन्दानुगत तथा अस्मितानुगत भेद से चार प्रकार की है। सम्प्रज्ञात समाधि के अनन्तर भी निरन्तर अभ्यास से क्रमशः विवेकज्ञान का उदय होता है, एवं विवेकज्ञान (ऋतम्भरा प्रज्ञा) के दृढ़ होने पर धर्ममेघ समाधि की प्राप्ति होती है।[३]

---

१. योगवसिष्ठ ६। १-२४, २६-२७ एवं ३६।
२. इसी ग्रन्थ के पृष्ठ ८६-१०० देखिये।
३. (क) योगभाष्य पृ० ४४५-६। (ख) भोजवृत्ति ४-२६।

यह धर्ममेघ समाधि सम्प्रज्ञात समाधि की चरमावस्था या उत्कृष्टतम कोटि है।[१] अभ्यास एवं वैराग्य द्वारा उसका भी निरोध होने पर वास्तविक समाधि; जिसे असम्प्रज्ञात अथवा निर्बीज समाधि कहा जाता है,[२] की सिद्धि होती है। इसमें चित्तवृत्तियाँ निरुद्ध हो जाती हैं, तथा आत्मा (पुरुष) अपने वास्तविक रूप को प्राप्त कर लेता है।[३]

वेदान्त के अनुसार निर्बीज (निर्विकल्प) समाधि की अवस्था में केवल ब्रह्म का ही अवभासन रहता है। केवल विशुद्ध चैतन्य रूप से चित्त की अवस्थिति होती है।[४] इस समाधि की अवस्था में मुक्तावस्था के समान अविद्या एवं संस्कारों का पूर्णतया नाश नहीं होता। साथ ही समाधि की अवस्था में पूर्ण स्थायित्व का भी अभाव रहता है, यह मुक्ति की अवस्था से सर्वथा भिन्न अवस्था है। मुक्ति की अवस्था में पहुँचने पर परावर्त्तन होने, अर्थात् मुक्तावस्था से पुनः लौटने की सहज सम्भावना नहीं रहती, जबकि समाधि के बाद भी जाग्रत् स्वप्न एवं सुषुप्ति अवस्थाएँ हो सकती हैं। अतः इसे मुक्तावस्था से अभिन्न नहीं कहा जा सकता। यह समाधि की अवस्था सुषुप्ति से भी अभिन्न नहीं कही जा सकती; क्योंकि दोनों में ही वृत्तियों की प्रतीति का समान रूप से अभाव होने पर भी सुषुप्ति में वृत्तियों का आलम्बन अभाव प्रत्यय रहता है, जबकि समाधि में चित्तवृत्तियाँ होती हैं किन्तु निरुद्ध होने के कारण उनका भान नहीं होता।[५] जाग्रत् एवं स्वप्न अवस्थाओं में वृत्तियों की प्रतीति होने के कारण उनसे अभेद की तो शंका भी नहीं हो सकती।

माण्डूक्य उपनिषद् के अनुसार जाग्रत् अवस्था में चित्त में पुरुष को बाह्य जगत् का ज्ञान तथा स्थूल विषयों का भोग होता है। स्वप्नावस्था में बाह्य जगत् से सम्बन्ध न होने पर भी आन्तर में उसका ज्ञान एवं विचार मात्र से उसका भोग होता है।[६] जबकि सुषुप्ति अवस्था में न तो बाह्य जगत् की कामना होती है, न ही उसका ज्ञान, और न स्वप्न में भी उसका भान होता है।[७] तुरीयावस्था में चित्त की स्थिति इन तीनों से सर्वथा भिन्न होती है। इस अवस्था में न बाह्य जगत् का ज्ञान होता है, न आन्तर जगत् का और न ही दोनों का संयुक्त। इस अवस्था में उसमें न मात्रा का ज्ञान होता है और न जागतिक व्यवहार आदि की किंचिन्मात्र

---

१. भावगणेशवृत्ति ४.२६ पृ० २०७।
२. योगसूत्र १-५१।
३. (क) योगभाष्य पृ० १३३-१३८।
(ख) भोजवृत्ति पृ० ५७।
४. वेदान्तसार पृ० ६२।
५. वही।
६. माण्डूक्य ३-४।
७. वही।

भी प्रतीति होती है। इस अवस्था में पुरुष स्वयं को ब्रह्म से अभिन्न समझता है, तथा उसकी द्वैतबुद्धि सर्वथा विलीन हो जाती है।[1] यह अवस्था अचिन्त्य है, अवर्णनीय है। इसकी प्राप्ति केवल आत्मसाक्षात्कार द्वारा होती है। इसकी प्रपंचात्मक सत्ता नहीं है।

इस प्रकार यह कहा सकता है कि तुरीया अवस्था में समस्त दुःख विलीन हो जाते हैं। यही आत्मसाक्षात्कार की उच्चतम अवस्था है। इस अवस्था में सब कुछ चेतन में विलीन हो जाता है। एक स्थिति में ज्ञाता और ज्ञेय का भेद भी समाप्त हो जाता है।

पाश्चात्य मनोवैज्ञानिकों के अनुसार मन की केवल तीन अवस्थाएँ हैं—चेतन अचेतन और अतिचेतन या अवचेतन। उनके अनुसार स्वप्न और सुषुप्ति अवस्थाएँ अचेतन मन की ही दो अवस्थाएं हैं।[2]

चित्तभूमियाँ—

चित्त (मन) की पूर्वोक्त जाग्रत् आदि अवस्थाओं के अतिरिक्त क्षिप्त मूढ विक्षिप्त एकाग्र और निरुद्ध ये पाँच भूमियाँ भी भाष्यकार व्यास ने स्वीकार की हैं।[3] इन्हें भी यदि चित्त की अवस्थाएँ कहा जाए तो अनुचित न होगा। चित्त की ये भूमियाँ ही मानव में कार्य में प्रवृत्ति की योग्यता उत्पन्न करती हैं। किसी भी मानव के चित्त की भूमियों की परीक्षा के आधार पर कार्य में अन्तिम लक्ष्य की प्राप्ति तक उसकी प्रवृत्ति और उसकी सफलता प्राप्ति का अनुमान किया जा सकता है। यह अनुमान केवल उसी स्थिति में असत्य हो सकता है, जब साधक की चित्त की भूमि में ही परिवर्तन हो जाए। अन्यथा (चित्तभूमियों में परिवर्तन के बिना) उनके (चित्तभूमियों के) अध्ययन पर आश्रित अनुमान असत्य नहीं हो सकता है।

व्यास के अनुसार क्षिप्त एवं मूढ भूमियाँ तो समाधि के अनुकूल हैं ही नहीं। विक्षिप्त भूमि में अल्पकालिक चित्त की स्थिरता भी समाधि के अनुकूल नहीं है। केवल एकाग्र और निरुद्ध चित्त भूमि में उत्पन्न स्थिरता ही समाधि के अनुकूल है,[4] अतः एकाग्र अवस्था एवं निरुद्धावस्था का विशिष्ट वर्णन योगशास्त्र में किया गया उपलब्ध होता है।

वृत्तिकार भोज के अनुसार क्षिप्तावस्था में चित्त रजोगुण के उद्रेक के कारण सदा ही अस्थिर तथा बहिर्मुख होने के कारण विकल्पित अर्थात् निकटवर्त्ती

---

१. माण्डूक्य ७।
२. योगमनोविज्ञान पृ० ३२६-२७।
३. (क) योगभाष्य पृ० ७।
(ख) भोजवृत्ति १-२ पृ० ३।
४. वही पृ० ६-१०।

अथवा दूरवर्त्ती सुखदुखादि विषयों में रमता रहता है।[1]

हरिहरानन्दारण्य के अनुसार संस्कारजन्य धर्मों से युक्त-समाधान की कामना से रहित चित्त, जो सदा ही अस्थिर होकर भटकता रहता है, को क्षिप्तभूमिक चित्त कहा जाता है। इसी प्रकार उपर्युक्त संस्कारजन्य धर्मों से युक्त प्रबल राग आदि के मोह से ग्रस्त चित्त को मूढ़भूमिक चित्त कहा गया है। उपर्युक्त दोनों अवस्थाओं से भिन्न कभी कभी किंचित्काल के लिए स्थिरता प्राप्त करने वाले चित्त को विक्षिप्तभूमिक चित्त कहा जाता है। इस अवस्था में अल्पकालीन स्थिरता, समाधान की कामना एवं तत्त्वज्ञान की प्राप्ति का भी यदा कदा दर्शन हो जाता है। एकाग्र भूमि में चित्त अभीष्ट विषयों में निरन्तर स्थिर रहता है, तथा निरुद्ध भूमि में चित्तगत समस्त वृत्तियों का निरोध हो जाता।[2]

भोज के अनुसार मूढ़ावस्था में चित्त तमोगुण से अभिभूत रहने के कारण कर्त्तव्य एवं अकर्त्तव्य का निर्णय नहीं कर पाता : साथ ही क्रोध आदि के द्वारा अभिभूत होने के कारण निषिद्ध कर्मों की ओर ही प्रवृत्त रहता है।[3] विक्षिप्त अवस्था में सत्त्व की प्रधानता के कारण चित्त दुःख के कारणों का त्याग करके सुख के साधनों में ही प्रवृत्त रहता है।[4] भोज के अनुसार ये तीनों ही अवस्थाएँ समाधि के प्रसंग में उपयोगिनी नहीं हैं।[5] एकाग्र और निरुद्ध ये दोनों चित्त भूमियाँ क्रमशः अतिशय सत्त्व के उद्रेक से होती हैं, तथा समाधि के प्रति ये दोनों भूमियाँ उपयोगी हैं। इनमें से एकाग्रभूमि में बाह्य वृत्तियों का निरोध होता है, तथा निरुद्ध भूमि में न केवल समस्त वृत्तियों का अपितु संस्कार का भी लय हो जाता है। इस प्रकार दोनों ही भूमियों में चित्त की एकाग्रता होने के कारण इन्हें समाधि के प्रति उपयोगिनी माना जाता है।[6]

रामानन्द यति के अनुसार एकाग्रभूमि में शब्द और अनुमान के बिना अर्थात् केवल योगजप्रत्यक्ष से समस्त ज्ञात जगत् का साक्षात्कार हो सकता है। जिसके फलस्वरूप अविद्या आदि क्लेश नष्ट हो जाते हैं; तथा उभयविधकर्मों (पुण्य एवं पाप कर्मों) का दाह हो जाता है, एवं उसके अनन्तर असम्प्रज्ञात योग की सिद्धि होती है, जिसके फलस्वरूप सात्त्विक वृत्तियों का भी निरोध हो जाता है। इस निरुद्धभूमि में चित्त में केवल संस्कार मात्र शेष रह जाते हैं।[1] स्मरणीय

---

१. भोजवृत्ति १-२ पृ० ३।
२. योगभास्वती १-१ पृ० ८।
३. भोजवृत्ति १-२ पृ० ३।
४. वही पृ० ३।
५. वही पृ० ३।
६. वही पृ० ३।

है कि निरुद्धभूमि में संस्कारों का भी प्रविलय हो जाता है, ऐसा सूत्रकार और वृत्तिकार भोज ने स्वीकार किया था। जब कि भाष्यकार व्यास इस सम्बन्ध में सर्वथा मौन हैं।

पूर्व पृष्ठों में वर्णित जाग्रत् स्वप्न सुषुप्ति एवं तुरीया भी चित्त की अवस्थाएँ हैं एवं क्षिप्त मूढ़ आदि भूमियाँ भी चित्त की अवस्थाएँ हैं; किन्तु दोनों में एक विशेष अन्तर है। जाग्रत् आदि अवस्थाएँ चित्त की क्रियाजन्य (वृत्तिजन्य) अवस्थाएँ हैं, जब कि क्षिप्त आदि स्वभावजन्य। क्षिप्त मूढ़ अथवा विक्षिप्त चित्त भी कभी जाग्रत् अवस्था में हो सकते हैं और कभी स्वप्न अवस्था में एवं कालान्तर में सुषुप्ति अवस्था में। तुरीयावस्था भी चित्त की स्थिर अवस्था नहीं है, उस अवस्था में पहुँचकर भी योगी जाग्रत् आदि अवस्थाओं में लौट आता है और पुनः किसी भी अवस्था में समयानुसार पहुँच सकता है, जब कि क्षिप्तादि अवस्थाएँ चित्त की प्रायः स्थिर अवस्थाएँ हैं अर्थात् यह सम्भव नहीं है, कि क्षिप्तावस्था से निरुद्धावस्था तक पहुँच कर किंचित्काल के लिए जाग्रत् अवस्था के समान योगी क्षिप्तावस्था को भी प्राप्त कर ले। अपेक्षाकृत स्थिरता के कारण ही इन्हें वृत्ति न कहकर भूमि कहा गया है। इनमें परिवर्तन क्रमिक होता है किन्तु अतिबिलम्ब से। इन भूमियों के लिए पर्वतयात्रियों के पड़ाव अथवा वायुसेना की छावनियों की उपमा देना अधिक उपयुक्त होगा। जहाँ एक बार पहुँच कर उसे आश्रय मानकर वे आगे बढ़ते हैं अथवा शत्रु प्रदेश पर आक्रमण के लिए जाते हैं और वहीं लौट आते हैं। पाँचों ही भूमियों वाला मनुष्य किंचित्किंचित्काल के अन्तर में जाग्रत् स्वप्न और सुषप्ति अवस्थाओं में से किसी में भी इच्छानुसार पहुँच सकता है। जब कि क्षिप्त एवं मूढभूमिक मनुष्य थोड़े काल में एकाग्र अथवा निरुद्ध भूमियों में पहुँच सके यह सम्भव नहीं है। एक भूमि से इतर भूमि तक पहुँचने के लिए उसे अपार साधना की आवश्यकता होगी। काल की दृष्टि से तो कई जन्म का भी समय लग सकता है।

इस प्रकार क्षिप्त मूढ़ आदि भूमियों एवं जाग्रत् स्वप्न आदि अवस्थाओं में अभेद अथवा साम्य की कल्पना करना भी उचित न होगा।

व्युत्थान एवं निरोध संस्कार–

चित्तभूमियों का वर्णन पहले किया जा चुका है, उन चित्तभूमियों की अवस्था में चित्त का स्वरूप क्या रहता है, यह प्रश्न विचारणीय हो सकता है। जहाँ तक क्षिप्त मूढ़ एवं विक्षिप्त चित्त भूमियों का प्रश्न है, ये समाधि के अनुकूल नहीं हैं, इनमें संस्कार विषयों के ही विद्यमान होंगे यह सुनिश्चित है। साथ ही इन भूमियों

---

१. योगमणिप्रभा १-१ पृ० २।

के समय में चित्त विषयाकार ही रहेगा, अतः वृत्तियों का स्वरूप ही उसमें प्रतिभासित होगा। इसके विपरीत एकाग्र एवं निरुद्ध भूमियों के अवसर पर चित्त की वृत्तियाँ समाप्त हो जाती है, अर्थात् एकाग्र भूमि में वृत्ति की गति समाप्त हो जाती है तथा निरुद्ध भूमि में तो उनका सर्वथा निरोध हो जाता है, उस स्थिति का क्या स्वरूप होता है ? यह प्रश्न सामने उपस्थित होता है।

सूत्रकार पतंजलि ने इस प्रश्न का समाधान देते हुए कहा है कि समाधि की अवस्था में प्रथम व्युत्थान संस्कारों का अभिभव होता है, तदनन्तर निरोध संस्कारों का प्रादुर्भाव हो जाता है, फलतः निरोध काल में निरोधरूप संस्कारों से चित्त अनुगत रहता है। इसे ही चित्त का निरोधपरिणाम कह सकते हैं।[1]

पतंजलिकृत इस विवरण में 'व्युत्थान' पद के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद हैं।[2] अतः उनके अनुसार व्युत्थान संस्कारों का अर्थ उन तीनों भूमियों में विद्यमान विषय सम्बन्धी संस्कार एवं निरोध संस्कार का अर्थ तीनों भूमियों से भिन्न अवस्था में अर्थात् एकाग्र एवं निरुद्ध अवस्था में विद्यमान विषयेतर संस्कार लेना चाहिए।

भाष्यकार व्यास एवं वाचस्पतिमिश्र रामानन्दयति नागोजिभट्ट आदि अन्य व्याख्याकारों के अनुसार व्युत्थान का अर्थ सम्प्रज्ञात समाधि लेना चाहिए, जो कि क्षिप्त मूढ और विक्षिप्त भूमियों से भिन्न है। इस प्रकार इस पक्ष में निरुद्धावस्था अर्थात् असम्प्रज्ञात समाधि की स्थिति में सम्प्रज्ञात कालीन एकाग्रताभूमिक संस्कारों का क्रमशः अभिभव एवं निरुद्धभूमिक संस्कारों का प्रादुर्भाव होता है। क्षिप्त आदि तीनों भूमियों के संस्कारों का अभिभव एकाग्रताकाल अर्थात् सम्प्रज्ञात समाधि के समय होकर एकाग्रतासंस्कार का प्रादुर्भाव हो चुका है, इस असम्प्रज्ञात समाधि के काल में उसके संस्कार भी अभिभूत हो जाते हैं केवल निरोध संस्कार ही प्रादुर्भूत रहते हैं, चित्त की इस अवस्था को ही निरोधपरिणाम कहते हैं। योगी जब इस अवस्था में ही रहने का निरन्तर अभ्यास करता है, तब उसके चित्त में बाह्य संस्कारों के निरन्तर अभिभूत रहने के कारण उसमें पूर्ण शान्ति रहती है।

सम्प्रज्ञात समाधि की अवस्था में चित्त के एकाग्र होने के कारण एकाग्रता के संस्कारों का प्रादुर्भाव एवं सर्वविध विषय सम्बन्धी संस्कारों का अभिभव हो जाता है। चित्त की इस अवस्था में विक्षेप के संस्कार सर्वथा अभिभूत हो जाते हैं, केवल एकाग्रता का संस्कार ही शेष रह जाता है।

---

१. योगसूत्र ३-६।

२. भोजवृत्ति ३-६ पृ० १२१।

३. (क) तत्त्ववैशारदी ३.६। पृ० २६०।
   (ख) नागोजिवृत्ति ३.६। पृ० १२२।
   (ग) मणिप्रभा ३.६। पृ० १२२।

व्युत्थान के समय सर्वार्थता (विविध विषय) रूप चित्त के विक्षेप संस्कारों का क्षय एवं एकाग्रता के संस्कारों का उदय रहता है, जब कि निरोध के समय एकाग्रता संस्कार का भी अभिभव होकर केवल निरोध संस्कारों का ही प्रादुर्भाव रहता है।

मानसिक क्रियाओं का यदि विभाजन किया जाए तो कहा जा सकता है कि वे तीन प्रकार की हैं—ज्ञान या संवेदना, क्रिया तथा भावना। संवेदना के पुनः चार उप भेद हो सकते हैं—प्रत्यक्ष (निर्विकल्प एवं सविकल्पक प्रत्यक्ष), स्मरण, कल्पना एवं विचार। कुछ विचारक (बौद्ध) निर्विकल्पक एवं सविकल्पक को एक भेद न मानकर दो पृथक् पृथक् भेद स्वीकार करना चाहते हैं।[१] इस प्रकार उनके अनुसार संवेदना के पाँच प्रकार हो जाते हैं।

योग दर्शन के अनुसार मन या चित्त की ज्ञानात्मक क्रियाएँ पाँच हैं : प्रमाण विपर्यय विकल्प निद्रा और स्मृति[२]। इन पाँचों के द्वारा ही कभी क्लेश की अनुभूति हो सकती है और कभी क्लेशाभाव की[३], इसलिए कभी कभी इन्हें पाँच के स्थान पर दस भी कह लिया जाता है।

प्रमाण—

प्रमाणों की संख्या के सम्बन्ध में विविध दार्शनिक सम्प्रदायों में इतना अधिक मतभेद है कि कोई केवल एक प्रमाण स्वीकार करना चाहता है, तो कोई दो तीन चार छ आठ अथवा नौ। योग दर्शन में प्रमाण तीन माने गये हैं। इसके विपरीत चार्वाक केवल एक प्रमाण प्रत्यक्ष स्वीकार करता है, जब कि वैशेषिक एवं बौद्ध दर्शन में प्रत्यक्ष और अनुमान दो प्रमाण ही स्वीकार किये गये हैं। सांख्य दर्शन में योग के समान ही केवल तीन अर्थात् प्रत्यक्ष अनुमान और आगम प्रमाण माने गये हैं। न्याय में इनके साथ उपमान को जोड़कर प्रमाणों की संख्या चार मानी गयी है। कुछ मीमांसक एवं वेदान्ती अर्थापत्ति और अनुपलब्धि को जोड़कर प्रमाणों की संख्या छ स्वीकार करते हैं। इसके अतिरिक्त पौराणिक सम्प्रदाय में सम्भव और ऐतिह्य को प्रमाण कोटि में रखते हुए प्रमाणों की संख्या आठ मानी गयी है।[४] तथा साहित्यिक लोग प्रमाणों की इस बड़ी संख्या से भी सन्तुष्ट न होकर चेष्टा को भी प्रमाण मानते हुए कुल नौ प्रमाण स्वीकार करते हैं। मनोविज्ञान के विवेचकों ने प्रमाणों की इस विशाल संख्या पर विचार न करके केवल प्रत्यक्ष पर ही विशेष विचार किया है।

---

१. मनोविज्ञान मीमांसा पृ० १७१।
२. योगसूत्र १-६।
३. वही १-५।
४. दिनकरी पृ० २३३।

आधुनिक मनोवैज्ञानिकों के अनुसार इन्द्रियों का विषयों से सम्बन्ध होने पर जो ज्ञान होता है, वही प्रत्यक्ष है। उनके अनुसार यह ज्ञान सदा ही काल और दिशा से परिच्छिन्न होगा। क्योंकि इन्द्रियाँ वर्त्तमान काल में स्व-अधिष्ठित देश में सम्बद्ध विषय का ही प्रत्यक्ष कर पाती हैं। अतः हमारा प्रत्यक्ष सदा ही देश काल सापेक्ष होना चाहिए। चार्वाक एवं मीमांसकों के अतिरिक्त सभी भारतीय मनोवैज्ञानिकों के अनुसार यह प्रत्यक्ष इन्द्रियों और विषयों का सन्निकर्ष हुए बिना भी हो सकता है और इसीलिए वह देश तथा काल से अपरिच्छिन्न भी हो सकता है। न्याय वैशेषिक में इसे अलौकिक प्रत्यक्ष अथवा योगज प्रत्यक्ष कहते हैं।[1] इसीलिए नव्य नैयायिकों ने प्रत्यक्ष की परिभाषा करते हुए 'जिस ज्ञान के लिए अन्य ज्ञान की सहायता अपेक्षित न हो' उसे प्रत्यक्ष कहा है[2] यह प्रत्यक्ष पूर्णतः इन्द्रिय निरपेक्ष भी हो सकता है। पतंजलि के अनुसार योगी अपनी साधना के फलस्वरूप अपने ज्ञानसाधनों को इतना सबल बना लेता है कि वह भूत और भविष्य का[3] सूक्ष्म व्यवहित और अत्यन्त दूरवर्ती का[4] अन्य व्यक्ति के चित्त में विद्यमान भावों का समग्र रूप से ज्ञान प्राप्त कर लेता है।[5] इतना ही नहीं समाधि सिद्धि होने पर तो उसे सर्वज्ञता भी प्राप्त हो जाती है।[6]

योगदर्शन में प्रत्यक्ष के अतिरिक्त अनुमान और आगम को भी प्रमाण स्वीकार किया जाता है। भाष्यकार व्यास के अनुसार तुल्यजातीय ज्ञान से अनुवृत्त एवं भिन्नजातीय ज्ञान से व्यावृत्त सम्बन्ध के आधार पर सामान्य विषयक निश्चयात्मक ज्ञान के साधन को अनुमान कहते हैं।[7] दूसरे शब्दों में अन्वय व्यतिरेक व्याप्तिज्ञानपूर्वक साधन (हेतु) के द्वारा साध्य विषयक ज्ञान के जनक को अनुमान कहा जाता है। इसी प्रकार आप्तपुरुष द्वारा प्रत्यक्ष तथा अनुमान द्वारा ज्ञात अर्थों का अन्य व्यक्तियों को बोध कराने के लिए शब्दों द्वारा जो उपदेश किया जाता है, उस उपदेश के सुनने और अर्थ समझने के अनन्तर जो ज्ञान होता है, उसे आगम ज्ञान कहते हैं।[8] प्रत्यक्ष अनुमान एवं आगम द्वारा जो ज्ञान प्राप्त किया जाता है, वह यथार्थ एवं प्रामाणिक ज्ञान माना जाता है।

---

१. (क) दिनकरी पृ० १५८।
   (ख) भारतीय न्यायशास्त्र एक अध्ययन पृ० २७१ से २८५।
२. न्याय सिद्धान्त मुक्तावली पृ० २३५।
३. योगसूत्र ३-१६।
४. वही ३-२५। ५. वही ३-१९।
६. वही ३.४९, ५४।
७. योगभाष्य पृ० ३०-३१।
८. योगभाष्य पृ० ३१.३.३२।

विपर्यय–

विपर्यय प्रमाण से सर्वथा भिन्न वृत्ति है। विपर्यय विपरीतज्ञान अथवा मिथ्याज्ञान को कहा जाता है; अतएव उसमें जो ज्ञान प्राप्त होता है, वह वस्तु के स्वरूप से विपरीत रहा करता है।[1] क्योंकि यह ज्ञान प्रत्यक्ष अनुमान एवं आगम से बाधित हुआ करता है, अतः इसे प्रामाणिक नहीं माना जाता है।

विकल्प

विकल्प भी प्रमाण से सर्वथा भिन्न है, यह विपर्यय के समान ही असत् ज्ञान है। पतंजलि के अनुसार शब्दज्ञान के आधार पर बनने वाला ज्ञान-विशेष (अनुभूति विशेष) 'जो वस्तु के यथार्थ स्वरूप से सर्वथा भिन्न हुआ करता है, विकल्प कहाता है।[2] जैसे पुरुष चैतन्य स्वरूप है' इस वाक्य में 'चैतन्य' उद्देश्य एवं पुरुष उसका सम्बन्धी यह प्रतीति होती है, जैसा कि 'देवदत्त का घर' आदि वाक्यों में प्रतीति होती है। किन्तु वस्तु स्थिति यह है कि पुरुष और चैतन्य परस्पर अभिन्न है। अतः उनमें सम्बद्धय सम्बद्ध भाव हो ही नहीं सकता। पुरुष और चैतन्य में भेद का यह ज्ञान यथार्थ न होकर विकल्प स्वरूप है।[3] इसी प्रकार वन्ध्यापुत्र, आकाशपुष्प, शशश्रृंग इत्यादि पदों से उत्पन्न ज्ञान को भी विकल्प कहा जा सकता है। यह विकल्प भी संवेदना का एक प्रकार विशेष है।

निद्रा–

निद्रा भी चित्त की पाँच वृत्तियों में से एक है। जब चित्त में सत्त्व एवं रजस् का अभिभव होता है एवं तमोगुण प्रधान रूप से उद्भूत होता है, तथा चित्त में जाग्रत् एवं स्वप्न वृत्तियों का अभाव हो जाता है, उस वृत्ति का नाम निद्रा है।[4] यहाँ यह कहना उचित न होगा कि निद्रावृत्ति को वृत्ति न मानकर जाग्रत् एवं स्वप्नवृत्तियों का अभाव क्यों न माना जाये ? क्योंकि वृत्तियों के अभाव की स्थिति में किसी भी प्रकार की अनुभूति नहीं होनी चाहिए, जब कि निद्रा के अनन्तर जागने पर 'मैं सुखपूर्वक सोया, मेरा चित्त प्रसन्न है, इत्यादि प्रतीति होती है, अतः निद्राकालीन सुख-दुखादि की अनुभूतियों का स्मरण होने के कारण यह अनिवार्यतः मानना होगा कि निद्रा चित्त की वृत्ति विशेष है। यह जाग्रत् आदि अवस्थाओं में परिगणित सुषुप्ति से अभिन्न है, जिसका विवेचन पूर्व पृष्ठों में किया जा चुका है।

---

१. योगसूत्र १-८।
२. वही १-८।
३. भोजवृत्ति १-६ पृ० १३।
४. योगसूत्र १-१०।

स्मृति

अनुभूत विषयों का असम्प्रभोष स्मृति कहाता है।[1] यहाँ असम्प्रमोष से तात्पर्य है : चित्त द्वारा भूतकाल के अनुभूत विषयों का संस्कारवश कालान्तर में पुनः उद्‌बोध।[2] न्याय शास्त्र के अनुसार ज्ञान के सर्वप्रथम दो भेद हैं, अनुभव और स्मृति। प्रत्यक्षादि प्रमाणों के द्वारा प्राप्त ज्ञान, चाहे वह यथार्थ हो अथवा अयथार्थ, अनुभव कहा जाता है। एवं अनुभव से भिन्न प्रकार का ज्ञान स्मरण अथवा स्मृति कहाता है। जब किसी दृष्ट अनुमित अथवा श्रुत वस्तु का ज्ञान होता है, तब उस अनुभूत वस्तु का तदाकार संस्कार चित्त में अंकुरित हो जाता है, यह संस्कार ही उद्‌बोधक सामग्री उपस्थित होने पर उद्‌बुद्ध होकर चित्त में उक्त वस्तु का चित्र उपस्थित करता है। वस्तु के अभाव में भी चित्त का वस्तु के आकार में परिणत होकर पुरुष को वस्तु विषयक ज्ञान कराना स्मृति है। स्मृति सदा ही संस्कार के सदृश होती है, तथा संस्कार अनुभव के सदृश होते हैं। स्मृति का विषय सदा ही अनुभव के विषय से कम अथवा उसके बराबर होगा, अधिक नहीं। स्वप्न भी जाग्रत् अवस्था में अनुभूत पदार्थों का स्मरण मात्र है, उसमें स्मर्त्तव्य विषय का जो साक्षात्कार होता है, वह कल्पित होता है। अतः स्वप्न द्रष्टा को यह अनुभव नहीं होता कि हम स्मरण कर रहे हैं। इसे भावितस्मर्त्तव्यविषया स्मृति कहा जा सकता है। जाग्रत् अवस्था में जो स्मृति होती है, उसमें विषय के साक्षात्कार का भ्रम नहीं होता, अर्थात् स्मरण कर्त्ता को यह अनुभव नहीं होता कि वह अनुभव कर रहा है, उसे ज्ञान रहता है कि वह स्मरण कर रहा है, यही वास्तविक स्मृति है, इसे ही अभावितस्मर्तव्यविषया स्मृति कहते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि स्मृति दो प्रकार की होती है—(१) भावितस्मर्त्तव्यविषया एवं (२) अभावितस्मर्त्तव्यविषया। प्रथम सदा स्वप्न में ही होती है और द्वितीय जाग्रत् अवस्था में ही।[3]

पाश्चात्य मनोवैज्ञानिक फ्रायड, शुंग आदि मनोविश्लेषणवादियों के अनुसार स्मृति को उत्पन्न करने वाले संस्कार अचेतन मन की क्रिया है। यह अचेतन मन जल में डूबी हुई हिम-शिला के समान होता है, जिसका केवल एक अंश दृष्टिगोचर होता है, तथा शेष अधिकांश भाग दृष्टिगत नहीं होता। उस अदृश्यमान भाग का अनुमान करना भी संभव नहीं हो पाता। इसी भाँति चेतन मन से अचेतन मन के विस्तार का भी अनुमान करना सम्भव नहीं है। हमारी अनेक क्रियाएं इस

---

१. तर्कसंग्रह पृ० ६८।

२. भारतीय न्यायशास्त्र : एक अध्ययन पृ० ११४-११६।

३. व्यासभाष्य पृ० ४२-४३।

अचेतन मन से प्रभावित अथवा नियन्त्रित रहा करती हैं। इसे ही संस्कार स्कन्ध नाम से स्मरण किया जाता है। श्रीमद्भगवद्गीता में इसे दैव के नाम से स्मरण कर समस्त क्रियाओं के अनेक कर्त्ताओं में से अन्यतम माना है।[1] पूर्वोक्त संस्कार के तीन प्रकार हैं :—क्रियासंस्कार, ज्ञानसंस्कार तथा अन्यसंस्कार (भावसंस्कार)। ये संस्कार पुरुष (जीव) के लिए क्रमशः क्रिया स्मृति एवं अन्य (भावात्मक) भोगरूप परिणाम उत्पन्न करते हैं।[2] जन्मान्तर के संस्कारों को वासना भी कहा जाता है, जो विपाक के अनुगुण यथासमय अभिव्यक्त होती रहती है।[3] भोज के अनुसार जन्मान्तर की वासनाएँ फल की दृष्टि से दो प्रकार की हैं, प्रथम वे जो केवल स्मृति उत्पन्न करती हैं, और दूसरी पुरुष (जीव) के लिए जन्म आयु तथा विविध भोगों को उत्पन्न करती हैं।[4] ये वासनाएं एक जन्म के कर्म से सम्भूत हो सकती हैं, अथवा अनेक जन्मों के कर्मों से सम्भूत हो सकती है।[5] इन वासनाओं में निरन्तर तारतम्य रहा करता है। जिन वासनाओं के परिपाक स्वरूप जो जन्म प्राप्त हो रहा है, उस जन्म के अनुरूप ही विविध स्मृतियाँ, आयु और भोग आदि उत्पन्न हो जाते हैं।[6] उदाहरणार्थ अनेक प्रकार की कर्म वासनाओं के होते हुए भी जिस समय मनुष्य जन्म प्राप्त हुआ है, उस समय मनुष्य जन्म के अनुरूप ही उसे जन्म काल से ही स्मृतियाँ और भोग आदि प्राप्त होते हैं। मानव शिशु भूखा होने पर रोता है, भोजन प्रदान करने वाले स्तनों की ओर भागता नहीं, और न भागने का सामर्थ्य ही रखता है। किन्तु जब वह पशु योनि में होता है तब जन्म लेते ही उस योनि के अनुरूप स्मरण भोग आदि उत्पन्न होते हैं। इस जन्म में वह जन्म लेने के अनन्तर भूख लगने पर रोता नहीं अपितु खड़ा होकर माँ के स्तनों को खोजता है, उन तक पहुँचने का प्रयत्न करता है, यह सब जन्मान्तर में किये गये कर्मों से उत्पन्न वासनाओं के कारण होता है।

यहाँ वासनाओं के सम्बन्ध में एक प्रश्न हो सकता है कि इन का सर्व प्रथम आरम्भ कब हुआ है, इसके सम्बन्ध में सूत्रकार पतंजलि का कहना है कि वे अनादि हैं।[7] अनादि होते हुए भी ये वासनाएँ अनन्त नहीं हैं। इनका अभाव हो सकता है। इस अभाव की उत्पत्ति वासनाओं के संग्रहीता हेतु फल आश्रय एवं

---

१. गीता १८.१४।
२. मणिप्रभा ४-६ पृ० १८-१।
३. योगसूत्र ४-८।
४. भोजवृत्ति ५-८ पृ० १७६।
५. वही ५-८ पृ १७६।
६. वही ४-८ पृ० १७६।
७. योगसूत्र ४-१०।

आलम्बन के अभाव से होती है।[1] फलस्वरूप कर्मवासनाओं के अभाववश पुरुष (जीव) को कैवल्य लाभ हो जाता है।

प्रमाण विपर्यय विकल्प निद्रा और स्मृति के साथ ही समाधि को भी चित्त का व्यापार कहा जा सकता है। किन्तु पतंजलि को निरोद्धव्य चित्त की वृत्तियों का परिगणन करना था, अतः उन्होंने वृत्तियों में समाधि का परिगणन करना आवश्यक नहीं समझा। इसके अतिरिक्त यह भी कहा जा सकता है कि प्रमाण आदि वृत्तियों में चित्त में गति रहा करती है; जब कि समाधि में गति का अभाव ही अभिप्रेत है, अतः वृत्तियों से विरोधी प्रकृति के कारण उन्होंने समाधि का वृत्तियों में परिगणन करना उचित न माना हो। यद्यपि समाधि में चित्तगत क्रियाओं का सर्वथा अभाव हो जाता हो, ऐसी बात नहीं है। सम्प्रज्ञातसमाधि में ज्ञाता ज्ञेय आदि के साथ ज्ञान की सत्ता तो रहती है, तथा ज्ञान एक प्रकार की क्रिया ही है, किन्हीं वस्तुओं का अभाव नहीं। अतः समाधि को भी एक चित्तवृत्ति विशेष ही कहना चाहिए, जो वृत्ति निरोध योग्य न होकर प्राप्तव्य है। पतंजलि द्वारा वृत्तियों में समाधि के परिगणन न करने का एक कारण यह भी कहा जा सकता है कि परिगणित सभी चित्तवृत्तियाँ स्वाभाविक हैं, जब कि समाधि प्रयत्नसाध्य। प्रयत्नसाध्यवृत्ति की प्राप्ति ही प्रयासपूर्वक होती है, अतः उस वृत्ति के निरोध के लिये स्वतन्त्र प्रयत्न की अपेक्षा नहीं रहती। अतएव अन्य चित्तवृत्तियों से ये नितान्त भिन्न हैं।

समाधि तक पहुँचने के लिए साधकचित्त को दो और व्यापार करने पड़ते हैं, जिन्हें धारणा और ध्यान कहा जाता है। क्योंकि ये भी चित्त के व्यापार विशेष हैं, अतः इन्हें भी चित्त वृत्ति कहा जा सकता है। किन्तु इनका परिगणन चित्त की वृत्तियों में नहीं किया जाता; क्योंकि ये भी चित्त की न तो स्वाभाविक वृत्तियाँ हैं और निरोद्धव्य। इन्हें यदि समाधि की प्राप्ति के लिए की जाने वाली चित्त की क्रिया कहा जाए तो अधिक उचित होगा।

भावनाएँ

प्राचीन भारतीय दार्शनिकों ने राग आदि मनोभावों का विस्तृत वर्णन किया है।[2] जिनमें से प्रसंगानुसार कुछ की चर्चा सूत्रकार पतंजलि भाष्यकार व्यास एवं वृत्तिकार भोज आदि ने यथावसर की है। ये सभी भावनाएँ सत्त्व एवं तमस् गुणों के कारण उत्पन्न होती हैं। प्रस्तुत प्रकरण में उन मनोभावनाओं का सामान्य परिचय देना अनुचित न होगा।

---

१. योगसूत्र ४-११। २. इसी ग्रन्थ के इसी पृष्ठ से सबद्ध परिशिष्ट पृ. ३६१ में देखें

(१) राग–

भगवद्गीता के अनुसार राग मनोगत रजोगुण का कार्यविशेष है, इस राग के कारण ही आसक्ति और तृष्णा उत्पन्न होती है। व्यास के अनुसार सुखों से अभिज्ञ पुरुष को सुख के स्मरण के साथ-साथ सुख अथवा सुख के साधन के प्रति जो अभिकांक्षा, तृष्णा या लोभ उत्पन्न होता है, उसे राग कहते हैं।[१] भगवद्गीता के व्याख्याकार मधुसूदन स्वामी के अनुसार विषयों के प्रति रंजनात्मक चित्तवृत्तिविशेष का नाम राग है।[२] आनन्द गिरि के अनुसार यह अनुभूत विषयों के प्रति रंजनात्मक तृष्णा का एक प्रकारविशेष हैं।[३] सांख्य में इसे महामोह कहते हुए इसके दस प्रकार माने हैं।[४] साधक के लिए आवश्यक है कि विशुद्ध आत्मज्ञान की प्राप्ति द्वारा इस राग की निवृति करे। आत्मज्ञान के बिना इसकी निवृत्ति संभव नहीं है।

(२) आसंग–

आचार्य शंकर के अनुसार प्राप्त विषय के प्रति मन का प्रीतियुक्त लगाव आसंग कहा जाता है।[५] जैसी कि पूर्व में चर्चा की जा चुकी है आसंग की उत्पत्ति राग से होती है। विवेकज्ञान से राग की निवृत्ति होने से आसंग की भी निवृत्ति हो जाती है।

(३) तृष्णा–

इन्द्रियों द्वारा भोगे गये विषयों के स्मरण से तृष्णा की उत्पत्ति होती है। व्यास के अनुसार विषयों के प्रति मानसिकतोष का अभाव तृष्णा कहलाता है। इसीलिए वे समस्त सुखों में उत्कृष्टतम सुख सन्तोष को तृष्णा क्षय के समानान्तर स्वीकार करते हैं।[६]

(४) काम–

भगवद्गीता में काम की उत्पत्ति रजोगुण से स्वीकार की गयी है। साथ ही काम को साधक का महान शत्रु तथा अनेक पापों का मूल माना गया है।[७] वहीं एक अन्य स्थल पर विषयों के चिन्तन से उत्पन्न संग (आसंग) को काम का मूल स्वीकार किया गया है।[८] हरिहरानन्दारण्य के अनुसार विषय की कामना को काम

---

१. योगभाष्य २-७ पृ० १५४-५५।
२. गीता मधुसूदनी टीका २.५८।
३. गीता २-५६ आनन्दगिरि भाष्यविवेचन।
४. सांख्यतत्त्वकौमुदी पृ० १८३।
५. गीता शांकरभाष्य १४-७।
६. योगभाष्य २-४२ पृ० २६४।
७. गीता ३-३७।
८. वही २-६३।

कहते हैं।[१] आचार्य शंकर तथा नैयायिकों के अनुसार काम का अर्थ है इच्छा।[२] इस काम की निवृत्ति काम्यविषयों के प्रति हेयभावना विवेकज्ञान तथा आत्मा के विशुद्ध स्वरूप के ज्ञान एवं उसके चिन्तन से होती है।

(५) काम (अनंग)–

इच्छा के अतिरिक्त काम शब्द स्त्री और पुरुषों की परस्पर यौन संभोगेच्छाओं के लिए भी प्रयुक्त होता है[३] आचार्य बुद्ध घोष के अनुसार काम शब्द का अर्थ समस्त विषयों की प्राप्ति से उत्पन्न सुख है। वे अनंग अर्थ में कामच्छन्द शब्द का प्रयोग करते हैं। इस काम पर विजय के लिए मनोनिग्रह को आवश्यक माना गया है।

(६) सन्तोष–

सामान्यतः बढ़ी हुई इच्छाओं के संदर्भ में अभीष्ट विषयों की प्राप्ति से जो तृप्ति मिलती है, उसे ही तोष या सन्तोष कहा जाता है। किन्तु भाष्यकार व्यास सन्तोष का तात्पर्य तृष्णाक्षय मानते हैं, जिसकी चर्चा पूर्व पृष्ठ में की जा चुकी है।

(७) असक्ति (अनासक्ति)–

पुत्र धन एवं लौकिक तथा पारलौकिक सुखों की प्राप्ति के लिए कामना का अभाव असक्ति कहाती है। इस भावना को अभावात्मकरूप से इसलिए वर्णित किया जाता है क्योंकि यह मानव की मूल इच्छाओं के अभाव से सम्बन्धित है। ये मूल इच्छाएँ नष्ट नहीं होती, अपितु इनका विषय ही बदला जा सकता है। उदाहरणार्थ–पुत्र धन आदि की ओर लगा हुआ चित्त (मन) मोक्ष अथवा आत्मा की प्राप्ति के लिए लगाया जा सकता है। इनके बिना अर्थात् विषय परिवर्त्तन के बिना मूल लगाव को दूर करने का कोई भी उपाय नहीं है। माडूक्यकारिका के व्याख्याकार वेंकटनाथ असक्ति को त्याग से अभिन्न मानते हैं। उसके अनुसार सभी उपादेय वस्तुओं का परित्याग असक्ति अथवा त्याग कहा जाता है। योगदर्शन में भोग के साधन भूत उपादेय वस्तुओं के संग्रह न करने को अपरिग्रह कहा गया है।[४] भोगसाधनों के प्रति त्याग की यह भावना विषयों के अर्जन रक्षण क्षय आदि के अवसरों पर हिंसा आदि दोषों के दर्शन से उत्पन्न होती है।

---

१. भास्वती पृ० २६४।
२. (क) गीता शांकरभाष्य २-११।
   (ख) तर्कसंग्रह।
३. गीता–मधुसूदनी व्याख्या।
४. (क) योगभाष्य पृ० २५०।
   (ख) भोजवृत्ति पृ० ६२।

(८) अनिच्छा (निराशीः)–

निराशीः अथवा अनिच्छा का तात्पर्य है : इच्छा का अभाव। इच्छाएँ बन्धन का कारण हैं, इच्छाओं का त्याग करने वाला एक प्रकार से मानों बन्धनों का ही त्याग कर देता है। इच्छाओं के त्याग् का अर्थ 'किये जाने वाले कर्मों के फल की इच्छा का त्याग' मानना अधिक उचित होगा। क्योंकि सामान्य इच्छा समस्त क्रियाओं का मूल है, तथा कर्म तब तक बन्द नहीं हो सकते, जब तक जीवन है। अतः यदि अनिच्छा (निराशीः) का अर्थ समस्त इच्छाओं का त्याग माना जाएगा तो उसकी सत्ता भी असम्भव होगी। अतः निराशीः का अर्थ कर्मफल की इच्छा का अभाव मानना ही अधिक उचित होगा। श्रीमद्भगवद्गीता में योगी के लिए निराशीः होना अत्यन्त आवश्यक माना गया है।[1]

(९) अभिष्वंग–

आचार्य शंकर के अनुसार अभिष्वंग वह शक्ति विशेष है जिसके द्वारा एक व्यक्ति किसी अन्य को अपना समझता है।[2] माध्वाचार्य के अनुसार पूर्ण परिपक्व स्नेह ही अभिष्वंग है।[3] इसका मूल तमोगुण है, तथा यह प्रत्येक पुरुष के चित्त का अनिवार्य गुण हैं। इसके प्रभाव से ही मानव किसी अन्य के सुख आदि को देखकर अथवा उसके लिए कुछ त्याग करते हुए सुख का अनुभव करता है। सूत्रकार द्वारा चित्तप्रसादन के लिए निर्दिष्ट अनेक उपायों में से मैत्री और मुदितावृत्ति[4] अभिष्वंग से ही उद्भूत प्रतीत होती हैं। किसी व्यक्ति अथवा तथ्य पर श्रद्धा भी अभिष्वंग के कारण ही उत्पन्न होती है।

(१०) अनभिष्वंग–

अनभिष्वंग केवल विशिष्ट सन्तों में रहने वाली भावना है। इसका अर्थ है पुत्र स्त्री आदि आत्मीयजनों अथवा भोग साधनों के प्रति लगाव का न होना। अपरिग्रह के मूल में अनभिष्वंग का होना अनिवार्य है। क्योंकि इसके अभाव में त्याग अथवा असंग्रह की भावना उत्पन्न ही नहीं हो सकती।

(११) हर्ष–

अभिलषित वस्तु अथवा व्यक्ति की प्राप्ति से जो सुख होता है, उसे ही हर्ष कहा जाता है।[5] सुख प्रतिद्वन्द्वी दुःख के अभाव के साथ-साथ अतिशय सुख की

---

१. गीता ६.१०।
२. गीता शांकरभाष्य १३-६।
३. गीता माध्वभाष्य १३-१०।
४. योगसूत्र १-३३।
५. (क) गीता शांकरभाष्य १८-२७।
   (ख) रसगंगाधर पृ० २७३।

प्राप्ति को आनन्द कहा जाता है। समस्त दर्शनों का लक्ष्य जिस आनन्द की प्राप्ति है, हर्ष उसका ही एक रूप है। पतंजलि स्वीकृत मुदितावृत्ति में भी हर्ष का ही प्राधान्य रहा करता है। हर्ष का आश्रयभूत चित्त निर्मल होकर शीघ्र ही समाधि की योग्यता प्राप्त कर लेता है।[१] भाष्यकार व्यास के अनुसार इस वृत्ति से सत्त्वगुण (शुक्ल धर्म) वृद्धि को प्राप्त हो जाता है, जिससे चित्त प्रसन्न होकर एकाग्रता को प्राप्त करता हुआ, क्रमशः स्थैर्य को प्राप्त कर लेता है।[२]

(१२) क्रोध–

चित्त की प्रज्वलनशीलता का नाम क्रोध है, जिसके कारण कर्त्तव्याकर्त्तव्यविवेक नष्ट हो जाता है।[३] काम के समान यह भी रजोगुण की प्रधानता में उत्पन्न होता है। भगवद्गीता के अनुसार क्रोध की उत्पत्ति काम से ही होती है।[४] चित्त की स्थिति के लिए काम के समान ही क्रोध का त्याग करना भी आवश्यक है।[५] दूसरे शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि क्रोध एवं उसके साथी भाव राग एवं भय का त्याग होते ही चित्त स्वतः स्थिर हो जाता है।

(१३) अमर्ष

अमर्ष का अर्थ है असहिष्णुता। यह क्रोध का मृदुरूप है, यह भी कहा जा सकता है। आचार्य वल्लभ तो इसे क्रोध की सीमा में ही रखना पसन्द करते हैं, क्योंकि क्रोध के समान अमर्ष की उत्पत्ति भी प्रिय वस्तुओं के प्राप्त न होने पर हुआ करती है। क्रोध और अमर्ष दोनों ही हिंसा की सृष्टि करते हैं। पतंजलि के अनुसार इनके द्वारा हिंसा असत्य तस्कर भाव (चोरी) आदि वे सभी वितर्क उत्पन्न हो जाते हैं, जिनसे दुःख अज्ञान आदि अनन्तफल प्राप्त होते हैं।[६] अतः योगी को इनसे बचने के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहना चाहिए।

(१४–१५) अक्रोध एवं क्षमा–

अक्रोध का अर्थ है क्रोध के बाह्य कारण होते हुए भी क्रोध का उत्पन्न न होना। उदाहणार्थ–गाली देना एवं मारना प्रभावित व्यक्ति में क्रोध को उत्पन्न करने के बाह्य कारण हैं। किन्तु इन कारणों के होते हुए भी अर्थात् अपराध के बिना ही गाली सुनकर एवं मार खाकर भी क्रोध का उत्पन्न ही न होना, अक्रोध कहा जाएगा। अक्रोध और क्षमा में परस्पर पर्याप्त अन्तर है। जब

---

१. भोजवृत्ति १-३३ पृ० ३६।
२. योगभाष्य १-३३ पृ. ६८।
३. भोजवृत्ति २-२४।
४. भगवद्गीता २-६१।
५. वही २-६१।
६. योगसूत्र २-३४।

अपराधी के अपराध को देखकर उसके प्रति क्रोध तो उत्पन्न होता है किन्तु तत्काल अथवा कालान्तर में अपराधी की अज्ञानता विवशता अथवा अपराध के अनन्तर अपने में अपराध बोध आदि के कारण उत्पन्न ग्लानि को देखकर ज्ञान पूर्वक एवं प्रयत्नपूर्वक क्रोध को शान्त किया जाता है, तो उसे क्षमा कहते हैं। जब कि अक्रोध में साधक में साधनाजन्य संस्कारों के प्रभाववश क्रोध उत्पन्न ही नहीं होता। उदाहरणार्थ अत्यन्त अबोध शिशु द्वारा बाल खींचने पर अथवा विस्तर या शरीर पर मल-मूत्र त्याग कर देने पर भी माता पिता एवं अन्य शुभचिन्तकों के हृदय में क्रोध उत्पन्न ही नहीं होता, यह अक्रोध है। इसके विपरीत बस में यात्रा करते हुए भीड़ में सहयात्री के हाथ में विद्यमान वस्तु से चोट लग जाने पर क्रोध होता है, किन्तु तत्काल ही यह ज्ञात होने पर कि पीछे से लगने वाले धक्के अथवा बस के झटके के कारण चोट लग गयी है, इसमें इस व्यक्ति का न तो अपराध है और नहीं असावधानी है, क्रोध शान्त हो जाता है, यह अक्रोध न होकर क्षमा है।

(१६) शोक—

शोक मनोगत उस प्रज्वलित दुःख का नाम है, जो किसी प्रिय अथवा अभीष्ट वस्तु अथवा व्यक्ति के नाश से उत्पन्न होता है। प्रिय वस्तु या प्रियजन के वियोग के साथ ही यह कभी-कभी अप्रिय वस्तु के अनिवार्य रूप से उपस्थित होने पर भी उत्पन्न हो जाता है।[1] शोक का प्रभाव समस्त शरीर पर तत्काल ही हुआ करता है शोक उत्पन्न होते ही शरीर की कान्ति समाप्त हो जाती है, चेहरा पीला पड़ जाता है, मुख सूखने लगता है, समस्त शरीर काँपने लगता है, इन्द्रियों की शक्ति भी क्षीण होने लग जाती।[2] इस स्थिति में मानसिक एकाग्रता का तो कोई प्रश्न ही नहीं रह जाता। इसीलिए सूत्रकार पतंजलि ने योगी के लिए वैराग्य आवश्यक माना है।[3] वैराग्य के कारण जब इष्ट अनिष्ट और सामान्य का भेद ही नहीं रहेगा तक किसी की हानि या प्राप्ति से शोक कैसे उत्पन्न होगा ? वेदान्त में ब्रह्मज्ञान को शोक दूर करने का उपाय स्वीकार किया गया है। यजुर्वेद में सर्वात्मभाव को शोक के अभाव का हेतु स्वीकार किया है।[4]

(१७) विषाद—

विषाद शोक का मृदु रूप कहा जा सकता है, क्योंकि इसकी उत्पत्ति भी इष्ट की असिद्धि अथवा हानि से होती है। कभी कभी यह अपने से बड़ों के प्रति स्वकृत अपराध से भी उत्पन्न हो सकता है।[5] किन्तु उस स्थिति में आदरणीय

---

१. गीताशांकरभाष्य १५-२७।
२. (क) गीता १।२९-३०। (ख) वही २-८।
३. योगसूत्र १-१२। ४. यजुर्वेद ४०।७
५. रसगंगा धर पृ० ३१५

व्यक्ति के हृदय में अपने लिए अभीष्ट स्नेहपूर्ण भाव की हानि से उत्पन्न भय है यह कहा जा सकता है। आनन्द गिरि के अनुसार विषाद एक प्रकार का मानसिक उपताप है। इस दृष्टि से इसे हर्ष का प्रतिद्वन्द्वी मनोभाव कहना चाहिए; जब कि गीता के एक अन्य भाष्यकार रामकण्ठ ने विषाद को उत्साह का विरोधी भाव माना है।[1]

(१८) भय–

विनाश अथवा हानि के कारणों को देखकर किसी भी प्राणी के हृदय में जो दुःखपूर्ण मनोभाव उत्पन्न होता है, उसे भय कहते हैं। खतरे के कारणों का ज्ञान भय का कारण है। पाणिनि के अनुसार यह सदा ही किसी एक प्राणी अथवा शक्ति द्वारा अन्य प्राणी को हुआ करता है, जिससे कि उसे हानि की संभावना हो सकती है।[2] उदाहरणार्थ चोर सर्प व्याघ्र आदि हानिकारक जीव एक सामान्य व्यक्ति के लिए भय के कारण हैं। भय का हिंसा से घनिष्ठ सम्बन्ध है। भय के मूल में भय के कारण से स्वविषयक हिंसा की संभावना सदा ही रहती है। साथ ही भय से बचने के लिए भय के कारण को नष्ट करने की कामना सामान्य प्राणी के मानस में उत्पन्न होती है, जो हिंसा का ही एक प्रकार विशेष है। भय ही वैरभाव को उत्पन्न करता है। सूत्रकार पतंजलि एवं भाष्यकार व्यास तथा वृत्तिकार भोज आदि सभी निर्विवाद रूप से हिंसा के त्याग को भय निवारण के लिए श्रेष्ठतम उपाय स्वीकार करते हैं।[3] जब किसी प्राणी को यह विदित होता है कि घातक अथवा हानिकारक कारणों को मैं तत्काल दूर कर सकता हूँ, अथवा उनका प्रभाव मेरे ऊपर किंचिन्मात्र नहीं पड़ सकता, तो उसे भय उत्पन्न नहीं होता। इसीलिए तत्त्वज्ञान (ब्रह्मज्ञान) को भी भय के नष्ट करने का महानतम उपाय माना गया है। क्योंकि जब विवेकी मनुष्य को यह अनुभव होता है कि भय के समस्त कारण आत्मा को प्रभावित नहीं कर सकते तथा देह और उसके सुख के साधन आत्मा और उसके सुख के साधनों से सर्वथा भिन्न हैं, तब उसे भय का अनुभव नहीं होता।

(१९) उद्वेग–

उद्वेग भय का मृदु रूप है, क्योंकि यह भी भय के समान ही घातक अथवा हानिकारक वस्तु अथवा व्यक्ति को देखकर एवं स्वयं को असहाय पाकर उत्पन्न

---

१. रामकण्ठकृत गीताभाष्य १३-१५।

२. पाणिनि सूत्र १.४.२४।

३. (क) योगसूत्र २-३५।
   (ख) योगभाष्य २-३५ पृ० २६०।
   (ग) भोजवृत्ति २-३५ पृ० ६८।

होता है। दैवज्ञ पंडित सूर्य उद्वेग को चित्त क्षोभ से अभिन्न मानते हैं। उनके अनुसार यह निर्बल द्वारा आक्रमण आदि करने पर सबल व्यक्ति को उत्पन्न होता है। भय के समान ही यह भी मन में चंचलता उत्पन्न करके समाधि में विघ्न उपस्थित करता है तथा विवेक ज्ञान द्वारा इसे दूर किया जा सकता है।

(२०) अभय–

भय कारणों के होते हुए भी भय के अभाव को अभय कहा जाता है।[1] रामानुज के अनुसार भय के कारण की निवृत्ति से अभय का भाव उत्पन्न होता है। किन्तु भय के क़ारणों के रहते हुए भी आत्म विश्वास की स्थिति में अभय का प्रत्यक्ष अनुभव किया जा सकता है। जन्म मृत्यु एवं सुख-दुःख के नियन्ता परमेश्वर की शरण में पहुँचना भी अभय का एक उत्तम उपाय है।

(२१) लोभ–

लोभ वह मनोभाव है, जो उन वस्तुओं को देखकर उत्पन्न होता है, जिनसे प्रमाता को सुख की संभावना होती है। लोभ बन्ध का प्रमुख कारण है। साथ ही इससे छल ईष्या मद आदि अनेक दुष्ट मनोभाव पैदा हो सकते हैं। लोभ अपरिग्रह की भावना का प्रधान शत्रु है। सूत्रकार पतंजलि के अनुसार लोभ से हिंसा जैसे महान् पाप भी हो सकते हैं।[2] भाष्यकार व्यास के अनुसार हिंसा अनृत आदि सभी प्रमुख पापों का उद्भव जिन कारणों के से होता है, लोभ उनमें अन्यतम है।[3] यह लोभ मृदु मध्य और अधिमात्र भेद से तीन प्रकार का होता है। इन विविध भेदों में, पुनः मृदु मध्य तीव्र भेद से पुनः तीन भेद हो सकते हैं।[4] लोभ की उत्पत्ति राजस मन से होती है। इसमें परसम्पत्ति को प्राप्त करने की कामना निहित होती है, जो कि स्वयं को प्राप्त नहीं है; साथ ही जिसकी प्राप्ति में दूसरे की ओर से प्रतिबन्ध की सम्भावना हो, उनके प्रतिक्रोध उत्पन्न होता है। आचार्य शंकर ने स्वकीय द्रव्य के त्याग न करने की भावना को लोभ कहा है।[5] जब कि योग–भाष्यकार व्यास ने परद्रव्य अथवा तटस्थ के धन को भी ग्रहण करने की इच्छा को लोभ माना है, तभी उन्होंने चर्म मांस आदि मेरा हो जाएगा, इस भावना से की गयी हिंसा को लोभकृत हिंसा ही स्वीकार किया है।[6]

---

१. शांकरभाष्यगीता १०-४।
२. योगसूत्र २-३४।
३. योगभाष्य २-३४ पृ० २५६।
४. वही पृ० २४६-५०।
५. शांकरभाष्यगीता १४-१२।
६. योगभाष्य २-३४ पृ० २५६।

(२२) स्पृहा–

सर्वसामान्य वस्तुओं की प्राप्ति के लिए जो एक सामान्य लालसा होती है, उसे स्पृहा कहते हैं। इसकी उत्पत्ति भी राजस मन से होती है। आचार्य शंकर इसे तृष्णा से अभिन्न मानते हैं, जब कि गीता के व्याख्याकार सदानन्द इसे लोभ से अभिन्न मानते हैं।

(२३) निस्पृहता–

निस्पृहता अथवा स्पृहा का अभाव समाधि के लिए आवश्यक मनोभाव है। विषयों की ओर आकृष्ट चित्त कदापि समाधि की ओर अग्रसर नहीं हो सकता। सांख्यसूत्रकार कपिल ध्यान की परिभाषा में मन का विषयों से रहित होना स्वीकार करते हैं।[1] किन्तु विषयों के प्रति स्पृहा रहने पर मन का निस्पृह होना कथमपि सम्भव नहीं है। विष्णुपुराण के अनुसार निस्पृहता ध्यान की निष्पत्ति के लिए अनिवार्य तत्त्व है।[2]

(२४) आशा–

आशा का अर्थ है, अब तक अप्राप्त किन्तु प्राप्त करने योग्य वस्तु की प्राप्ति की सम्भावनापूर्ण प्रतीक्षा। आचार्य शंकर के अनुसार अनिर्ज्ञात-प्राप्य इष्ट वस्तु की प्रार्थना आशा है।[3] यह सर्वविध बन्धन की मूल है, अतः सर्वथा त्याज्य हैं। सांख्य दर्शन में आशा को दुःख का कारण एवं उसके त्याग को सुख का कारण माना गया है।[4] आशा के रहने पर प्राप्तव्य के प्राप्त होने पर विषयों से चित्तवृत्तियों का निरोध होना संभव नहीं है। अतः यह योग की अति विरोधी मनोभावना है।

(२५) अलोलुपता–

अलोलुपता का अर्थ है विषयों के निकट होने पर भी उनकी ओर इन्द्रियों और मन का आकृष्ट न होना।[5] लोलुपता की उत्पत्ति राग के बिना संभव नहीं है, अतः अलोलुपता में प्रायः वीतरागता हुआ करती है। तृप्ति की स्थिति में भी लोलुपता का विनाश हो जाता है, अतः समाधि के द्वारा आत्मसाक्षात्कार हो जाने पर लोलुपता पूर्णतः समाप्त हो जाती है।

---

१. सांख्यसूत्र ६.२५।
२. विष्णु पु० ६-७-९२।
३. शांकरभाष्य कठोपनिषद् १-१-८।
४. सांख्यदर्शन ४.११।
५. भगवद्गीता शांकरभाष्य १५-२।

(२६) अहंकार या अभिमान

अहंकार की उत्पत्ति अपने सम्बन्ध में मिथ्याज्ञान से होती है। इस मिथ्याज्ञान के रूप कुल धन विद्या तप आदि अनेक कारण हो सकते हैं, जिसके द्वारा पुरुष को अपने लोकोत्तर होने का मिथ्याज्ञान उत्पन्न हो जाए। इसकी निवृत्ति आत्मज्ञान से अनायास हो जाती है। कभी-कभी अपने से अधिक गुण सम्पन्न व्यक्ति को देखकर भी अहंकार की निवृत्ति होती है, किन्तु वह निवृत्ति क्षणिक होगी; साथ ही वह ईर्ष्या आदि अन्य अनेक दूषित मनोभावों को भी जन्म दे सकती है। अतः अहंकार की निवृत्ति के लिए आत्मज्ञान ही सर्वोत्तम उपाय है। योगज सिद्धियों, जिनसे साधक को लोकोत्तर शक्ति प्राप्त हो जाती है, को इसीलिए योगशास्त्र में उपसर्ग कहा गया है।[1]

(२७) मद–

अहंकार के समान ही मद भी स्वयं में उत्कृष्टता का भ्रम, अथवा उत्कृष्टता का अध्यारोप, करने से उत्पन्न होता है। मद की स्थिति में व्यक्ति अपने से बड़े लोगों की उपेक्षा करता है।[2] नीलकण्ठ के अनुसार गर्व का ही दूसरा नाम मद है। जो धन आदि वैभव को प्राप्त करने पर उत्पन्न हो जाता है। वस्तुतः मद और गर्व में पर्याप्त अन्तर है, यद्यपि दोनों की उत्पत्ति का कारण एक ही है। गर्व की स्थिति में व्यक्ति अन्यजनों को हेय अथवा निम्न समझकर उनका तिरस्कार करता है, जब कि मद की स्थिति में वह अन्य सबको तुच्छ समझता हुआ उनकी उपेक्षा करता है। इस प्रकार तिरस्कार एवं उपेक्षा की भावना के कारण गर्व और मद परस्पर अत्यन्त भिन्न हैं। मद और दर्प भी परस्पर अत्यन्त भिन्न हैं, क्योंकि दर्प धर्मादि क्रियाओं के प्रति भी तिरस्कार उत्पन्न करता है।[3]

मद गर्व एवं दर्प आदि चित्त मलों को दूर करने के लिए सूत्रकार ने मैत्री आदि उपायों का निर्देश किया है।

(२८) अनहंकार या निरभिमानिता

अहंकार मद गर्व एवं दर्प आदि भावों के अभाव में चित्त की निर्मलता अथवा मृदुता को अनहंकार या निरभिमानिता कहते हैं। भगवद्गीता के अनुसार शान्ति प्राप्ति के लिए निरभिमानिता अत्यन्त आवश्यक है।[4] पतंजलि द्वारा चित्त प्रसादन के लिए निर्दिष्ट मैत्री करुणा एवं मुदिता वृत्तियाँ निरभिमानिता के बिना प्राप्त नहीं की जा सकती है। अनात्मदेह आदि में आत्माभिमानरूप ममता भी

---

१. (क) योगसूत्र ३.२७। (ख) भोजवृत्ति ३-३७।
२. आनन्दगिरिकृत गीताभाष्य १५-४।
३. गीता शांकरभाष्य १५-५३।
४. गीता २.७१।

अहंकार का एक हेतु है, अतः निरभिमानिता के लिए ममत्व का परित्याग भी आवश्यक है। इसीलिए आचार्य रामानुज ने अनहंकार को आत्माभिमान (ममत्व) का अभाव स्वीकार किया है।[1] रामानुज की इस मान्यता के अनुसार अहंकार भी अविद्या का ही एक रूप है, तथा समस्त क्लेशों का मूल भी है।[2] भाष्यकार व्यास ने भी अविद्या को सर्वविध क्लेशों का मूल स्वीकार किया है।[3] एक अन्य सन्दर्भ में व्यास ने अविद्या से उत्पन्न अहंकार और ममता को बाह्य और आध्यात्मिक दोनों प्रकार के दुःखों को उत्पन्न करने वाला स्वीकार किया है।[4] इस प्रकार ऐकान्तिक एवं आत्यन्तिक दुःख निवृत्ति के लिए अनहंकार अथवा निरभिमानिता अत्यन्त आवश्यक है।

(२९) निर्ममता–

पूर्व पंक्तियों में चर्चा की जा चुकी है कि निरभिमानिता के समान ही निर्ममता भी आत्यन्तिक दुःख निवृत्ति के लिए आवश्यक है। निर्ममता का तात्पर्य है, ममत्व भावना का परित्याग। ममता के इस परित्याग में न केवल पुत्र स्त्री भूमि धन धान्य आदि के प्रति आत्मीयता का परित्याग अपेक्षित होता है, अपितु शरीर के प्रति भी ममता का परित्याग अपेक्षित है।

(३०) अमर्ष–

अन्य व्यक्ति के उत्कर्ष, गुण, ऐश्वर्य आदि की प्राप्ति आदि को देखकर उत्पन्न असहिष्णुता को अमर्ष कहते हैं।[5] कभी कभी अमर्ष शब्द का प्रयोग क्रोध अर्थ में भी होता है। किन्तु वह इससे भिन्न है (देखें *पृ० १२८*)। सूत्रकार पतंजलि ने सुखीजनों के प्रति मैत्री भावना का निर्देश करते हुए परोत्कर्ष असहिष्णुता के परित्याग का स्पष्ट संकेत कर दिया है।[6]

(३१) मात्सर्य–

अन्य व्यक्ति को प्राप्त उत्कर्ष की प्राप्ति की कामना को मात्सर्य कहा जाता है।[7] इस प्रकार की कामना के साथ साथ प्रतिद्वन्द्विता और उसके मूल में वैर की भावना निहित रहती है। इसलिए आचार्य शंकर मात्सर्य को वैर का समानान्तर मानते हुए विमत्सरता का अर्थ निर्वैर करना ही अधिक उचित मानते हैं।[1] क्योंकि

---

१. गीता रामानुजभाष्य १३-६१।
२. योगसूत्र २-४।
३. योगभाष्य २-५ पृ० १५०।
४. योगभाष्य २-१५ पृ० १८२।
५. (क) आनन्दगिरि गीताभाष्य १२-१५। (ख) श्रीधरभाष्यगीता १२-१५।
(ग) अमृततरङ्गिणी १२-१५।
६. योगसूत्र १-३३।
७. आनन्दगिरि भाष्यगीता ४-२१।

मात्सर्य के द्वारा मानसिक सन्ताप अनिवार्यरूप से रहता है, अतः मात्सर्य की स्थिति में चित्त की एकाग्रता कथमपि सम्भव नहीं है। इसके अतिरिक्त सन्ताप अथवा दुःख की अनुभूति होने पर उसके कारणों के प्रति वैर भावना स्वभावतः उत्पन्न हो जाती है, जो हिंसारूपी महान् पाप की जनक है, अतः योगी के लिए मात्सर्य का परित्याग करना नितान्त आवश्यक है।

(३२) अभ्यसूया–

दूसरे के गुणों में भी दोष का दर्शन असूया कहलाता है।[२] आचार्य शंकर के अनुसार धर्म और चारित्र्य के मार्ग पर निरन्तर बढ़ते हुए व्यक्ति के आदर्श गुणों के प्रति असहिष्णुता को ही अभ्यसूया कहते हैं।[३] आचार्य पतंजलि ने अभ्यसूया आदि अनेक भावों के अभाव के रूप में श्रद्धा की चर्चा की है।

(३३) अपिशुनता

परोक्ष में परदोष दर्शन का नाम पिशुनता है, तथा इसका अभाव अपिशुनता या अपैशुन्य कहाता है।[४] कुछ आचार्य दूसरों के दोषों के प्रच्छादन को अपैशुन्य कहना चाहते है।[५] पैशुन्य श्रद्धा के महत्तम शत्रुओं में एक है, एवं श्रद्धा सफलता का उत्कृष्टतम मार्ग है; अतः शीघ्र समाधिलाभ चाहने वालों के लिए पैशुन्य का त्याग अत्यन्त आवश्यक है।

(३४) द्वेष–

भोज के अनुसार दुःखों के अभाव से युक्त व्यक्ति उन्हें स्मरण करता हुआ दुःख के साधनों के प्रति अनभिलाषापूर्वक निन्दात्मक क्रोध करता है, इस क्रोध विशेष को द्वेष कहते हैं।[६] व्यास के अनुसार न केवल दुःख साधनों के प्रति निन्दादायक क्रोध ही द्वेष है, अपितु दुःख अथवा उसके साधन को नष्ट करने की कामना का नाम भी द्वेष है।[७] पतंजलि के अनुसार द्वेष अविद्या की देन है।[८] क्योंकि अविद्याग्रस्त प्राणी, जो शरीर और आत्मा को अभिन्न मान बैठता है, प्रेम और द्वेष का अनुभव करता है, आकर्षण और वितृष्णा का शिकार होता है। ऐसा अविद्यावान् व्यक्ति ही अच्छे और बुरे कर्म करता है, यश अथवा अपयश अर्जित करता है। किन्तु जिस व्यक्ति को तत्त्वज्ञान हो चुका है, जो स्वयं को अपने शरीर

---

१. गीता शांकर भाष्य ४-२२। २. आ० गि० भाष्यगीता ३-३६।
३. (क) श्रीधरगीताभाष्य १६-१८। (ख) अमृततरङ्गिणी १६-१८।
४. श्रीधरगीताभाष्य १६-१८।
५. गीताभाष्य पैशाचभाष्य (हनुमानकृत) १६-२।
६. भोजवृत्ति २-८ पृ० ६८।
७. योगभाष्य १-८ पृ० १५५।
८. योगसूत्र २-४।

से भिन्न अनुभव करता है, उसे न तो किसी के प्रति प्रेम का उदय होता है और न ही द्वेष। वह न तो शुभ कर्मों के प्रति आसक्ति रखता है और न ही दुष्कर्मों के प्रति द्वेषभाव। न उसे यश के प्रति उत्सुकता होती है और न अपयश के प्रति घृणा। अविद्याग्रस्त प्राणी जन्म और मरण को सुख दुःख का महान् हेतु समझता है और उनसे द्वेष करता है, जब कि विवेकी उनसे मुक्त होकर कैवल्य प्राप्त कर लेता है। सांख्य परम्परा में इसे तामिस्र नाम देते हुए उसके अठारह भेद स्वीकार किये गये हैं।[1]

(३५) अद्वेष–

द्वेष का मन वचन और कर्म से त्याग अद्वेष कहाता है। अद्वेष को ही निर्वैर शब्द से स्मरण करते हुए भगवद्गीता में उसे ईश्वर प्राप्ति के उपायों में अन्यंतम स्वीकार किया गया है।[2] इसी अद्वेषभाव को स्थितप्रज्ञ का अन्यतम चिह्न स्वीकार किया गया है।[3] सूत्रकार पतंजलि ने अद्वेष भाव को अनिवार्य मानकर ही द्वेषभाव की निवारक अहिंसा को यमों में प्रथम स्थान देते हुए अन्यतम योगांग स्वीकार किया है। भाष्यकार व्यास ने तो अद्वेष या अवैर को उससे भी अधिक महत्त्व देते हुए अहिंसा को यमों में सर्वश्रेष्ठ माना है, एवं अहिंसा की अपेक्षा से ही सत्य आदि की व्यवस्था दी है।[4] साथ ही स्वीकार किया है कि अहिंसा की उपेक्षा करके किया गया सत्यभाषण पुण्य नहीं पुण्याभास है, उससे महानतम कष्ट प्राप्त होता है। भोज ने भी हिंसा को सर्वकालपरिहार्य मानते हुए[5] अद्वेष को अत्यधिक महत्त्व दिया है, लौकिकजन प्रायः द्वेष या वैर का प्रतिकार अद्वेष (वैर) से ही करना चाहते हैं, किन्तु भगवान् बुद्ध ने द्वेष (वैर) की शान्ति के लिए वैर त्याग को ही एक मात्र उपाय स्वीकार किया है।[6] सूत्रकार पतंजलि ने भी द्वेष (वैर) भाव से छूटने के लिए अहिंसा को सर्वतोभावेन प्रतिष्ठित करने का निर्देश दिया है।[7] भाष्यकार व्यास और वृत्तिकार भोज के अनुसार न केवल अहिंसा के उपासक के प्रति समस्त प्राणी वैर भाव छोड़ देते हैं, अपितु उसके सन्निकट वे पारस्परिक वैर भाव भी भूल जाते हैं।[8]

---

१. सांख्यतत्त्वकौमुदी पृ० १८३
२. गीता ११-५५।
३. वही २-५७।
४. योगभाष्य पृ० २४६।
५. भोजवृत्ति २-३० पृ० ६२।
६. धम्मपद १-५।
७. योगसूत्र २-३५।
८. (क) योगभाष्य २-२५ पृ० २६०। (ख) भोजवृत्ति २-३५ पृ० ६८।

(३६) ईश्वर भाव–

ऐश्वर्य या ईश्वरभाव भी विविध मनोभावनाओं में अन्यतम हैं। ऐश्वर्य का तात्पर्य है स्वयं को प्रभुत्व सम्पन्न समझना, अर्थात् स्वयं को अन्य व्यक्तियों की अपेक्षा कुछ अधिक शक्ति सम्पन्न समझना। सूत्रकार भाष्यकार एवं वृत्तिकार भोज तथा उनके अनुवर्ती इस सम्बन्ध में सभी एक मत हैं कि अंगों सहित योग की साधना से क्रमशः साधक को अनन्त शक्तियां प्राप्त होती हैं, जिन्हें इस शास्त्र में विभूति कहा गया है एवं पृथक् रूप में उनका विस्तृत वर्णन सूत्रकार ने भी किया है। उन विभूतियों में से अन्यतम विभूति भी साधक को जन सामान्य की अपेक्षा लोकोत्तरता प्रदान करती हैं, जिसके फलस्वरूप साधक में ऐश्वर्य (ईश्वर भाव) का उदय हो सकता है। कभी कभी अणिमा आदि आठ सिद्धियों में अन्यतम ईशित्व के लिए भी ईश्वरभाव शब्द का प्रयोग होता है। कुछ विद्वान् 'पराधीनता के सम्बन्ध में असहिष्णुता को' ईश्वरभाव कहते हैं।[1] किन्तु इस सन्दर्भ में ईश्वरभाव का व्यापक अर्थ लेना ही अधिक उचित है। आचार्य शंकर आदि विद्वान् ईश्वरभाव का इतरजनों को नियमित करने आदि की क्षमता, जिसे प्रभुत्व शक्ति भी कहा जा सकता है, आदि अर्थ लेना ही अधिक उचित समझते हैं।[2] ये विशिष्ट शक्तियाँ योगज विभूतियाँ हैं। सूत्रकार पतंजलि ने इन्हें समाधि के सन्दर्भ में उपसर्ग स्वीकार किया है।[3] भोज के अनुसार जब योगी इन्हें विस्मयकारक सफलताएँ मानता है, तब वह समाधि से शिथिल हो जाता है।[4]

(३७) विनय–

विनय शब्द प्राचीन साहित्य में अनुशासन अर्थ में विशेषरूप से प्रयुक्त हुआ है, इसमें नम्रतापूर्वक अपने से आदरणीयजनों के आदेशों का पालन किया जाता है, इस आदेश पालन में नम्रता की भावना की अभिव्यक्ति स्वतः हो जाती है। वर्त्तमान भाषा में विनय शब्द नम्रता अर्थ में विशेष प्रयुक्त है। योगसूत्र व्यासभाष्य एवं भोजवृत्ति तीनों में ही यद्यपि हमें विनय शब्द का प्रयोग उपलब्ध नहीं हुआ है, तथापि अनुशासन एवं नम्रता दोनों ही भावनाओं का विवरण हमें उपलब्ध होता है। साधना के सन्दर्भ में योग के आठ अंगों के पालन का विधान अनुशासन भावना की ओर स्पष्ट संकेत देता है; तथा समाधि की साधना का अन्यतम उपाय श्रद्धा को स्वीकार करना[5] विनय शब्द के नम्रतारूप अर्थ को

---

१. रामकण्ठकृतगीता व्याख्या १८-४५।
२. ब्रह्मानन्दगिरि (गीता टीका) १८-४३।
३. योगसूत्र ३-३७।
४. भोजवृत्ति ३-३७ पृ० १४६।
५. योगसूत्र १-२०।

स्पष्ट स्वीकार करना है। आचार्य शंकर के अनुसार विनय का अर्थ उपशम होना चाहिए,[1] जो नम्रता से भिन्न नहीं है।

(३८) निर्वेद–

निर्वेद का अर्थ है विषयों के प्रति लगाव का अभाव। योगसूत्रकार पतंजलि के अनुसार लौकिक तथा पारलौकिक विषयों के प्रति तृष्णा का अभाव और उसके फलस्वरूप उत्पन्न चित्त की एकाग्रता को वैराग्य कहते हैं।[2] यह दो प्रकार का है परवैराग्य एवं अपरवैराग्य। व्यास और भोज के अनुसार विषयों में दोष दर्शन से उनके प्रति विरक्तता अपरवैराग्य तथा पुरुष ख्याति के अनन्तर बुद्धि के गुण सत्त्वादि के प्रति विरक्ति परवैराग्य कहाता है।[3] व्यास के अनुसार पर वैराग्य ज्ञान की निर्मलता रूप है। जिसके उदय होने पर मानव पूर्ण विवेकी हो जाता है। उस स्थिति में उसे यह ज्ञान हो जाता है कि जो कुछ भी पाने योग्य था मिल गया, क्षेतव्य क्लेश नष्ट हो गये, इत्यादि। इस प्रकार ज्ञान की पराकाष्ठा ही वैराग्य है। इसके अनन्तर साधक को कैवल्य लाभ हो जाता है।[4]

अपर वैराग्य चार प्रकार का हो सकता है : यतमान संज्ञा व्यतिरेकसंज्ञा एकेन्द्रिय संज्ञा और वशीकार संज्ञा। इन्द्रियों के विषयों में प्रवर्त्तक आदि चित्त के विकारों को नष्ट करने के लिए गुरु से ज्ञान की प्राप्ति अथवा शास्त्रों के अभ्यास के द्वारा उनके प्रति दोष दर्शन को **यतमान संज्ञा** वैराग्य कहते हैं। इतने विषयों के प्रति दोषदर्शन हो चुका है, तथा अमुक विषयों के प्रति दोष दर्शन करना शेष है, इस प्रकार का अवधारण **व्यतिरेक संज्ञा** वैराग्य कहलाता है। विषयों के प्रति दोष दर्शन होने पर भी उनके प्रति मन में उत्सुकता का शेष रहना, किन्तु स्थूलतः उनका त्याग **एकेन्द्रियसंज्ञकवैराग्य** कहाता है। इसी प्रकार लौकिक विषय स्त्री अन्न-पान आदि विषयों तथा आनुश्रविक स्वर्ग आदि विषयों के प्रति 'ये सब विनाशशील है, इनसे परिणामतः परिताप का ही अनुभव होता है, इत्यादि प्रकार से दोष दर्शन के पुष्ट होने पर विषयों के प्रति तृष्णा के अभाव को **वशीकार संज्ञा** वैराग्य कहते हैं।

(३९) मोह–

वेदान्त परम्परा के अनुसार देहादि अनात्म वस्तुओं के प्रति आत्मबुद्धि को मोह कहा जाता है।[5] क्योंकि इस मोह में विपरीत ज्ञान विद्यमान रहता है, अतः

---

१. (क) इण्डियन साइकालोजी भाग २ पृ० १३१।
   (ख) विनय उपशमः। शां० भा० गीता ५-१८।
२. योगसूत्र १-१५।
३. (क) योगभाष्य १-१६। (ख) भोजवृत्ति १-१६ पृ० २०।
४. योगभाष्य १-१६ पृ० ५०-५१।
५. श्रीधरस्वामीकृत गीताभाष्य २-५२।

इसके लिए अविद्या और अज्ञान आदि नाम भी व्यवहार किये जाते हैं।[1] योगदर्शन में मोह को अविद्या नाम से ही स्मरण किया गया है। पतंजलि के अनुसार अनित्य अशुचि और अनात्म वस्तुओं के प्रति नित्य शुचि और आत्मबुद्धि को अविद्या (मोह) कहते हैं।[2] व्यास के अनुसार यह अविद्या न तो प्रमाण है और न प्रमाणाभाव अपितु विद्या से विपरीत ज्ञानान्तर है।[3] सांख्य परम्परा में मोह को अविद्या से भिन्न माना गया है। उसके अनुसार मिथ्याज्ञान (विपर्यय) पाँच प्रकार का है : तम मोह महामोह तामिस्त्र और अन्धतामिस्त्र। वाचस्पति मिश्र के अनुसार इन्हें ही अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश कहा जाता है।[4] उनके अनुसार तम (अविद्या) के आठ भेद हैं, इसी प्रकार मोह भी आठ प्रकार का है, महामोह दस प्रकार का है एवं तामिस्त्र तथा अन्धतामिस्त्र अठारह-अठारह प्रकार के होते हैं। इसमें से अव्यक्त महत् अहंकार एवं पंचतन्मात्राओं को आत्मा समझना तम अर्थात् अविद्या है, अणिमा आदि अष्टविध अनित्य ऐश्वर्यों को प्राप्त कर उन्हें नित्य समझना मोह है, तथा दिव्य और अदिव्य विषयों के प्रति आसक्ति महामोह है, इसे ही राग भी कहते हैं।[5] भगवद्गीता में यथार्थज्ञान को स्मृति कहते हुए मोह को उसका प्रतियोगी स्वीकार किया है। वहाँ यह भी बताया गया है कि इस मोह का नाश ईश्वर की कृपा से होता है। उस स्थिति में (मोह नष्ट हो जाने पर) उसके मानस में किसी प्रकार का संशय शेष नहीं रह जाता।[6] योग के अनुसार क्योंकि मोह भी विपर्यय का एक प्रकार है तथा विपर्यय चित्त की एक वृत्ति है, अतः अष्टांगयोग की प्रक्रिया द्वारा चित्तवृत्तियों का निरोध (समाधि) होने पर इसकी निवृत्ति स्वतः हो जाती है।

(४०) असम्मोह–

असम्मोह का अर्थ है मोह का अभाव। मोह की चर्चा पूर्व पंक्तियों में की गयी है, उसकी निवृत्ति को असम्मोह कहते हैं। असम्मोह की स्थिति में प्रत्येक वस्तु का ज्ञान उस वस्तु के गुणों के अनुरूप होता है। इसे ही न्याय की भाषा यथार्थज्ञान कह सकते हैं। व्यास के अनुसार गुणों अथवा गुणों से युक्त प्रकृति और पुरुष का भेदज्ञान विवेकख्याति (असम्मोह) कहलाता है।[7] भोज के अनुसार

---

१. रामानुजभाष्य गीता १४-१७।
२. योगसूत्र २.५।
३. योगभाष्य २-५ पृ० १५२।
४. सांख्यतत्त्वकौमुदी पृ० १८१।
५. वही १८३-१८४।
६. भगवद्गीता १८-७३।
७. योगभाष्य २-२६ पृ० २३६।

रजस् और तमस् के मल से अनभिभूत अन्तर्मुखी बुद्धि में चित्त (पुरुष) की छाया पड़ने पर अर्थात् सत्त्वोत्कर्षयुक्त बुद्धि में पुरुष का प्रतिबिम्ब पड़ने पर जो पुरुष के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान होता है, उसे ही विवेकख्याति कहते हैं।[१]

(४१) क्षमा–

क्षमा का अर्थ है क्रोध द्वेष आदि के कारणों के होते हुए भी चित्त का विकृत न होना। क्षमा अक्रोध से नितान्त भिन्न है। क्षमा में क्रोध आदि के कारणों के उपस्थित होने पर भी चित्त विकृत नहीं होता, जब कि अक्रोध में क्रोध उत्पन्न होता है किन्तु उसका तत्काल दमन कर दिया जाता है। यदि गुणों के आधार पर दोनों की स्थिति में चित्त का विश्लेषण किया जाए तो कहा जा सकता है कि क्षमा में चित्त तमोगुण से अप्रभावित रहता है, जब कि अक्रोध में तमस् की मात्रा बनी रहती है, एवं प्रारम्भ में किंचित्काल के लिए उसके प्रकर्ष का क्षणिक उदय भी होता है। क्षमा का विस्तृत विश्लेषण यद्यपि व्यास अथवा भोज नें नहीं किया है, किन्तु यह अहिंसा के अन्तर्भूत मनोभाव होने से योग परम्परा में अस्वीकृत नहीं है। महाभारत में क्षमा को शक्त और अशक्त दोनों ही प्रकार के लोगों के लिए आभूषण मानते हुए इसे सभी उद्देश्यों का साधक माना गया है।[२]

(४२) दया-करुणा–

क्लेश में पड़े हुए समस्त प्राणियों के दुःख दर्शन से द्रवित होकर उनका क्लेशों से उद्धार करने की इच्छा का नाम दया अथवा करुणा है।[३] दूसरे शब्दों में प्राणियों के प्रति रक्षितव्य बुद्धि को दया कहते हैं।[४] पतंजलि के अनुसार करुणा (दया) चार परिकर्मों में अन्यतम है। जिसका व्यवहार दुःखितजनों के प्रति किया जाना चाहिए। जिसके फलस्वरूप चित्त निर्मल हो जाता है।[५] व्यास के अनुसार करुणा सहित चारों ही परिकर्मों के व्यवहार से चित्त प्रसन्न एकाग्र और स्थिर हो जाता है।[६] भोज के अनुसार इनके द्वारा चित्त प्रसन्न होने पर सूखपूर्वक समाधि लाभ हो जाता है।[७] बौद्ध परम्परा के अनुसार करुणा चार ब्रह्म विहारों में अन्यतम है।[८]

---

१. भोजवृत्ति २-२६ पृ० ८८।
२. महाभारत प्रजागरपर्व।
३. गीता रामकण्ठव्याख्या १-५२।
४. अमृततरङ्गिणी १-५२ (गीताभाष्य)।
५. योगसूत्र १-३३।
६. यो० भा० १-३३ पृ० ६८।
७. भोजवृत्ति १-३३ पृ० ३६।
८. अभिधम्मसंगहो ६-६ पृ० १५६।

(४३) दान—

दान का अर्थ है अपने अधिकार में विद्यमान भोग्य वस्तुओं से अपने अधिकार को छोड़कर उसे किसी अन्य को अर्पित कर देना, जिसको उसकी आवश्यकता हो। श्रीमद्भगवद्गीता के अनुसार यह दान सात्त्विक राजस और तामस भेद से तीन प्रकार का है। देश काल और पात्र का विचार करके बिना किसी भी प्रतिकार की भावना के यदि दान दिया जाय तो उसे सात्त्विक दान कहते हैं। प्रत्युपकार की भावना से अथवा किसी फल विशेष की कामना से मन में क्लेश का अनुभव करते हुए जो दान दिया जाता है, उसे राजस दान कहते हैं। इसी प्रकार देश काल आदि का विचार किये बिना अपात्र लोगों को अथवा असत्कार एवं तिरस्कारपूर्वक जो दान दिया जाता है, उसे तामस दान कहते हैं।[१] तैत्तिरीय उपनिषद् में भी दान को अत्यन्त आवश्यक कर्म स्वीकार किया गया है।[२] दान सदा ही संग्रह के अनन्तर ही हो सकता है, भोग्य वस्तुओं में अपना अधिकार स्वीकार किये बिना उसका विसर्जन किया जाना संभव नहीं है, तथा योग की प्रक्रिया में अपरिग्रह और अस्तेय को अत्यन्त आवश्यक स्वीकार किया गया है। इन्हें अपनाये बिना योग साधना की योग्यता ही प्राप्त नहीं होती। अतः योग साधना में रत साधक के निकट भोग्य वस्तुओं के प्रति अधिकार सम्पन्नता ही सम्भव नहीं है, जिसके फलस्वरूप दान की व्याख्या योगी के लिए संभव नहीं है, यही कारण है कि योगदर्शन और उसके भाष्य तथा वृत्तियों में दान की व्यवस्था उपलब्ध नहीं होती। किन्तु अपरिग्रह भावना की स्वीकृति को देखकर यह कहा जा सकता है कि पतंजलि एवं उनके अनुवर्ती भाष्यकार आदि दान भावना को मूलतः अस्वीकार नहीं करते।

(४४) अहिंसा—

अहिंसा का अर्थ है, मन से किसी भी प्राणी का वध करने अथवा उसे पीड़ा पहुँचने की भावना का पूर्णतः परित्याग। पतंजलि ने अहिंसा को योगांगों में प्रथम यम के अन्तर्गत रखा है। भाष्यकार व्यास के अनुसार समस्त प्राणियों के साथ द्रोह करना हिंसा और उसका त्याग अहिंसा है।[३] द्रोह के अन्तर्गत क़िसी भी प्रकार के कष्ट पहुँचाने की भावना निहित है। याज्ञवल्क्य और हरिहरानन्दारण्य भी प्राणियों को किसी प्रकार से कष्ट पहुँचाने को हिंसा तथा उसके अभाव को अहिंसा मानते हैं।[४] वृत्तिकार भोज प्राण वियोग की दृष्टि से किये गये कार्य को

---

१. गीता १७। २०-२२।
२. तैत्तिरीय उपनिषद् १-११-३।
३. व्या० भाष्य २-३० पृ० २४७।
४. (क) योग याज्ञवल्क्य १-५०-५१। (ख) योगकारिका २-६४।

ही हिंसा के क्षेत्र में रखते हैं, सामान्य पीड़ा को नहीं, अतः उनके अनुसार प्राणि-वध का परित्याग ही अहिंसा के पालन के लिए आवश्यक है अतः अन्य प्रकार से क्लेशों का उत्पादन उनके अनुसार हिंसा नहीं है। यह अहिंसा मन वचन कर्म भेद से यद्यपि तीन प्रकार की हो सकती है, तथापि मनोभावनाओं के सन्दर्भ में कायिक और वाचिक अहिंसा का परिगणन करना उचित न होगा। इसके अतिरिक्त कृता कारिता अनुमोदिता आदि भेद से हिंसा के समान ही अहिंसा के भी इक्यासी प्रकार हो सकते हैं, जिनका विस्तृत परिचय 'योगांगसाधन' नामक परिच्छेद में पृष्ठ १५६—१६२ में दिया जाएगा।

(४५) मुदिता—

दूसरों की सफलता एवं उन्नति आदि को देखकर अपने मन में उत्पन्न होने वाली प्रसन्नता को मुदिता कहते हैं। वाचस्पति मिश्र एवं भोज के अनुसार मुदिता का अर्थ है हर्ष[1]; जब कि योगवार्त्तिककार मुदिता का अर्थ प्रीति मानते हैं।[2] पतंजलि ने इसे चार परिकर्मों के अन्तर्गत रखते हुए चित्त प्रसादन के उपायों में अन्यतम स्वीकार किया है।[3] गीता में वर्णित सौमनस्य मुदितावृत्ति के ही निकट की अवस्था है।

(४६) उपेक्षा—

उपेक्षा का अर्थ है उदासीनता; समर्थन और विरोध दोनों का ही अभाव। पतंजलि ने अपुण्यात्माओं के व्यवहार के प्रति योगी को उपेक्षावृत्ति धारण करने की व्यवस्था दी है।[4] योगसूत्र के टीकाकार सदाशिवेन्द्र सरस्वती के अनुसार पापियों के प्रति उपेक्षा का व्यवहार करता हुआ साधक अनायास ही पाप कर्मों से निवृत्त हो जाता है।[5] भगवद्गीता में 'सत्त्व रजस् और तमस् तीनों गुणों के कार्य प्रकाश प्रवृत्ति और मोह के प्रति द्वेष और कामना के त्याग द्वारा उदासीनवत् व्यवहार करने से साधक त्रिगुणातीत हो जाता है, जो मुक्ति की ही पूर्वावस्था है,' ऐसी व्यवस्था दी गयी है।[6]

(४७) मैत्री भावना—

मैत्री का अर्थ है सौहार्द, स्व से भिन्न प्राणिमात्र को स्व से अभिन्न समझना। पतंजलि के अनुसार सुखी जनों को देखकर अथवा उनके संपर्क में आने पर

---

१. भोजवृत्ति २-३०।
२. (क) भोजवृत्ति १-३३ पृ० ३६। (ख) तत्त्ववैशारदी १-३३ पृ० ६८।
३. योगसूत्र १-३३।
४. योगवार्त्तिक १-३३ पृ० ८६।
५. योगसुधाकर १-३३ पृ० ४३।
६. भगवद्गीता १४। २२-२३।

उनके प्रति मैत्री भावना रखनी चाहिए। ऐसा करने से योगी का मन निर्मल होता है। आचार्य शंकर एवं मधुसूदन आदि मैत्री का अर्थ चित्त का राग युक्त होना स्वीकार करते हैं।[१] जबकि योग परम्परा में मैत्री भावना से चित्त का निर्मल होना स्वीकार किया गया है। मनः स्थिति की समीक्षा करने पर आचार्य शंकर आदि की मान्यता की अपेक्षा योग परम्परा की मान्यता तर्क के, अधिक अनुकूल पड़ती है। अपने से भिन्न के सुख दुःखादि का प्रत्यक्ष करने के अनन्तर प्रत्यक्ष कर्त्ता के मानस में प्रतिक्रिया प्रारम्भ होती है, प्रत्यक्षकर्त्ता के हृदय में यदि सुखी व्यक्ति के प्रति रागात्मक सम्बन्ध है, तो उस सुख को प्रत्यक्षकर्त्ता स्व से सम्बन्धित मानकर सुख का अनुभव करता है और यदि उससे प्रत्यक्षकर्त्ता का द्वेषात्मक सम्बन्ध हुआ तो अप्रसन्नता एवं उभयभिन्न सम्बन्ध होने की स्थिति में ईर्ष्या असूया आदि की उत्पत्ति होती है, जिसके परिणामस्वरूप चित्त क्रमशः मलिन और मलिनतर हो जाता है, किन्तु यदि योगी अन्य के सुख को देखकर निज हृदय को राग द्वेष और ताटस्थ्य आदि सम्बन्धों को सर्वथा भूलकर, मैत्री आदि भावों में से केवल एक ही भाव को (अर्थात् सुखीजनों के प्रति मैत्री, दुःखीजनों के प्रति करुणा आदि) जागृत करने का प्रयत्न करता है, तो उस स्थिति में रागादि से भिन्न वृत्ति का ही उदय होगा, रागादि प्रयुक्त भाव का नहीं। इसीलिए सदाशिवेन्द्र सरस्वती ने स्पष्ट स्वीकार किया है कि जब योगी सुखी प्राणी के प्रति मैत्री की भावना करता है अर्थात् ये सभी सुखी प्राणी मेरे ही हैं, ऐसा मानता है, तब वह सुख अपना सुख ही हो जाता, इस प्रकार उसके हृदय में समस्त सुखों की अनुभूति होने लगती है, फलतः सुख के प्रति उसका राग समाप्त हो जाता है। इस प्रक्रिया से न केवल राग की ही निवृत्ति होती है, अपितु परसुख असहिष्णुतारूप असूया ईर्ष्या आदि की भी निवृत्ति हो जाती है।[२] तथा राग ईर्ष्या आदि की निवृत्ति हो जाने पर चित्त उसी प्रकार निर्मल हो जाता है, जिस प्रकार शरद् ऋतु के आने पर सरोवरों का जल।

(४८) चित्त प्रसाद–

जैसी कि पूर्व पृष्ठों में चर्चा की जा चुकी है पतंजलि के अनुसार मैत्री करुणा मुदिता और उपेक्षा वृत्तियाँ चित्त का प्रसादन करती हैं। प्रसादयुक्त चित्त ही चित्त का वास्तव एवं स्वस्थ स्वरूप होता है। इस अवस्था में चित्त के रागादि से अनाविष्ट होने के कारण उसमें प्रतिबिम्बित द्रष्टा (पुरुष) का स्वरूप निर्मलरूप से भासित होता है और उसे पुरुष के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान हो जाता है। इसे ही सत्त्वपुरुषान्यताख्याति कहा जाता है, इस स्थिति में योगी को

---

१. मधुसूदन सरस्वती कृत गीताभाष्य १२-२३।
२. मणिप्रभा १.३३।

सर्वभावाधिष्ठातृत्व एवं सर्वज्ञातृत्व की प्राप्ति हो जाती है। रामानुज के अनुसार इस स्थिति में पुरुष का चित्त पूर्ण विशुद्ध अर्थात् क्रोध आदि भावों से रहित हो जाता है।[1] बरवर मुनि के अनुसार पूर्ण विशुद्ध चित्त में क्लेश कर्म कर्मविपाक और कर्माशय का सम्पर्क भी नहीं रहता है।[2] पतंजलि के अनुसार क्लेश कर्मादि से अपरामृष्ट पुरुषविशेष को ईश्वर कहा जाता है।[3] इस प्रकार बरवर मुनि के अनुसार प्रसन्न चित्त वाला पुरुष ईश्वर के सदृश ही हो जाता है। आनन्दगिरि प्रसाद की अवस्था में सर्व अनर्थों की निवृत्ति एवं परमानन्द की अनुभूति स्वीकार करते हैं,[4] प्रसाद की अवस्था में चित्त अपने स्वाभाविक रूप में ही विद्यमान रहता है, विषयों की ओर आकृष्ट नहीं होता। प्रसादावस्था के समान ही सत्त्वसंशुद्धि की अवस्था में भी चित्त निर्मल रहता है, यद्यपि सत्त्वसंशुद्धि में आसक्ति के अभाव की प्रधानता रहती है।

चित्त की निर्मल अवस्था में चित्त में आत्मा का विशुद्ध प्रतिबिम्ब पड़ने के कारण आनन्द की अनुभूति होती है, इसे शास्त्रान्तर में भी स्वीकार किया गया है। उदाहरणार्थ–साहित्यशास्त्र में रसानुभूति चित्त की अतिशय निर्मलता के कारण ही होती है, इसे अभिनवगुप्त एवं उनके अनुयायी सभी आचार्यों ने स्वीकार किया है।[5]

उपर्युक्त मनोभावों के अतिरिक्त धृति समता आदि कुछ अन्य मनोभाव भी हैं, जिनका वर्णन अन्य दर्शनों में पाया जाता है, किन्तु योग परम्परा में उनके वर्णन का अवसर प्रायः नहीं हुआ है, अतः उनका परिचय यहाँ नहीं दिया गया है।

मनोभावों के कारण–

योगदर्शन के समानतन्त्र सांख्य के अनुसार पुरुष के अतिरिक्त समस्त विश्वप्रपंच त्रिगुणात्मिका प्रकृति का विकार है, अतः उसे भी त्रिगुणात्मक ही होना चाहिए, फलतः चित्त अथवा मन भी त्रिगुणात्मिका प्रकृति का विकार होने से त्रिगुणमय ही है। इस त्रिगुणात्मिका बुद्धि में कर्मेन्द्रियों एवं ज्ञानेन्द्रियों की अपेक्षा सत्त्वगुण की प्रधानता के होते हुए भी विविध मनोभावों की स्थिति में पृथक् पृथक्

---

१. गीताभाष्य २-५४, १७-१६।
२. गीताभाष्यविवेचन १८-५४।
३. योगसूत्र १.२४।
४. गीताभाष्यविवेचन १८-५४।
५. (क) अभिनवभारती पृ० ४७०।
   (ख) वही पृ० ४७६।
   (ग) रसगंगाधर पृ० ८०।

सत्त्व रजस् और तमस् गुणों का आनुपातिक अन्तर रहा करता है। क्योंकि सांख्य शास्त्र के आचार्यों द्वारा सत्त्व प्रीत्यात्मक रजस् अप्रीत्यात्मक, और तमस् विषादात्मक है, साथ ही सत्त्व प्रकाशहेतुक, रजस् प्रवृत्तिहेतुक एवं तमस् नियमहेतुक है, ऐसा स्वीकार किया गया है,[1] अतः पूर्व पृष्ठों में वर्णित मनोभावों से प्रीति-अप्रीति-विषाद के आधार पर विभिन्न मनोभावों की स्थिति में इसमें सत्त्व रजस् अथवा तमस् की प्रधानता देखी जा सकती है। उदाहणार्थ हर्ष अक्रोध क्षमा अभय ऐश्वर्य विनय निर्वेद (वैराग्य) करुणा दान अहिंसा, मुदिता उपेक्षा मैत्री एवं चित्तप्रसाद में सत्त्वगुण की अपेक्षाकृत प्रधानता एवं इसके विपरीत राग आसंग तृष्णा, काम आदि मनोभावों की स्थिति में अपेक्षाकृत तमोगुण की प्रधानता देखी जा सकती है। ईश्वरकृष्ण ने स्वयं भी वैराग्य (निर्वेद) एवं ऐश्वर्य में सत्त्व की प्रधानता तथा उनसे भिन्न में तमस् की प्रधानता को स्वीकार किया है।[2]

योगसूत्रकार पतंजलि ने चित्त की समस्त भावनाओं और क्रियाओं को क्लेश हेतुक और अक्लेश हेतुक मानते हुए क्लेशों को अविद्या अस्मिता राग द्वेष और अभिनिवेश पाँच में विभाजित किया है, तथा इन पाँचों क्लेशों में अविद्या को मूल माना है। अविद्यामूलक होने के कारण अस्मिता आदि भी अविद्या कहे जा सकते हैं। उनके अनुसार विविध क्रियाएं लोभ क्रोध और मोह के कारण सम्पन्न होती है, ये लोभादि मृदु मध्य और अधिमात्र भेद से तीन-तीन प्रकार के हैं। सूक्ष्मता की दृष्टि से इन मृदु आदि भेदों में पुनः मृदु आदि उपभेदों की कल्पना से तीन-तीन प्रकार करके उपभेद कर लिए जाते हैं। इस प्रकार हिंसा आदि कर्मों के प्रत्येक के २७-२७ भेद हो जाते हैं तथा उनके अनुसार क्रिया स्वयं की जा सकती है, दूसरे से कराई जा सकती है अथवा अन्य कर्त्ता के होने पर समर्थन किया जा सकता है; तीनों प्रकार से अर्थात् कर्त्ता कारयिता और समर्थक होने की स्थिति से कर्तृत्व बना रहता है। क्योंकि प्रत्येक क्रिया करने से पूर्व मन (चित्त) में भावना या कामना मूल रूप से रहती है, अतः उसके भी २७-२७ भेद कहे जाते हैं। पूर्व पृष्ठों में वर्णित मनोभावों को यदि संक्षिप्त करना चाहें तो हिंसा आदि के मूल स्वरूप कुछ मनोभावों की कल्पना करके उनके भेद प्रभेदों में पूर्ववर्णित मनोभावों का अन्तर्भाव किया जा सकता है। इसी आधार पर पूर्व पृष्ठों में वर्णित ऐसे अनेक भावों की पतंजलि व्यास एवं भोज द्वारा स्वीकृति मान ली गयी है, यद्यपि शब्दतः उनका उल्लेख इनमें उपलब्ध नहीं होता, अनासक्ति अभिष्वंग अमर्ष, उद्वेग आदि मनोभाव इस कोटि के ही हैं। इस प्रक्रिया से इन मनोभावों की पतंजलि एवं व्यास आदि द्वारा स्वीकृति का तिरस्कार मानना उचित नहीं है।

---

१. सांख्यकारिका १२।

२. वही २३।

कर्माशय–

जैसी कि पूर्वपृष्ठ में चर्चा की गयी है चित्त में जो क्रियाएं उत्पन्न होती हैं वे ही कामना अथवा मनोभावना कही जाती हैं। ये ही विविध अवस्थाओं में परिणत होती हुई संचित होने पर कर्माशय कही जाती है। स्वयं पतंजलि अस्मिता राग द्वेष आदि की प्रसुप्त तनु विच्छन्न और उदार अवस्थाओं को स्वीकार करते हैं।[१] व्यास के अनुसार जब ये मनोभाव बीज की भाँति केवल शक्तिमात्र से चित्त में प्रतिष्ठित रहते हैं, उस समय उन्हें क्लेशबीज कहा जाता है। वे कालान्तर में आलम्बन को प्राप्त करके ही प्रकट हो जाते हैं। इस प्रकार बीजभाव को प्राप्त कर्मों को प्रसुप्त कर्म कहते हैं।[२] किन्तु विवेक ख्याति को प्राप्त कर लेने से वे क्लेशबीज दग्ध हो जाते हैं, उनकी अंकुरणशक्ति समाप्त हो जाती है। जिसके परिणामस्वरूप आलम्बन के सम्मुख होने पर भी उनका उदय नहीं होता; जैसा कि आग में भुने हुए बीजों को बोने से सम्पूर्ण परिस्थितियों के अनुकूल होने पर भी अंकुरण नहीं होता। यह कर्मों की पाँचवी अवस्था है। इस प्रकार के योगियों का यह शरीर अन्तिम शरीर होता है। क्योंकि क्लेशमूलक कर्माशय के विद्यमान रहते हुए भी बीज सामर्थ्यदग्ध हो जाने के कारण उनका प्रबोध नहीं होता।[३] प्रतिपक्ष भावना अर्थात् अविद्या का प्रतिपक्षी तत्त्वज्ञान, अस्मिता की प्रतिपक्षी आत्मा और इन्द्रियों में भेदप्रतीति, राग की प्रतिपक्षी माध्यस्थ्य या वैराग्य, द्वेष की प्रतिपक्षी मैत्री भावना, अभिनिवेश की प्रतिपक्षी आत्मा में अजरामरत्व बुद्धि अथवा अनेकान्त भावना, से बारम्बार उपहत होने पर क्लेश तनु हो जाते हैं।[४] इसी प्रकार किंचित्काल के लिये किसी क्लेश के क्लेशान्तर से अथवा अन्य किसी कारण से दब जाने को विच्छेद या क्लेश की विच्छिन्नता कहते हैं।[५] विषय प्राप्त होने पर क्लेश के विकास अथवा अनुभूति को उदार कहते हैं।[६] रामानन्द यति के अनुसार विदेह प्रकृतिलय योगियों के क्लेश प्रसुप्त, क्रियायोगियों के तनु एवं विषयासक्तजनों के विच्छिन्न अथवा उदार क्लेश हुआ करते हैं।[७] वृत्तिकार भोज प्रसुप्तक्लेशविषयक उपर्युक्त मान्यता से सहमत नहीं है। उनका विचार है कि चित्तभूमि में स्थित, किन्तु प्रबोधक के अभाव में अपना कार्य आरम्भ न करने वाले कर्म सुप्त कहाते हैं। यथा बाल्यावस्था में बालक के चित्त में विद्यमान काम

---

१. योगसूत्र २-४।
२. योगभाष्य २-४ पृ० १४४।
३. वही २-४ पृ० १४४-४५।
४. वही २-४ पृ० १४५।
५. वही १-४ पृ० १४५-४६।
६. वही १-४ पृ० १४६।
७. मणिप्रभा २-४ पृ० ६४।

(रति) आदि प्रबोधक सहकारी कारणों के अभाव में अभिव्यक्त नहीं होते।[1] प्रतिपक्ष भावना से जिनकी कार्यसम्पादन की शक्ति क्षीण हो गयी है, किन्तु वासनारूप से शेष क्लेशों को तनु क्लेश कहते हैं। ये क्लेश प्रभूत और प्रभूततर सामग्री से ही पुनः अपना परिणाम दिखाने में समर्थ हो पाते हैं। अभ्यासयुक्त योगियों के क्लेश तनु कहे जा सकते हैं। जिन क्लेशों की शक्ति किसी अन्य बलवान् क्लेश से अभिभूत रहती है, उन्हें विच्छिन्न तथा सहकारी कारणों को प्राप्त कर उद्‌भूत क्लेशों को उदार कहते हैं।[2]

उपर्युक्त चारों ही प्रकारों के क्लेशों अर्थात् अविद्या आदि से उत्पन्न चित्त और इन्द्रियों के व्यापार को कर्म कहा जाता है। इन कर्मों से उत्पन्न संस्कारों को आशय कहते हैं। अविद्यादि से उत्पन्न कर्मों के संस्कार (कर्माशय) अपना फल इस जन्म और जन्मान्तर दोनों में ही दिखाते हैं। इनके फल सूत्रकार के अनुसार तीन है : जाति आयु और भोग।[3] योगसूत्र के व्याख्याताओं के अनुसार ये कर्माशय विशिष्ट पुण्य अथवा अति उग्र अपुण्य के कारण सद्यःफलदायक भी हो जाते हैं। यथा तीव्र संवेगपूर्वक मन्त्र तप और समाधि से अथवा देवता महर्षि आदि की आराधना द्वारा पुण्य कर्माशय सद्यःफलदायी हो जाता है। नन्दीश्वर ने मन्त्रतपः समाधि से बाल्यावस्था में ही मनुष्य शरीर को, दीर्घ आयुष्यको एवं दिव्य भोगों को प्राप्त किया था। विश्वामित्र ने उसी जन्म में ब्राह्मण जाति एवं दीर्घ आयुष्य को प्राप्त किया था। इसी प्रकार अपुण्य कर्माशय भी तीव्र क्लेश युक्त अर्थात् भयभीत बीमार अथवा दीन जनों के साथ विश्वाघात आदि करने से अथवा पुण्यात्मा महर्षिजन आदि के साथ बारम्बार अपकार करने से सद्यः फलदायी हो जाता है। देवेन्द्र के पद को प्राप्त नहुष महर्षिजनों का तिरस्कार करने के कारण सर्पजाति को प्राप्त हो गया।

नागोजिभट्ट के अनुसार कर्माशय के फल जाति आयु और भोग में से भोगफल ही प्रधान है, जाति और आयु तो नान्तरीयक फल है,[4] जिनकी प्राप्ति भोगों के लिए पृष्ठभूमि के रूप में हुआ करती है।

भाष्यकार व्यास के अनुसार कर्माशय (संसार) तब तक ही फलप्रद हो पाते हैं, जब तक कि उनके साथ अविद्या आदि क्लेश विद्यमान हों। अविद्यादि के नष्ट हो जाने पर ये कर्माशय उसी प्रकार अंकुरण में असमर्थ हो जाते हैं, जिस प्रकार शालिबीज (धान) भूसी के अलग हो जाने पर अंकुरण में समर्थ नहीं हो पाते। इसी प्रकार प्रसंख्यान (विवेक ख्याति) द्वारा क्लेश के दग्ध बीज भाव को प्राप्त हो जाने पर भी कर्माशय अंकुरण में समर्थ नहीं हो पाते।[5]

---

१. भोजवृत्ति १-४ पृ० ६३।
२. वही पृ० ६३।
३. योगसूत्र २।१२-१३।
४. नागोजिवृत्ति २-१३ पृ० ७३।
५. व्यासभाष्य २-१३ पृ० १६५।

इस सन्दर्भ में एक प्रश्न विचारणीय है कि क्या एक कर्म का संस्कार एक जन्म का हेतु है, अथवा वह अनेक जन्मों का भी हेतु है ? इसी प्रकार क्या अनेक कर्म एक जन्म के हेतु होते हैं अथवा वे मिलकर अनेक जन्म के हेतु हैं ? एक कर्म को एक जन्म का हेतु मानना उचित नहीं हो सकता; क्योंकि एक जन्म में विविध प्रकार के सुखःदुख आदि के अनुभव होते हैं, जो कि एक कर्माशयरूप वृक्ष के फल नहीं हो सकते। इसके अतिरिक्त केवल एक कर्म के ही फलस्वरूप एक जन्म स्वीकार करने पर अनादि काल से प्रवृत्त जन्म परम्परा में किये गये असंख्य कर्मों के फल भोग का अवसर ही न आ सकेगा। इसी प्रकार एक कर्म को अनेक जन्म का भी हेतु नहीं माना जा सकता, क्योंकि उस स्थिति में पूर्वोक्त दोष और भी अधिक उग्र रूप से उपस्थित होंगे। साथ ही अनेक जन्म की एक काल में सम्भावना न हो सकने से क्रम विषयक अव्यवस्था भी उपस्थित होगी। इसी भाँति अनेक कर्म अनेक जन्म के कारण भी नहीं माने जा सकते, क्योंकि इस स्थिति में भी क्रम विषयक अव्यवस्था होगी, तथा उन जन्मों में किये गये कर्मों के भोग का भी क्रम न बन सकेगा; अतः भाष्यकार व्यास ने स्वीकार किया है कि जन्म से लेकर मरण तक किये गये समस्त कर्मसमूह के द्वारा विविधतापूर्ण विचित्र फलों वाले एक जन्म का आरम्भ होता है।[1] क्योंकि यह समूह एक होता है, अतः इससे एक जन्म का प्रारम्भ होता है, तथा इस कर्मसमूह में कर्मों की बहुलता एवं वैचित्र्य रहता है, अतः उसके फलस्वरूप प्राप्त जन्म में भी फलों की बहुलता एवं विचित्रता हुआ करती है।[2]

सामान्यतः जन्म आयु और भोग तीनों प्रकार के विपाक अदृष्टजन्मवेदनीय कर्मों में हुआ करते हैं। दृष्टजन्मवेदनीय कर्मों से संस्कार प्रायः भोग की ही सृष्टि करते हैं, कभी कभी आयु की सृष्टि भी एतादृश कर्मों के द्वारा हो जाती है। दृष्टजन्मवेदनीय कर्मों के फल के रूप में जाति की उत्पत्ति के उदाहरण एकाध ही मिलते हैं।[3]

अदृष्ट-जन्मवेदनीय कर्म पुनः दो प्रकार के हैं : नियतविपाक और अनियतविपाक। यहाँ नियतविपाक का तात्पर्य है–जिसके फल का प्रतिबन्ध अन्य किन्हीं सबल कर्मों के द्वारा नहीं होता, बल्कि उसका नियत फल अवश्यमेव भोक्तव्य है। अनियतविपाक कर्माशय वह है, जिसका प्रतिबन्ध अन्य कर्माश्य द्वारा होना सम्भव है। अदृष्टजन्मवेदनीय अनियतविपाक कर्म की तीन स्थितियां हो सकती हैं : (१) विपाक के बिना ही विनाश (२) प्रधान कर्म के साथ ही उसका भी फलभोग, (३) नियतविपाक प्रधानकर्म के द्वारा अभिभूत होने से चिरकाल तक

---

१. व्यासभाष्य २-१३ पृ० १६७-१६८।

२. एतद्विषयक विवेचन अग्रिम परिच्छेद में द्रष्टव्य है।

३. व्यासभाष्य १-१३ पृ० १६६।

भोग के बिना भी उसकी अवस्थिति।[1] विपाक के बिना ही कृत कर्म का नाश तब होता है, जब उस कर्म के विपरीत फलवाली सबल कर्मराशि विद्यमान हो। प्रायश्चित आदि द्वारा पूर्वकृत अनियतविपाक कर्मफल का नाश होता है। इस सम्बन्ध में श्रुति भी है कि "द्वे द्वे ह वै कर्मणी वेदितव्ये पापकस्यैकोराशिः पुण्यकृतोपहन्ति।"[2]

नागोजि भट्ट ने कर्माशय का विभाजन एक अन्य प्रकार से भी किया है : आरब्धफलवाला और अनारब्धफलवाला। इसमें प्रथम अर्थात् आरब्धफलवाला कर्माशय इसी जन्म में भोग लिया जाता है, जब कि अनारब्ध फलवाला पुनः तीन प्रकार का है शुक्ल कृष्ण एवं शुक्ल—कृष्ण।[3] शुक्ल कर्म वे स्वाध्याय आदि हैं, जिनके सम्पन्न करने में परपीड़ा आदि का कदाचित् भी अवसर उपस्थित नहीं हुआ है। ये शुक्ल कर्म उदय के साथ ही अन्य कृष्ण अथवा शुक्ल-कृष्ण कर्मों को नष्ट कर देते हैं। इन शुक्ल कर्मों द्वारा नष्ट इतर कर्म अनारब्ध फल वाले कर्म कहे जाएँगे। कुछ पशुहिंसादिरूप कृष्ण कर्म इस प्रकार के हैं, जो यज्ञादि पुण्य कर्मों के साथ हो गये हैं, इनका भोग भी प्रधान कर्म के साथ ही सम्पन्न होता है, ये कर्म स्वतन्त्र रूप से फल का आरम्भ नहीं करते। इसी प्रकार पशुहिंसादि से सम्पृक्त यज्ञादिकर्म शुक्लकृष्णकर्म कहे जाते हैं। इनका फल भी प्रायः मिश्रित ही होता है।

उपर्युक्त विभाजन के अतिरिक्त अवस्था भेद से भी कर्मों का तीन भागों में वर्गीकरण किया जा सकता है : प्रारब्ध, संचित, और क्रियामाण। कर्माशय में विद्यमान अनन्तकर्मों में से जिनका भोग प्रारम्भ हो चुका है, वे प्रारब्धकर्म कहलाते हैं। दृष्टजन्मवेदनीय कर्म इसी श्रेणी में आते हैं। इस जन्म में ही किये गये वे कर्म, जिनका भोग इसी जन्म में होना है, किन्तु उनका विपाक अभी प्रारम्भ नहीं हुआ है, उसे प्रारब्ध नहीं कहा जा सकेगा, यद्यपि वे दृष्टजन्मवेदनीय कहे जाएँगे। पूर्वजन्मों में किये गये ऐसे किसी कर्म को प्रारब्ध से बाहर नहीं रखा जा सकता, जिसका कि भोग इस जन्म में होना हो; क्योंकि पूर्वजन्म में मृत्यु से पूर्व के समस्त कर्मों के एकीभूत समूह द्वारा समष्टि रूप से जाति आयु और भोग को उत्पन्न स्वीकार किया जाता है, व्यष्टिशः कर्मों के द्वारा नहीं। क्योंकि उस कर्म समूह का फल भोग जन्मकाल से ही प्रारम्भ हो गया है, अतः समूहगत समस्त कर्मों को प्रारब्ध कर्म ही कहा जाएगा।

इस जन्म अथवा पूर्व जन्मों में किये गये उन कर्मों को संचित कर्म कहते

---

१. व्यासभाष्य १-१३ पृ० १७१।
२. योगभाष्य पृ० १७१ से उद्धृत।
३. नागोजिवृत्ति २-१३ पृ० ७३।

हैं, जिनका भोग अभी प्रारम्भ नहीं हुआ है। जो कर्म अभी किये जा रहे हैं तथा उनका/फल इस जन्म में भोगना निश्चित नहीं है, वे सभी क्रियामाण कर्म कहे जाते हैं।

संचित कर्मों के संस्कारों को अनियतविपाक-अदृष्टजन्मवेदनीयकर्माशय के समानान्तर तथा प्रारब्ध कर्मों के संस्कारों को प्रधानकर्माशय अर्थात् नियतविपाकदृष्टजन्मवेदनीय कर्माशय के समानान्तर रखा जा सकता है। भांष्यकार व्यास ने क्रियमाण कर्मों से उत्पन्न संस्कारों की कोई चर्चा नहीं की है, यद्यपि इन्हें भी दृष्टजन्मवेदनीय अथवा अदृष्टजन्मवेदनीय कर्मों में यथावसर रखा जा सकता है।

ये समस्त कर्म ही प्राणियों को सुख अथवा दुःख का अनुभव कराते हैं। किन्तु योगिजन उन समस्त भोगों में भी दुःख का ही अनुभव करते हैं, जिनमें कि सर्वसामान्य को सुख का अनुभव होता है; क्योंकि उन्हें विदित है कि भोग से इन्द्रियों को तृप्ति नहीं मिलनी, अपितु उससे भोग कामना वैसे ही बढ़ती है जैसे घृत से अग्नि।[1] अतः वह भोग साधनों में सुख का अनुभव नहीं करते। इसी प्रकार भोग के आस्वादन के समय भी अन्य प्राणियों को दुख भोगना पड़ता है, जिससे अनन्त कर्माशय का संचय होता है एवं जिसका पुनः परिणाम दुःखरूप ही होना है।[2] अतः वे समस्त सुखोपभोग के साधनों की प्राप्ति में भी दुख का ही अनुभव करते हैं। इसीलिए कठोपनिषद् का नचिकेता यमदेव द्वारा प्रदत्त मर्त्यलोक की समस्त दुर्लभ कामनाओं को यह कहकर त्याग देता है कि ये सभी भोग अनित्य हैं, आन्तर और बाह्य इन्द्रियों के तेज को क्षीण करते हैं, और जीवन भर भोगने पर भी अतृप्ति ही बनी रहती है, अतः यह सब मुझे नहीं चाहिए।[3] इस प्रकार अन्ततः यह कहा जा सकता है कि समस्त लौकिक भोग सुख भी यथार्थतः दुःख ही हैं, अतः योगी सर्वविध कर्माशयों को विवेकख्याति द्वारा दग्धक्लेशमूल करना चाहता है कि उनके कारण पुनः जाति आयु और भोग आदि का प्ररोह नहीं हो सके।

●●●

---

१. (क) नागोजिवृत्ति २-१५ पृ० १८०।
   (ख) भोजवृत्ति २-१५ पृ० ७५।
   (ग) विष्णुपुराण ३।१०।२३।
२. नागोजिवृत्ति २-१५ पृ० ७६।
३. कठोपनिषद् १-१-२६।

योगाङ्ग साधन

योग का विवेचन पूर्व प्रकरण में किया जा चुका है। उसी प्रकरण में यह भी चर्चा हो चुकी है, कि समग्ररूप से चित्तवृत्तिनिरोधरूप योग असम्प्रज्ञात समाधि की स्थिति में ही हुआ करता है। तथापि उसके पूर्व की स्थिति सम्प्रज्ञात समाधि को भी योग कहते हैं; और इतना ही नहीं सम्प्रज्ञात समाधि में भी केवल अस्मितानुगत को ही नहीं वितर्कानुगत विचारानुगत और आनन्दानुगत समाधि को भी को योग कहा जाता है, क्योंकि ये सभी भूमियाँ क्रमशः चित्तवृत्तियों के एकान्त निरोध की सोपान बनती हुई निर्बीज समाधि (असम्प्रज्ञात समाधि) तक साधक को पहुँचाने में सहायक हुआ करती है। इसी प्रकार साधना के वे अंग जो समाधि तक की साधना यात्रा में सोपान का कार्य करते हैं भी योगांग कहे जाते हैं।

पतंजलि के अनुसार यम नियम आसन प्राणायाम प्रत्याहार धारणा ध्यान और समाधि ये आठ अंग हैं।[१] उनका कथन है कि योगाङ्गों के अनुष्ठान के फलस्वरूप पंचपर्वा अविद्यारूपी अशुद्धि का क्षय होने पर सम्यग्ज्ञान का उदय होता है और अन्ततः कर्मों के हान का एक मात्र हेतु विवेकख्याति का लाभ योगी को होता है।[२] इस प्रकार योग के ये अंग क्रमशः अविद्यादि दोषों को दूर कर शुद्धि प्रदान करके योगी के समस्त कर्माशयों को नष्ट करते हुए उसे असम्प्रज्ञात समाधि एवं कैवल्य की प्राप्ति कराते हैं।

पतंजलि के अनुसार अहिंसा सत्य अस्तेय ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये पाँच यम[३] तथा शौच सन्तोष तपस् स्वाध्याय और ईश्वरप्राणिधान ये पाँच नियम हैं।[४] मनुस्मृति के प्राचीन टीकाकार कुल्लूक भट्ट ने किन्हीं अज्ञातनामा आचार्य के वचनों को उद्धृत करते हुए अहिंसा सत्यकथन ब्रह्मचर्य अकल्कता और अस्तेय को यम, तथा अक्रोध गुरुसेवा शौच अल्पाहार एवं निरन्तर अप्रमाद को नियम माना है।[५] पतंजलि और कुल्लूक भट्ट द्वारा उद्धृत यम और नियमों की संख्या में

---

१. योगसूत्र २-२६।
२. वही २-२७, २८।
३. वही २-३०।
४. वही २-३२।
५. मन्वर्थ मुक्तावली पृ० १४३।

पूर्ण समानता होते हुए भी जहाँ शब्दों में कुछ अन्तर है, वहीं अभिधेय में भी अन्तर दृष्टिगत होता है। उदाहरणार्थ पतंजलि के सत्य के स्थान पर मन्वर्थ मुक्तावली में सत्यवचन (सत्य बोलना) कहा है, जब कि सत्य से पतंजलि का अभीष्ट वाचिक के साथ ही मानसिक सत्य भी है।[1] इसी प्रकार मन्वर्थ मुक्तावली में अपरिग्रह के स्थान पर अकल्कता को रखा है। अकल्कता का अर्थ है मल अथवा छल का अभाव। इसे पतंजलि के शौच के समानान्तर तो रखा जा सकता है, किन्तु अपरिग्रह के समानान्तर नहीं। अपरिग्रह में सर्वविध विषय साधनों के अर्जन रक्षण आदि का प्रतिषेध किया गया है।[2] इसी प्रकार नियमों में पतंजलि ने 'सन्तोष' पद द्वारा शारीरिक की अपेक्षा मानसिक सन्तुष्टि को अधिक महत्व किया है। इसीलिए भाष्यकार ने सन्तोष का अर्थ करते हुए 'सन्निहित साधनों की अपेक्षा अधिक को प्राप्त करने की कामना न करने को सन्तोष माना है।[3] जब कि मन्वर्थमुक्तावली में सन्तोष के स्थान पर 'आहार लाघव' को रखकर उसे अत्यन्त सीमित कर दिया है। आहार लाघव केवल प्रदर्शन के लिए भी हो सकता है, स्वास्थ्य सम्बन्धी अन्य कारणों से भी, तथा अन्य पुरुष द्वारा नियन्त्रण के कारण भी सम्भावित हो सकता है। किन्तु अधिक प्राप्ति की कामना रहते हुए प्रदर्शन अथवा अस्वाथ्यवश अथवा परनियन्त्रण के कारण आहार लाघव होने पर उससे चित्तवृत्तियों के निरोध में कोई सहायता नहीं मिल सकती। इसी प्रकार पतंजलि निर्दिष्ट स्वाध्याय के स्थान पर प्रयुक्त गुरुशुश्रूषा, तप के स्थान पर अक्रोध एवं ईश्वर प्रणिधान के स्थान पर निरन्तर अप्रमाद भिन्न अर्थ का ही बोध कराते हैं। अतः योगदर्शन के यम और नियम तथा मन्वर्थ मुक्तावली में उद्धृत आचार्य द्वारा परिगणित यमों और नियमों की संख्या में अन्तर न होते हुए यम-नियमों के स्वरूप और उनके परिणाम में अन्तर अवश्य है, यह कहा जा सकता है।

मनुस्मृति में भी आनृशंस्य क्षमा सत्य अहिंसा दम अस्पृहा (सन्तोष) ध्यान प्रमाद माधुर्य और आर्जव (कोमलता) इन दस कर्मों को यम तथा शौच इज्या (यज्ञ) तप दान स्वाध्याय उपस्थेन्द्रिय का निग्रह अर्थात् ब्रह्मचर्य व्रत उपवास मौन और स्नान इन दस कर्मों को नियम कहा गया है[4] किन्तु मनुस्मृति में उपलब्ध इन श्लोकों को मनु प्रोक्त न मानकर प्रक्षिप्त मानना अधिक अच्छा है। क्योंकि इन पर प्राचीन टीकाकार कुल्लूकभट्टकृत मन्वर्थमुक्तावली टीका उपलब्ध नहीं हैं, अतः निश्चित ही ये श्लोक मनुस्मृति में उत्तरकालीन प्रक्षेप हैं, यह मानना अधिक उचित होगा।

---

१. योगभाष्य पृ० २४८।
२. वही पृ० २५०।
३. वही पृ० २५२।
४. मनुस्मृति पृ० १४२।

याज्ञवल्क्य स्मृति के अनुसार ब्रह्मचर्य दया क्षान्ति (क्षमा) ध्यान सत्य अकल्कता अहिंसा अस्तेय माधुर्य और दम इन दस कर्मों को यम तथा स्नान मौन उपवास इज्या स्वाध्याय उपस्थनिग्रह गुरुशुश्रूषा शौच अक्रोध और ज्ञानार्जन (प्रमातृता) इन दस कर्मों को नियम नाम से स्वीकार किया है।[1] किसी प्रमाण के अभाववश यह कहना तो संभव नहीं है कि याज्ञवल्क्य स्मृति में यह यम-नियम का परिगणन भी मनुस्मृतिगत परिगणन के समान प्रक्षिप्त है; किन्तु इतना तो निश्चित ही कहा जा सकता है कि यम और नियमों का उपर्युक्त परिगणन विशेष प्रामाणिक अथवा सुव्यवस्थित चिन्तन के आधार पर किया गया प्रतीत नहीं होता। क्योंकि उपर्युक्त परिगणन में यमों में ब्रह्मचर्य का सर्वप्रथम परिगणन करते हुए नियमों में भी उपस्थनिग्रह के रूप में उसका ही नामान्तर से परिगणन किया है। इसी प्रकार नियमों में शौच के ग्रहण करने से ही शारीरिक शुद्धि का भी ग्रहण हो जाता है, अतः उसी के लिए स्नान के नाम से पृथक्परिगणन की कोई आवश्यकता नहीं रहती। यमों में भी अकल्कता के ग्रहण की आवश्यकता नहीं रहती, क्योंकि कल्क पद से सर्वविध शारीरिक मलों तथा छल आदि मानसिक मलों का ग्रहण होता है, जिसका निषेध अकल्कता द्वारा अभीष्ट है। इनका संकलन शौच से ही हो जाता है। इसके अतिरिक्त शौच का ही अकल्कता नाम से यमों में तथा स्नान और शौच नाम से नियमों में भी परिगणन का कोई कारण विदित नहीं होता। इसी भाँति यमों में अहिंसा का परिगणन करने से ही क्षान्ति (क्षमा) के पृथक्परिगणन की कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती; क्योंकि अहिंसा के सर्वविध प्रकारों, जिनका वर्णन इसी प्रकरण में पृष्ठ १५६-१६२ में किया जाएगा, का त्याग करने पर अक्षान्ति के लिए कोई अवकाश ही नहीं रह सकता; इस प्रकार उसके पृथक्परिगणन की अपेक्षा नहीं रहती। फलतः यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि याज्ञवल्क्य स्मृति में यम और नियमों का परिगणन अत्यन्त सामान्य रूप से किया गया है।[2]

योगसूत्रकार महर्षि पतंजलि अथवा भाष्यकार व्यास अथवा उनके टीकाकारों[3] किसी ने भी यमों और नियमों की कोई परिभाषा नहीं दी है, न ही मनु याज्ञवल्क्य

---

१. याज्ञवल्क्य स्मृति ३.३१२। २. वही ३.३१३.।

३. (क) व्यासभाष्य के टीकाकार, तत्त्ववैशारदीकार वाचस्पतिमिश्र, योगवार्त्तिकार विज्ञानभिक्षु, भास्वतीकार हरिहरानन्दारण्य, पातञ्जलरहस्यकार राघवानन्द सरस्वती आदि।
(ख) योगसूत्र के टीकाकार राजमार्त्तण्डवृत्तिकार भोज, प्रदीप (भावगणेशवृत्ति) कार दार्शनिकशिरोमणि भावगणेश, मणिप्रभाकार रामानन्द यति, चन्द्रिकाकार अनन्तदेव, योगसुधाकरकार सदाशिवेन्द्र आदि।

आदि स्मृतिकारों ने ही कोई ऐसा प्रयास किया है। हाँ सूत्रकार पतंजलि तथा याज्ञवल्क्य आदि स्मृतिकारों ने यथावसर केवल उनका परिगणन करना चाहा है। मनु ने इन दोनों के महत्व पर विशेष रूप से निर्देश किया है;[१] जब कि शेष योगांग आसन प्राणायाम धारणा ध्यान और समाधि की परिभाषाएँ स्वयं सूत्रकार पतंजलि ने ही दी हैं।[२] इसे देखते हुए यह कहा जा सकता है कि यम और नियम पदों का व्रत विशेष (सार्वभौम व्रत विशेष) के लिए व्यवहार सूत्रकार महर्षि पतंजलि से भी बहुत पूर्व से होता चला आ रहा है, तथा उनका परिचय विविध शास्त्रों की परम्पराओं में अत्यन्त व्यापकरूप से रहा है। सम्भवतः इसीलिए पतंजलि अथवा भाष्यकारों और टीकाकारों ने उसके परिचय की कोई आवश्यकता नहीं समझी।

यम और नियमों की कोई निर्दिष्ट परिभाषा उपलब्ध न होने पर भी दोनों के स्वरूप के सम्बन्ध में किसी प्रकार का सन्देह नहीं हो सकता। यद्यपि यम और नियम दोनों ही मानव को भोग से विमुख करते हैं; दोनों ही उसे साधना की ओर प्रवृत्त करते हैं, तथा साधना के क्षेत्र में विशेष सिद्धि प्रदान करते हैं। किन्तु इतनी समानता होते हुए भी दोनों में पर्याप्त अन्तर है, नियमों का सीधा सम्बन्ध योगी से हैं, इनमें प्रारम्भ से अन्त तक का एक सुन्दर तथा क्रमिक साधना का मार्ग निर्दिष्ट है, इनमें प्रथम शौच कायिक वाचिक और मानसिक तीन भेदों में विभक्त होता है तथा तीनों प्रकार का शौच अन्ततः सन्तोष के लिए पृष्ठभूमि प्रस्तुत करता है। मन के सन्तुष्ट होने पर वह कष्टों की उपेक्षा करता हुआ तपः साधना में प्रवृत्ति उत्पन्न करता है। तप भी शौच के समान ही कायिक वाचिक एवं मानस भेद से तीन प्रकार का है[३], तथा उसकी सिद्धि होने पर साधक में ज्ञानार्जन की कामना एवं ज्ञान के धारण की क्षमता उत्पन्न होती है; फलतः उसमें स्वाध्याय की प्रवृत्ति उत्पन्न होती है। तपोभावना के बिना न तो स्वाध्याय की ओर प्रवृत्ति उत्पन्न होती है और न ही उसमें प्रवृत्ति होकर भी स्थिरता रहती है। प्रवृत्ति और स्थिरता शरीर और इन्द्रियों की निर्मलता से आती है और यह निर्मलता एक मात्र तप से ही उत्पन्न हुआ करती है,[४] और तप के प्रभाव से स्वाध्याय की साधना सफल होने पर उसे अपने अभीष्ट की, अपने आराध्य की प्रतीति हो जाती है[५] अपने अभीष्ट की जानकारी होने का परिणाम होता है कि उसका (साधक का) चित्त अन्य विकल्पों से निवृत होकर पूर्णतः निरोध की ओर अग्रसर होता है, और उसे समाधिकी सिद्धि हो जाती है[१] जो कि योग साधना का, योग का चरम अंग है, पूर्ण सिद्धि है।

१. मनुस्मृति ४, २०४।
२. योगसूत्र २-४६, ४९, ५४। ३-१, २, ३।
३. भगवद्गीता १७-१४, १५, १६।
४. योगसूत्र २-४३।
५. वही २-४४।

यमों के सम्बन्ध में ऐसी बात नहीं कही जा सकती, उनमें इस प्रकार की कोई क्रमिक एकात्मता नहीं है। ऐसा नहीं है कि अहिंसा से सत्य की, सत्य से अस्तेय की, अस्तेय से ब्रह्मचर्य की और ब्रह्मचर्य से अपरिग्रह की अथवा इसके विपरीत अपरिग्रह से ब्रह्मचर्य की, ब्रह्मचर्य से अस्तेय की इत्यादि क्रम से साधना पक्ष में कोई क्रमिक सिद्धि होती हो। इन यमों की साधना का परम स्वतन्त्र फल है।[२] इतना अवश्य है कि इन सबसे समाधि भावना की योग्यता प्राप्त होती है। क्योंकि हिंसा आदि वितर्क जो लोभ क्रोध और मोह से प्रसूत होते हैं, और ये साधक को चित्त की एकाग्रता से अर्थात् समाधि के मार्ग से दूर ले जाते हैं। हिंसा आदि का सर्वथा परित्याग करने पर लोभ क्रोध आदि भी क्रमशः क्षीण होते हैं। और अन्ततः चित्त की एकाग्रता से प्रतिपक्ष की निवृत्ति होती है,[३] जिसे दूसरे शब्दों में वैराग्य साधना कहा जा सकता है। स्मरणीय है कि महर्षि पतञ्जलि निरोध रूप योग की सिद्धि के लिए अभ्यास और वैराग्य को उपाय माना है। इस प्रकार यमों की साधना वैराग्य की साधना है, जिसके फलस्वरूप न केवल समाधि का मार्ग अपितु लोक जीवन का मार्ग भी निष्कण्टक होता है। इसीलिए अहिंसा आदि व्रत को न केवल योगी के लिए अपितु प्रत्येक व्यक्ति के लिए सार्वदेशिक एवं सार्वकालिक महाव्रत के रूप में स्वीकार किया जाता है।[४] योग के मार्ग में भी इन्हें महाव्रत के रूप में ही स्वीकार किया गया है। अन्यथा यदि केवल योगसाधना की दृष्टि से देखा जाए तो इन सभी का समावेश नियमों के अन्यतम के अन्दर ही स्वीकार किया जा सकता था। उदाहरणार्थ ब्रह्मचर्य एवं अहिंसा को शारीरिक तप, सत्य को वाचिक तप, अस्तेय को शारीरिक एवं मानसिक तप तथा अपरिग्रह को मानसिक तपमें अन्तर्हित देखा जा सकता है। श्रीमद्भगवद्गीता में व्यास ने इस तथ्य को स्पष्ट शब्दों में स्वीकार भी किया है। उनका कहना है कि—

> ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते।
> अनुद्वेगकरं-वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।
> स्वध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते।।
> मनः प्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः।
> भावसंशुद्धिरित्येतत् तपो मानसमुच्यते।।[५] इत्यादि।

संभवतः लोकजीवन में भी इनकी बहुव्यापक उपयोगिता को ध्यान में रखकर ही योगसूत्रकार ने इन्हें (यमों को) योगाङ्गों में प्रथम स्थान प्रदान किया है, इनकी सिद्धि होने पर साधक को योग साधना का समस्त मार्ग प्रशस्त

---

१. योगसूत्र २-४५।
२. वही २।३५-३६।
३. वही २।३३-३४।
४. वही २।३१।
५. भगवद्गीता १७.१४-१६।

राजमार्ग के समान प्रतीत होता है, और वह निर्बाध रूप से अपने लक्ष्य के लिए आगे बढ़ता चला जाता है।

यमों की इस जाति देश कालादि में अनवच्छिन्नता एवं नियमों की केवल योग साधना की ओर एकात्मभाव से संलग्नता को देखकर ही मनु ने सामान्य जन की दृष्टि से यमों की अवश्यग्राह्यता और नियमों की केवल ग्राह्यता को उद्घोषित किया है। उनका कहना है कि यदि यम और नियमों में अन्यतम के पालन की स्थिति हो तो 'यमों का ही निरन्तर सेवन करना चाहिए केवल नियमों का नहीं। यमों का त्याग कर केवल निममों का सेवन करने वाला पतित हो जाता है।[1] स्मरणीय है कि मनुस्मृति लोकसामान्य की दृष्टि से धर्म का प्रतिपादक ग्रन्थ है, केवल योगी के धर्म का प्रतिपादक नहीं। नियमों का मुख्य सम्बन्ध योगी से ही है। जबकि यमों की कार्यता योगी और जनसामान्य दोनों के लिए ही है। इसी कारण योग में भी इन्हें सार्वभौम व्रत माना गया है।[2] इस प्रकार योगी के लिए यम और नियमों दोनों का ही समान महत्त्व है, भले ही सामान्य गृहस्थ के लिए नियमों का इतना महत्त्व न हो। इसके अतिरिक्त यमों की साधना समाज में रहते हुए ही होगी। नियमों की साधना समाज और एकान्त दोनों संभव है।

अहिंसा–

इस अध्याय के प्रारम्भ में कहा जा चुका है कि यम पाँच हैं :– अहिंसा सत्य अस्तेय ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। इनमें अहिंसा का अर्थ है हिंसा का निषेध। हिंसा क्रोध मोह और लोभ से प्रेरित वह कर्म है, जिससे इतर प्राणी अथवा प्राणियों को पीड़ा उत्पन्न होती है। इस परपीड़ा कर्म के परित्याग को ही अहिंसा कहा जाता है। अर्थात् समस्त प्राणियों के प्रति द्रोह न करना, उन्हें पीड़ा न पहुँचाना, अहिंसा व्रत कहा जाता है। योगदर्शन के व्याख्याकारों में अन्यतम रामानन्द यति ने सर्वप्राणिजन पीड़न को हिंसा स्वीकार करते हुए उन्हें पीड़ा न पहुँचाने को अहिंसा माना है।[3] इनकी दृष्टि से हिंसा और अहिंसा का निर्णय भोक्ता की दृष्टि से किया गया है, कर्त्ता की दृष्टि से नहीं; जब कि भाष्यकार व्यास तथा नागोजि और भावगणेश आदि ने कर्त्ता की दृष्टि से हिंसा और अहिंसा का विवेचन करते हुए प्राणियों के प्रति द्रोह को हिंसा तथा द्रोह के अभाव को अहिंसा कहा है।[4] इनकी दृष्टि से हिंसा और अहिंसा का निर्णय फल की दृष्टि से नहीं कर्त्ता की भावना की दृष्टि से होना चाहिए। उदाहरणार्थ देवदत्त यदि विशुद्ध भावना से अपने अथवा किसी अन्य के हित की दृष्टि से कोई कार्य करता है, किन्तु उस कार्य से यज्ञदत्त को पीड़ा पहुँच जाती है, यद्यपि देवदत्त

---

१. मनुस्मृति ४।२०४। २. योग० २-३१।
३. मणिप्रभा पृ० ६२।
४. (क) योगभाष्य पृ० २४७। (ख) नागोजिवृत्ति पृ० ६२। भावगणेणवृत्तिः पृ० ६२।

को स्वप्न में भी यह भान न था कि इस कर्म से यज्ञदत्त को पीड़ा होगी, किन्तु यज्ञदत्त के लिए पीड़ाजनक होने के कारण देवदत्त का वह कार्य रामानन्द यति की दृष्टि से हिंसा कहा जायेगा, जब कि व्यास भावगणेश और नागोजिभट्ट की दृष्टि से वह कार्य हिंसा की कोटि में नहीं आता, क्योंकि द्रोह कर्त्तृगत धर्म है, एवं उसका प्रस्तुत कर्त्ता देवदत्त में सर्वथा अभाव है। ठीक इसके विपरीत द्रोहाभिभूत रविदत्त ब्रह्मदत्त को मारने अथवा हानि पहुँचाने की दृष्टि से ब्रह्मदत्त को विषमिश्रित पेय पिलाता है, किन्तु परिस्थिति विशेष के कारण वह विष ब्रह्मदत्त के शरीर में पहुँचकर उसके शरीर में विद्यमान रोग का नाशक बन जाता है। यहाँ भोक्ता ब्रह्मदत्त को किसी प्रकार की पीड़ा अथवा हानि का अनुभव नहीं हुआ है, अतः रामानन्द यति के अनुसार यहाँ हिंसा नहीं होनी चाहिए, किन्तु व्यास नागोजि और भावगणेश के अनुसार यहाँ रविदत्त का मानस द्रोहाभिभूत रहा है, द्रोह के कारण ही उसने विषाक्त पेय पिलाकर उसने ब्रह्मदत्त के मारने का प्रयास किया था, अतः रविदत्त का कार्य हिंसा की कोटी में अवश्य ही आना चाहिए। इसी प्रकार एक कुशल चिकित्सक रोगमुक्त करने के उद्देश्य से पूर्ण निष्ठा के साथ महेश के वक्ष में शल्य क्रिया करता है, रोगी के अंग में अतिशय विकार के कारण अथवा शल्यगृह के यन्त्रों में अचानक ख़राबी आ जाने के कारण प्रकाश का अभाव हो जाने से चिकित्सक द्वारा की गयी शल्य क्रिया पूर्ण अथवा सफ़ल नहीं हो पाती तथा रोगी का रोग विकृत हो जाता है, अथवा उसकी मृत्यु हो जाती है। इस स्थिति में फल की दृष्टि से हिंसा और अहिंसा की समीक्षा करने वाले रामानन्दयति आदि के अनुसार हिंसा माननी चाहिए; जब कि व्यास नागोजि और भावगणेश आदि की दृष्टि से यहाँ चिकित्सक के कार्य में हिंसा का लेश भी नहीं माना जाएगा, क्योंकि उसके मन में द्रोह का पूर्णतः अभाव है। सूत्रकार पतंजलि की दृष्टि से हिंसा भोक्तृगत फल पर निर्भर न होकर कर्तृगत भावना पर निर्भर है। इसी आधार पर वे हिंसा के विविध भेद करने का परामर्श देते हैं, जिनकी चर्चा अग्रिम पृष्ठों में की जाएगी।

रामानन्द यति के भोक्तृसापेक्ष हिंसा और अहिंसा के सिद्धान्त के होते हुए भी 'अपीडन' में ल्यु प्रत्यय तथा 'मनोवाक्कायैः' आदि में करणार्थक तृतीया विभक्त्यन्त पदों का प्रयोग होने के कारण यह भी निश्चित ही स्वीकार किया जा सकता है कि उनकी व्याख्या में भी आंशिकरूप से कर्तृसापेक्ष व्याख्या की असंभावना नहीं है।[१] योगि याज्ञवल्क्य स्मृति में अहिंसा की व्याख्या रामानन्दयति कृतव्याख्या से ही साम्य रखती है।[२]

---

१. मणिप्रभा पृ० ६२।
२. योगियाज्ञवल्क्य १।५०-५१।

राजमार्त्तण्डवृतिकार भोज तथा चन्द्रिकाकार अनन्तदेव उस कर्म को ही हिंसा स्वीकार करना चाहते हैं, जिस कर्म द्वारा प्राणि विशेष के प्राणों का शरीर से वियोग हो।[1] इन दो व्याख्याकारों की भाषा का विश्लेषण करते हुए यह कहा जा सकता है कि भोज के अनुसार प्राण वियोग-प्रयोजन से किया गया कर्म हिंसा है, चाहे उससे प्राण वियोग सम्पन्न हुआ हो, अथवा नहीं, इसके विपरीत अनन्तदेव पंडित के अनुसार प्राण वियोग का हेतु होने पर ही कोई कर्म हिंसा कहा जाना चाहिए। उदाहरणार्थ भद्र भावना से चिकित्सा द्वारा शल्य क्रिया करने पर यदि प्राण वियोग हो भी जाता है, तो भी उस क्रिया के प्रयोजन में प्राण वियोग निहित न होने के कारण भोज के अनुसार उसे हिंसा न कहा जा सकेगा। जबकि अनन्तदेव के अनुसार वह क्रिया प्राण वियोग का हेतु हो रही है, अतः उसे अवश्य ही हिंसा मानना चाहिए। जबकि उचित यही है कि चिकित्सक के कल्याणप्रयोजन से किये गये कार्य को हिंसा न मानकर अहिंसा और पुण्य कार्य ही माना जाए।

यहाँ भोजदेव का मत महर्षि व्यास आदि के मत के बहुत निकट है एवं अनन्तदेव का मणिप्रभाकार रामानन्द के पर्याप्त निकट है। अन्तर केवल यह है कि भोजदेव एवं अनन्तदेव हिंसा में प्राण वियोग को प्रयोजन के रूप में अथवा प्रत्यक्षतः आवश्यक मानते हैं, जबकि व्यास नागोजि भावगणेश एवं रामानन्दयति आदि प्राणवियोग के अभाव में भी केवल पीड़ा मात्र की स्थिति में हिंसा स्वीकार करते हैं; जिसके फलस्वरूप कष्ट देने की भावना से किसी मनुष्य को बन्द करके रखने और उसे अत्यन्त अल्पमात्रा में भोजन देकर कष्ट पहुँचाने पर भी भोज एवं अनन्तदेव आदि की दृष्टि से उसे हिंसा नहीं कहा जा सकेगा, जबकि अत्यन्त पीड़ा ग्रस्त नारकीय यातना भोगते हुए प्राणी को उसके कष्ट की मुक्ति की भावना से ही किया गया, उसका प्राण हरण हिंसा कहा जाएगा, यद्यपि कर्त्ता की मानसिक स्थिति द्रोह की न होकर कल्याण की है। उसके विपरीत व्यास आदि की दृष्टि के द्रोह के कारण पीड़ा देने के लिए किया गया नियन्त्रण एवं क्षुधित रखने का कार्य भी हिंसा कहा जाएगा, एवं द्रोह के अभाव के कारण कल्याण की कामना से की गयी प्राणहानि भी हिंसा की कोटि में नहीं आएगी।

मनु ने भी माँस भक्षण के सन्दर्भ में मारने या माँस भक्षण की अनुमति देने वाले, समर्थन करने वाले, मारने वाले खरीदने वाले, बेचने वाले, पकाने वाले, परसने वाले और खाने वाले आठों को घातक अर्थात् हिंसा करने वाला माना है।[2] यहाँ हिंसा की व्याख्या अभीष्ट न होते हुए भी प्रासंगिक रूप से हिंसा में सहयोग को भी हिंसा स्वीकार किया गया है।

१. भोजवृत्ति पृ० ६२, योगचन्द्रिका पृ० ६२।२. मनुस्मृति।

जैसा कि पूर्व पंक्तियों में स्पष्ट किया जा चुका है कि हिंसा की युक्तियुक्त व्याख्या कर्त्ता की मनोभावना के आधार पर की जानी चाहिए। सूत्रकार पतंजलि ने भी इसी दृष्टि से हिंसा को स्वीकार किया है, और इसीलिए वे हिंसा आदि वितर्कों के भेदों की ओर संकेत करते हुए उन्हें सर्व प्रथम उसकी मूलभित्तिरूप लोभ क्रोध और मोह के आधार पर विभाजित करने का निर्देश देते हैं। तदनन्दर उनके अनुसार स्वयंकृता, कारिता एवं अनुमोदिता भेद से पुनः प्रत्येक में तीन-तीन भेद हो जाते हैं। यह विभाजन कर्त्ता का क्रिया से सम्बन्ध किस प्रकार का है, इस आधार पर किया गया है। इसके अनन्तर वे पुनः कर्म की गुरुता लघुता को ध्यान में रखकर मृदु मध्य और अधिमात्र भेद से प्रत्येक में तीन-तीन भेद स्वीकार करते हैं। इस प्रकार पतंजलि के अनुसार हिंसा कुल सत्ताइस प्रकार क़ी है।[1] पतंजलि के अनुसार यद्यपि फल की दृष्टि से भी हिंसा आदि का विभाजन किया जा सकता है, क्योंकि, कभी हिंसादि कार्य का फल दुःख है और कभी अज्ञान तथा कभी और कुछ। किन्तु फल अनन्त है[2] अतः उनका परिगणन संभव न होने से उसके आधार पर हिंसा की संख्या भी अनन्त हो जाएगी, अतः फलाश्रित परिगणन करना उचित न होगा। इस प्रकार पतंजलि के अनुसार हिंसा के भेद निम्नलिखित हैं :–

हिंसा के भेद

१. स्वयंकृता क्रोधपूर्विका मृदु हिंसा

२. स्वयंकृता क्रोधपूर्विका मध्या हिंसा

३. स्वयंकृता क्रोधपूर्विका अधिमात्रा हिंसा

४. स्वयंकृता लोभपूर्विका मृदु हिंसा

५. स्वयंकृता लोभपूर्विका मध्या हिंसा

६. स्वयंकृता लोभपूर्विका अधिमात्रा हिंसा

७. स्वयंकृता मोहपूर्विका मृदु हिंसा

८. स्वयंकृता मोहपूर्विका मध्या हिंसा

---

१. योगसूत्र २-३४।
२. वही २-३४।

९. स्वयंकृता मोहपूर्विका अधिमात्रा हिंसा
१०. कारिता क्रोधपूर्विका मृदु हिंसा
११. कारिता क्रोधपूर्विका मध्या हिंसा
१२. कारिता क्रोधपूर्विका अधिमात्रा हिंसा
१३. कारिता लोभपूर्विका मृदु हिंसा
१४. कारिता लोभपूर्विका मध्या हिंसा
१५. कारिता लोभपूर्विका अधिमात्रा हिंसा
१६. कारिता मोहपूर्विका मृदु हिंसा
१७. कारिता मोहपूर्विका मध्या हिंसा
१८. कारिता मोहपूर्विका अधिमात्रा हिंसा
१९. अनुमोदिता क्रोधपूर्विका मृदु हिंसा
२०. अनुमोदिता क्रोधपूर्विका मध्या हिंसा
२१. अनुमोदिता क्रोधपूर्विका अधिमात्रा हिंसा
२२. अनुमोदिता लोभपूर्विका मृदु हिंसा
२३. अनुमोदिता लोभपूर्विका मध्या हिंसा
२४. अनुमोदिता लोभपूर्विका अधिमात्रा हिंसा
२५. अनुमोदिता मोहपूर्विका मृदु हिंसा
२६. अनुमोदिता मोहपूर्विका मध्या हिंसा
२७. अनुमोदिता मोहपूर्विका अधिमात्रा हिंसा।

भाष्यकार व्यास उपर्युक्त २७ भेदों में प्रत्येक में पुनः मृदु मध्य और अधिमात्र भेद करना चाहते हैं; अर्थात् मृदु में मृदुमृदु मध्यमृदु अधिमात्रमृदु मध्य में मृदुमध्य मध्यमध्य, अधिमात्रमध्य एवं अधिमात्र में मृदुअधिमात्र, मध्यअधिमात्र और अधिमात्र-अधिमात्र भेद व्यास के अनुसार होने चाहिए। परिणामतः पतंजलि

हिंसा के भेद
स्वयंकृता हिंसा
कारिता हिंसा
अनुमोदिता हिंसा
क्रोधपूर्विका
लोभपूर्विका
मोहपूर्विका
मृदु १
मध्या २
अधिमात्रा ३
मृदु ७
मध्या ८
अधिमात्रा ९
मृदु ४
मध्या ५
अधिमात्रा ६
क्रोधपूर्विका
लोभपूर्विका
मोहपूर्विका
मृदु १९
मध्या २०
अधिमात्रा २१
मृदु २५
मध्या २६
अधिमात्रा २७
मृदु २२
मध्या २३
अधिमात्रा २४
क्रोधपूर्विका
लोभपूर्विका
मोहपूर्विका
मृदु १०
मध्या ११
अधिमात्रा १२
मृदु १३
मध्या १४
अधिमात्रा १५
मृदु १६
मध्या १७
अधिमात्रा १८
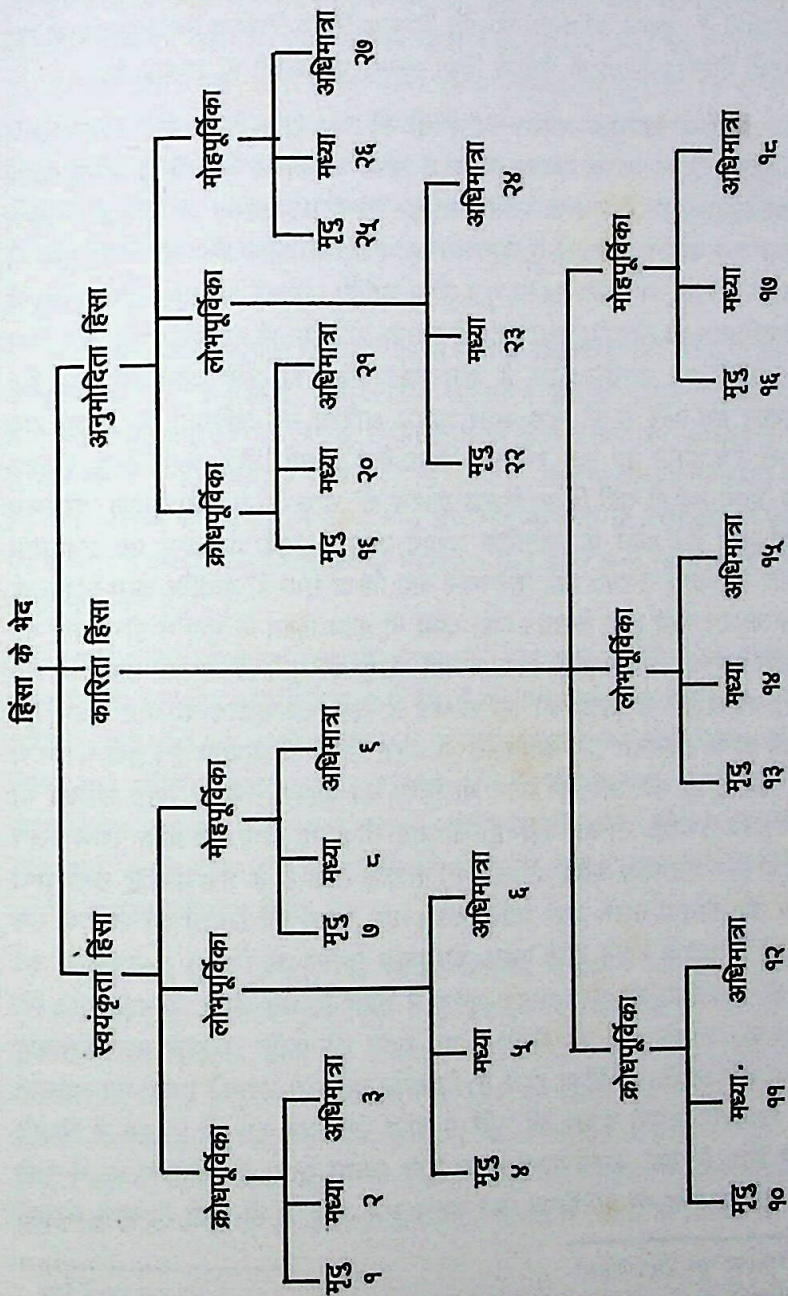
स्वीकृत २७ भेदों में पुनः ३-३ भेद होने से (२७×३=८१) कुल इक्यासी प्रकार की हिंसा हो सकती है। इसके अतिरिक्त हिंसादि विषयक नियम विकल्प एवं समुच्चय के भेद से तथा हिंस्य प्राणियों के भेद से हिंसा अनन्त प्रकार की हो सकती है।[1]

हिंसा के उपर्युक्त समस्त भेदोपभेदों की चर्चा राजमार्त्तण्ड वृत्तिकार भोज ने भी की है। इतना अन्तर अवश्य है कि वे हिंसा के कारण के रूप में योगसूत्रकार पतंजलि द्वारा निर्दिष्ट क्रोध लोभ मोह इन तीनों को कारण के रूप में स्वीकार करना अनावश्यक समझते हैं, उनका कथन है कि क्रोध और लोभ का मूल भी मोह ही है अतः, मोह ही सबका मूल होना चाहिए। उनके अनुसार अनात्मवस्तु में आत्माभिमान ही मोह है, तथा मोह के उत्पन्न होने पर ही स्व पर विभागवश लोभ क्रोध आदि की उत्पत्ति होती है, इस प्रकार मोह ही सभी दोषों का मूल है।[2] सूत्रकार पतंजलि ने भी मोह अपर पर्याय अविद्या को अस्मिता (महामोह) राग (लोभ) द्वेष आदि का मूल स्वीकार किया है।[3] तथापि मोह के विकारभूत क्रोध लोभ आदि का भी यहाँ हिंसा के मूल कारण की स्पष्टता के लिए पृथक् परिगणन किया गया है। क्रोध के अतिरिक्त यद्यपि काम भी एक अन्यतम एवं प्रमुखतम विकार है, किन्तु उसका यहाँ परिगणन नहीं किया गया है, क्योंकि काम हिंसा का साक्षात्कारण नहीं हुआ करता। जहाँ कहीं भी काम हिंसा के मूल में होगा वहाँ वह साक्षात् उसका कारण नहीं होगा। जहाँ काम की पूर्ति में बाधक तत्त्व को दूर करने की प्रवृत्ति में हिंसा की जा सकती है, वहाँ बाधकतत्त्व के प्रति प्रथम द्वेष उत्पन्न होगा तदनन्तर द्वेष सहचरित क्रोधवश हिंसा हो सकती है। इस प्रसंग में यदि यह शंका की जाए कि लोभ भी हिंसा का कारण नहीं है, अतः उसका भी ग्रहण करना यहाँ उचित नहीं है, तो यह ठीक न होगा। क्योंकि लोभ जिन वस्तुओं (धन हिरण्यक आदि भोगसाधनों) के प्रति होता है, वे जड़ होते हैं, उन्हें प्राप्त करने की कामना करने वाले व्यक्ति की इच्छा (चेतन की क्रिया) का सम्बन्ध उन पदार्थों के धारण करने वाले पुरुष की इच्छा (चेतन की क्रिया) से होता है, एवं उसकी प्रतिक्रिया भी अन्य धारक पुरुष में होती है, धन आदि में नहीं; जब कि प्राप्ति की कामना धन की होती है; एवं प्राप्य की प्राप्ति न होने पर प्रतिक्रिया स्वरूप उस व्यक्ति की हिंसा होती है, जिसकी इच्छा से उसकी इच्छा का व्याघात हुआ था और अपनी इच्छा की पूर्ति में बाधा उपस्थित हुई थी। काम में स्थिति इससे भिन्न है, वहाँ काम्य स्वयं इच्छा युक्त (चेतन युक्त) है। कामना करने वाले पुरुष की कामना की प्रतिक्रिया उस काम्य स्त्री आदि में ही होती है, तथा उसकी

---

१. योगभाष्य पृ० २५६-२५७।
२. भोजवृत्ति २.३४ पृ० ६६।
३. योगसूत्र २।३-४।

प्रतिक्रिया के अनुकूल होने पर कामना फल की ओर अग्रसर होती है। प्रतिक्रिया के प्रतिकूल होने पर उस प्रतिक्रिया को ही बदल कर अनुकूल करने का प्रयास होता है। हिंसा में प्रवृत्ति नहीं होती। जब काम्य की प्रतिक्रिया अनुकूल हो, किन्तु काम्य किसी अन्य के नियन्त्रण में हो, उस स्थिति में काम्य और कामयिता से भिन्न बाधक किसी तृतीय के होने के कारण सर्व प्रथम द्वेष उत्पन्न होता है, एवं द्वेष के प्रवृद्ध होने के अनन्तर ही हिंसा आदि की संभावना उत्पन्न होगी। अतः जहाँ हिंसा की पूर्वभूमिका में काम भी हो, वहाँ भी काम को हिंसा का साक्षात्मूल नहीं स्वीकार किया जा सकता है।

हाँ, असत्य की उत्पत्ति में स्थिति इससे भिन्न हो सकती है, वहाँ काम भी असत्य के प्रति कारण हो सकता है, क्योंकि काम के उत्पन्न होने पर काम्य की प्राप्ति के लिए कामयिता काम्य में ही अनुकूल प्रतिक्रिया के लिए असत्य का उपयोग करता है; वहाँ काम्य और कामयिता के मध्य किसी तृतीय के आने अपेक्षा (अनिवार्यता) नहीं है। अतः असत्य की उत्पत्ति में क्रोध लोभ और मोह के साथ ही काम को भी जोड़ा जा सकता है। यद्यपि सूत्रकार अथवा भाष्यकार ने इस प्रसंग में भी काम की कोई चर्चा नहीं की है।

इस प्रकार उपर्युक्त इक्यासी प्रकार की हिंसा का सर्वतोभावेन परित्याग पतंजलि के अनुसार अहिंसा कहलाता है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि अहिंसा आदि यमों को महर्षि पतंजलि ने सार्वभौम महाव्रत की संज्ञा प्रदान की है, किन्तु इन अहिंसा सत्य अस्तेय ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह यमों में भी अहिंसा सर्वतोभावेन उत्कृष्टतम है, अन्य सबकी अपेक्षा पालनीय है[1] इसीलिए भाष्यकार व्यास एवं उनके टीकाकार हरिहरानन्द ने हिंसा से सम्पुष्ट सत्य को पुण्याभास अर्थात् असत्य स्वीकार किया है।[2]

बौद्ध धर्म में भी अहिंसा को समस्त कर्त्तव्यों में प्रधान स्वीकार किया है। भगवान बुद्ध द्वारा उपदिष्ट अष्टांगिक मार्ग में प्रथम सम्यक् दृष्टि (सम्मादिट्ठि) के अन्तर्गत जिन कायिक कर्मों को अकुशल कर्म स्वीकार किया है, उनमें हिंसा सर्वप्रथम है,[3] और इसलिए उससे बचने के लिए जो शिक्षा पद निर्दिष्ट हैं उनमें अहिंसा सर्वप्रथम है।[4] उनके सम्माकम्मान्त में तो केवल अहिंसा अस्तेय और इन्द्रिय संयम, जिसे दूसरे शब्दों में ब्रह्मचर्य कहा जा सकता है, का परिगणन किया जाता है, ये तीनों ही यमों के अन्तर्गत स्वीकृत हैं। यमों के समान ही यहाँ

---

१. योगभाष्य पृ० २४८।
२. (क) योगभाष्य पृ० २४६। (ख) योग भास्वती पृ० २५०।
३. मज्झिमनिकाय।
४. खुद्दकपाठ सिक्खापद १ पृ० १।

भी अहिंसा सर्वप्रथम है। लोक जीवन में हिंसा का प्रयोग अधिकतः वैर की स्थिति में बदले की भावना से होता है, किन्तु धम्मपद में स्पष्ट रूप से स्वीकार किया गया है कि वैर की शान्ति वैर से नहीं हुआ करती, उसे तो केवल अवैर द्वारा ही दूसरे शब्दों में अहिंसा के द्वारा ही शान्त किया जा सकता है।[1] महाभारत के प्रजागर पर्व में भी इसी भाव को प्रायः इन्हीं शब्दों में स्वीकार किया गया है।[2]

अहिंसा व्रत का फल—

सूत्रकार पतंजलि के अनुसार अहिंसा महाव्रत के पालन का फल यह होता है कि उसके समीप मानव और अमानव (पशु पक्षी आदि) सभी सर्वथा वैर रहित हो जाते है[3] जिसका फल यह होता है कि साधक के समक्ष कभी ऐसी परिस्थितियाँ ही नहीं उत्पन्न होतीं, जिन परिस्थितियों में सर्व सामान्य को हिंसा अपनानी पड़ती है और वह निर्द्वन्द्व योग के मार्ग पर अग्रसर होता रहता है। समस्त जीव जन्तु उसके प्रति वैर रहित हो जाते हैं, और वह सिंह व्याघ्रादि से संकुल तपोवन में निर्भय होकर अपनी साधना में लगा रहता है।

सत्य—

यमों में द्वितीय सत्य हैं। भाष्यकार व्यास और राजमार्त्तण्डवृत्तिकार भोज के अनुसार यथार्थ वाणी और मन का होना सत्य है। अर्थात् जैसा प्रत्यक्ष-अनुमान एवं शब्द द्वारा ज्ञान प्राप्त किया है, वैसी ही वाणी और मन का होना। अपना अनुभव (ज्ञान) दूसरे को देने के लिए प्रयुक्त वाणी यदि वंचना और भ्रान्ति रहित ज्ञान को उत्पन्न करती है, तो फलवती होती है, साथ ही वह समस्त प्राणियों का उपकार करने वाली होती है, उपघात करने वाली नहीं; तो उसे सत्य कहते हैं।[4] यदि कदाचित् किसी वाग्व्यवहार के कारण प्राणि—उपघात होता है, तो वह वाणी सत्य नहीं रह जाएगी, उसके प्रयोग में पाप होगा। जिसके फलस्वरूप पुण्य की भाँति प्रतीत होने वाले उस सत्य से साधक को अपुण्य लाभ ही होगा, कष्ट ही होगा।[5] इसीलिए भाष्यकार का कहना है कि सत्य का प्रयोग करते हुए सदा सावधान रखना चाहिए कि उससे सब प्राणियों का हित ही हो, अहित नहीं। मनुस्मृति में भी अप्रिय अर्थात् प्राणियों को पीड़ा देने वाले, वचनों का निषेध किया गया है। यद्यपि वहाँ इसका तात्पर्य यह भी नहीं है कि श्रोता के प्रिय सम्पादन

---

१. धम्मपद १-५।
२. महाभारत (विदुरनीति)
३. योगभाष्य पृ० २६०।
४. (क) योगभाष्य पृ० २४८-२४६।
   (ख) राजमृगांकवृत्ति पृ० ६२।
५. योगभाष्य पृ० २४६।

के लिए असत्य भाषण किया जाए।[1] योगि याज्ञवल्क्य में भी सर्वभूतहितकारी वचनों को ही सत्य कहा गया है और एतदर्थ यह आवश्यक समझा गया है कि निरन्तर सत्य भाषण की कामना करने वाला साधक नियत (अल्प) भाषण ही करे अधिक न बोले।[2] बौद्ध धर्म ग्रन्थों में भी असत्य (मुसावाद) को छोड़ने का पूर्ण आग्रह है।[3]

हिंसा के समान ही असत्य भी अनेक प्रकार का है। सूत्रकार ने 'हिंसादयः कृतकारितानुमोदिताः लोभमोहपूर्वकाः' कहते हुए, भाष्यकार ने उपर्युक्त सूत्र का भाष्य करते हुए एवं वृत्तिकार भोज ने 'एते पूर्वोक्ताः हिंसादयः प्रथमं त्रिधा भिद्यन्ते' इत्यादि वाक्य में स्पष्ट शब्दों में हिंसा के साथ आदि पद का प्रयोग करते हुए असत्य के भी हिंसा के समान ही भेद स्वीकार किये हैं। फलतः हिंसा के समान ही असत्य के भी सूत्रकार के अनुसार सत्ताइस (२७) तथा भाष्यकार व्यास एवं वृत्तिकार भोज आदि के अनुसार इक्यासी (८१) भेद होने चाहिये। जिनमें सर्वप्रथम स्वयंकृत असत्यभाषण, कारित असत्यभाषण और अनुमोदित असत्यभाषण भेद से तीन भेद होंगे। पुनः प्रत्येक में उसके मूलभूत लोभ क्रोध और मोह के आधार पर तीन तीन भेद होकर नौ भेद हो जाएँगे। तदनन्तर पुनः प्रत्येक में अल्प (मृदु) मध्य एवं पूर्ण (तीव्र या अधिमात्र) भेद से तीन तीन भेद होने से सत्ताइस (२७) भेद हो जाते हैं। व्यास और भोज के अनुसार (२७) भेदों में से प्रत्येक में पुनः मृदु मध्य और अधिमात्र (तीव्र) भेद से तीन तीन भेद पूर्वोक्त प्रकार से हो सकते हैं। फलतः उनके अनुसार कुल इक्यासी (८१) भेद हो सकते हैं।

जैसा कि पूर्व प्रकरण (अहिंसा के प्रकरण) में कहा जा चुका है कि लोभ क्रोध और मोह के समान काम भी प्रेरक मनोभावना है, जो मानव को विविध प्रकार के कर्मों में प्रवृत्त किया करती है। काम यद्यपि साक्षात् हिंसा का कारण नहीं बन पाता यह भी वहाँ स्पष्ट किया जा चुका है, किन्तु असत्य के प्रति काम साक्षात्कारण है। इसीलिए भगवद्गीता में क्रोध के साथ ही काम को भी रजोगुण से उत्पन्न एवं विविध पाप का कारण बताते हुए इसे साधक का शत्रु स्वीकार किया गया है।[4] इसीलिए वहाँ इस जीवन में मृत्यु के अनन्तर ब्रह्मनिर्वाण के लिए क्रोध के साथ काम पर विजय प्राप्त करना भी अनिवार्य बताया गया है। इसी प्रकार मनुस्मृति में भी स्पष्ट स्वीकार किया गया है[5] कि काम और क्रोध पर विजय प्राप्त करके ही साधक सिद्धि को प्राप्त करता है।[6] इस प्रकार क्रोध लोभ और मोह के साथ काम को भी संयुक्त कर लेने पर असत्य की संख्या एक सौ आठ

---

१. मनुस्मृति ४-१३७।
२. योगयाज्ञवल्क्य १-५२।
३. खुद्दकपाठ–१.४. पृ० १।
४. गीता ३-३७।
५. (क) गीता ५-२३।
(ख) वही ५-२६।
६. मनु १२-११।

(१०८) हो जाती है। इन समस्त असत्य के प्रकारों का त्याग ही सत्य नामक यम के व्रत में अभीष्ट है।

सत्य-व्रत का फल—

महर्षि पतंजलि के अनुसार साधक के जीवन में सत्य की पूर्ण प्रतिष्ठा हो जाने पर साधक की समस्त क्रियाएं फलाश्रयिणी अर्थात् सफल होती हैं।[1] भाष्यकार व्यास ने सूत्रगत क्रियाफलाश्रयित्वम् पद पर भाष्य करते हुए कहा है कि उसकी वाणी अमोध हो जाती है, यदि वह किसी के लिए भी कहता है कि तुम धार्मिक हो जाओ, स्वर्ग को प्राप्त करो इत्यादि तो वह उस वाणी के फलस्वरूप ही धार्मिक बन जाता है, स्वर्ग को प्राप्त कर लेता है।[2] भाष्यकार के उपर्युक्त वाक्य की व्याख्या करते हुए वाचस्पति मिश्र ने लिखा है कि यहाँ क्रिया का अर्थ है क्रिया द्वारा साध्य धर्म और अधर्म, तथा क्रिया फल का अर्थ है उन धर्म अधर्म का फल स्वर्ग और नरक आदि'। फलतः क्रिया फलाश्रयित्व का अर्थ होगा कि वाणी की साधना से ही साधक योगी को धर्मादिसाध्य स्वर्ग आदि की प्राप्ति हो जाती है।[3] विज्ञान भिक्षु भाष्यकार के उपर्युक्त वाक्य की व्याख्या करते हुए, 'सभी प्राणियों को प्राप्ति होती हैं'[4] इस अंश को अतिरिक्त जोड़ना आवश्यक मानते हैं। इस प्रकार उनका कहना है कि सत्य-प्रतिष्ठ योगी के वचन मात्र से धर्म आदि क्रियाएं तथा स्वर्ग आदि फल सभी प्राणियों को प्राप्त हो जाते हैं।[5] उनके अनुसार वाक् पद मन का भी उपलक्षण है, फलतः उसे एतदर्थ उच्चरित वाक् के प्रयोग की भी आवश्यकता नहीं होती, मनोगत संकल्पमात्र से यह सभी कुछ हो जाता है।

भोज तथा अनन्तदेव आदि कुछ अन्य टीकाकारों के अनुसार क्रिया फलाश्रयित्व का अर्थ है यज्ञादि क्रियाओं के फल स्वर्ग आदि की क्रिया के बिना ही प्राप्ति।[6] अर्थात् साधक क्रियाओं के बिना ही स्वर्गादिफलों को प्राप्त करता है।

यजुर्वेद में अनृत को त्याग कर सत्य को अपनाने के व्रत का निर्देश मिलता है। शतपथ ब्राह्मण में प्रत्येक यज्ञ के पूर्व सत्य के अपनाने के इस व्रत को अनिवार्य माना गया है।[7] बौद्ध धर्म में अहिंसा के समान ही सत्य भाषण को भी अनिवार्य कर्मों में अन्यतम स्वीकार किया गया है[8] तथा असत्य को (मुसावाद को) अत्यन्त त्याज्य बताया गया है।

---

१. योगसूत्र २-३६।
२. योगभाष्य पृ० २६०।
३. तत्त्ववैशारदी पृ० २६०।
४. योगवार्त्तिक पृ० २६०।
५. वही २६०।
६. (क) भोजवृत्ति २३६ पृ० ६८। (ख) चन्द्रिका २-३६ पृ० ६६।
७. यजुर्वेद १-५।
८. खुद्दकपाठ सिक्खापद २ पृ० १।

उपनिषदों में भी सत्य की महिमा का अतिशय गुणगान किया गया है, मुण्डक उपनिषद् में सत्य को आत्मज्ञान का साधन बताते हुए कहा गया है[१] कि जीवन की सफलता सत्य पर ही आश्रित है और देवयानरूपी उत्कृष्टतर गति भी सत्य साधन पर ही अवलम्बित है। ऋषिजनों की समस्त साधना का भी आधार यही सत्य है।[२] सत्य की अपार महिमा को देखते हुए ही तैत्तिरीय उपनिषद् में सत्य के सन्दर्भ में कभी भी प्रमाद न करने का निर्देश दिया गया है।[३]

महाभारत में सत्य को मनुष्य के कल्याण (श्रेयस्) का हेतु बताया गया है, किन्तु वहीं यह भी स्वीकार किया गया है कि सत्य की अपेक्षा सर्वभूतहित अधिक उत्कृष्ट है।[४] अतः यदि कदाचित् प्राणि रक्षा के लिए असत्य भी बोलना पड़े तो बोलना चाहिए, क्योंकि प्राणि रक्षार्थ बोला हुआ असत्य भी सत्य ही है।[५] इसी प्रकार स्मृतियों में भी सत्य को महाव्रत के रूप स्वीकार करते हुए सत्य को परम धर्म और असत्य को महापातक कहा गया है।[६] मनु ने साक्षि धर्म के रूप में सत्य का पालन करने पर पुण्य लोकों और अनुत्तम कीर्त्ति की प्राप्ति होती है, ऐसा माना है।[७] एक अन्य प्रसंग में भी उन्होंने हिंसा रहित किसी का भी अपकार न करने वाली सत्य वाणी के प्रयोग का स्पष्ट निर्देश दिया है,[८] तथा सत्य को सर्वश्रेष्ठ धर्म स्वीकार किया है।[९]

इस प्रकार पतंजलि द्वारा यमों के रूप में स्वीकृत सत्य न केवल योगी के महाव्रत के रूप में अपितु उपनिषद् स्मृति आदि विविध ग्रन्थों में उत्कृष्टतम व्रत के रूप में स्वीकृत है, तथा अहिंसा की अपेक्षा रखते हुए इनका पालन करना योगी के कर्त्तव्यों में अन्यतम (योगांग के रूप में) कर्त्तव्य है।

अस्तेय–

पतंजलि द्वारा स्वीकृत यमों में अस्तेय का तृतीय स्थान है। अस्तेय का सामान्यतः अर्थ होता है स्तेय अर्थात् चोरी का त्याग, किन्तु यहाँ स्तेय पद उन सभी प्रकार के आदान की ओर संकेत करता है, जिनकी स्वीकृति धर्मशास्त्र में नहीं है।[१०] साथ ही किन्हीं वस्तुओं के अनधिकृत आदान के अतिरिक्त उनकी स्पृहा करना भी स्तेय के अन्तर्गत निहित है।[११] योगि याज्ञवल्क्य में मन वचन और

---

१. मुण्डकोपनिषद् २-१-५।
२. वही ३-१-६।
३. तैत्तिरीयोपनिषद् २।११।१।
४. महाभारत शान्ति पर्व।
५. महाभारत कर्णपर्व।
६. मनु ८-८२ पृ० २४०।
७. वही ८-८२।
८. वही ८-४५।
९. वही ८-८२ (६)।
१०. योगभाष्य। पृ० २५१।
११. योगभास्वती। पृ० २५०।

कर्म तीनों से पर द्रव्य की कामना को स्तेय और उसके त्याग को अस्तेय कहा गया है।[१] राजमार्त्तण्डवृत्तिकार भोज ने इस सन्दर्भ में अधिक सूक्ष्मता में न जाकर सामान्यरूप से ही अन्य के द्रव्य के अपहरण को स्तेय और उसके त्याग को अस्तेय स्वीकार किया है।[२] भोज के समान ही अन्य टीकाकार भावगणेश नागोजि रामानन्दयति अनन्तदेव एवं सदाशिवेद्र सरस्वती आदि ने भी धन के अपहरण को स्तेय और उसके अभाव को अस्तेय माना है।[३] रामानन्द यति ने इस परिभाषा में बलात् अथवा एकान्त में पदों का अतिरिक्त प्रयोग किया है।[४] योगकारिकाकार हरिहरानन्दारण्य ने स्तेय को मानसिक और कायिक स्वीकार करते हुए दूसरे के धन को पाने की स्पृहा को मानसिक अस्तेय एवं अपहरण को कायिक स्तेय माना है, तथा दोनों के ही त्याग को अस्तेय के रूप में स्वीकार किया है।[५] बौद्ध धर्मग्रन्थों में भी स्तेय का अदिण्णादान नाम से उल्लेख करते हुए उसका पूर्णतः निषेध आवश्यक माना गया है।[६]

हिंसा के समान स्तेय भी स्वयंकृत कारित अनुमोदित भेद से सर्वप्रथम तीन प्रकार का, पुनः लोभ क्रोध मोह पूर्वक स्तेय के सम्भव होने के कारण प्रत्येक में तीन-तीन भेद होने से नौ प्रकार का, एवं मृदु मध्य और अधिमात्र भेद से पुनः प्रत्येक में तीन-तीन भेद होने से पतंजलि के अनुसार कुल सत्ताइस (२७) प्रकार का हो सकता है। व्यास के अनुसार इनमें पुनः मृदु मध्य और अधिमात्र भेद से तीन-तीन भेद करने पर कुछ इक्यासी प्रकार हो सकते हैं।

अस्तेय व्रत का फल–

पतंजलि के अनुसार अस्तेय व्रत की सिद्धि हो जाने पर योगी को सर्वविध धनादि ऐश्वर्य की प्राप्ति हुआ करती है।[७] यहाँ रत्न पद के वाच्य के सन्दर्भ में भाष्यकार व्यास अथवा वृत्तिकार भोज आदि ने कुछ भी स्पष्ट नहीं किया है। केवल व्यासभाष्य के व्याख्याकार हरिहरानन्दारण्य ने चेतन और अचेतन उत्कृष्टतम वस्तुओं को रत्न मानते हुए स्त्री यान आदि समस्त भोग्य साधनों की उपलब्धि योगी को अस्तेय व्रत की साधना से होती है, ऐसा स्वीकार किया है।[८]

---

१. योगयाज्ञवल्क्य १, ५१-१।२।
२. भोजवृत्ति पृ० २-३० पृ० ६२।
३. (क) भावगणेशवृत्ति पृ० ६२, नागोजिवृत्ति पृ० ६२।
(ख) चन्द्रिका पृ० ६२।
(ग) योग सुधाकर पृ० ६५।
४. मणिप्रभा पृ० ६२।
५. योगकारिका २-६६।
६. खुद्दकपाठ द्वितीय सिक्खापद पृ० १।
७. योगसूत्र २-३७।
८. भास्वती पृ० २६०।

ब्रह्मचर्य–

पतंजलि के अनुसार चतुर्थ यम ब्रह्मचर्य है। योग भाष्यकार व्यास तथा वृत्तिकार भोज एवं रामानन्द यति के अनुसार गुप्तेन्द्रिय अर्थात् उपस्थ का संयम ब्रह्मचर्य कहाता है।[1] किन्तु अन्य टीकाकार भावगणेश नागोजि एवं सदाशिवेन्द्रस्वामी आदि अष्टविध मैथुन के त्याग को ब्रह्मचर्य स्वीकार करते हैं।[2] योगियाज्ञवल्क्य एवं योगकारिकाकार हरिहरानन्दारण्य भी सर्वविध मैथुन के त्याग को ही ब्रह्मचर्य स्वीकार करते हैं।[3]

ब्रह्मचारी के लिए जिन अष्टविध मैथुनों का त्याग आवश्यक बताया गया है, दक्ष संहिता के अनुसार वे निम्नलिखित हैं :—कामनापूर्ण भावना से कामिनी आदि विषयों का स्मरण, उसका अथवा उसकी कथा का वर्णन, कामिनी आदि के साथ किलोल, लालसा भरे भावों से देखना,[4] एकान्त-आलाप, भोग्य की प्राप्ति का संकल्प, तदर्थ अध्यवसाय तथा क्रियानिष्पत्ति ये आठ प्रकार के मैथुन स्वीकार किये जाते हैं।[5]

योगि याज्ञवल्क्य के अनुसार गुरु की नित्य प्रति श्रद्धापूर्वक सेवा को भी ब्रह्मचर्य कहा जाता है।[6] वहीं गुरु पद का अर्थ स्पष्ट करते हुए माता पिता आचार्य मामा और श्वसुर इन पांच को गुरु स्वीकार किया है। किन्तु इन सबमें माता पिता एवं आचार्य को मुख्य माना गया है। इन तीन में भी परमार्थ तत्त्व को जानने वाला आचार्य मुख्यतम गुरु है।[7] जिनकी सेवा को ब्रह्मचर्य स्वीकार किया जाता है।

ब्रह्मचर्य की विविध परिभाषाओं के होते हुए भी उपस्थेन्द्रिय के पूर्ण संयम (मन वचन और कर्म से संयम) को निर्विवाद रूप से ब्रह्मचर्य स्वीकार किया जाता है। किन्तु साथ ही उपनिषदों और स्मृति ग्रन्थों में ऋतु काल में स्वदार रति को भी अब्रह्मचर्य की कोटि में न रखकर ब्रह्मचर्य ही स्वीकार किया गया है।[8]

हिंसा के समान ब्रह्मचर्य के भी विविध प्रकार हैं। हिंसा के प्रसंग में पतंजलि द्वारा निर्दिष्ट स्वयंकृत कारिता एवं अनुमोदित भेद अब्रह्मचर्य

---

१. (क) योगभाष्य पृ० २५०। (ख) भोजवृत्ति पृ० ६२, मणिप्रभा पृ० ६२।
२. (क) भावगणेशवृत्ति पृ० ६२। (ख) नागोजिवृत्ति पृ० ६२ योगसुधाकर पृ० ६२।
३. (क) योगयाज्ञवल्क्य १-५४। (ख) योगकारिका योगकारिका भाष्य। २।६७।
४. योगवार्त्तिक पृ० २५०।
५. दक्षस्मृति ७।३१-३२, भावगणोशवृत्ति पृ० ६२ नागोजिवृत्ति पृ० ६२, एव योगावार्तिक पृ० २५० में उद्धृत।
६. योगयाज्ञवल्क्य १-५८। ७. योगयाज्ञवल्क्य १।५८-६०।
८. (क) प्रश्नोपनिषद् १-१३। (ख) मनुस्मृति ३।५।

(उपस्थेन्द्रिय-असंयम) में भी हो सकते हैं। इन्द्रियों विशेषतः उपस्थेन्द्रिय को स्वयंकृत असंयम के समान ही कारिता और अनुमोदित असंयम भी योगी द्वारा सर्वथा निषिद्ध होना चाहिए। उपर्युक्त तीन भेदों में पुनः लोभपूर्वक क्रोध-पूर्वक एवं मोहपूर्वक भेद किये जाने के कारण इनमें पुनः तीन-तीन भेद पतंजलि स्वीकार करते हैं। हिंसा के समान ही यहां भी लोभ क्रोध और मोह के साथ काम का भी परिगणन करना चाहिए। फलस्वरूप बारह (१२) भेद ब्रह्मचर्य के हो सकते हैं। पुनः इन भेदों के भी तारतम्य के आधार पर मृदु मध्य और तीव्र (अधिमात्र) भेद से ३-३ भेद होकर कुल छत्तीस भेद हो जाएंगे। इन भेदों में लोभ क्रोध मोह और काम के मृदु मध्य और अधिमात्र तीन-तीन भेद होने से ब्रह्मचर्य के कुछ एक सौ आठ भेद हो सकते हैं। इन भेदों को भी यदि स्मरण कीर्त्तन केलि प्रेक्षण गुह्यभाषण संकल्प अध्यवसाय और क्रियानिष्पत्ति मैथुन के आठ भेदों से गुणित कर दें तो अब्रह्मचर्य के कुल आठ सौ चौंसठ भेद हो सकते हैं। यद्यपि इन भेदों का संकेत मात्र वितर्कों के भेदों की ओर निर्देश करते हुए[1] तथा वितर्कों में ब्रह्मचर्य का परिगणन करते हुए[2] पतंजलि व्यास आदि आचार्यों ने किया है, किन्तु परिगणन की प्रायः सभी ने उपेक्षा की है।

ब्रह्मचर्य-व्रत का फल—

पतंजलि के अनुसार ब्रह्मचर्य महाव्रत के धारण करने से वीर्य लाभ अर्थात् शक्ति लाभ होता है।[3] यहाँ वीर्यलाभ पद के तात्पर्य को स्पष्ट करते हुए भोज का कहना है कि साधक को सामर्थ्य लाभ होता है, ब्रह्मचर्य के प्रकर्षवश उसके शरीर इन्द्रिय और मन में प्रकर्ष अर्थात् विशेष शक्ति प्राप्त हो जाती है।[4] भाष्यकार व्यास और योगकारिकाकार हरिहरानन्दारण्य ब्रह्मचर्य के फलस्वरूप साधक में अन्य गुणों के उत्कर्ष के साथ ही शिष्यों में ज्ञान आधान की अमोघ शक्ति तथा विविध ऊहअध्ययनादि सिद्धियों की प्राप्ति को भी स्वीकार करते हैं।[5]

भारतीय संस्कृति और जीवन दर्शन में आदि काल से ही ब्रह्मचर्य पर अत्यधिक बल दिया गया है। वेदों से लेकर उत्तरकालीन स्मृति साहित्य तक सर्वत्र ही ब्रह्मचर्य की महिमा का मुक्त कण्ठ से गायन हुआ है। अथर्ववेद में कहा गया है कि ब्रह्मचर्य के बल से ही राजा राष्ट्र की रक्षा करने में समर्थ होता है। आचार्य-भी ब्रह्मचर्य से ही ब्रह्मचारी को वेदादि समस्त विद्याओं का उपदेश देने के लिए कामना करता है।[1] ब्रह्मचर्य के बल पर ही कन्या युवा

---

१. योगसूत्र २—३४।
२. योगभाष्य २—३३ पृ० २५५।
३. योगसूत्र २—३८।
४. भोजवृत्ति २—३८—पृ० ६६।
५. (क) योगभाष्य पृ० २६१, २—३८।
(ख) योगकारिका २—७६।
(ग) भास्वती २। ६८।

पति को प्राप्त करती है।[२] वहीं यह भी कहा गया है कि ब्रह्मचर्य व्रत पालन करने के परिणाम स्वरूप पृथिवी पर वह ब्रह्मचारी अत्यधिक प्रतिष्ठा प्राप्त करता है।[३] छान्दोग्य उपनिषद् में ब्रह्मचर्यव्रत को प्रातः सवन माध्यन्दिन सवन और तृतीय सवन के समानान्तर स्वीकार करते हुए उसको वसु रुद्र आदित्य को भी वश में करने तथा प्राणों पर विजय प्राप्त करने का साधन स्वीकार किया गया है।[४] बौद्धों के प्रधान धर्मग्रन्थ सुत्त पिटक में भी ब्रह्मचर्य की अतिशय महिमा को स्वीकार करते हुए अब्रह्मचर्य के त्याग करने का निर्देश अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में किया गया है।[५] मनुस्मृति में ब्रह्मचर्य व्रत को न केवल उत्तमपद अपितु मोक्ष का भी दाता स्वीकार किया गया है।[६]

इस प्रकार हम देखते हैं कि यमों में चतुर्थ महाव्रत ब्रह्मचर्य सामान्य गृहस्थ आदि के लिए भी अत्यन्त आवश्यक स्वीकार किया गया है। इसीलिए योगसूत्रकार पतंजलि ने योगी के लिए अपेक्षित प्रथम आधारभूत कर्त्तव्यों (यमों) में ब्रह्मचर्य को अन्यतम स्वीकार किया है।

अपरिग्रह–

यमों में पंचम एवं अन्तिम यम अपरिग्रह है। अपरिग्रह का अर्थ है : भोग के साधनों का ग्रहण न करना।[७] भाष्यकार व्यास के अनुसार विषयों के अर्जन रक्षण और क्षय में सङ्गदोष हिंसादोष आदि दोषों को दर्शन करते हुए उन्हें स्वीकार न करना अपरिग्रह कहा जाता है।[८] संग दोष दर्शन का अर्थ है : विषयोपभोग साधनों की उपलब्धि होने पर विषय कामना में निरन्तर वृद्धि ही होती है, इस यथार्थ का साक्षात्कार।[९] मनुस्मृति में इसी सङ्ग दोष को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि 'कामनाओं की शान्ति भोग से नहीं हुआ करती, भोग से तो वे (कामनाएँ) वैसे ही प्रदीप्त हो उठती हैं, जैसे घृत से अग्नि।[१०]

इसी प्रकार विविध प्राणियों को कष्ट पहुँचाए बिना भोगों को प्राप्त नहीं किया जा सकता, इसलिए प्रायः समस्त भोग हिंसा दोष से ग्रस्त है; इस प्रकार की भावना से भोग साधनों में दोष का दर्शन करने पर उनके अङ्गीकार का त्याग किया जा सकता है। इस प्रकार भोग साधनों में सङ्ग हिंसा आदि असंख्य

---

१. अथर्वेद का० ११ सू० मं० १७।
२. वही ११–५–१८।
३. वही ११–५–२६
४. छान्दोग्योपनिषद् ३। १६; १–६।
५. सुत्तपिटक खुद्दक निकाय खुद्दकपाठ सिक्खा ४।
६. मनु २–२४६।
७. भोजवृत्ति २–३० पृ० ६२।
८. योगभाष्य २.३०
६. तत्त्ववैशारदी पृ० २५०
१०. मनुस्मृति २–६४।

दोषों को देखकर उनके अस्वीकार (त्याग) को अपरिग्रह कहा जाता है। यद्यपि शरीर यात्रा के लिए अपेक्षित अत्यन्त अनिवार्य भोजनाच्छादन आदि साधनों को भी कदाचित् भोग साधन कहा जा सकता है; किन्तु शरीरयात्रा की दृष्टि से अनिवार्य साधनों के स्वीकरण को परिग्रह न कहकर अपरिग्रह ही माना जाता है।[1] भोज के अनुसार न केवल भोग साधनों (विषय) का स्वीकरण ही परिग्रह है, अपितु शरीर का परिग्रह भी परिग्रह है; क्योंकि शरीर भी तो भोग का साधन है। शरीर के रहने पर ही रागानुबन्धि बहिर्मुखी प्रवृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं और तत्त्वज्ञान नहीं हो पाता, तथा शरीर के प्रति अपरिग्रह भाव उदित होने पर साधक में रागादि का उदय नहीं होता, फलतः उसे तत्त्वज्ञान हो जाता है।[2]

हिंसा आदि के समान परिग्रह भी स्वयंकृत कारित और अनुमोदित भेद से सर्वप्रथम तीन प्रकार का है, तीनों परिग्रहों के लोभ क्रोध मोहपूर्वक होने से तथा लोभादि के मृदु मध्य और तीव्र (अधिमात्र) होने से वह परिग्रह सत्ताइस प्रकार का हो सकता है। तथा इनमें भी पुनः मृदु मध्य और अधिमात्र भेद से विभाजन करने पर इक्यासी प्रकार का परिग्रह हो सकता है, एवं प्रत्येक का अस्वीकरण (त्याग) होने से इक्यासी प्रकार का अपरिग्रह हो सकता है।

अपरिग्रह-महाव्रत का फल–

पातंजलि के अनुसार अपरिग्रह की साधना सफल होने पर साधक योगी को जन्म के कारणों तथा पूर्व जन्म के विवरण आदि का ज्ञान हो जाता है। वह जान लेता है कि वह पूर्व जन्म में कौन था ? कैसा था ? क्यों वैसा था ? यह जन्म किस कारण हुआ है, तथा भविष्य में किस कारण क्या बनूँगा इत्यादि।[3] जिज्ञासामात्र होते ही जन्मान्तर के कर्मों का एवं उसके विवरण का ज्ञान हो जाता है।[4] जिसके फलस्वरूप वह सर्वविध कर्मों और उनके फलों की मीमांसा कर उनसे विरत होने के लिए अपनी साधना में पूर्ण मनोयोग से प्रवृत्त होता है, और अन्ततः योग समाधि का अधिकारी बनकर कैवल्य को प्राप्त करता है। जैसी कि इस प्रकरण के आरम्भ में ही चर्चा की जा चुकी है कि ये यम (व्रत) जाति देश काल आदि की परिधि से मुक्त सार्वजनिक सार्वदेशिक सार्वकालिक महाव्रत है। इनके अनुष्ठान से प्रत्येक मानव को अपने क्षेत्र में सफलता प्राप्त करने की योग्यता प्राप्त होती है, जिसके द्वारा वह अपने जीवन

---

१. (क) मणिप्रभा पृ० ६२। (ख) योगसुधाकर पृ० ६२।
२. भोजवृत्ति २–३६ पृ० १००।
३. योगभाष्य २–३६ पृ० २६१–२६२।
४. भोजवृत्ति २–३६ पृ० १००।

की साधना एवं मनोकामना को सबल बनाता है। इसीलिए इसे मनु आदि के धर्मशास्त्रों में अनिवार्य कर्त्तव्यों के रूप में स्वीकार किया गया है।[1]

नियम–

जैसा कि इस परिच्छेद के प्रारम्भ में ही चर्चा की जा चुकी है, पतंजलि के अनुसार नियम भी पाँच है :– शौच सन्तोष तपस् स्वाध्याय और ईश्वरप्राणिधान। ये नियम ही साधक को योग समाधि की क्रमिक योग्यता प्रदान करते है। इनमें से उत्तर तीन अर्थात् तप स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान की साधना को क्रियायोग भी कहा जाता है।[2]

शौच–

शौच का अर्थ है शुद्धि। यह दो प्रकार का हैं बाह्य और आभ्यन्तर। मिट्टी जल आदि के द्वारा शरीर को बाहर से प्रक्षालन कर शुद्ध रखना तथा मेध्य आहार आदि द्वारा शरीर के कण कण को अशुद्धि से परे रखना बाह्य शौच कहा जाता है। मैत्री करुणा मुदिता और उपेक्षावृत्तियों द्वारा चित्त को निर्मल रखना आभ्यन्तर शौच कहा जाता है।[3] शौच की व्याख्या के सन्दर्भ में भाष्यकार व्यास द्वारा प्रयुक्त मेध्याभ्यवहरण शब्द का अर्थ करते हुए हरिहरानन्दारण्य ने पर्युषित पूति अर्थात् वासी और सड़े हुए वर्जित पदार्थों से भिन्न पदार्थों का आहार करना स्वीकार किया है।[4] जब कि विज्ञान भिक्षु मेध्य का अर्थ गोमूत्र और यवागू आदि का आहार स्वीकार करते हैं।[5] भगवद्‌गीता में वासी परिवर्तित रस वाले पूति और पर्यूषित अर्थात् सड़े हुए और विकृत तथा उच्छिष्ट भोजन को तामसी भोजन स्वीकार किया है,[6] जो निस्सन्देह अशौच उत्पन्न करने वाला है; अतः उसंका त्याग योगी के लिए अनिवार्यतः आवश्यक होना ही चाहिए। बाह्य शौच के सन्दर्भ में ही मेध्याभ्यवहरण के साथ आदि पद के प्रयोग से विज्ञान भिक्षु के अनुसार उपवास आदि का ग्रहण होना चाहिए।[7] जब कि हरिहरानन्दारण्य के अनुसार आदि पद के प्रयोग का प्रयोजन है अमेध्य वस्तुओं अथवा जनों के संसर्ग का पूर्णतया परित्याग की ओर संकेत करना।[8] भावगणेश और नागोजि आदि के अनुसार शौच सर्वप्रथम शरीर और मानस भेद से दो प्रकार का है। शारीरिक शौच बाह्य और आभ्यन्तर भेद से दो प्रकार

---

१. मनु २–२०४।
२. योगसूत्र २–१।
३. (क) भोजवृत्ति ६४। (ख) योगभाष्य २–३२ पृ० २५२।
४. भास्वती पृ० २५२।
५. योगवार्त्तिक पृ० २५२।
६. गीता १७–१०।
७. योगवार्त्तिक पृ० २५२।
८. भास्वती पृ० २५२।

का है: बाह्य शारीरिक शौच मिट्टी जल आदि द्वारा सम्पन्न किया जाता है। वर्तमान में वह साबुन और जल आदि द्वारा किया जा सकता है, तथा आभ्यन्तर शारीरिक शौच पंचगव्य आदि के द्वारा सम्पन्न होता है। उनके अनुसार राग द्वेष आदि मलों की निवृत्ति करना मानसिक शौच कहा जाता है।[1] धर्मशास्त्र और कर्मकाण्ड के ग्रन्थों में परिवार अथवा निकट सम्बन्धियों के यहाँ जन्म और मृत्यु होने पर भी अशौच की व्यवस्था दी गयी है, तथा शौच के लिए मार्ग निर्देश अथवा कालावधि का निर्देश किया गया है। किन्तु वह शौच अथवा अशौच योग के मार्ग में साधक अथवा बाधक नहीं होता, अतः योगाङ्गों में उस शौच का ग्रहण नहीं किया जाता।

शौच की साधना में संलग्न साधक निज शरीर के कारण आदि की पर्यालोचना कर उसके प्रति घृणायुक्त हो जाता है। फलतः अपने शरीर के प्रति भी उसका आग्रह भाव समाप्त हो जाता है; तथा शरीर के प्रति अशुचि भावना के परिणाम स्वरूप ही वह सभी शरीरधारियो के प्रति संसर्ग की भावना का परित्याग कर देता है।[2] फलतः स्त्री पुत्रादि के प्रति उसके हृदय में अनुराग का लेश भी नहीं रह जाता और वह क्रमशः दृढ़ वैराग्य भाव से सम्पन्न होकर समाधि के मार्ग पर अग्रसर होता रहता है। शौच साधना के परिणामस्वरूप साधक की सत्त्वभावना सबल होती है, उसे सौमनस्य का लाभ होता है, जिसके फलस्वरूप उसे एकाग्रता और इन्द्रियों पर विजय की प्राप्ति होती है; जो कि उसे आत्मदर्शन के योग्य अर्थात् समाधि के अत्यन्त निकट पहुँचा देती हैं।[3]

संन्तोष–

संन्तोष का अर्थ है तुष्टि, अर्थात् उपलब्ध उपकरणों से अधिक की प्राप्ति की कामना न करना।[4] उपलब्ध से ही तुष्टि होने पर अन्य वस्तु की ओर तृष्णा स्वतः समाप्त हो जाती है।

संन्तोष चित्त की एकाग्रता का अन्यतम साधन है, सन्तुष्ट होने पर जब अन्य किसी विषय की कामना साधक के मन मे जागृत ही न होगी, तो उसके चित्त में चंचलता की संभावना हो ही कैसे सकती है? इसीलिए यजुर्वेद के अन्तिम (४० वें) अध्याय एवं ईशोपनिषद् के प्रथम मन्त्र में 'तेन त्यक्तेन भुंजीयाः मा गृधः कस्यस्विद् धनम्'[1] का उपदेश देते हुए सन्तोष का ही उपदेश दिया

---

१. (क) भावगणेशवृत्तिः २.३२ (ख) नागोजिवृत्ति पृ० ६४।
२. (क) योगसूत्र २.४०। (ख) योगभाष्य २.४० पृ० २६२।
३. योगसूत्र २.४१।
४. (क) भोजवृत्ति पृ० ६४। (ख) योगभाष्य पृ० २५२।

गया है। मनुस्मृति में सन्तोष को ही सब सुखों का मूल स्वीकार करते हुए परम सन्तोष के धारण का निर्देश दिया गया है।[२] नीतिशास्त्र में भी सन्तोष के द्वारा समस्त सम्पत्तियों की प्राप्ति होती है, ऐसा स्वीकार किया गया है।[३] सन्तोष व्रत के इस सर्वस्वीकृत तथ्य को सूत्रकार पतंजलि ने भी स्वीकार करते हुए कहा है कि 'सन्तोष से अनुत्तम अर्थात् अत्यन्त उत्कृष्ट सुख की प्राप्ति होती है,[४] जिस सुख की समता संसार का कोई भी बाह्य सुख नहीं कर सकता।[५] भाष्यकार व्यास ने अनुत्तम सुखको स्पष्ट करने के लिए एक पद्य उद्धृत किया है–

यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम्।
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम्।।[६]

अर्थात् कामनाओं की पूर्ति में जो सुख की अनुभूति होती है, तथा जो महान् दिव्य सुख कहा जाता है, ये दोनों ही सुख मिलकर भी तृष्णा क्षय अर्थात् सन्तोष से प्राप्त होने वाले सुख की सोलहवीं कला की भी बराबरी नहीं कर सकते।

वाचस्पतिमिश्र सन्तोष से उत्पन्न सुख की महिमा की चर्चा विष्णु पुराण के निम्नलिखित पद्य को उद्धृत करते हुए करते हैं–

या दुस्त्यजा दुर्मतिभिः या न जीर्यति जीर्यताम्।
तां तृष्णां सन्त्यजन्प्राज्ञः सुखेनैवाभिपूर्यते।।[७]

अर्थात् दुर्मतिजनों द्वारा दुस्त्याज्य वृद्धावस्था में भी जीर्ण न होने वाली तृष्णा का त्याग करता हुआ प्राज्ञ यति सर्वविध सुखों से परिपूर्ण हो जाता है। इस अलौकिक तृप्ति से परिपूर्ण साधक को समस्त संसार में कुछ भी प्राप्तव्य नहीं रहता और वह स्वयं को सर्वविध विषयों से हटाकर योग की ओर प्रवृत्त होता हुआ समाधिसिद्धि को प्राप्त करता है।

तप–

तप का नियमों में तृतीय स्थान है। इसे क्रियायोग का भी अन्यतम (प्रथम) अंग स्वीकार किया जाता है। इसके (क्रियायोग के) शेष अन्य दोनों अंगों

---

१. यजु० ४०.१ ईशावास्योपनिषद् १
२. मनुस्मृति ४–१२।
३. पंचतन्त्र भास्वती में उद्धृत पृ० २५३।
४. योग सूत्र २–४२।
५. भोजवृत्ति पृ० १०२।
६. योगभाष्य पृ० २६४, मोक्षधर्मस्मृति २७६–६।
७. विष्णुपुराण ४.१०–१२।

स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान के साथ इसकी साधना से व्युत्थितचित्त साधक भी योगयुक्त हो जाता है।[१] भाष्यकार व्यास के अनुसार अनादिकर्मों के फलस्वरूप प्राप्त क्लेश वासना से वासित चित्त वाले जनों को विषयजालरूपी अशुद्धि तब तक नहीं छोड़ती, जब तब कि साधक तपश्चरण नहीं करता।[२] इसलिए क्रियायोग में तथा नियमों में तप का उपादान किया जाता है।

तप की परिभाषा के सन्दर्भ में सूत्रकार प्रायः मौन है। व्यास के अनुसार चित्त को निर्मल करने वाले साधनों का निरन्तर आसेवन तप कहा जा सकता है।[३] चित्त प्रसादन के उपाय के रूप में सूत्रकार पतंजलि ने सुखीजनों के साथ मैत्री, दुःखीजनों के साथ करुणा, पुण्यात्माओं के साथ मुदितावृत्ति एवं अपुण्यात्माओं के साथ उपेक्षावृत्ति के उपादान का निर्देश किया है।[४] अतः मैत्री करुणा मुदिता और उपेक्षावृत्ति के व्यवहार को तप कहा जा सकता है। इसके अतिरिक्त भाष्यकार चान्द्रायण आदि व्रतों को भी तप के अन्तर्गत स्वीकार करते हैं।[५] योगभाष्य के व्याख्याकार हरिहरानन्दारण्य के अनुसार आसन प्राणायाम, उपोषण आदि द्वारा क्लेशसहन सुख का त्याग एवं काम संयम को तप कहा जाना चाहिए।[६] राघवानन्द सरस्वती के अनुसार तप का अर्थ युक्त आहार आदि है, कृच्छ्रचान्द्रायण आदि व्रत नहीं, क्योंकि चान्द्रायण आदि द्वारा शरीर में धातु वैषम्य उत्पन्न होता है।[७] धातुवैषम्य के फलस्वरूप निस्सन्देह साधना में बाधा उपस्थित होगी, अतः उसे (चान्द्रायणादि कृच्छ्र व्रतों को) तप नहीं कहना चाहिए। जब कि विज्ञानभिक्षु इसके सर्वथा विपरीत शरीरेन्द्रिय शोषणात्मक व्यापार को ही तप स्वीकार करते है।[८] भोज ने भी शास्त्रान्तर में उपदिष्ट चान्द्रायण आदि व्रतों को ही तप स्वीकार किया है।[९] रामानन्द यति के अनुसार ब्रह्मचर्य गुरुसेवा सत्यभाषण कौष्ठमौन आकारमौन स्वाश्रमधर्मपालन क्षुधा-पिपासा शीत-आतप आदि द्वन्द्वों का सहना तथा अल्पाहार आदि तप कहा जाता है, शरीर शोषण नहीं। सदाशिवेन्द्र सरस्वती हित मित और मेध्य आहार को व्रत स्वीकार करते हैं।[१०]

जैसा कि पूर्व पृष्ठ में कहा गया है कि तप की परिभाषा के सम्बन्ध में

---

१. (क) योगसूत्र २–१। (ख) योगभाष्य पृ० १३७।
२. योगभाष्य २–१ पृ० १३८–१३६।
३. योगभाष्य पृ० १३६।
४. योगसूत्र १–३३।
५. योगभाष्य पृ० २५३।
६. भास्वती पृ० १३८।
७. पातंजलरहस्यम्। पृ० १३८।
८. योगवार्तिक पृ० १३८।
९. भोजवृत्ति २–१। पृ० ६०।
१०. मणिप्रभा–पृ० ६१ (२–१)

भाष्यकार और वृत्तिकारों में परस्पर पर्याप्त मतभेद है। इनमें व्यास का पक्ष जिसमें 'चित्त के प्रसादन के उपायों के अवलम्बन का निर्देश करते हुए मैत्री आदि की ओर संकेत है' न तो योगांगों में से किसी अन्य योगांग में समाहित है और न ही विवादास्पद है। शेष पक्ष या तो विवाद का विषय बन रहे हैं, अथवा इतर योगांगो में समाहित दिखाई देते हैं। उदाहरणार्थ भोज के मत में व्यास स्वीकृत चान्द्रायण आदि व्रतों तथा शास्त्रान्तर में उपदिष्ट चान्द्रायण आदि व्रतों को तप माना गया है। विज्ञानभिक्षु भी शरीरेन्द्रिय संशोषणात्मक व्यापार को ही तप कहना चाहते हैं। जब कि पातंजलरहस्यकार राघवानन्द सरस्वती मणिप्रभा के लेखक रामानन्द सरस्वती कायसंशोषण करने वाले चान्द्रायण आदि व्रतों को तप स्वीकार करने के स्थान पर इन्हें तप का विरोधी मानते हैं। क्योंकि इनका विचार है कि काय संशोषण होने पर चित्त की एकाग्रता संभव ही नहीं हैं। भास्वतीकार हरिहरानन्दारण्य स्वीकृत उपोषण तथा क्लेश सहन भी इसी कोटि में आते हैं, तथा इनके द्वारा स्वीकृत आसन प्राणायाम आदि स्वतन्त्र योगांग हैं, अतः तप के अन्दर उनका परिगणन करते हुए योग के प्रथम सोपान में उन्हें लेना पतंजलि को अभीष्ट है, यह कहना अत्यन्त कठिन होगा। यही स्थिति रामानन्द यति निर्दिष्ट ब्रह्मचर्य सत्यभाषण आदि की है, जिनका यमों में परिगणन किया जा चुका है, उनका ही नियमों में संकेत द्वारा परिगणन करना पिष्टपेषण होगा। जहाँ तक रामानन्दयति द्वारा काय संशोषण का निषेध करते हुए ही क्षुधा पिपासा आदि द्वन्द्वों के सहन का प्रश्न है, वह स्वयं वदतो व्याघात प्रतीत होता है। क्योंकि कहां तक द्वन्द्व सहिष्णुता की सीमा है, और कहां से कायसंशोषण प्रारम्भ हो जाता है, यह सदा ही अनिर्णीत रहेगा। जहाँ एक साधक को द्वन्द्व सहिष्णुता के दर्शन होगे, वहीं दूसरे को कायसंशोषण का अनुभव होगा, अतः ऐसे अनिश्चित आचरण को तपश्चरण मानकर निर्देश करना आदर्श पद्धति नहीं होगी।

उपनिषदों में 'एषोऽग्निस्तपति, एषः सूर्यः'[१] 'परो रजा य एष तपति'[२] 'भयादस्याग्निस्तपति'[३] इत्यादि स्थलों में सूर्य चन्द्र अग्नि के साथ जिस तपन क्रिया का प्रयोग निर्दिष्ट है, यदि उसे साधक की साधना में देखना चाहें तो चित्त की निर्मलता द्वारा संशय विपर्यय रहित निर्बाध ज्ञान ही स्वीकार किया जा सकता है। क्योंकि सूर्य तपता है, यह प्रतीति तभी होती है, जब सूर्य का प्रकाश मेघ अथवा अवश्याय कणों के जाल से अबाधित होता हुआ अनुभवकर्त्ता तक पहुँचता है। इसी प्रकार तत्त्व-संशय विपर्यय आदि किसी भी विरोधी से

---

१. प्रश्नोपनिषद् २–५।
२. बृहदारण्यक ५–१४, ३।
३. कठोपनिषद् २–३, ३।

अबाधित ज्ञान की प्रकाशमानता को तप कहा जा सकता है। मुण्डक उपनिषद् में 'यस्य ज्ञानमयं तपः'[१] आदि वाक्यों द्वारा निर्बाध ज्ञान को तप स्वीकार भी किया गया है। गीता में भी ज्ञानार्जन को सभी कर्मों को भस्म करने वाला बताया गया है।[२] जिसके आदर्श पर योग में भी यदि ज्ञान के अवभासन को अथवा साधना के पक्ष में ज्ञानावभासन के मार्ग को तप कहा जाए तो अनुचित न होगा। इस दृष्टि से परीक्षा करने पर केवल भाष्यकार व्यास द्वारा संकेतित चित्तप्रसादन के उपायों को ही तप कोटि में रखना उचित होगा। चान्द्रायण आदि व्रतों को नहीं।

इस प्रसंग में स्वाभाविक रूप से एक प्रश्न यह उपस्थित हो सकता है कि चान्द्रायण आदि व्रतों को तप की कोटि में रखे जाने का क्या कारण हो सकता है। इस संदर्भ में मेरा अनुमान है कि एतदर्थ प्रेरणा उन्हें तप के फल प्रतिपादक सूत्र 'कायेन्द्रियशुद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः'[३] से मिली होगी। इस सूत्र में स्वीकार किया गया है कि तप द्वारा शरीर अथवा इन्द्रियों की शुद्धि हुआ करती है। साथ ही मनु आदि निर्मित धर्म शास्त्रों में अमुक पाप करने पर अमुक व्रत करें अमुक अमुक महापातकों की निवृत्ति चान्द्रायण आदि व्रतों के द्वारा होती है'[४] इत्यादि व्यवस्था दी गयी है। चान्द्रायण व्रत को समस्त प्रायश्चित व्रतों में उत्कृष्टतम एवं समस्त पातकों को विलीन कर शुद्धि देने वाला बताया गया है,[५] जिसके आधार पर भोज आदि व्याख्याकारों को अशुद्धि निर्मूल करने वाले तप के समानान्तर प्रचलित चान्द्रायण आदि के ही दर्शन हुए होंगे।

चान्द्रायण आदि व्रत परिस्थिति विशेष में किये गये परपीड़न आदि के निवारण के लिए स्वयं स्वीकार किया गया दण्डमात्र है, यह व्रत उसी प्रकार का है, जैसा कि राजाज्ञा द्वारा निर्धारित दण्ड। इनके आचरण के अनन्तर कृत कर्म का स्वतः भोग कर लेने के कारण भोग के लिए दुष्कर्म शेष न रह जाए, यह तो सम्भव है, किन्तु पूर्ण निवृत्ति नहीं। भविष्य में होने वाले पापों से निवृत्ति का तो एक ही उपाय है कि पाप के जो मूल कारण जो चित्त में विद्यमान हैं, उन्हें दूर किया जाए। उन पापों का मूल कारण है, चित्तगत मल तृष्णा राग द्वेष आदि। इनकी निवृत्ति का एक ही उपाय है—चित्त का प्रसादन अर्थात् चित्त की निर्मलता के उपायों का अवलम्बन।

---

१. मुंडकोपनिषद् १–१६।
२. गीता ४.३७।
३. योगसूत्र २–४३।
४. मनुस्मृति अध्याय ग्यारह सम्पूर्ण।
५. मनुस्मृति ११–१०६, १६३, २१७, २१८, २१६।

श्रीमद्भगवद्गीता के अनुसार तप शरीर वाणी और मन के आधार पर तीन प्रकार का होता है। देवताओं ब्राह्मणों गुरुजनों एवं विद्वज्जनों का पूजन आदर-सत्कार त्रिविध शुद्धि कोमलता ब्रह्मचर्य और अहिंसा का पालन इसे शारीरिक तप कहा जाता है।[1] किसी को भी कष्ट न देने वाले सत्य प्रिय और हितकर वाणी का प्रयोग और स्वाध्याय यह वाणी का तप है।[2] मन की निर्मलता और शान्ति, सौम्यभाव मौन आत्मसंयम तथा भावसंशुद्धि यह मानसिक तप कहा जाता है।[3] ये तीनों ही प्रकार के तप सात्त्विक राजस और तामस भेद से तीन प्रकार के हैं। फल की कामना के बिना परम श्रद्धापूर्वक किया गया तप सात्त्विक कहा जाता है।[4] आदर सत्कार प्राप्त करने की भावना से दम्भपूर्वक किया गया तप राजस[5] तथा दुराग्रह पूर्वक किसी को पीड़ा देने की भावना से अथवा किसी का विनाश करने की भावना से किया हुआ तप तामस कहा जाता है।[6] पूर्व निर्दिष्ट शारीरिक वाचिक और मानसिक तीनों ही प्रकार के तप सात्त्विक राजस और तामस भेद से तीन-तीन प्रकार के हो सकते हैं। इस प्रकार गीता के अनुसार तप के नौ भेद हो सकते हैं।

स्वाध्याय—

योग भाष्यकार व्यास के अनुसार प्रणव जाप तथा मोक्षविषयक शास्त्रों का अध्ययन स्वाध्याय कहा जाता है।[7] भोज प्रणव के स्थान पर प्रणवपूर्वक मन्त्रों के जाप को भी स्वाध्याय मानते हैं।[8] सदाशिवेन्द्र सरस्वती कृत योगसुधाकर के अनुसार गायत्री आदि मन्त्रों का जप स्वाध्याय कहाता है। उनके अनुसार मन्त्र दो प्रकार के हैं : वैदिक और तान्त्रिक। वैदिक मन्त्र भी प्रगीत और अप्रगीत भेद से दो प्रकार के हैं; तथा तान्त्रिक मन्त्र स्त्री पुरुष और नपुसंक भेद से तीन प्रकार के हैं इत्यादि[9]। इनके अनुसार इन सभी का जप स्वाध्याय कहा जाता है।

पतंजलि के अनुसार स्वाध्याय के फलस्वरूप इष्ट देवता का दर्शन प्राप्त होता है।[10]

---

१. गीता १७—१४।
२. वही १७—१५।
३. गीता १७—१६।
४. गीता १७—१७।
५. गीता १७—१८।
६. वही १७—१९।
७. (क) योगभाष्य २.१
(ख) योगभाष्य २—३२
८. भोजवृत्ति २—१ पृ० ६०।
९. योगसुधाकर २—३२ पृ० ६५।
१०. योगसूत्र २—४४।

ईश्वर प्रणिधान–

नियम अर्थात् अष्टांग योग के द्वितीय प्रकरण में ईश्वर प्रणिधान अन्तिम है। 'ईश्वरे प्रकर्षेण निधानं सर्वकर्मणाम्' इस व्युत्पत्ति के अनुसार ईश्वर प्राणिधान का अर्थ है परमगुरु परमेश्वर को अपनी समस्त क्रियाएँ अर्पित कर देना।[१] श्रीमद्भगवद्गीता में भी समस्त शुभाशुभ कर्म बन्धनों से मुक्त होने के लिए समस्त आहार विहार तप आदि ईश्वर को अर्पित करने का उपदेश दिया गया है[२]। कूर्म पुराण में भी इसी प्रकार सर्वविध दान पुण्य आदि कर्मों का कर्त्ता ब्रह्म ही है, मैं नहीं, इस प्रकार की भावना से भावित चित्त होने को तथा समस्त कर्मफलों को ब्रह्म को अर्पित करना अर्थात् कर्त्तृत्व अभिमान छोड़कर फल की कामना का त्याग करते हुए ब्रह्म में ही कर्त्तृत्व का आरोप करने को ब्रह्मार्पण कहा गया है।[३] श्रीमद्भागवत में इसी प्रकार समस्त कर्मों को ईश्वर को अर्पित कर देने का निर्देश दिया गया है।[४] इस प्रकार कामनाओं अथवा बिना कामनाओं के भी किये गये समस्त कर्मों को यह मान कर करना कि यह सब ईश्वर की प्रेरणा से हो रहा है, मैं कर्त्ता नहीं हूँ, ईश्वर प्रणिधान है। दूसरे शब्दों में कर्त्तृत्वाभिमान का सर्वथा त्याग करना ही ईश्वर प्रणिधान है, यह कहा जा सकता है। इस प्रकार ईश्वरार्पणरूप ईश्वर प्रणिधान करने से साधक में कर्त्तृत्वाभिमान समाप्त हो जाता है, न कर्म करने के प्रति लगाव होता है, न फल के प्रति लगाव होता है, न फल के प्रति औत्सुक्य, और न ही दम्भ आदि होता है; फलतः उसका चित्त क्रमशः एकाग्र हो जाता है और उसे समाधि की सिद्धि हो जाती है।[५]

इस प्रकार हम देखते हैं कि अहिंसा सत्य अस्तेय ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इन यमों का पालन योगी और सामान्य सामाजिक मनुष्य दोनों के लिए आवश्यक है। इनके द्वारा साधक को जो सफलता प्राप्त होती है, उसके फलस्वरूप उसे जीवन के हर क्षेत्र में सफलता पूर्वक आगे बढ़ने के लिए पृष्ठभूमि तैयार होती है, एक प्रशस्त मार्ग बनता है। जब कि शौच सन्तोष तपस् स्वाध्याय और ईश्वरप्राणिधान सामान्य मानव की अपेक्षा योगी के लिए अधिक आवश्यक हैं, इनके पालन से वह क्रमशः शारीरिक मानसिक और आत्मिक उन्नति करता हुआ समाधि तक को प्राप्त कर सकता है। अतः योगी के लिए नियमों का पालन सर्वथा अनिवार्य है। जब कि सामान्य मानव के

---

१. योगभाष्य पृ० २५३।

२. गीता ६।२७–२८।

३. कूर्मपुराण। २–१६, १८।

४. श्रीमद्भागवत ११–२–३६।

५. योग सूत्र २–४५।

लिए नियमों की अपेक्षा यमों का अधिक महत्त्व है। इसीलिए श्रीमद्भागवत में कहा गया है कि मानव को चाहिए कि वह यमों का निरन्तर पालन करे तथा मुझे प्राप्त करने की इच्छा वाला नियमों का भी प्रयत्नपूर्वक पालन करे।[1]

आसन–

'आस्यते उपवेश्यते अनया मुद्रया इत्यासनम्' इस व्युत्पत्ति के अनुसार बैठने के उन विविध प्रकारों का नाम आसन है, जिन से स्थिरता एवं सुख पूर्वक चिरकाल तक बैठा जा सके।[2] बैठने की उन विविध प्रक्रियाओं को तभी तक योग का अंग कहा जाना चाहिए, जब तक कि उनका प्रयोग स्थिरतापूर्वक अर्थात् निष्कम्प सुखपूर्वक बैठने के लिए किया जाए।[3] केवल प्रदर्शन के लिए प्रयोग होने पर योगांग में इन्हें रखना उचित नहीं है। व्यास के अनुसार ये आसनः– पद्मासन वीरासन भद्रासन दण्डासन सोपाश्रय पर्यंक क्रौंच– निषदन हस्तिनिषदन उष्ट्रनिषदन समसंस्थान स्थिरसुख यथासुख इत्यादि अनेक प्रकार के हो सकते हैं।[4] परम्परा के अनुसार चौरासी आसनों की चर्चा की जाती है। आधुनिक साधक एवं योगसूत्र के व्याख्याकार ओमानन्दतीर्थतीर्थ ने अपने योगसूत्र व्याख्यान 'पातंजल योगप्रदीप' में जिन आसनों का परिचय दिया है[2] वे निम्नलिखित हैं–(१) पादाङ्गुष्ठनासाग्रस्पर्शासन (२) पश्चिमोत्तानासन। (३) सम्प्रसारण-भूनमनासन, (४) जानुशिरासन, (५) आकर्णधनुरासन (६) शीर्षपादासन, (७) हृदयस्तम्भासन, (८) उत्तानपादासन। (६) हस्तपादांगुष्ठासन, (१०) स्नायुसंचालनासन, (११) पवनमुक्तासन (१२) ऊर्ध्वसर्वांगासन, (१३) सर्वांगासन, (हलासन) (१४) कर्णपीडासन, (१५) चक्रासन (१६) गर्भासन (१७) शवासन (१८) मस्तकपादांगुष्ठासन, (१६) नाभ्यासन, (२०) मयूरासन, (२१) भुजंगासन, (२२) शलभासन (२३) धनुरासन (२४) मत्स्येन्द्रासन, (२५) वृश्चिकासन (२६) उष्ट्रासन, (२७) सुप्तवज्रासन (२८) कन्दपीडासन (२६) पर्वतासन (३०) गोरक्षासन (३१) सिंहासन (३२) बकासन (३३) लोलासन (३४) ऊर्ध्वपद्मासन (३५) उत्थित पद्मासन (३६) कुक्कुटासन, (३७) गर्भासन, (३८) कूटासन (३६) मत्स्यासन (४०) गोलांगूलासन (४१) त्रिबन्धासन (४२) एकपादांगुष्ठासन (४३) ताड़ासन (४४) गरुड़ासन (४५) द्विपादमध्यशीर्षासन (४६) पादहस्तासन (४७) हस्तपादांगुष्ठासन, तथा (४८) कोणासन।

पातंजल योगप्रदीप में ही उपर्युक्त आसनों में से उत्तानपादासन के नव भेद बताए गये हैं।[5] (१) द्विपादचक्रासन (२) उत्थितद्विपादचक्रासन (३) उत्थित

---

१. श्रीमद्भागवत ११.१०.५।
२. योगसूत्र २–४६।
३. भोजवृत्ति २.४६।
४. व्यासभाष्य पृ० २६६–२६७।
५. पातंजल योग प्रदीप पृ० ३१२ ३१३।

एकैक पादासन (४) उत्थितहस्तमेरुदण्डासन (५) शीर्षबलहस्तमेरुदण्डासन (६) जानुस्पृष्टभालमेरुदण्डासन (७) उत्थितहस्तपादमेरुदण्डासन (८) उत्थितपादमेरुदण्डासन, तथा (६) भालस्पृष्टद्विजानुमेरुदण्डासन। इसके अतिरिक्त उनके अनुसार भुजंगासन भी तीन प्रकार का स्वीकार किया जाता है–(१) उत्थितैकपादभुजंगासन (२) भुजंगासन तथा (३) सरलहस्तभुजंगासन। इस प्रकार उत्तानपादासन के नौ तथा भुजंगासन के तीन प्रकारों को स्वतन्त्र मानकर उक्त संख्या में जोड़ देने से कुल संख्या अट्ठावन हो सकती हैं।

योगांग की दृष्टि से आसनों की इस संख्या का कोई महत्त्व नहीं है, स्थिरता एवं सुखपूर्वक निश्चिल होकर स्थिर होने के इनके अतिरिक्त भी कई प्रकार हो सकते हैं, उनमें से किसी एक अथवा अनेक की सिद्धि ही साधक को अपने मार्ग पर बढ़ाने में पर्याप्त हो सकती है।

पतंजलि के अनुसार आसनों की सिद्धि के दो प्रमुख उपाय हैं–प्रयत्नशैथिल्य और अनन्तसमापत्ति।[1] प्रयत्न दो प्रकार का हो सकता है : सांसिद्धिक प्रयत्न और शास्त्रीय प्रयत्न। शरीरधारकप्रयत्न सांसिद्धिक प्रयत्न कहा जाता है, वह योगांग आसन का कारण नहीं है, उसके ही शैथिल्य का निर्देश यहाँ किया गया है। क्योंकि यदि शरीरधारकप्रयत्न सांसिद्धिक प्रयत्न ही आसन का साधक हो तो आसन के उपदेश की भी अपेक्षा नहीं रहेगी। क्योंकि जिस प्रकार शरीर का स्वाभाविक धारण चला करता है, उसी प्रकार आसनों का क्रम भी स्वतः चलता रहेगा, उसके लिए उपदेश और साधना की क्या आवश्यकता है? अतः उपदेष्टव्य आसन का साधक प्रयत्न सांसिद्धिक प्रयत्न से भिन्न प्रयत्न है; तथा सांसिद्धिक प्रयत्न आसनों का विरोधी है, यह मानना होगा। सांसिद्धिक प्रयत्न यदृच्छया आसन (बैठने) का हेतु है, अतः इस प्रकार के प्रयत्न (सांसिद्धिक) के सबल रहने पर यदृच्छया बैठने की ही प्रवृत्ति होगी, शास्त्र निर्दिष्ट आसनों की साधना भी न ही सकेगी; अतएव आसन सिद्धि के लिए इस सांसिद्धिक प्रयत्न को शिथिल करना आवश्यक है।[2]

आसन सिद्धि का द्वितीय उपाय है अनन्त समापत्ति। अनन्त समापत्ति का अर्थ है : अनन्त अर्थात् परमहत् आकाशादि विभु पदार्थ, उनके सदृश चित्त को कर लेना। अर्थात् सर्वव्यापक पदार्थों से एकात्मता लाभ। इसके फल स्वरूप विभु पदार्थों की भांति शरीर में भी स्थिरता आती है, एवं सर्वविध आसनों की स्थिति में शरीर निश्चेष्ट बना रहता है। वाचस्पति मिश्र एवं विज्ञान भिक्षु के अनुसार अनन्त का अर्थ है : नागराज, पृथिवी को धारण करने वाला शेष नाग,[3]

---

१. योगसूत्र २–४७।
२. तत्त्ववैशारदी पृ० २६७।
३. (क) तत्त्ववैशारदी पृ० २६७–६८। (ख) योगवार्त्तिक पृ० २६७।

उस शेषनाग का चिन्तन करके तद्रूपता की प्राप्ति। फलस्वरूप जिस प्रकार शेषनाग समस्त पृथिवी के भार को निष्कम्प रहकर धारण किये रहता है, उसी भाँति सर्वविध आसनों की साधना में साधक निष्कम्म भाव से स्थिर हो जाता है। इस प्रकार उसे आसन की सिद्धि हो जाती है। अनन्त का एक अन्य अर्थ है–असंख्य। अर्थात् प्रयत्न शैथिल्य पूर्वक सुख सहित असंख्यस्थितियों में से किसी एक में स्थिर रहना। इस पक्ष में सुख पूर्वक स्थिर होकर शरीर की असंख्य स्थितियों में आसन सिद्धि होती है।

आसनों के सिद्ध हो जाने पर साधक विविध द्वन्द्वों से मुक्त हो जाता है। उसे शीत-उष्ण, क्षुधा पिपासा आदि से किसी प्रकार कष्ट की अनुभूति नहीं होती।[1] इन द्वन्द्वों से पीड़ा न पाने के लिए ही मानव दिन रात प्रपंचों में पड़ा हुआ पिसता रहता है, अतः आसनों द्वारा उन द्वन्द्वों का अभिघात हो जाने पर उसका चित्त स्थिरता के मार्ग पर अग्रसर होने लगता है, वह जितने समय तक भी चाहे एक आसन में स्थिर भाव से अपनी साधना में संलग्न रह लेता है, और अत्यन्त शीघ्र ही प्राणों की गति पर भी नियन्त्रण पा लेता है। इसीलिए पतंजलि ने स्वयं कहा है :–तस्मिन्सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः।[2]

प्राणायाम–

सूत्रकार महर्षि पतंजलि ने आसनों की सिद्धि का फल देते हुए ही प्राणायाम का परिचय भी प्रदान किया है, वह इसलिए कि प्राणायाम की सफलता आसन सिद्धि के बिना नहीं हो सकती है। जब कि अन्य योगांगों में यम और नियमों का परस्पर साध्य साधन भाव जैसा कोई सम्बन्ध नहीं है, और न ही यम नियमों का आसनों आदि से ही इस प्रकार का (साध्य-साधनभाव अथवा कार्य-कारणभावमूलक) कोई सम्बन्ध है। अत एव व्यास यमों को बहिरङ्ग योगांग मानते हैं।[2] जब कि अन्य आसन-प्राणायाम धारणा ध्यान और समाधि परस्पर अत्यन्त संश्लिष्ट हैं। इनमें प्रत्येक पूर्व उत्तर-उत्तर की सिद्धि का हेतु है, अर्थात् आसन प्राणायाम का साधक हेतु है, प्राणायाम धारणा का, धारणा ध्यान का और ध्यान समाधि का। ये सभी परस्पर कार्यकारणभावसम्बन्ध से सम्बद्ध हैं। एक की उपेक्षा कर दूसरी की सिद्धि नहीं प्राप्त की जा सकती। इसीलिए ये अन्तरंग योगांग कहे जाते हैं। इस दृष्टि से विज्ञान भिक्षु ने भी यमों और नियमों को बहिरंग योगांग माना है।[3]

---

१. (क) योगसूत्र २–४८। (ख) योगभाष्य २–४८ पृ० २६८।
२. योगसूत्र २–४६। ३. योगवार्तिक पृ० २६६।

पतंजलि के अनुसार प्राणायाम की परिभाषा है : श्वास प्रश्वास की गति का विच्छेद। यहाँ बाह्य वायु का अन्दर ग्रहण करना श्वास तथा कोष्ठस्थित वायु का बाहर निकालना प्रश्वास कहा जाता है। इन दोनों (श्वास और प्रश्वास) की गति का विच्छेद करना ही प्राणायाम है। यहाँ विच्छेद का यह अर्थ नहीं है कि श्वासक्रिया अथवा प्रश्वासक्रिया कभी होनी ही नहीं है, अपितु श्वास प्रश्वास क्रिया की जो स्वाभाविक गति निरन्तर चलती रहती है, उस गति का निरोध, अर्थात् जब और जब तक चाहें कोष्ठगत वायु आभ्यन्तर ही स्थिर रहे अथवा यथेच्छकाल तक बाह्य वायु को अन्दर लेने की आवश्यकता का अनुभव ही न हो।

यहाँ एक प्रश्न हो सकता है कि श्वास प्रश्वास की गति का सर्वथा निरोध होने पर जीवन ही नहीं रह सकता, अतः प्राणायाम जीवित प्राणी के लिए कैसे संभव है ? मुख्यतः साधना के प्रसंग में प्राणों की गति का विच्छेद होना तो सम्भव ही नहीं है, अतः साधनावस्था में उसकी प्राणायाम संज्ञा कैसे हो सकेगी ? इस प्रश्न के उत्तर में सहज रूप से यह कहना उचित होगा कि प्राणों की गति के विच्छेद से तात्पर्य उनकी स्वाभाविक गति के विच्छेद से है। केवल कुम्भक प्राणायाम एवं समाधि की अवस्था में योगी को श्वास प्रश्वास क्रिया की आवश्यकता नहीं होती, तथा समाधि से उठने पर योगी की इच्छामात्र से वह गति पुनः प्रारम्भ हो जाती है। जहाँ तक साधनावस्था का प्रश्न है, वहाँ भी आंशिक गतिरोध रहता ही है। श्वास की गति का विश्लेषण करने पर विदित होता है उसमें तीन क्रियाएँ मुख्य हैं; वायु का अन्दर जाना, वायु का बाहर जाना, तथा बाहर अथवा अन्दर किंचित्काल के लिए स्थिर रहना अर्थात् वहीं वायु का रुकना।

प्राणायाम के सन्दर्भ में वायु की इस स्वाभाविक क्रिया के आधार पर सामान्यतः तीन अंग स्वीकार किये गये हैं—**रेचक पूरक और कुम्भक**। इसीलिए योगयाज्ञवल्क्य में रेचक पूरक एवं कुम्भक क्रियाओं के व्यस्थित रूप से करने को ही प्राणायाम कहा गया है।[1] कोष्ठान्तर्गत वायु को बाहर निकालना **रेचक** कहाता है। इसीप्रकार बाह्य वायु का शरीर के अन्दर लेना **पूरक** तथा कोष्ठ में अथवा शरीर से बाहर किंचित्कालपर्यन्त वायु का रोकना **कुम्भक** कहाता है। इन तीनों में ही अंशतः प्राण की गति का विच्छेद विद्यमान रहता है। यथा रेचक क्रिया की स्थिति में जब वायु बाहर निकल रहा है, उस समय वायु के अन्तः प्रवेश तथा स्थिर रहने की स्वाभाविक क्रिया का अभाव रहता है। इसी प्रकार पूरक के समय में वायु के बहिर्निगमन तथा उसकी स्थिरता की स्वाभाविक गति का अभाव रहता है, तथा कुम्भक की स्थिति में वायु के निर्गमन

---

१. योगयाज्ञवल्क्य ६२।

और प्रवेश की स्वाभाविक गति का अभाव रहता है। इस प्रकार प्रयत्नपूर्वक रेचक पूरक और कुम्भक की क्रिया करते समय आंशिकरूप से श्वास प्रश्वास की स्वाभाविक गति का विच्छेद रहता ही है, अतः प्राणायाम की परिभाषा के संगत होने में कोई बाधा नहीं उठती।

जैसा कि ऊपर कहा गया है प्राण वायु की बाहर की ओर अथवा अन्दर की ओर गति तथा बाहर अथवा अन्दर गति की अपेक्षा के बिना स्तम्भन प्राण वायु की क्रिया है। इन क्रियाओं के आधार पर ही प्राणायाम का भी विभाजन किया जा सकता है, उसके अनुसार सर्वप्रथम प्राणायाम तीन प्रकार का हो सकता है :—(१) बाह्यवृत्ति (२) आभ्यान्तर वृत्ति और (३) स्तम्भवृत्ति। पुनः इन भेदों में देश काल और संख्याओं से विभाजन करने पर इसके दीर्घ सूक्ष्म आदि अनेक भेद हो सकते हैं,[१] अर्थात् जहाँ प्रश्वास पूर्वक गति का अभाव होता है, उसे बाह्य; जहाँ श्वासपूर्वक गति का अभाव हो, उसे आभ्यन्तर तथा जहाँ एक ही प्रयत्न से दोनों प्रकार की गति का अभाव हो उसे स्तम्भवृत्ति कहा जाता है। स्तम्भ वृत्ति को स्पष्ट करने के लिए एक उदाहरण देखा जा सकता है कि जिस प्रकार खूब तपे हुए पत्थर पर पड़ा हुआ जल सभी ओर से सिकुड़ने लगता, है इसी प्रकार एक साथ ही बाह्य और आभ्यन्तर दोनों गतियों का एक साथ अभाव हो जाता है।[२]

हरिहरानन्दारण्य के अनुसार बाह्य आभ्यान्तर और स्तम्भवृत्ति प्राणायाम का नाम क्रमशः रेचक पूरक् और कुम्भक है। उनके अनुसार अन्दर में विद्यमान अशेष वायु को नासाविवर से बाहर निकाल कर अन्तःकोष्ठ को वायु शून्य करके स्थित रखना रेचक नामक महानिरोध कहा जाता है।[३] इसी प्रकार बाह्य वायु को नासिका से धीरे धीरे अन्दर लेकर शरीरान्तर्गत समस्त नाड़ियों में प्राण वायु को भर लेना पूरक नामक महानिरोध कहा जाता है।[४] इसी भाँति रेचक और पूरक का परित्याग करके नासापुट में संस्थित वायु को ही सुनिश्चल रूप से धारण करना कुम्भक कहा जाता है।[५] उपर्युक्त तीनों ही प्रकार के प्राणायाम में देशकाल एवं संख्या भेद से परीक्षा करते हुए अभ्यास सम्पन्न किया जाता है और उस अभ्यास के आधार पर उसे दीर्घ अथवा सूक्ष्म कह लिया जाता है। देशादि परीक्षा की प्रक्रिया यह है कि सामान्य प्रश्वास (रेचक की क्रिया में नासाग्र से निकला हुआ वायु अपने घनत्व और वेग के साथ वितस्तिमात्र अर्थात् बारह अंगुल तक जाया करता है। किन्तु अभ्यास के अनन्तर प्राण की गति दोगुनी अथवा तीन गुनी अर्थात् चौबीस या छत्तीस अंगुल तक

१. योगसूत्र २.५०।
२. योगभाष्य पृ० २६६.७०।
३. भास्वती पृ० २६६।
४. वही पृ० २७०।
५. वही पृ० ७०।

हो सकती है। श्वास की गति कितने अंगुल परिमाण तक है, इसे देखने के लिए नाक के सामने रुई आदि रखकर परीक्षा की जाती है। इस परीक्षा में गति की परीक्षा देश (दूरी) के परिमाण से की जाती है।[1] तथा गति की वृद्धि के लिए क्रमशः प्रयास किया जाता है। जिसके फलस्वरूप अभ्यास में वृद्धि हो जाती है। इसी प्रकार अभ्यास के प्रसंग में रेचक पूरक अथवा कुम्भक में कितने क्षण का समय लगता है, इसकी परीक्षा पूर्वक अभ्यास करते हुए काल सीमा को क्रमशः बढ़ाया जाता है, इसको काल परीक्षा कहते हैं।[2] इसी भाँति रेचक पूरक और कुम्भक एक बार में कितने बार किया जा रहा है, इसकी संख्या करते हुए भी क्रमशः अभ्यास बढ़ाया जाता है, इसे संख्या परीक्षा कहते हैं।[3]

इस प्रकार देश काल संख्या पूर्वक परीक्षा करते हुए अभ्यास करने पर सूक्ष्म प्राणायाम भी क्रमशः दीर्घ हो जाता है, जिसके अवस्था भेदों की परिसंख्या करना संभव नहीं है।

संख्या आदि के आधार पर प्राणायाम को नीच मध्यम अथवा तीव्र संज्ञा दी जा सकती है। बारह मात्रा युक्त प्राणायाम को नीच, चौबीस मात्रा युक्त को मध्यम तथा छत्तीस मात्रायुक्त प्राणायाम को मुख्य अथवा तीव्र प्राणायाम कहा जाता है।[4] नीच मध्यम आदि की परिभाषा में प्रयुक्त मात्रा का परिचय देते हुए नागोजिभट्ट ने लिखा है कि एक बार निमेष और उन्मेष में जितना समय लगता है उसे एक मात्रा कहते हैं। अथवा जितने समय में दोनों जानुओं को तीन बार स्पर्श किया जा सके उतने समय को एक मात्रा कहते हैं।[5] हरिहरानन्दारण्य के अनुसार एक बार श्वास प्रश्वास में जितना समय लगता है उतने समय का एक नाम मात्रा है।[6]

प्राणायाम के पूर्वोक्त तीन मुख्य भेद बाह्यवृत्ति (रेचक) आभ्यन्तरवृत्ति (पूरक) तथा बाह्य एवं आभ्यन्तर की अपेक्षा के बिना ही जहाँ कहीं भी निरोध अर्थात् स्तम्भन से स्तम्भवृत्ति के भेद ऊपर बताए जा चुके हैं, इनके अतिरिक्त प्राणायाम का चतुर्थ प्रकार वह है, जहाँ बाह्य और आभ्यन्तर वृत्ति रेचक एवं पूरक के बिना श्वास प्रश्वास की गति का निरोध होता है।[7] वृत्तिकारों के अनुसार तृतीय प्राणायाम में रेचक एवं पूरक की अपेक्षा के बिना ही श्वास

---

१. (क) योगभाष्य पृ० २७०। (ख) तत्त्ववैशारदी पृ० २७१।
२. (क)–भारस्वती पृ० २७१। (ख) तत्त्ववैशारदी पृ० १०८।
३. (क) योगभाष्य पृ० २७१-२७२। (ख) योग सुधाकर पृ० १०६।
४. भास्वती पृ० २७१।
५. नागोजिवृत्ति पृ० १०८।
६. भास्वती पृ० २७१।
७. योगसूत्र २-५१

प्रश्वास की गति का अभाव होता है, वहाँ चतुर्थ प्राणायाम में रेचक पूरक द्वारा बाह्य आभ्यन्तर प्रदेश के आलोचनपूर्वक श्वास प्रश्वास की गति का अभाव होता है।[१]

वासिष्ठ संहिता के अनुसार श्वास (पूरक) प्रश्वास (रेचक) प्राण की स्वाभाविक गति हैं, किन्तु इस स्वाभाविक गति को भी निरुद्ध किया जा सकता है। श्वास (पूरक) प्रश्वास (रेचक) को छोड़कर प्राण वायु का धारण अर्थात् केवल कुम्भक करना यही प्राणायाम है। एतदर्थ रेचक पूरक के साथ अथवा उनके बिना ही प्रतिदिन कुम्भक का अभ्यास करना चाहिए, यह अभ्यास तब तक चलना चाहिए जब तक केवल कुम्भक की सिद्धि प्राप्त न हो जाए। इसकी सिद्धि के हो जाने पर साधक को कुछ भी दुर्लभ नहीं रहता।[२] साधना की इस प्रक्रिया में सिद्धि के निकट आने पर साधक के शरीर में पहले प्रस्वेद उत्पन्न होता है, पुनः कुछ काल बाद प्रस्वेद बन्द होकर कम्पन प्रारम्भ हो जाता है। कालान्तर में कम्पन भी समाप्त हो जाता है और उसके बाद उत्थान होने लगता है, अर्थात् साधक भूमि से ऊपर आकाश में अवस्थित हो जाता है। इन तीन स्थितियों में प्रस्वेद की स्थिति को अधम, कम्पन की स्थिति को मध्यम तथा उत्थान की स्थिति को उत्तम कहा जाता है।[३] इस उत्तम प्राणायाम की सिद्धि पर्यन्त निरन्तर साधना में संलग्न रहना चाहिए। इसी प्राणायाम का निरन्तर अभ्यास चलते रहने पर आकाशगमन तथा कामगति (इच्छानुसार जा सकने की शक्ति) उत्पन्न हो जाती है।[४]

साधकों की परम्परा के अनुसार प्राणायाम साधक को सर्वप्रथम सुषुम्ना में श्वास प्रश्वास को प्रवाहित करने की योग्यता प्राप्त करनी चाहिए। इसके लिए रेचक करके वामनासारन्ध्र से पूरक करे और दाहिने नासारन्ध्र से रेचक आठ से बत्तीस बार तक करे। इसके बाद उतनी ही संख्या में दाहिने नासारन्ध्र से पूरक करके बाएं से रेचक करे। तदनन्तर उतनी ही संख्या में बाएं नासारन्ध्र से ही रेचक और पूरक करके उतनी ही संख्या में दाहिने नासारन्ध्र से रेचक और पूरक करे। तत्पश्चात् एक रेचक में काल अवधि एक पूरक की काल अवधि से दुगुनी हो इसका अभ्यास सुस्थिर करने के लिए संख्या गणनापूर्वक पूर्व की भांति उतनी ही संख्या में बाएं नासारन्ध्र से पूरक एवं दाहिने से रेचक तथा उनकी ही संख्या में दाहिने नासारन्ध्र से पूरक और बाएं से रेचक का अभ्यास करें। तथा अन्त में उतनी ही संख्या में एक बार बायें नासारन्ध्र से पूरक करके दाहिने से रेचक करे एवं बिना रुके पुनः दाहिने से पूरक करके बाएं से रेचक करे।

---

१. योगभाष्य पृ० २७४।
२. योगवार्तिक पृ० २७३ से उद्धृत।
३. वही पृ० २७३।
४. योगवातिक पृ० २७३।

इस अभ्यास में प्रारम्भिक दिनों में प्रत्येक नासारन्ध्र में श्वास प्रश्वास के परिवर्तन के लिए दाहिने हाथ को अनामिका अंगुलि एवं अगुष्ठ की सहायता लेते हैं। कुछ काल (प्रायः छ मासवाद) साधक का बिना अंगुलियों की सहायता लिये क्रमशः दोनों नासारन्ध्रों में श्वास परिवर्त्तन कर लेने का अभ्यास हो जाता है। इस स्थिति में पहुंचने पर प्रथमतः प्राणायाम काल में और कालान्तर में निरन्तर या इच्छानुसार दोनों नासारन्ध्रों में एक साथ श्वास प्रश्वास की गति होने लगती है। इसे ही सुषुम्ना को जागृत करना कहते हैं। कुम्भक का अभ्यास सुषुम्ना के जागृत होने के बाद ही करना चाहिए।

कुम्भक का अभ्यास प्रारम्भ करने के लिए दत्तात्रेय योग शास्त्र एवं योग तत्त्वोपनिषद के अनुसार सर्वप्रथम रेचक कर के बाएं नासारन्ध्र से पूरक करके मूलबन्ध जालन्धर बन्ध और उड्डीयान बन्ध के साथ कुम्भक करे और दाहिने नासारन्ध्र से रेचक करे। इसके बाद दाहिने नासारन्ध्र से पूरक करके कुम्भक करे और बाएं से रेचक करें। यहां पूरक की अपेक्षा कुम्भक में चारगुना तथा रेचक में दो गुना समय लगना चाहिए। यह एक चक्र प्राणायाम हुआ। इसीप्रकार आठ चक्रों से प्रारम्भ करके धीरे-धीरे बीस चक्रों तक अभ्यास बढ़ाये। तथा प्रत्येक दिन चार बार अर्थात् प्रातः सायं मध्यदिन एवं मध्यरात्रि में बीस बीस चक्र, कुल मिलाकर अस्सी चक्र प्राणायाम प्रतिदिन करें। इस अभ्यासक्रम में मानसिक प्रयत्न द्वारा प्राणवायु को उदर में नीचे ले जाने का एवं मूलबन्ध द्वारा अपान वायु को ऊपर उठाकर नाभि प्रदेश में इन्हें मिलाने का प्रयत्न करें। ऐसा करने से कालान्तर में कुण्डलिनी का जागरण होता है। भगवद्गीता में 'अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथा परे'[१] इत्यादि पद्य द्वारा इसी प्राणायाम का संकेत किया गया है।

ऐसा करने से छ मास में साधक के प्राण और अपान संयुक्त होकर सुषुम्ना मुख में स्थित कफ आदि मलों की निवृत्ति होने पर कुण्डलिनी जागृत होकर सुषुम्ना में प्रविष्ट होती है और क्रमशः मूलाधार चक्र से स्वाधिष्ठान मणिपूर अनाहत विशुद्ध और आज्ञाचक्रों को पार करती हुई सहस्रार तक पहुंच जाती है।

इस साधना के समय साधक के लिए पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन तथा आहार में लवण उष्ण रूक्ष खट्टा तीखा तथा अधिक भोजन का पूर्णतः त्याग कर देना चाहिए अन्यथा भयंकर हानि की सम्भावना रहती है। तथा यह साधना गुरु के संरक्षण में रहकर ही करनी चाहिए जिससे कोई भी असावधानी होने पर उपद्रवों से बचाव हो सके।

---

१. विशेषजानकारी के लिए लेखक की प्राणायाम साधना नामक पुस्तक को देखें।

मूलाधार चक्र में कुण्डलिनी (प्राणशक्ति) का प्रवेश होने पर श्वास प्रश्वास की आवश्यकता नहीं रह जाती। यह स्थिति ही केवल कुम्भक की प्रारम्भिक अवस्था है। इस अवस्था में पहुंचने पर पंचभूत धारणा प्रारम्भ होती है, चित्त सहज ही एकाग्र निश्चल होने लगता है।

क्योंकि चित्त और प्राण सहचारी हैं एक के निरुद्ध होने पर दूसरा स्वतः निरुद्ध होता है, अतः इस स्थिति में पहुंचने पर प्राण अथवा उसके बाह्य रूप श्वास प्रश्वास की क्रिया के अभ्यास की अपेक्षा समाप्त हो जाती है। अब चित्त के माध्यम से प्राण की क्रिया प्रारम्भ होती है।

प्रथमतः साधक को मूलाधार चक्र में चित्त को स्थिर करना चाहिए। क्योंकि मूलाधार से स्वाधिष्ठान के मध्य पृथिवी स्थान है, अतः यहां चित्त और प्राण की स्थिरता को **पृथिवी धारणा** कहते हैं। इसके बाद साधक चित्त के माध्यम से प्राणशक्ति (कुण्डलिनी) को स्वाधिष्ठान में स्थिर करे। स्वाधिष्ठान से मणिपूर के मध्य का भाग शरीर में जल स्थान कहाता है, अतः यहां चित्त और प्राण की स्थिरता को जलीय **धारणा** कहते हैं। इसके बाद साधक प्राणसहित चित्त को मणिपूर चक्र में स्थिर करे। यह **आग्नेय धारणा** कहलाती है। तत्पश्चात् साधक अनाहत चक्र में प्राण और चित्त को स्थिर करे यह **वायवीय धारणा** है। तदनन्तर साधक अपने चित्त को प्राण सहित विशुद्ध चक्र में स्थिर करता है। यह **आकाशीय धारणा** कहलाती है। इस पञ्चभूत धारणा के सिद्ध होने पर जब साधक अपने चित्त को आज्ञाचक्र (मनश्चक्र) में स्थिर करता है तो वह ध्यान की स्थिति में पहुंचता है। और सहस्रार पद्म में प्राण सहित चित्त की स्थिरता में समाधि की स्थिति होती है। उपर्युक्त ये साधनाएं केवल कुम्भक की सिद्धि होने के बाद ही होती है पूर्व नहीं। इसीलिए सूत्रकार पतञ्जलि ने 'ततः (प्राणायामे सिद्धे) क्षीयते प्रकाशावरणम्—धारणासु च योग्यता मनसः''[१] कहकर प्राणायाम को संयम (धारणा-ध्यान-समाधि) का प्रवेश द्वार स्वीकार किया है।

महर्षि पतञ्जलि ने इस **केवल कुम्भक** का संकेत 'बाह्याभ्यन्तर विषयाक्षेपी चतुर्थः'[२] अर्थात् जिसमें बाह्यवृत्ति रेचक एवं आभ्यन्तर वृत्ति पूरक के विषय का आक्षेप अर्थात् तिरस्कार रहता है वह चतुर्थ प्राणायाम है, कहकर किया है।

प्राणायाम के फल अथवा सिद्धि के रूप में प्रकट होनेवाली पूर्वोक्त आकाश गमन इत्यादि शक्तियों के अतिरिक्त प्राणायाम का मूल फल है : प्रकाश

---

१. योगसूत्र २.५२। २. सांख्यकारिका १३।

(ज्ञान) पर पड़े हुए आवरण का नाश।[1] सत्त्व रजस् और तमस् के समाहार से निर्मित बुद्धि (चित्त) में सत्त्व निरन्तर प्रकाशशील है[2] किन्तु उसका स्वरूप आवरण तमस् से आच्छन्न रहता है, प्राणायाम से वह तमोमय आवरण क्रमशः क्षीण हो जाता है, जिससे साधक को विशुद्ध प्रकाश और आनन्द का साक्षात्कार होता है, इसी प्रकार चित्तगत रजस् के भी शान्त हो जाने से उसकी (चित्त की) चंचलता दूर हो जाती है और उसे (मन को) धारणा हेतु योग्यता प्राप्त हो जाती है,[3] जिससे साधक निर्बाध रूप से समाधि सिद्धि की ओर अग्रसर होता रहता है। इतना ही नहीं प्राणायाम से वह विक्षेपों से बचकर चित्त प्रसाद का भी अधिकारी बनता है, तथा इन्द्रियों के निरोध से चित्त की एकाग्रता को प्राप्त करता है।[4] प्राणायाम से समस्त बाह्य और अन्तरिन्द्रियों के मल क्रमशः दूर हो जाते हैं (जिसके फलस्वरूप सत्त्वगुण प्रकट होता है) इसे मनु ने भी स्वीकार किया है, तथा इन्द्रिय मलों को दूर करने के लिए प्राणायाम का अभ्यास करने का निर्देश किया है।[5] क्योंकि सब प्रकार के विक्षेप दोषों के कारण ही हुआ करते हैं, तथा प्राणायाम में दोषों को समूल नष्ट करने की शक्ति है, इसकी चर्चा पूर्व पंक्तियों में ही चुकी हैं, अतः स्वाभाविक है कि उसके द्वारा समस्त विक्षेप भी दूर हो जाएं।

मन वाक् चक्षु श्रोत्रादि समस्त इन्द्रियाँ प्राण के ही वश में रहती हैं, तथा प्राणों को वश में करने पर सभी कुछ साधक के वश हो जाता है, इसे प्रश्न उपनिषद् में भी स्वीकार किया है गया है।[6] इसीलिए तैत्तिरीय उपनिषद् में प्राणों को ब्रह्मस्थानी जानने का उपदेश दिया गया है।[7] अतः उसके वश में हो जाने पर ब्रह्म की प्राप्ति दुर्लभ नहीं होगी।

इस प्रकार यह विदित होता है कि रेचक पूरक सहित स्तम्भवृत्ति कुम्भक एवं उभय रहित स्तम्भवृत्ति (केवल कुम्भक) प्राणायाम समस्त दोषों को दूरकर समाधि की योग्यता उत्पन्न करता है, इस प्रकार वह योग का अनिवार्य अंग है।

प्रत्याहार—

'प्रतीपमाह्रियन्ते इन्द्रियाणि स्व विषयेभ्यः अस्मिन्निति प्रत्याहारः 'इस व्युत्पत्ति के अनुसार इन्द्रियों का विषयों से निरोध होकर चित्त में ही अवस्थान

१. योगसूत्र २-५३।
(ख) भोजवृत्ति १.३४ पृ० ४१।
२. (क) योगसूत्र १.३४।
३. योगसूत्र २.५२-५३।
४. वही २.५१।
५. मनु० ६-७१।। वही ६-७२।।
६. प्रश्नोपनिषद्। २-२०,२६।
७. तैत्तिरीयउपनिषद् भृगुवल्ली ३-१।
८. योगसूत्र २-५४।

प्रत्याहार कहलाता है।[१] क्योंकि चक्षु आदि इन्द्रियों का अपने विषय रूप आदि के अभिमुख होना सम्प्रयोग कहा जाता है, तथा उसका अभाव अर्थात् असम्प्रयोग होने पर वे विषयोन्मुख न होकर स्वरूप में अवस्थित होती हैं,[१] उस स्थिति में केवल चित्त और इन्द्रियों का ही सम्बन्ध होने पर इन्द्रियां भी चित्त के स्वरूप मात्र को ग्रहण करती हैं।[१] इन्द्रियों के इस निरोध के लिए चित्त निरोध के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं करना होता। वे चित्त के निरुद्ध होने पर उसी प्रकार निरुद्ध हो जाती है, जिस प्रकार रानी मक्खी के निरुद्ध होने पर अन्य मधु मक्खियाँ स्वतः वहीं रुक जाती हैं।[२]

प्रत्याहार की स्थिति में विषयों से विरत होकर इन्द्रियां चित्त का साक्षात्कार करती हों ऐसी बात नहीं है, कारण कि इन्द्रियों में प्रत्येक का अपना अपना विषय है, अपने विषय रूप रस गन्ध स्पर्श और शब्द अथवा उनसे सम्बन्ध को छोड़कर अन्य किसी को ग्रहण करने का सामर्थ्य उनमें नहीं है, तथा चित्त में रूप रस आदि की सत्ता की सम्भावना भी नहीं है; अतः इन्द्रियां चित्त का साक्षात्कार नहीं करती, अपितु पूर्णतः निरुद्ध हो जाती है और चित्त शुद्ध निर्मल निर्विषयरूप से अवस्थित होता है। स्मरणीय है कि योगचन्द्रिकाकार अनन्तदेव पण्डित प्रत्याहार में इन्द्रियों को चित्तस्वरूपानुकारिणी स्वीकार करते है[३] जब कि स्वयं सूत्रकार ने प्रत्याहार के लक्षण में चित्तस्वरूपानुकार इव' पद का प्रयोग किया है।[४] 'चित्तस्वरूपानुकार' का नहीं। इव शब्द के प्रयोग का प्रयोजन ही यह बताता है कि विषय शूर इन्द्रियां चित्ताभिमुख कभी हो ही नहीं सकती,[५] हाँ इनका निरोध अवश्य किया जा सकता है।

प्रत्याहार की सिद्धि होने पर इन्द्रियों पर पूर्णतया विजय प्राप्त हो जाती है, वे सर्वशः वश में रहती है,[६] विषय की ओर उनकी प्रवृत्ति किंचिन्मात्र भी नहीं होती। इस विषय में स्मरणीय है क़ि इन्द्रिय और विषयों के भावात्मक तथा अभावात्मक सम्बन्धों को लेकर तीन स्थितियाँ हो सकती हैं–(१) विषय सेवन से इन्द्रियों का प्रतिरोध न करने पर अनियन्त्रित विषयेन्द्रिय सम्बन्ध, होने पर भोग हुआ करता है। (२) राग द्वेष के बिना शब्दादि विषयों ओर इन्द्रियों का सम्बन्ध, जिसमें शब्दादिसाक्षात्कार तो होता है, किन्तु रागादि न होने से सुख दुखादि की उत्पत्ति नहीं होती, यह द्वितीय स्थिति है। इस स्थिति में इन्द्रियों की वश्यता तो कही जा सकती है, किन्तु परमावश्यकता नहीं। (३) इसके तिपरीत विषयों के सम्मुख उपस्थित होने पर भी इन्द्रियों का उनकी

---

१. भोजवृत्ति २-१४ पृ० ११२।
२. योगभाष्य २.५४। पृ० २७७–७८
३. योग चन्द्रिका पृ० ११३।
४. योगसूत्र २-५४।
५. मणिप्रभा पृ० ११३।
६. योगसूत्र २.५५।

ओर उसी प्रकार प्रवृत्त न होना, जिस प्रकार परम पतिव्रता स्त्रियाँ सम्मुख में परपुरुष के उपस्थित होने पर भी उसकी ओर प्रवृत्त नहीं होती, इसी प्रकार विषयों के उपस्थित होने पर इस अवस्था में इन्द्रियाँ उनकी ओर प्रवृत्त नहीं होती, यही इन्द्रियों की परमावश्यता है, जिसकी सिद्धि प्रत्याहार के अनन्तर हुआ करती है।

कुछ अज्ञात नामा आचार्य, जिनकी नामोल्लेख के बिना ही व्यास ने चर्चा की है, विषयों के साथ सम्बन्ध विद्यमान रहने पर भी उनके प्रति आसक्ति के अभाव को इन्द्रिय जय अथवा इन्द्रियों का वशीभाव मानते हैं। उनके अनुसार शास्त्र द्वारा प्रतिपादित अथवा शास्त्रों में अनिषिद्ध विषयों का भोग भी इन्द्रियजय ही है।[१] इसके विपरीत कुछ अन्य आचार्य 'अपनी इच्छा होने पर विषयों का इन्द्रियों द्वारा साक्षात्कार तथा इच्छा के अभाव में उनका साक्षात्कार न होना' इन्द्रिय जय है, ऐसा स्वीकार करते हैं।[२] आचार्यों की एक अन्य परम्परा राग द्वेषादि के अभाव में सुख दुःखादि की अनुभूति के बिना ही शब्दादिविषयों का साक्षात्कार इन्द्रियजय के अन्तर्गत ही स्वीकार करती है।[३] जब कि जैगीषव्य विषयों के विद्यमान रहने पर भी उनकी ओर इन्द्रियों की प्रवृत्ति न होने को इन्द्रियजय स्वीकार करते हैं।[४] यही वस्तुतः इन्द्रियों की परमावश्यता है। व्यास भी इसी परमावश्यता को स्वीकार करते हुए मन पर विजय प्राप्त करके मन निरोध से इन्द्रियों के स्वतः निरोध को परमावश्यता मानते हैं।[५]

योग के पूर्ववर्णित अंगों यम नियम आसन प्राणायाम और प्रत्याहार की साधना योगी को स्थिरता की ओर (एकाग्रता की ओर) अग्रसर करती है। जब कि योग का अर्थ है चित्त की पाँचों वृत्तियों का निरोध अर्थात् पूर्ण एकाग्रता। एकाग्रता के साधन होने के कारण ही इन साधनों को योग का अंग स्वीकार किया जाता है, इन्हें योगांग की अपेक्षा योग-सोपान कहना अधिक उपयुक्त हो सकता है। समाधिरूप योग के साथ अवयव-अवयविभाव (अङ्गाङ्गिभाव) न होने के कारण ही इन्हें योग का बहिरङ्ग साधन माना जाता है।[६] शेष योगाङ्ग धारणा और ध्यान समाधि के अंग कहे जा सकते हैं, अतएव उन्हें अन्तरङ्ग साधन कहा जाता है। यद्यपि निर्बीज समाधि की दृष्टि से धारणा आदि भी बहिरंग ही हैं।[७]

---

१. योगभाष्य २.५५ पृ० २७८।
२. वही पृ० २७८।
३. वही पृ० २७८।
४. वही पृ० २७६।
५. वही पृ० २७६।
६. योगभाष्य ३-१ अवतरणिका पृ० २८१।
७. योगसूत्र ३.७,८।

राज़मार्त्तण्ड वृत्तिकार भोज के अनुसार यह भी कहा जा सकता है कि यम और नियम योग के बीज हैं, आसन और प्राणायाम अंकुर तथा प्रत्याहार फूल है, जिसके अनन्तर योगसाधना धारणा ध्यान और समाधि इन तीन फलों से सम्पन्न होती हैं।[१]

धारणा–

चित्त को विविध देशों में धारण करने को धारणा कहते हैं।[२] यहाँ देश शब्द से तात्पर्य ध्यातव्य अथवा उस स्थल से है, जिस पर चित्त को स्थिर किया जाता है। विष्णु पुराण के अनुसार प्राणायाम से प्राणों को तथा प्रत्याहार से इन्द्रिय को वश में करके जिस शुभ देश को चित्त का आश्रय बनाया जा सकता है, वह है भगवान् विष्णु का उपाश्रय निस्पृहरूप, और इस विष्णुरूप में चित्त के धारण करने का नाम ही धारणा है।[३] विष्णुपुराणकार का कथन है कि क्योंकि बिना आधार के चित्त का धारण संभव नहीं हो पाता[४] अतः भगवान् विष्णु के निम्नलिखित स्वरूप का ध्यान करना चाहिए–प्रसन्नमुख, सुन्दर कमलपत्र के समान नयन, सुन्दर कपोल, सुविशाल उज्ज्वल ललाट, सुन्दरतम कुण्डलों से सुविभूषित कान, शंख के समान गर्दन, श्रीवत्स से अंकित सुविस्तीर्ण वक्षस्थल, त्रिवलिभङ्ग एवं गम्भीर नाभि के युक्त उदर, सुविशाल आठ या चार भुजाओं से युक्त, सुचिक्कण सुविभक्त ऊरु तथा सुस्थिर चरणों एवं कर कमलों से युक्त पीतवस्त्रधारी विष्णु, साक्षाद् ब्रह्मस्वरूप हैं।[५]

भाष्यकार व्यास राजमार्त्तण्डवृत्तिकार भोज दोनों ही धारणा में देश विशेष में चित्त की धारणाएँ करने के स्थान पर शरीर के बाह्य अथवा आभ्यन्तर अंगों में उसकी धारणा स्वीकार करते हैं, ये अंग नाभिचक्र हृदयपुण्डरीक मूर्धज्योति नासिका का अग्रभाग आदि देश हो सकते हैं।[६] सूत्रकार पतंजलि ने धारणा से प्रसूत सिद्धियों का वर्णन करते हुए धारणा (संयम) के जिन स्थानों की चर्चा की है, उनमें नाभिचक्र कण्ठकूप कूर्मनाड़ी मूर्ध ज्योतिष हृदय इत्यादि हैं। ये बाह्य न होकर शरीर के अवयव ही हैं, अतः यह कहा जा सकता है कि पतंजलि धारणा के प्रसंग में देश विशेष के रूप में इन्हें ही स्वीकार करते हैं,[७] विष्णु आदि देवों के स्वरूप को नहीं। इसी प्रकरण में उनसे पूर्व नाभिचक्र

---

१. भोजवृति पृ० ११३।
२. योगसूत्र ३-१।
३. विष्णुपुराण ६.७.४५, ७८।
४. विष्णुपुराण ६-७.७१।
५. विष्णुपुराण ६.७.८०- ८३।
६. (क) योगभाष्य पृ० २८१–८२। (ख) भोजवृत्ति ३–१ पृ० ११४ १४।
७. योगसूत्र ३.२९–३२, ३४।

आदि के साथ वे सूर्य चन्द्र और ध्रुव को भी धारणा का देश स्वीकार करते हैं।[१] यहाँ सूर्य आदि नामों को देखकर सन्देह हो सकता है कि वे यदि बाह्य सूर्य आदि पर संयम का निर्देश करते हुए बाह्य विषयों को भी धारणा के लिए आश्रय स्वीकार करते हैं, तो उसी के समान विष्णु आदि अन्य देवों के स्वरूप में धारणा भी क्यों न स्वीकार की जाए? किन्तु सूर्य आदि नामों के आधार पर यहाँ बाह्यविषय को ग्रहण करना प्रसंग के अनुकूल न होगा; क्योंकि इस प्रसंग में अन्य देश नाभि चक्र आदि हैं, अतः सूर्य आदि को भी इनके समान ही शरीर के आन्तर अंग ही स्वीकार करना चाहिए, जिसके फलस्वरूप सूर्य का अर्थ सुषुम्णा द्वार, चन्द्र का अर्थ चन्द्रद्वार तालुमूल तथा ध्रुव का अर्थ ध्रुवतारा न होकर शरीरान्तर्गत अन्य स्थिर आन्तर अंग विशेष होगा। भाष्यकार व्यास ने इसीलिए सूर्य का अर्थ 'सूर्यद्वारे' किया है,[२] तथा योगभाष्य के व्याख्याकार हरिहरानन्दारण्य ने उसे और स्पष्ट करते हुए सूर्य का सुषुम्णाद्वार, चन्द्र का तालुमूल अर्थ स्वीकार किया है।[३] फलतः धारणा के लिए आश्रय देश शरीरान्तर्गत सूक्ष्म आन्तर अवयव ही हैं। बाह्य विषय विष्णु आदि नहीं। कूर्मपुराण से भी इसी सिद्धान्त की पुष्टि होती है।[४] यदि पतंजलि को बाह्यविषयक धारणा स्वीकार होती तो संयमजन्य सिद्धियों के प्रसंग में बाह्यसंयम से उत्पन्न सिद्धियों (विभूतियों) की भी चर्चा अवश्य ही करते।

ध्यान—

धारणा के सन्दर्भ में जिन देशों में चित्त के संयम की चर्चा की गयी है, उन्हीं देशों में चित्त की एकतानता को ध्यान कहते हैं।[५] इस अवस्था में ध्येय देश के अतिरिक्त अन्य किसी भी विषय की प्रतीति नहीं हुआ करती है।[६] गरुड पुराण के अनुसार ध्यान अन्य देशों में न होकर केवल ब्रह्म में ही होना चाहिए।[७] ध्यान की स्थिति में यद्यपि चित्तवृत्तियों का पूर्णतः निरोध रहता है, किन्तु उस समय गृहीता ग्राह्य और ग्रहण तीनों का ही भान रहता है, इतना अवश्य है कि इस अवस्था में ग्राह्य अनेक न होकर केवल एक रहता है, साथ ही उसका सूक्ष्मतम रूप ही प्रतीति का विषय होता है, क्योंकि एक विषय में भी अवयवादि की प्रतीति की स्थिति में विविध अवयवों में चित्तवृत्तियों के भ्रान्त

---

१. वही ३–२६, २७, २८।
२. योगभाष्य पृ० ३४६।
३. भास्वती पृ० ३४६–४७।
४. कूर्म (उ) ११, ३६।
५. (क) योगसूत्र ३–२।
(ख) योगभाष्य ३.२ पृ० २८३।
६. विष्णु पु० ६–७, ६१।
७. गरुड़पुराण–योगवार्तिक से उद्धृत पृ० २८२।

होने के कारण एकतानता (एकाग्रता) नहीं हो सकती। अतः आवश्यक है कि ध्यान की स्थिति में चित्त में एकतानरूप से प्रतीत होने वाला विषय सूक्ष्म हो, स्थूल नहीं।

समाधि–

समाधि योग का अन्तिम अंग है, उसकी चरमावस्था है। इस अवस्था में ध्यान करते हुए साधक को ध्यानादि के स्वरूप की भी प्रतीति नहीं होती; अपितु वह (ध्यान) अर्थमात्रस्वरूप से निर्भासित होता है।[1] अर्थात् प्रत्यैकतानतारूप ध्यान ही ध्येय के आवेश से ध्यान ध्याता आदि प्रतीति से रहित होकर केवल ध्येय के रूप में प्रतीत होता है।[2] जब कि ध्यान के समय 'यह ध्यान है' इत्यादि प्रतीति हुआ करती है। यही ध्यान् और समाधि का अन्तर है। इसीलिए अत्यन्त अभीष्ट विषय के इन्द्रियों के समक्ष उपस्थित होने पर ध्यान भंग हो जाता है, किन्तु समाधि भंग नहीं होती। यही समाधि दीर्घ काल तक स्थिर रहने पर सम्प्रज्ञात योग कही जाती है।[3] तथा ध्येय की भी स्फूर्ति न होने पर उसे असम्प्रज्ञात योग कहा जाता है। विष्णु पुराण के अनुसार एकाग्रमन से ध्यान करने पर ध्येय के कल्पना से भी परे स्वरूप का जब ग्रहण होने लगता है तो उस स्थिति को समाधि कहते हैं।[4] कूर्म पुराण में धारणा ध्यान और समाधि का अन्तर काल के आधार पर किया गया है। उसके अनुसार एक प्राणायाम में जितना समय लगता है, उसके बारह गुने समय तक ब्रह्म में चित्त को स्थिर करना धारणा कहलाता है, तथा धारणा के उक्त काल से बारह गुना समय तक ब्रह्म में चित्त की एकाग्रता को ध्यान कहा जाता है। इसी प्रकार ध्यान से बारह गुना समय तक ब्रह्म में चित्तलीन होने पर उसे समाधि कहा जाता है।[5] किन्तु कूर्म पुराण के धारणा ध्यान समाधि के उपर्युक्त लक्षण स्थिति की अपेक्षा काल पर आधारित होने के कारण अधिक स्थूल हैं, ऐसा कहा जा सकता है। क्योंकि सर्वप्रथम प्राणायाम के काल का ही कोई स्पष्ट निर्धारण नहीं है। प्रत्येक साधक के रेचक पूरक कुम्भक अथवा चतुर्थ प्राणायाम के काल की सीमा भिन्न-भिन्न हो सकती है। प्राण धारण का स्थितिं काल बहुत कुछ साधक की शारीरिक क्षमता पर आधारित होता है, जब कि एकाग्रता का सम्बन्ध शारीरिक क्षमता से न होकर उसके संस्कार वैराग्य तथा साधना से है, अतः

---

१. योगसूत्र ३–३।
२. (क) योगभाष्य पृ० २८३–२८४। (ख) नागोजिवृत्ति पृ० ११७।
३. मणिप्रभा पृ० ११७।
४. विष्णु पुराण तत्त्ववैशारदी से उद्धृत पृ० १८४।
५. कूर्मपुराण। १-२२३।

मूल प्राणायाम का ही काल प्रत्येक साधक की दृष्टि से भिन्न होगा, फलतः समाधि के लक्षण काल पर आधरित मानने पर प्रत्येक साधक की समाधि का काल भिन्न-भिन्न हो सकता है। इसके अतिरिक्त काल सीमा पर धारणा ध्यान और समाधि का लक्षण स्वीकार करने पर एक और आपत्ति होगी, वह यह कि प्राणायाम धारणा ध्यान और समाधि के अवान्तर काल का नाम क्या होगा ? उदाहरणार्थ यदि किसी साधक का प्राणायाम का समय एक मिनट है, तो कूर्म पुराण के अनुसार इसका अर्थ यह होगा बारह मिनट का समय उस साधक के लिए धारणा का हुआ। अर्थात् बारह मिनट तक एक एक देश में चित्त का बन्ध धारणा हुआ और इसका बारह गुना अर्थात् (१२×१२–१४४) एक सौ चौवालिस मिनट अर्थात् दो घंटे चौबीस मिनट तक चित्त की एकाग्रता होने पर उसे ध्यान कहा जाएगा, एवं १४४×१२ मिनट अर्थात् अट्ठाइस घंटे अड़तालिस मिनट तक चित्त की एकाग्रता होने पर उसे समाधि कहा जाएगा। यदि कूर्म पुराण के पूर्वोक्त सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया जाए आधे घंटे से लेकर सवा दो घंटे तक चित्त के पूर्ण एकाग्र होने को क्या संज्ञा दी जाएगी ? धारणा या ध्यान। यदि धारणा संज्ञा दें तो ध्यान के लक्षण के लिए धारणा की न्यूनतम सीमा को बारह से गुणित करने के लिए चुना जाए—अथवा अधिकतम अथवा मध्यम को ? और क्यों ? यही प्रश्न ध्यान और समाधि का होगा। जिसका व्यवस्थित समाधान पा सकना कठिन है, क्योंकि कूर्म पुराण में कोई स्पष्ट निर्देश एतदर्थ नहीं किया गया है, अतः उचित यही होगा कि कूर्म पुराण के अनुसार काल पर आधारित धारणा ध्यान और समाधि की विभाजन रेखा को स्वीकार न कर योगसूत्र में निर्दिष्ट मन की स्थिति के आधार पर इनके स्वरूप को स्वीकार किया जाए।

समाधि के मुख्यतः दो भेद हैं सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात। सम्प्रज्ञात समाधि सवितर्का निर्वितर्का सविचारा निर्विचारा सानन्दा सास्मिता (अस्मितामात्र) इन उपभेदों से छ प्रकार की है। सम्प्रज्ञात समाधि को सबीज तथा असम्प्रज्ञात समाधि को निर्बीज समाधि भी कहते हैं। इनके भेदोपभेदों का परिचय योग का स्वरूप प्रकरण में विस्तारपूर्वक दिया जा चुका है।

योगांगों में अन्तिम तीन धारणा ध्यान और समाधि शेष योगाङ्गों की अपेक्षा अन्तरङ्ग[1] अर्थात् चित्तवृत्ति निरोधात्मक योग के अत्यन्त निकट है। क्योंकि यम नियम और आसन इन तीनों में योग की ओर उन्मुखता अथवा साधनभाव अवश्य रहता है, किन्तु उनमें चित्तवृत्ति का निरोध किंचिन्मात्र भी

---

१. योग सूत्र ३-७।

नहीं रहा करता। चित्तवृत्तियों के निरोध की भूमिका उनके द्वारा तैयार की जाती हैं। चित्तवृत्ति निरोध का प्रारम्भ धारणा से ही होता है, उसकी परिणति समाधि में हुआ करती है; और चरमपरिणति समाधि के द्वितीय भेद असम्प्रज्ञात अथवा निर्बीज समाधि में हुआ करती है। इसीलिए निर्बीज की अपेक्षा सबीज को भी बहिरङ्ग स्वीकार किया जाता है।[२]

धारणा ध्यान और समाधि तीनों को एक एकाई मानकर इन्हें एक स्वतन्त्र संयम संज्ञा दी जाती है।[३] इन तीनों के 'एकत्रीभाव' के सम्बन्ध में व्यास और भोज आदि सभी व्याख्याकारों ने 'एक विषयक होना' स्वीकार किया है। अर्थात् एक विषयक धारणा ध्यान और समाधि को संयम कहा जाता है।[४] यहाँ एक सन्देह हो सकता है कि किसी एक विषय उदाहरणार्थ ब्रह्म में ही चित्त का देशबन्ध धारणा है, किन्तु उसमें ही प्रत्यैकतानता होने पर उसे धारणा न कहकर ध्यान कहा जाएगा, तथा उसी विषय ब्रह्म में एकाग्रता करते हुए अर्थात् ध्येयमात्र अर्थ ही प्रतिभासित हो तो उसे समाधि कहेंगे। इस स्थिति में जहाँ केवल ध्येयमात्र अवभासमान हो रहा हो, उस एकाग्रता को अर्थात् ब्रह्मविषयक उस एकाग्रता को न तो धारणा कह सकेंगे और न ध्यान ही; उसकी तो एकमात्र संज्ञा समाधि ही होगी। इस स्थिति में धारणा ध्यान और समाधि की एकत्र उपलब्धि ही संभव नहीं है, फिर संज्ञी के अभाव में संयम संज्ञा करना कैसे सम्भव हो सकता है ? योगभाष्यकार अथवा योग के किसी टीकाकार की भाषा से इस प्रश्न का कोई समाधान नहीं मिलता है। हरिहरानन्दारण्य ने इस प्रश्न का समाधानं देने का प्रयत्न किया है। उनके अनुसार संयम संज्ञा धारणा ध्यान और समाधि के एकीभूतरूप की न होकर प्रत्येक की है, अर्थात् किसी भी एक विषय में चित्त की एकाग्रता के प्रयास को संयम कहा जाएगा, चाहे वह धारणा कोटि का हो या ध्यान कोटि का अथवा समाधि कोटि का। अब प्रश्न यह हो सकता है कि यदि किसी भी देश विशेष में चित्त का बन्ध होता है, तो क्या उसे संयम कहा जाना चाहिए। उदाहरणार्थ लौकिक विषयों, प्रेयसी आदि, में चित्त का बन्ध क्या धारणा अथवा संयम कहा जाएगा ? इनका उत्तर होना चाहिए 'नही'। विषयों के चिन्तन में चित्त की किंचित्कालीन स्थिरता (बन्ध) संयम नहीं है, और न ही एकतान होकर प्रियतम अथवा प्रियतमा का चिन्तन ध्यान (योगाङ्ग) या संयम कहाएगा। इसी व्यवस्था के लिए सूत्रकार ने संयम

---

१. योगसूत्र ३-८।
२. वही ३-४।
३. (क) योगभाष्य पृ० २८५।
(ख) भोजवृत्ति पृ० ११८।
(ग) योगसुधाकर पृ० ११८।

की परिभाषा करते हुए 'एकत्र' शब्द का प्रयोग किया। तात्पर्य यह है कि किसी भी विषय में चित्त की एकाग्रता जो समाधि की ओर उन्मुख हो तथा वह क्रमशः समाधि की ओर अग्रसर हो रही हो तो उस स्थिति में स्थिरता की कोटि चाहे धारणारूप हो, चाहे ध्यानरूप और चाहे समाधिरूप उसे संयम कहा जाना चाहिए, अन्यथा उसे संयम कहना उचित न होगा।

अन्य योगाङ्गों के समान समाधि की सिद्धि होने पर भी साधक को अनेक शक्तियों की प्राप्ति होती ही हैं, साथ ही साधना के मुख्यतम फल कैवल्य का लाभ भी परम्परया हो जाता है। योगागों का अनुष्ठान करने से अशुद्धियों का क्षय होता है, एवं उसके फलस्वरूप विवेकख्याति पर्यन्त ज्ञान का लाभ होता है।[1] विवेकख्याति से अविद्या का नाश होता है[2] अविद्या का नाश होने पर द्रष्टा (पुरुष) का दृश्य महत्तत्त्व आदि, ज्ञानसाधन इन्द्रिय आदि तथा समस्त दर्शन (योग) योग्य पदार्थों के साथ विद्यमान संयोग का भी नाश हो जाता है, फलतः उसे कैवल्य का लाभ होता है।[3] कैवल्य लाभ का यह फल असम्प्रज्ञात समाधि का है, सम्प्रज्ञात का नहीं। सम्प्रज्ञात समाधि के भेदों में से सवितर्का निर्वितर्का एवं सविचारा निर्विचारा समापत्तियाँ यद्यपि समाधियाँ ही है, किन्तु वे उसकी प्रारम्भिक स्थितियाँ है; तथा उत्तरोत्तर के प्रति हेतुरूप है; अतः इनके स्वतन्त्र फल का अनुसन्धान करना उचित न होगा। ये समाधियाँ सोपान रूप हैं, इसलिए उत्तरोत्तर की प्राप्ति ही पूर्व पूर्व का फल माना जा सकता है। सविचारा समापत्ति (समाधि) के अनन्तर निर्विचारा की उपलब्धि होती है। निर्विचारा की सिद्धि होने पर बुद्धि (अध्यात्म) में अत्यन्त नैर्मल्य (प्रसाद) आ जाता है, जिसके फलस्वरूप साधक की बुद्धि में निरन्तर त्रिकाल सत्य (ऋत) युक्त बुद्धि का उदय होता है, जो समस्त लौकिकज्ञान–चाहे वह प्रत्यक्षजन्य हो या अनुमानजन्य अथवा श्रुतिजन्य (शब्दप्रमाणजन्य)–से भिन्न आत्म विषयक हुआ करती है। उस बुद्धि से उत्पन्न संस्कार सर्वविध ज्ञान से उत्पन्न संस्कार के प्रतिबन्धक होते हैं। कालान्तर में उसका भी निरोध होने पर निर्बीज समाधि की सिद्धि होती है, जिसे असम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं।[4] इस निर्बीज समाधि के उदय होने के अनन्तर कैवल्य लाभ होता है, यह ऊपर कहा जा चुका है। साथ ही कालातीत सर्वज्ञता की भी प्राप्ति होती है, जिसमें उसे अतीत और अनागत का भी ज्ञान हस्तामलकवत् प्राप्त हो जाता है।[5]

---

१. योगसूत्र २२८।
२. वही २-२६।
३. वही २-२५।
४. योगसूत्र १.४७-५१।
५. वही ३-१६।

योगागों के उपर्युक्त पृथक्पृथक् फलों की जो चर्चा ऊपर की पंक्तियों में की जा चुकी है, उसको एक वाक्य में इस प्रकार कह सकते हैं कि इनके अनुष्ठान से शरीर इन्द्रियाँ और अन्तःकरण सभी पवित्र हो जाते हैं, उनमें किंचिन्मात्र भी अशुद्धि नहीं रह जाती, फलतः साधक के चित्त में सर्वविध विकल्पों से रहित त्रिकालसत्य ज्ञान का उदय हो जाता है; जिसके फलस्वरूप उसके लिए कुछ भी ज्ञातव्य शेष नहीं रह जाता।[1]

योग साधना के इस दुर्गम मार्ग में बहुविध अन्तराय यथासमय (विविध परिस्थितियों में) उत्पन्न होते हैं, विविध विभूतियों के भी दर्शन होते हैं, जिनकी चर्चा यथावसर की जाएगी। इस मार्ग में प्राप्त होने वाली विभूतियाँ, जहाँ योग के इस मार्ग को आकर्षक बनाती हैं, उसे आलोकित करती हैं, अग्रिम मार्ग को निरापद एवं सुगम बनाती हैं, वहीं वे उनमें ही भटक जाने वाले के लिए विघ्न (अन्तराय) भी सिद्ध हो सकती है; अतः साधक को चाहिए कि अहिंसा आदि यमों का सार्वभौम व्रतों के रूप में अनुष्ठान करते हुए साधना की योग्यता प्राप्त करके शौच आदि नियमों के द्वारा स्वयं को योग मार्ग का सबल पथिक बनाते हुए, आसन प्राणायाम और प्रत्याहार द्वारा स्वयं को समाधि का अधिकारी बनाकर धारणा और ध्यान के सोपान से समाधि को प्राप्त करें। मार्ग में आने वाले विभूति आदि अन्तरायों को अन्तराय समझते हुए उन्हें योगसूत्र में ही निर्दिष्ट विधि से दूर करते हुए कैवल्य को प्राप्त करें।

●●●

१. योगसूत्र २०२८।

योग के साधन

योग के अंगों का विवेचन पूर्व प्रकरण में हो चुका है। उसी प्रकरण में यह भी चर्चा हो चुकी है कि समग्ररूप से वृत्तिनिरोधरूप योग असम्प्रज्ञात समाधि की स्थिति में ही बन पड़ता है तथापि उसके पूर्व की भूमिका सम्प्रज्ञात समाधि को भी योग कहते हैं। इतना ही नहीं, सम्प्रज्ञात समाधि में भी न केवल अस्मितानुगत को अपितु वितर्कानुगत विचारानुगत और आनन्दानुगत भूमियों को भी योग कहा जाता है। क्योंकि वे सभी भूमियाँ क्रमशः चित्तवृत्तियों के एकान्त निरोध की सोपान बनती हुई निर्बीज समाधि (असम्प्रज्ञात समाधि) तक साधक को पहुँचाने में सहायक हुआ करती हैं। इसी प्रकार साधना के वे उपाय जो समाधि तक की उद्दिष्ट यात्रा में विविध प्रकृतियों के योगियों के सहायक होते हैं, योग के ही अंग या प्रकार माने जाते हैं। पतंजलि ने योग के अधिकारियों को भवप्रत्यय और उपाय-प्रत्यय भेद से दो वर्गों में विभाजित किया है। भवप्रत्यय योगियों की स्थिति के अनुसार दो प्रकार है : विदेह और प्रकृतिलय। भोजवृत्ति में की गई व्याख्या के अनुसार जो योगी वितर्कानुगत तथा विचारानुगत समाधि को सिद्ध करके आनन्दानुगत भूमि में प्रविष्ट होकर उसी में प्राप्त आनन्दातिरेक को मोक्ष समझ बैठते हैं, वे विदेहयोगी कहे जाते हैं, जो योगी अस्मितानुगत समाधि में चित्त में उद्भूत अस्मितावृत्ति को आत्मा मानकर स्वयं को कृतार्थ समझने लगते हैं, उनकी संज्ञा प्रकृतिलीन है। स्पष्ट ही ये उभयकोटि के योगी वितर्कानुगत तथा विचारानुगत समाधियों में पंचमहाभूतों इन्द्रियों और पाँच सूक्ष्म विषयों का साक्षात्कार कर लेने के कारण शरीर से आत्माध्यास छोड़ चुके होते हैं, किन्तु संस्कारों के बीज के नष्ट न होने के कारण मोक्ष के भागी न होकर पुनः जन्म धारण करते ही हैं।

यही आशय सांख्य के इन वचनों का है कि 'आनंद की प्रगटता ही मुक्ति नहीं है।'[1] कारण में लय होने मात्र से ही मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती, क्योंकि कारण में लय होना तो जल में डुबकी लगाने के समान हैं।[2] जिस

---

१. सांख्य सूत्र ५.७४। २. वही ३.५४।

प्रकार एक गोताखोर गोता लगाने के बाद न्यून वा अधिक देर में जल से ऊपर निश्चितरूप से आता है, सदा सर्वदा के लिए जल के अन्दर नहीं रह सकता वैसे ही प्रकृतिलीनों को भी एक निश्चित काल तक आनन्दोपभोग करने के बाद तत्त्वज्ञान की प्राप्ति के लिए फिर जन्म लेना पड़ता है।

'भव' नाम जन्म का है, और. प्रत्यय-प्रति-अय-प्रत्यक्ष ज्ञान, प्रतीति प्रकट होने या साक्षात्कार को कहते हैं। अतः भवप्रत्यय का अर्थ हुआ जन्म से ही प्राप्त ज्ञान। यहाँ योग के प्रसंग में जन्म से प्राप्त ज्ञान या योग्यता का अर्थ होगा जन्म से ही असम्प्रज्ञात समाधि की प्राप्ति के लिए आवश्यक योग्यता से युक्त होना।

भाष्यकार व्यास भी विदेहों एवं प्रकृतिलीनों की देवयोनि विशेष मानते हैं, जिन्हें निश्चित अवधि के बाद जन्म लेना ही पड़ता है।[१] स्वामी बालराम उदासीन की मान्यता के अनुसार भी इन दोनों के विवेकज्ञान शून्य होने से ये साधिकार चित्त वाले होते हैं, अतः जैसे वर्षाकाल के आने पर मृत्तिकाभाव को प्राप्त हुए मण्डूकादि के देह पुनः मण्डूकभाव को प्राप्त हो जाते है, वैसे ही प्रकृति में लय को प्राप्त हुआ चित्त भी अवधि के अनन्तर फिर संसारोन्मुख हो जाता है।[२] अतः तत्त्वों में लीनता की अवधि को भोग कर आए हुए विदेह और प्रकृतिलय योगी जन्म से ही सम्प्रज्ञात समाधि की योग्यता वाले चित्त से युक्त होते हैं। उनके लिए सूत्रकार ने भी कोई उपाय उपदिष्ट नहीं किए। इससे भिन्न जो उपाय-प्रत्यय योगी है, उन्हें श्रद्धा वीर्य स्मृति समाधि और प्रज्ञा आदि उपायों के क्रम से असम्प्रज्ञात समाधि की प्राप्ति होती है। भोज और व्यास दोनों ही श्रद्धा को चित्त की प्रसन्नता, वीर्य को उत्साह, स्मृति को अनुभूत ज्ञान को न भूलना, समाधि को समाहिति तथा प्रज्ञा को ज्ञेय पदार्थों का विवेक मानकर श्रद्धा से वीर्य की, वीर्य से स्मृति की, स्मृति से समाधि की, समाधि से यथार्थ ज्ञान की, यथार्थ ज्ञान से परवैराग्य की और परवैराग्य से असम्प्रज्ञात समाधि की प्राप्ति के क्रम को स्वीकार करते हैं। वाचस्पति मिश्र ने श्रद्धा का अर्थ अभिरुचि या अतीच्छा किया है, जिसका तात्पर्य हैं दृढ़ इच्छा।[३] विज्ञानभिक्षु के अनुसार वीर्य का अर्थ धारणा, एवं स्मृति का अर्थ ध्यान है। सूत्र में श्रद्धा एवं स्मृतिके अनन्तर समाधि का कथन होने से यहाँ पर श्रद्धा पूर्वक अन्तरङ्ग योग की त्रिपुटी और उसकी सिद्धि से प्रज्ञा की प्राप्ति विवक्षित है।[४]

---

१. योगभाष्य १। १६। पृ० ६०।
२. पातंजलदर्शन प्रकाश १।१६।।
३. तत्त्ववैशारदी पृ० ६०।
४. योगवर्त्तिक पृ० ६०।

सूत्रकार ने इन पूर्वोक्त उपायों की मन्दता और तीव्रता के आधार पर अधिकारियों के तीन वर्ग बनाए हैं मृदूपाय मध्योपाय तथा अधिमात्रोपाय। संवेगों की मन्दता तीव्रता के आधार पर पुनः उन तीन वर्गों को तीन अवान्तर वर्गों में विभाजित करने से कुल नौ श्रेणियों में बाँटा गया है जो (१) मृदूपाय-मृदुसंवेग, (२) मृदूपाय-मध्यसंवेग, (३) मृदूपाय-तीव्रसंवेग, (४) मध्योपाय-मृदुसंवेग, (५) मध्योपाय मध्यसंवेग, (६) मध्योपाय-तीव्रसंवेग, (७) अधिमात्रोपाय-मृदुसंवेग, (८) अधिमात्रोपाय-मध्यसंवेग, और (६) अधिमात्रोपाय तीव्र-संवेग नाम से अभिहित किए जा सकते हैं।[१] भोज ने संवेग से तात्पर्य क्रिया करने में कारणरूप दृढ़तर संस्कार बतलाया है।[२] वाचस्पति मिश्र इसे वैराग्य का ही नामान्तर मानते हैं।[३] क्योंकि अभ्यास और वैराग्य दोनों के संयुक्त-बल से चित्त-वृत्तियों का निरोध सिद्ध होता है, अतः संवेग का अर्थ वैराग्य करना अधिक समीचीन है। उपायों का सम्बन्ध अभ्यास अथवा क्रियात्मक साधना से है। ऐसी अवस्था में संवेग का अर्थ वैराग्य करने से योगफल प्राप्ति के दोनों हेतुओं की मन्दता तीव्रता के आधार पर वर्गीकरण हो जाता है। यद्यपि इस प्रकार साधकों की नौ श्रेणियाँ बन जाती हैं, तो भी सूत्रों में वर्णित विभाजन की दृष्टि से मृदुपाय मध्य और अधिमात्र ये तीन ही प्रमुख श्रेणियाँ हैं।

इन मृदूपाय मध्योपाय और अधिमात्रोपाय अधिकारियों को ही व्याख्याकारों ने मन्द, मध्यम, और उत्तम या आरुरुक्षु युंजान और योगारूढ़ शब्दों से अभिहित किया है; अतः मृदूपाय को मन्दाधिकारी या आरुरुक्षु, मध्योपाय को मध्यमाधिकारी या युंजान एवं अधिमात्रोपाय को उत्तम अधिकारी या योगारूढ़ भी कहते हैं।[४] योग वार्त्तिककार विज्ञान भिक्षु एवं वृत्तिकार भावगणेश के अनुसार सूत्रकार ने अधिकारी भेद के आधार पर प्रमुखतया तीन प्रकार के योग का ही निर्देश दिया है। उत्तमाधिकारी के लिए प्रथम पाद में अभ्यास वैराग्य और ईश्वर प्राणिधान आदि का, मध्यम के लिए क्रियायोग का और मन्द के लिए अष्टांग योग का[५] कुछ आधुनिक विद्वान् भी इस तथ्य का समर्थन करते हैं। उनका कहना है कि—भोज और व्यास ने यद्यपि उत्तम के लिए समाहित चित्त और मध्यम तथा मन्द के लिए व्युत्थितचित शब्द का प्रयोग किया है किन्तु उनकी मान्यता भी इससे पृथक नहीं है। इसलिए मन्द और मध्यम अधिकारियों के लिए क्रमशः क्रियायोग और अष्टांग योग का विधान विज्ञानभिक्षु ने अतीव स्पष्टता

---

१. भोजवृत्ति १०२२।
२. वही १.२१।
३. तत्त्ववैशारदी २.२१।
४. नागोजिवृत्ति २.१।
५. भावगणेशवृत्ति २०१।

के साथ किया है।[1] इसके अतिरिक्त रुचिभेद के कारण भी नानाविध परिकर्मों का उपदेश सूत्रों में पाया जाता है, जिनका मुख्य प्रयोजन अन्तरायों अथवा विघ्नों की निवृत्ति करना है। विघ्नों को सूत्रकार ने चित्त के विक्षेप कहा है, कारण कि ये विघ्न उपस्थित होकर चित्त को विक्षिप्त कर देते हैं। परिकर्मों की साधना विक्षेपों की निवृत्ति के लिए ही है। जिनके मन में ये नव- विध विक्षेप उत्पन्न होते रहते हैं, वे साधक विक्षिप्त चित्त वाले होते हैं, समाहित चित्त नहीं। स्वयं भाष्यकार विक्षेपों और उनके साथ होने वाले अन्य पाँच प्रकार के दुःख दौर्मनस्य आदि अन्तरायों का वर्णन करके कहते हैं, कि ये विक्षेप और विक्षेप के साथ होने वाले दुःखादि अन्तराय विक्षिप्त चित्त वाले को ही होते हैं। समाहित चित्त वाले को ये नहीं होते।[2] इससे यह निर्णीत होता है कि परिकर्मों का उपदेश विक्षिप्त चित्त साधकों के लिए है। अभ्यास और वैराग्य तो एकाग्रचित या समाहित अभ्यासियों के लिए हैं ही। अब प्रश्न उठता है कि क्रिया योग और अष्टांग योग के अभ्यासी कौन सी भूमि वाले होते हैं?

उन विद्वानों की मान्यता है कि भाष्यकार ने भी क्रियायोग और अष्टांग योग के प्रतिपादक साधनपाद का अधिकारी व्युत्थित चित्त साधकों को माना है।[3] भोज व्युत्थान के अन्तर्गत क्षिप्त और मूढ़ दो ही चित्त भूमियों का ग्रहण करते हैं।[4] क्षिप्त भूमि मूढ़ की अपेक्षा श्रेष्ठ है; अतः यदि मध्यम अधिकारियों के चित्त की भूमि को क्षिप्त और मन्द अधिकारियों को मूढ़ चित्तभूमि वाला मान लिया जाए, तो कोई दोष नहीं है। इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि अभ्यास वैराग्यादि की साधना समाहित व्यक्ति के लिए, परिकर्मों का अभ्यास विक्षिप्त चित्त वाले के लिए, क्रियायोग का विधान क्षिप्त के लिए और अष्टांग योग का विधान मूढ़ चित्तभूमि वाले अभ्यासी के लिए है।

ईश्वर प्रणिधान के अधिकारी का निर्णय करने के प्रसंग में उनका कथन है कि समाधि पाद के सूत्र ११ और २२ में सूत्रकार ने उपायों और संवेगों की मन्दता तीव्रता आदि के आधार पर शीघ्र वा विलम्ब से असम्प्रज्ञात समाधि और उसके मोक्षरूप फल की चर्चा की है। इसके तत्काल बाद ही असम्प्रज्ञात समाधि के अन्यतम साधन ईश्वर प्रणिधान द्वारा भी समाधि और उसके फल मोक्ष के शीघ्रतम प्राप्त होने का संकेत किया गया है। इससे यह धारणा तो परिपुष्ट हो जाती है कि पतंजलि व्यास और भोज आदि टीकाकार ईश्वर प्रणिधान (प्रणवमन्त्र के जप) को असम्प्रज्ञात समाधि का सरलतम और सुकर

---

१. योगवर्तिक २। २८।।
२. योगभाष्य १। ३१।
३. वही पृ० १३७।
४. भोजवृत्ति १। १८।

साधन मानते हैं। किन्तु इस बात का उत्तर कि ईश्वर प्रणिधान का अधिकारी कौन है—हमें भाष्यकार द्वारा प्रस्तुत सूत्र को अवतरणिका में ही मिलता है वहाँ कहा गया है कि 'क्या अधिमात्रोपाय तीव्रसंवेग होने से ही समाधि और उसका फल शीघ्रतया प्राप्त हो जाता है, अथवा इसकी प्राप्ति में अन्य भी कोई उपाय है ?' तात्पर्य है कि संवेग और उपायों की तीव्रता हर व्यक्ति में नहीं हो सकती। हर व्यक्ति उत्तम अधिकारी नहीं हो सकता। तो क्या समाधि की शीघ्र प्राप्ति में अन्य कोई हेतु नहीं है ?[1] सूत्रकार के अनुसार इस प्रश्न का उत्तर यह है कि असम्प्रज्ञात समाधि की शीघ्रता पूर्वक प्राप्ति ईश्वर प्रणिधान से भी हो सकती है।[2] अर्थात् संवेग और उपायों की तीव्रता के अभाव में भी ईश्वर प्रणिधान से शीघ्रतम समाधि लाभ हो जाता है।

वस्तुतः प्रथम पाद के उपायों में प्रत्येक को साधना का एक विकल्प मानना और उत्तम अधिकारी के लिए उनका विधान स्वीकार करना एवं क्रियायोग की व्यवस्था मध्यम अधिकारी के लिए अष्टांग योग की व्यवस्था अधम अधिकारी के लिए है यह निर्धारण करना पतञ्जलि की भावना के सर्वथा विपरीत है। पतंजलि द्वारा निर्धारित साधना का मार्ग एक ही है, वह है अभ्यास और वैराग्य की साधना। **क्रियायोग** उसकी संक्षिप्त व्याख्या है उन लोगों के लिए जो आंशिक रूप से साधना करना चाहते है, और **अष्टांगयोग** जिसे **राजयोग** भी कहते हैं उसकी पूर्ण और विस्तृत व्याख्यात्मक साधना विधि है जिसे पूर्ण कालिक साधक ही अपना सकते है।

ईश्वर प्रणिधान से यथाभित ध्यान पर्यन्त की सात साधना पद्धतियां ऐसी है जो पतञ्जलि के समय प्रचलित थीं। पतंजलि ने इनकी व्याख्या किये बिना इनकी ओर संकेत मात्र किया है तथा अन्त में कहा है कि इन साधना विधियों को अपनाकर साधक की परमाणु और परम महत् पर्यन्त ही चित्त की स्थिरता बन पाती है।[3] इन साधनाओं के द्वारा इससे आगे पहुंचना संभव नहीं है। आगे की यात्रा अभ्यास वैराग्य के द्वारा ही होती है। व्यास के अनुसार 'ज्ञान की अन्तिम सीमा वैराग्य है' अन्य साधना विधियों से सविचार समाधि तक पहुंच हो पाती है किन्तु अभ्यास वैराग्य द्वारा निर्विचार समाधि की सिद्धि होती है, तब अध्यात्म प्रसाद पूर्वक ऋतम्भरा प्रज्ञा का उदय होता है जो कि समस्त प्रत्यक्ष अनुमान और आगम रूप ज्ञान साधनों से प्राप्त होने वाले ज्ञान से अत्यन्त भिन्न और उत्कृष्ट है[1] अतः ज्ञान की परकाष्ठा है। फलतः परवैराग्य रूप है, उससे

---

१. अवतरणिका योगभाष्य १.२३। २. योग सूत्र १.२३।।
३. यो. सू. २.४०

ही (इस ऋतम्भरा प्रज्ञा रूप पर वैराग्य के संस्कार से ही) समस्त संस्कारों का निरोध होने पर और अन्त में वैराग्य रूप होने के कारण उसके संस्कारों का स्वतः निरोध होने पर निर्बीज समाधि होती है।[२] तात्पर्य यह है कि अभ्यास वैराग्य के अतिरिक्त अन्यमार्ग सविचार समाधि से आगे नहीं पहुंचाते।

प्रथम पाद में निर्दिष्ट ये साधना मार्ग यदि असम्प्रज्ञात समाधि के मार्ग होते तो सूत्रकार ईश्वर प्रणिधान को क्रिया योग के एक अंश के रूप में अथवा अष्टांग योग में नियम के एक एक अंग के रूप में निर्दिष्ट न करते। न प्राणायाम को ही एक अंग के रूप में स्वीकार करके कहते कि इससे प्रकाश के आवरण का क्षय होता है और धारणा साधना की पृष्ठ भूमि बनती है।[३] और न ध्यान को धारणा और समाधि के मध्य की स्थिति ही स्वीकार करते।[४] उनके अनुसार कोई भी ध्यान समाधि की पूर्णावस्था से बहुत पूर्व की स्थिति है, ध्यान समाधि की पूर्व पीठिका है और समाधि में सम्प्रज्ञात समाधि के ही छ प्रकार हैं, स्तर है। असम्प्रज्ञात तो बहुत बाद की स्थिति है।

यह ऊपर संकेत किया जा चुका है कि परम्परा का संकेत करने के कारण ही वे इनका कोई परिचय या विवरण नहीं देते। सूत्रकार ने ईश्वर प्रणिधान का जो थोड़ा विवरण ग्यारह सूत्रों में दिया है, उसका भी प्रयोजन केवल यह हे कि उसे नियम गत ईश्वर प्रणिधान से अभिन्न न समझा जाए। प्रथम पादगत ईश्वर प्रणिधान नियमों में परिगणित स्वाध्याय से सर्वथा अभिन्न है। भाष्यकार व्यास के अनुसार स्वाध्याय प्रणव आदि मन्त्रों का जप और मोक्ष शास्त्र का अध्ययन है।[५] प्रथम पादगत ईश्वर प्रणिधान प्रणव जप रूप है, यह सूत्रकार स्वयं स्वीकार करते हैं। तभी वे 'ईश्वर क्लेश कर्म विपाक और कर्माशय से त्रिकाल में असम्पृक्त है'।[६] इत्यादि कहने के बाद 'उसका नाम प्रणव अर्थात् ओंकार है तथा इस प्रणव मन्त्र का जप करते हुए प्रणवार्थ रूप ईश्वर की भावना करनी चाहिए' इस व्यवस्था का संकेत करते है।[७] अतः यह स्वाध्याय से भिन्न नहीं है। इस प्रणव जप रूप ईश्वर प्रणिधान के फल के रूप में वे प्रत्यक् चेतना की प्राप्ति और अन्तरायों की निवृत्ति तक ही मानते है।[१] जबकि नियम गत ईश्वर प्रणिधान, जोकि प्रपत्ति अर्थात् समर्पण रूप है,[२]

---

१. योगसूत्र १.४८.४६.५०
२. वही १.५१, ५२।
३. वही २.५३।
४. वही ३.१,२.३।
५. योगभाष्य २.३२।
६. यो.सू. १.२४।
७. वही १.२७, २८।

की चर्चा के बाद उसकी साधना से समाधि की सिद्धि होती है,[३] ऐसा वे स्वीकार करते हैं। जहां तक भाष्यकार व्यास की प्रामाणिकता का प्रश्न है वे स्वयं इस प्रसंग में वदतोव्याघात से नहीं बच सके है। यदि उनके अनुसार प्रथम पाद गत सभी साधना मार्ग अपने में पूर्ण हैं और उत्तम अधिकारी के लिए हैं तो उनके अनुसार प्रथम पादगत ईश्वर प्रणिधान के साधक के समक्ष उपस्थित होने वाले दुःख दौर्मनस्य अङ्गमेजयत्व और श्वास-प्रश्वास रूप उपद्रवों की संम्भावना की निवृत्ति के लिए अभ्यास वैराग्य की साधना की आवश्यकता न होती। जब कि वे स्वयं समाधि के प्रतिपक्षभूत विक्षेप और उसके सहभावी दुःख आदि की निवृत्ति के लिए अभ्यास वैराग्य की साधना आवश्यक मानते है।[४] इतना ही नहीं प्रथम पाद के तेइसवें सूत्र 'ईश्वर प्रणिधानाद्वा' से ईश्वर प्रणिधान का विवरण प्रारम्भ होने के बाद पुनः इसी प्रकरण के बत्तीसवे सूत्र 'तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः'' की व्याख्या करते हुए व्यास कहते है 'तत्राभ्यासस्य विषयमुपसंहान्निदमाह—तत् प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः।'[५] उनका यह कथन स्वयं उनकी ही मान्यता के अनुकुल नहीं लगता।

भाष्यकार के विरोधाभास का एक और उदाहरण देखिए। द्वितीय पाद की प्रस्तावना में वे कहते है 'उद्दिष्टः समाहितचित्तस्य योगः। कथं व्युत्थित चित्तोऽपि योगयुक्तः स्याद् इत्येतदारम्यते''[६] अर्थात् प्रथम पाद की साधना विधि का समाहित चित्त के लिए वर्णन करके द्वितीय पाद में व्युत्थित चित्त के लिए साधना विधि का वर्णन पतंजलि प्रारम्भ कर रहे है। किन्तु संभवतः वे भूल गये कि प्रथम पाद में ईश्वर प्रणिधान की साधना के फल अन्तरायों की निवृत्ति की चर्चा के बाद उनके सहभावी दुःख दौर्मनस्य आदि के लिए वे कहते है कि 'एते विक्षेप सह भुवः विक्षिप्तचित्तस्यैव भवन्ति समाहित चित्तस्यैते न भवन्ति।[७]' अर्थात् ये दुःख दौर्मनस्य आदि व्युत्थित चित्त को ही होते है समाहित चित्त को नहीं। यदि प्रथम पादगत सभी साधनाएं समाहित चित्त के लिए ही विहित हैं, और समाहित चित्त में ये विक्षेप सहभावी दुःख आदि होते ही नहीं, तो अभ्यास वैराग्य रूप एक तत्त्वाभ्यास से उनकी निवृत्ति के लिए पतञ्जलि ने व्यवस्था क्यों दी है ?

इस विरोधाभास के उपस्थित होने का कारण यह है कि पतञ्जलि की

---

१. योग सूत्र १.२६।
२. योग भाष्य २.३२।
३. (क) योगसूत्र. २.४५।
(ख) योग भाष्य २.४५।
४. योगभाष्य. १.३२।
५. योगभाष्य १.३२,
६. वही, २.१
७. वही १.३२

दृष्टि में अधिकारी भेद की कोई बात ही नहीं है। अष्टांग योग ही एक मात्र साधना है, जो सभी कैवल्याभिलाषियों के लिए निर्दिष्ट हुई है। हां आकस्मिक साधकों के लिए क्रियायोग है, जोकि द्वितीय योगांग का एक अंश है। और आकस्मिक साधकों के लिए उतना बहुत है। इसीलिए पतञ्जलि उसके विस्तार में भी नहीं जाते।

इस प्रकार उपर्युक्त तथा इसी प्रकार के अन्य अनेक तथ्यों पर विचार करके यह स्वीकार करना ही उचित है ईश्वरप्रणिधान प्राण के प्रच्छर्दन विधारण रूप प्राणायाम, विषयवती प्रवृत्ति, विशोका ज्योतिष्मती प्रवृत्ति, वीतराग विषयता स्वप्नज्ञान अवलम्बन निद्राज्ञान अवलम्बन तथा यथा अभिमत ध्यान आदि साधनाएं पतंजलि के समय प्रचलित साधना मार्ग रहे हैं। पतञ्जलि ने इनका संकेत करके 'परमाणुपरममहत्त्वन्तोऽस्य वशीकारः'[2] सूत्र द्वारा इन सबसे प्राप्त होने वाले फल का संकेत कर दिया है कि ये साधना मार्ग एक सीमा तक ही आगे ले जा सकते हैं इनके द्वारा कैवल्य तक नहीं पहुंचा जा सकता। जैसा कि सभी आधुनिक विद्वान् स्वीकार करते हैं कि भारतीय लेखकों में इतिहास विषयक दृष्टि अथवा इतिहास लेखन की प्रवृत्ति का अभाव रहा है, इसके कारण पतञ्जलि द्वारा दिये गये ऐतिहासिक संकेतों को न समझने के कारण व्याख्याकारों को इस प्रसंग में भ्रम होना अस्वाभाविक नहीं है।

यदि पतञ्जलि की अभ्यास और वैराग्य की साधना को क्रियायोग और अष्टांग योग से सर्वथा अलग स्वीकार करते हैं; तो प्रश्न होगा कि अभ्यास किसका होना है ? वैराग्य का ? नहीं। यदि वैराग्य का अभ्यास निर्दिष्ट करना होता तो संस्कृत भाषा की सुनिश्चित शैली के अनुसार 'वैराग्याभ्यासात्' पाठ होता 'अभ्यासवैराग्याभ्याम्' नहीं। इस पाठ से एक ही सुश्चित अर्थ निकलता है 'अभ्यास और वैराग्य इन दोनों की सहगामिनी साधना से चित्तवृत्तियों का निरोध होता है। वैराग्य अभ्यास का विषय नहीं है सहगामिनी साधना है। अतः उसका कोई विषय होना चाहिए। अष्टाङ्गयोग साधना के अतिरिक्त अन्य किसी साधना का पतञ्जलि ने स्वयं निर्देश नहीं किया है; अतः यह अष्टाङ्गयोग की साधना ही अभ्यासका विषय सिद्ध होती है। अर्थात् इस अष्टांग योग की साधना ही अभ्यास पद से पतंज्जलि को अभीष्ट है, यह स्वीकार करना उचित होगा।

---

१. योगभाष्य १.३२। २. योगसूत्र १.४०।

इसके अतिरिक्त यह भी स्मरणीय है कि चित्त की जो पांच भूमियां बतायी गयी हैं उनमें पंचम सम्माहित शब्द का अर्थ है, जिसे समाधि लाभ हो चुका है। समाधि के दो मुख्य भेद है सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात। असम्प्रज्ञात समाधि चित्त की निरुद्ध अवस्था है, सम्प्रज्ञात उससे पूर्व की अवस्था है, जिसे समाहित कहा गया है। योग साधना के प्रारम्भ में जब तप आदि द्वारा काय इन्द्रिय आदि की शुद्धि हो चुकी है और साधक समाधि की अवस्था में पहुंच चुका है, तब व्याधि आदि अन्तराय, और दुःख आदि उनके सहभावी उसके शरीर में प्रवेश ही नहीं पा सकते। इसके विपरीत ऋतम्भरा प्रज्ञा के उदय के द्वारा उसका मार्ग प्रशस्त होता है। अतः समाहित चित्त के लिए किसी नये साधना पर्थ की अपेक्षा नहीं होती, भले ही उसे पूर्व जन्म की साधना के कारण ही क्यों न जन्म से ही समाधि सिद्धि प्राप्त हो।

अतः निष्कर्ष के रूप में यह स्वीकार करना उचित होगा कि पतञ्जलि की अभ्यास-वैराग्यरूप साधना विधि सबके लिए समान रूप से है। और योग के आठ अंग उस साधना विधि की विस्तृत व्याख्या हैं।

अभ्यास और वैराग्य–

सूत्रकार ने अभ्यास और वैराग्य की साधना को चित्त की वृत्तियो के निरोध का एकमात्र उपाय माना है, इसकी चर्चा विस्तार पूर्वक पूर्व पृष्ठों में हुई है। ये दोनों (अभ्यास और वैराग्य) योग साधना रूपी गाड़ी के दो पहिए हैं, जिनमें एक के भी अव्यवस्थित होने पर साधना आगे नहीं बढ़ सकती।

गीता भी अभ्यास और वैराग्य से मन का निग्रह होना स्वीकार करती है, और उस निग्रह का अधिकारी उत्तम कोटि के जितेन्द्रिय व्यक्ति को ही मानती है, असंयमी को नहीं।[१]

व्यास के अनुसार चित्त वह नदी है, जो भीतर और बाहर दोनों ओर बहने वाली है। यह जब बाहर के विषयों की और बहती तो है, जो जन्म मरण आदि दुःखों को और जब अन्दर की ओर बहती है, तो मोक्षरूप परम कल्याण को उपस्थित किया करती है। इसका जो प्रवाह विवेकख्यातिरूप मार्ग से बहता है, वह तो मोक्ष के सागर में जा गिरता है, और जो प्रवाह विषयभोगरूप अज्ञान मार्ग से बहता है, वह जन्म मरणरूप संसार सागर में जाकर विश्रान्ति पाता है। वैराग्य के द्वारा जब विश्व का हर विषय मीठे विष की भांति दोष युक्त दिखाई देने लगता है, तो चित्त का बाहर की और बहने

---

१. गीता ६.३५, ३६।

वाला स्रोत दोषदर्शनरूप वैराग्य का बाँध लग जाने से रुक जाता है, अर्थात् बाह्य विषयों में अभिरुचि न रह जाने से चित्त अन्तर्मुख हो जाता है। विवेकख्याति इस स्थिति में अन्तर्मुख स्रोत का उद्घाटन करती है, जिसके फलस्वरूप विषयप्रवाहरूपी चित्त नदी का पूर्ण निरोध हो जाता है।[१]

स्वामी ओमानन्द तीर्थ के अनुसार अभ्यास से तमोगुण की निवृत्ति होती है और वैराग्य से रजोगुण की।[२] रजोगुण प्रवृत्ति धर्म वाला होने से चित्त को बार बार बाहरी विषयों की ओर ढकेलता रहता है। विषयों में अरुचिरूप वैराग्य हो जाने पर चित्त बाहर के विषयों से उपराम होने के कारण रुकने तो लगता है, परन्तु तमोगुण की प्रबलता निद्रा आलस्य निरुत्साह अश्रद्धा और मूढ़ता को उत्पन्न करके उसे विवेक ज्ञान की ओर अग्रसर नहीं होने देती। उसका निरोध करने के लिए अभ्यास ही एक मात्र साधन है। वह अभ्यास व्यास के शब्दों में वृत्ति रहित चित्त का जो सर्वथा शान्त प्रवाह है, उसको निरन्तर बनाए रखने के लिए उत्साह का नाम है।[३]

अवृत्तिक स्थिति से यहाँ अभिप्राय यह है कि चित्त की ऐसी अवस्था, जिसमें चित्त बाह्य विषयों का ज्ञान करने के लिए इन्द्रियों से भी असंयुक्त सा हो जाए। उनके चिन्तन, साक्षात्कार, संकल्प-विकल्प और स्मरण में न डूबे, न ही निद्रा में अपनी चेतना को लुप्त करे। प्रत्युत एक शान्त प्रवाह में बहता रहे। भाष्यकार ने जो अवृत्तिकता के साथ शान्त प्रवाहिता शब्द का प्रयोग किया है, उसका अभिप्राय यह है कि चित्त के त्रिगुणात्मक होने के कारण उसमें परिणामों का होते रहना आवश्यक है। वे परिणाम दो प्रकार के हैं, विसदृश और सदृश। व्युत्थित चित्त में विसदृश परिमाणों का और समाहित चित्त में सदृश परिणामों का प्रवाह निरन्तर विद्यमान रहता है। अतः वृतियों के रुक जाने पर भी चित्त सर्वथा शांत न होकर प्रशान्त प्रवाहिता की स्थिति में आ जाता है। भोज ने इसी अवस्था को चित्त का स्वरूपनिष्ठ परिणाम कहा है;[४] अर्थात् इस अवस्था में चित्त ऐन्द्रिक विषयों या संस्कारों के स्मरण के पीछे न भाग कर अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है।

गीता इस स्थिति को स्थितप्रज्ञता कहती है। उसके अनुसार जब योगी समस्त कामनाओं को, जो उसके मन में घर किए हुए हैं, त्याग देता है, और अपनी आत्मा में आत्मिक सम्पदा से ही संतुष्ट है, तो उसे स्थितप्रज्ञ कहते हैं।

---

१. योगभाष्यः १.१२।
२. पातंजलयोगप्रदीप (पृष्ठ १८२) १.१२।
३. योगभाष्यः १.१३। पृ० ४५।
४. भोजवृत्ति पृ० १७।

जिस प्रकार कछुआ अपने अंगों को सिकोड़ कर अन्दर स्थित कर लेता है, इसी प्रकार जब अभ्यासी अपनी इन्द्रियों को समस्त विषयों से हटा लेता है, तो इसकी बुद्धि प्रतिष्ठित हो जाती है।[1]

इस प्रशान्तवाहिता को प्राप्त करने और बनाए रखने के लिए योगी को बहुत समय तक चित्त को सतत विचारों विकल्पों और नूतन ज्ञान से खाली करने का अभ्यास करना पड़ता है। यह अभ्यास दीर्घ काल तक निरन्तर श्रद्धापूर्वक करने से दृढ़भूमि होता है।[2] सूत्र में आये श्रद्धा शब्द के साथ भाष्यकार ने तप ब्रह्मचर्य और विद्या को भी जोड़ दिया है। तप आदि संयम ज्ञान और कष्टसहिष्णुता के रूप में उनके अवयवों में वर्तमान रहते हैं। उन्हीं के उपयोग से वे चित्त की वृत्तियों को स्वसंकल्पानुसारिणी बनाकर स्वेच्छापूर्वक रोककर चित्त को अवृत्तिक बनाने में सक्षम होते हैं। अभ्यास की दृढ़ता के लिए वैराग्य का होना परमावश्यक है, यह हम पूर्व ही प्रतिपादित कर आये हैं। जैसे पक्षी दो पँखों से ही उड़ सकता है, एक पंख से नहीं; वैसे ही उद्दिष्ट वृत्तिनिरोधरूप योग वैराग्य के अभाव में अभ्यासमात्र से सौ कल्पों में भी सिद्ध नहीं हो सकता। पतंजलि ने वैराग्य को दो प्रकार का माना है, पर और अपर। अपर वैराग्य चार प्रकार का हो सकता है : यतमान संज्ञा व्यतिरेक संज्ञा एकेन्द्रिय संज्ञा और वशीकार संज्ञा। इन्द्रियों को विषयों में प्रवृत्त करने वाले चित्त के विकारों को नष्ट करने के लिए गुरु से ज्ञान की प्राप्ति अथवा शास्त्रों के अभ्यास के द्वारा उनके प्रति दोष दर्शन को **यतमान संज्ञा** वैराग्य कहते हैं। इतने विषयों के प्रति दोष-दर्शन हो चुका है, तथा अमुक विषयों के प्रति-दोष दर्शन करना शेष है, इस प्रकार का अवधारण **व्यतिरेक संज्ञा** वैराग्य कहलाता है। विषयों के प्रति दोष दर्शन होने पर भी उनके प्रति मन में उत्सुकता का शेष रहना, किन्तु स्थूलतः उनका त्याग **एकेन्द्रिय संज्ञक** वैराग्य कहलाता है। इसी प्रकार लौकिक विषयों स्त्री अन्न-पान आदि तथा आनुश्रविक स्वर्ग आदि विषयों के प्रति 'ये सब विनाशशील है, इनसे परिणाम में परिताप, का ही अनुभव होता है, इत्यादि प्रकार से दोष दर्शन के पुष्ट होने पर विषयों के प्रति तृष्णा के सम्पूर्णतया अभाव को वशीकार संज्ञा वैराग्य कहते है।

यह वशीकार वैराग्य देखे और सुने हुए विषयों में तृष्णा के अभाव का नाम है। रूप रस गन्ध शब्द स्पर्श धन सम्पत्ति अन्न खान–पान स्त्री राज्य ऐश्वर्य आदि विषय दीख पड़ने वाले हैं, तथा स्वर्ग विदेह प्रकृतिलय देवलोक

---

१. गीत २.५५, ५८।।

२. योगसूत्र १.१०।।

और विभूति पाद में वर्णित दिव्यगन्ध दिव्यरस दिव्यस्पर्श आदि विषय सुने ही जाते है; इनमें तृष्णा न होने का नाम वशीकार वैराग्य है।[१]

यहाँ पर यतमान व्यतिरेक एकेन्द्रिय और वशीकार इन चतुर्विध ऊपर वर्णित वैराग्यों में से प्रथम तीन को छोड़कर सूत्रकार ने जो वशीकार का वर्णन किया है, वह इसलिए कि प्रथम तीन वैराग्य निरोध के सहायक तो होते है, परन्तु साक्षात् हेतु नहीं होते। साक्षात् हेतु वशीकार वैराग्य ही होता है।

विवेकख्याति के उदय से गुणों में तृष्णारहित हो जाना परवैराग्य है। सम्प्रज्ञात समाधि की चारों अवस्थाओं को पार करने पर जब योगी को त्रिगुणात्मक चित्त और कूटस्थ नित्य पुरुष का अन्तर ज्ञात हो जाता है, तो भाष्यकार के शब्दों के अनुसार जो परप्रत्यक्ष के फलस्वरूप परम विवेक को प्राप्त हुई बुद्धि है, उससे भी योगी को वैराग्य हो जाता है, जिसे ज्ञान प्रसाद या परप्रसंख्यान कहते हैं। उसके उदय होने पर योगी ऐसा मानने लगता है कि जो भी प्राप्त करने योग्य था, वह मुझे प्राप्त हो गया है, जो भी तप ब्रह्मचर्य आदि साधनाओं द्वारा नाश करने योग्य पुण्य अपुण्य रूप कर्म थे, वे अब नष्ट हो गये हैं, अविद्या आदि पांच क्लेश सुख दुःख जाति आयु और भोगरूप विपाक भी नष्ट हो गये है; तथा वासनाओं सहित कर्माशय भी नष्ट हो गया है, जिसके रहते जन्ममरण का चक्र चलता रहता है।[२] इनके नाश के फलस्वरूप मनुष्य अमर हो जाता है और मर कर पुनः उत्पन्न नहीं होता है। यह परवैराग्य ही ज्ञान की पराकाष्ठा है। इसी के निरन्तर अभ्यास से कैवल्य होता है। इस प्रकार अपरवैराग्य संप्रज्ञात समाधि का तथा परवैराग्य असंप्रज्ञात समाधि का उपकारक है।

ईश्वर प्रणिधान

योगसूत्र में ईश्वर प्रणिधान शब्द का प्रयोग चार बार हुआ। प्रथम पाद में ईश्वर प्रणिधान स्वतन्त्र साधना के रूप में है और द्वितीय पाद में इस पद का प्रयोग क्रियायोग के एक अंग के रूप में तथा पुनः द्वितीय योगांग नियम के उपांग के रूप में हुआ है। क्रियायोग और नियम का अंगभूत ईश्वर प्रणिधान में साधक भक्ति विशेष के साथ सारी क्रियाओं को फल की इच्छा किए बिना

---

१. योगसूत्र १.१५।।

२. व्यास भाष्य १.१६। पृ० ५०-५१।

परमगुरु परमेश्वर के अर्पण कर देता है।[१] ईश्वर प्रणिधान में जहाँ साधक कर्मार्पण करता है, वहीं कर्म करने के लिए स्वयं को भी अन्तःकरण में विराजमान अद्वितीय ज्ञानी परमात्मा की प्रेरणाओं पर छोड़ देता है। राघवानन्द सरस्वती के अनुसार भक्ति से वश में हुए उस साधक को ईश्वर अधिकारी चुन लेता है। 'यह मुझे जान ले' ईश्वर के इस संकल्प से वह ज्ञान साधक को प्राप्त हो जाता है, अर्थात् ईश्वर उस पर अपना स्वरूप संकल्प मात्र के प्रयोग से प्रकाशित कर देता है।[२] कठोपनिषद् में स्वीकार भी किया गया है कि न यह आत्मा प्रवचनों को सुनने से प्राप्त होता है, न तीव्र बुद्धि से, न ही बहुत वेदाध्ययन से, जिसको यह आत्मा चुन लेता हैं, उसी पर अपना स्वरूप खोल देता है।[३] श्रीमद्भगवद् गीता में इसी तथ्य को 'मामेकं शराणं व्रज' शब्दों में स्वीकार किया गया है।[४]

नारद भक्ति सूत्र में ईश्वर में भक्ति को परम प्रेमरूपा और अमृतस्वरूपा कहा है, जिसके जानने से मनुष्य-मस्त शांत और आत्मानन्दी हो जाता है, तथा जिसको प्राप्त करने वाला सिद्ध हो जाता है, अमृत हो जाता है और चिरतृप्त हो जाता है।[५]

प्रथम पाद में कथित ईश्वर प्रणिधान से पतंजलि का अभिप्राय ईश्वर के वाचक ओम् शब्द का जप और उसके अर्थ ईश्वर की भावना करना है। क्योंकि पतज्जलि के अनुसार ईश्वर अविद्या अस्मिता राग द्वेष और अभिनिवेशादि क्लेशों, पुण्य अपुण्य कमों जाति आयु दुःख सुखादि विपाकों और वासनाओं से अछूता है; अतः साधक भी उसकी उपासना करता हुआ उपास्य के गुणों को धारण करता है। वह भी क्लेशों कर्मफलों और वासनाओं से रहित हो जाता है, अर्थात् वह निष्काम कर्मयोगी या अनासक्त बन जाता है। फलतः वह साधना के पथ पर बढ़ता हुआ क्रमशः प्रत्यक् चेतना अर्थात् आत्म विषयक ज्ञान को प्राप्त करता है, और उसकी साधना मार्ग के सभी व्याधि आदि अन्तराय निवृत्त हो जाते है।[६] पतंजलि के अनुसार इस प्रकार निरन्तर अर्थभावना और प्रणवजप करने का फल है, प्रत्यक् चेतना की उपलब्धि और अन्तरायों का अभाव। भोज के अनुसार प्रत्यक् चेतना का अर्थ वह दर्शन शक्ति है, जो विषयों से उपरति होने पर अपने अन्तःकरण की ओर जाती है। व्यास द्वारा प्रयुक्त स्वरूप दर्शन में भी यही मान्यता झलकती है।[७] यहाँ यह शंका

१. (क) भोजवृत्ति १.२३।। (ख) व्यास भाष्य १.२३।
२. पातंजलरहस्यम् १.२३।
३. कठ० १।२।२३।
४. भगवद्गीता १८.६०।
५. नारदभक्तिसूत्र १।२,३,६,४।
६. योगसूत्र १.२६।
७. भोजवृत्ति १.२६ पृ० ३६।

हो सकती है कि सूत्रकार ने इससे पहले सूत्रों में ईश्वर का लक्षण कर उसके वाचक प्रणव शब्द का जप और अर्थभावना करने का निर्देश किया था, फिर उसका फल जीव आत्मा का साक्षात्कार कैसे हो सकता है ? इस शंका का समाधान सूत्र के शब्दों को विचारने से हो जाता है। सूत्र में आया 'अपि' शब्द अन्तराय के साथ नहीं अपितु 'अधिगमः' के साथ सम्बद्ध है। ऐसा करने पर सूत्र का अर्थ हुआ—इससे आत्मा का भी साक्षात्कार होता है, और अन्तरायों का अभाव भी।[१] तात्पर्य यह है कि प्रणव जाप से परमात्मा का तो साक्षात् होता ही है, आत्मा का भी साक्षात् हो जाता है।

भाष्यकार के अनुसार क्योंकि जैसे ईश्वर पुरुष कूटस्थ नित्य निरवयव क्लेशरहित मुक्तस्वभाव और अजन्मा है, वैसे ही इस बुद्धि वृत्ति को जानने वाला जीवात्मा भी है,[२] इस प्रकार परमात्मा के सदृश अतएव अभिन्न होने के कारण परमात्मा के साक्षात्कार से योगी को जीव का भी ज्ञान स्वतः हो जाता है। इसी विषय को स्पष्ट करते हुए वाचस्पति मिश्र ने कहा है कि जिस प्रकार एक शास्त्र का अभ्यास अन्य सदृश शास्त्र के भी ज्ञान का हेतु होता है, उसी प्रकार ईश्वर का ज्ञान भी जीव के ज्ञान के कारण हो जाता है।[३] भाष्यकार ने इस प्रसङ्ग में एक अज्ञात कर्त्तृक श्लोक प्रस्तुत किया है, जिसका तात्पर्य है कि[४] प्रणवजप से योग की साधना करे, योग से प्रणव जप का अभ्यास बढ़ावे। प्रणव जप और समाधि के अभ्यास से परमात्मा प्रकाशित होता है।[५] इसी विषय को मुण्डक उपनिषद् में धनुष् वाण एवं लक्ष्य के उदाहरण से इस प्रकार स्पष्ट दिया गया है 'प्रणव धनुष है, आत्मा तीर है, ब्रह्म उसका लक्ष्य है। इसे प्रमादरहित होकर, तीर की भाँति तन्मय होकर बींधना चाहिये।[६]

श्वेताश्वर उपनिषद् के शब्दों में साधक अपने शरीर को एक लकड़ी बनावे और प्रणव को दूसरी लकड़ी। ध्यानरूपी रगड़ के अभ्यास से छिपी हुई आग के सदृश परमात्मदेव को देखे।[७]

अर्थ भावना सहित प्रणव जप का परमात्मा और आत्मा के साक्षात्कार के अतिरिक्त एक अन्य फल अन्तरायों का अभाव भी सूत्रकार को अभिमत है। अन्तराय का अर्थ विघ्न या विक्षेप है। सामान्यतः विक्षेप नौ प्रकार के हैं—१-रोग, २—अकर्मण्यता, ३—आत्म-अविश्वास, ४—लापरवाही, ५—सुस्ती, ६—विषयलोलुपता,

---

१. व्यास भाष्य पृ० ८७।
२. व्यासभाष्य पृ० ८७।
३. तत्त्ववैशारदी १।२६।
४. पातंजलरहस्यम् १।२६।
५. व्यासभाष्य १।२८।।
६. मुण्डक उ० २।४।।
७. श्वेताश्वतर उप० १।१४।

७—मिथ्या ज्ञान, ८—समाधिभूमि की अप्राप्ति और ९—प्राप्त में चित्त का न टिकना।[१] इनके साथ पाँच और विघ्न भी उत्पन्न हो जाते हैं। १— इन्द्रियों का विकारयुक्त होना, २—अप्रसन्नता, ३—अंगो का हिलना, ४- श्वास और प्रश्वास का तेजी से चलना।[२] ये चौदह विघ्न समाहित चित्त-व्यक्ति को नहीं होते, विक्षिप्त भूमि वाले को ही होते हैं। प्रणव जप रूप ईश्वर प्रणिधान से ये सब सदा के लिए लुप्त हो जाते हैं। ध्यान बिन्दु उपनिषद् के अनुसार प्रणव के एक मात्रा के जप को अन्तरायरूप पापों का नाशक, दो मात्राओं के दीर्घ जप को ऋद्धि सिद्धियों का प्रदायक तथा प्लुत जप को मोक्ष का प्रदायक माना है।[३] योग तत्त्वोपनिषद् के अनुसार साधक को चाहिए कि वह एकान्त में बैठकर पहले किए हुए पापों का नाश करने के लिए प्लुत मात्रा से प्रणव का जाप करें। यह मन्त्र सब पापों को और सब प्रकार के दोषों को दूर कर करने वाला है।[४] इस प्रकार प्रणवोपासना के अभ्यास से सम्पूर्ण योग सिद्धि की प्राप्ति हो सकती है।

सूत्रकार पतंजलि ने इन समस्त अन्तरायों का वर्णन करके ईश्वर प्रणिधान का उपसंहार करते हुए कहा है कि इन विघ्नों के निवारण के लिए एकतत्त्व, जो ईश्वर का ध्यान और उसके वाचक प्रणव का जप है, का अभ्यास करे।[५] भाष्यकार ने भी इस सूत्र (१.३२) की सङ्गति में इसे ईश्वरप्रणिधान के अभ्यास के प्रकरण का उपसंहार करने वाला सूत्र ही माना है।[६] किन्तु भोज ने जो इस तत्त्व के अभ्यास विधायक सूत्र को ईश्वरप्रणिधान से भिन्न अभ्यास का प्रतिपादक समझ लिया है, वह युक्त नहीं हैं, कारण यह है कि यद्यपि एक तत्त्व से किसी भी एक तत्त्व का अर्थ लिया जा सकता है, ईश्वर तत्त्व का लेना ही आवश्यक नहीं है, तथापि ईश्वर प्रणिधान का प्रकरण होने से यहाँ ईश्वर का ही ग्रहण करना युक्त है। क्योंकि शब्द के अनेक अर्थ होने पर जहाँ शब्द के अर्थ विशेष का निश्चय नहीं हो पाता, वहाँ पर प्रकरण बल से ही अर्थ का निर्धारण किया जाता है, अतः भोज का ईश्वर के प्रकरण में किसी अन्य अभिमत तत्त्व का ग्रहण करना उचित नहीं है। व्यास वाचस्पति मिश्र राघवानन्द सरस्वती सदाशिवेन्द्र तथा स्वामी बालराम उदासीन आदि विद्वानों ने भी यही अर्थ ग्रहण किया है।

---

१. योग सूत्र १.३०।
२. योगसूत्र १.३१।
३. ध्यानबिन्दू० १।१७।।
४. योगतत्त्व० १।६३,६४।।
५. (क) योग सूत्र १।३२।४।
(ख) व्यास भाष्य १।३२। अवतरणिका।
६. भोजवृत्ति १।३२ अवतराणिका।

परिकर्म–

चित्त को परिष्कृत करने वाले कर्मों को परिकर्म कहते हैं। जब चित्त में असूया आदि कालुष्य होते हैं, तब वह स्थिति लाभ नहीं कर सकता; अतः इनकी निवृत्ति के लिये योगी को अपने व्यावहारिक जीवन का परिष्कार करना होता है। संसार में सामान्यतया चार प्रकार के प्राणी हो सकते हैं–सुखी दुःखी पुण्यशील और अपुण्यशील या पापी। स्पष्ट ही पाप का फल दुःख और पुण्य का फल सुख होने के कारण सुखी लोग पूर्व संचित पुण्य राशि के फलोपभोगी और दुःखी लोग अपुण्य राशि के फलोपभोगी हैं, किन्तु अपुण्यशील और पुण्यशील वे हैं, जो इस समय पाप या धर्म में प्रवृत्त हैं; अतः सुखी दुःखी पुण्यात्मा एवं अपुण्यात्मा इन चार वर्गों में मनुष्यों को बाँटते हुए सूत्रकार ने कहा है कि सुखियों से मैत्री, दुखियों पर करुणा, पुण्यात्माओं के साथ हर्ष (मुदिता) और अपुण्यात्माओं के साथ उदासीनता की भावना रखने से योगी का चित्त प्रसन्न (निर्मल) रहता है।[1]

सामान्यतया व्यक्ति सुखियों को देखकर ईर्ष्या दुःखियों से तटस्थता धर्मात्माओं से विद्वेष और पापियों से द्वेष करने लगता है, किन्तु ये भावनाएँ मन में कलुषता उत्पन्न करती है, अतः योगी को सुखियों से सुहृद्‌भाव, दुःखियों पर कृपा, पुण्यशीलों से हर्ष, और पापियों से न मित्रता न द्वेष की भावनाओं से चित्त को प्रसन्न रखने का अभ्यास विधेय है। राग और द्वेष ही विघ्नों के मुख्य उत्पादक है। यदि वे दोनों जड़ से नष्ट कर दिए जाएं, तो प्रसन्न मन एकाग्र हो जाता है।[2] गीता में भी इसी बात का शब्दान्तर के प्रयोग से वर्णन मिलता है। 'स्वाधीन अन्तःकरण वाला पुरुष रागद्वेष से रहित अपने वश में की हुई इन्द्रियों द्वारा विषयों को भोगता हुआ प्रसन्नता को प्राप्त होता है। उस प्रसन्नता के होने पर सम्पूर्ण दुःखों का अभाव हो जाता है और प्रसन्नचित्त व्यक्ति की बुद्धि शीघ्र ही अच्छी प्रकार स्थिर हो जाती है।[3]

वाचस्पति मिश्र के अनुसार चित्त में चार प्रकार के कालुष्य हैं। ईर्ष्या कालुष्य परापकारचिकीर्षा कालुष्य असूयाकालुष्य तथा अमर्षकालुष्य। ये चारों चित्तमल कहे जाते हैं। क्योंकि ये चित्त को विक्षिप्त करके मलिन कर देते हैं; अतः मैत्री की भावना से ईर्ष्या कालुष्य की, करुणा की भावना से परापकारचिकीर्षा कालुष्य की, मुदिता की भावना से असूया कालुष्य की तथा उपेक्षा की भावना

---

१. योग सूत्र १.३३।। २. भोजवृत्ति १.३३।
३. गीता २.६४, ६५।।

से अमर्ष कालुष्य की निवृत्ति होने पर चित्त के राजस और तामस धर्मों की निवृत्ति होती है, फलतः वह प्रसन्न (निर्मल) हो जाता है।[1]

पातंजलयोगप्रदीपकार स्वामी ओमानन्द तीर्थ एवं स्वामी बालराम उदासीन ने भोज द्वारा बताए गए राग-द्वेष तथा वाचस्पति मिश्र द्वारा बताए गए चार कालुष्यों को मिला कर चित्त के छः कालुष्यों का वर्णन किया है, जो क्रमशः राग ईर्ष्या परापकारचिकीर्षा असूया अमर्ष और द्वेष के साथ कालुष्य शब्द का योग करके रागकालुष्य ईर्ष्याकालुष्य परापकारचिकीर्षाकालुष्य असूयाकालुष्य द्वेषकालुष्य और अमर्षकालुष्य के नाम से अभिहित किए गये हैं। इनकी निवृत्ति मैत्री आदि परिकर्मों से होती है। पतंजलि व्यास एवं उनके टीकाकारों के अनुसार मैत्री करुणा मुदिता और उपेक्षा की भावना से प्रसन्न हुआ चित्त श्रद्धा वीर्य स्मृति एवं समाधि प्रज्ञा को प्राप्त कर प्रज्ञा से सम्प्रज्ञात समाधि को तथा परवैराग्य से असम्प्रज्ञातसमाधि और उसके द्वारा मोक्ष का संपादन करता है।

इन परिकर्मों का अभ्यास करता हुआ योगी शत्रुओं में भी मैत्रीभावना का क्रूर और नृशंस पुरुषों में भी करुणाभाव का ईष्याकलुषितों में भी मुदिताभाव का तथा क्रोधियों में भी उपेक्षाभाव का संचार अपनी भावनाओं द्वारा संयम शक्ति के प्रयोग से कर सकता है। मैत्री करुणा आदि भावनाओं से विमल हृदय योगी का मन अनेक उपायों से समाहित स्थिति को प्राप्त कर सकता है।

पतञ्जलि द्वारा अपने समय में प्रचलित जिन साधना पद्धतियों की ओर संकेत किया गया है, उनमें प्रच्छर्दन विधारणरूप प्राणायाम द्वितीय है। जिनमें से प्रथम है प्राण को नासिका द्वारा बाहर फेंकना और ग्रहण करना।[2] भाष्यकार के शब्दों में फुफ्फुसों में स्थित वायु को नासिका के दोनों छिद्रों द्वारा प्रयत्न विशेष से वमनकर बाहर फेंकने और रोकने के द्वारा मन की स्थिति का सम्पादन करें। यहाँ प्राण को बाहर फेंक कर बाहर ही रोकने का अभ्यास रूप जो बाह्य प्राणायाम है, उसी का उपदेश है, आभ्यान्तर और स्तम्भवृत्ति प्राणायामों का नहीं।[3] वस्तुतः यहां पर नासिका मार्ग से वायु को बाहर निकालने अर्थात् रेचक करने और पुनः ग्रहण करते हुए (पूरक करते हुए) उस पर ही चित्त को एकाग्र करने का संकेत है। अन्दर या बाहर वायु को रोकने अर्थात् बाह्य या आभ्यन्तर स्तम्भवृत्ति (कुम्भक) का नहीं।

---

१. तत्त्व वै० १.३३।
२. योग सूत्र १.३४।
३. व्यासभाष्य १.३४।

भोज और विज्ञान भिक्षु ने यहां विधारण पद का अर्थ आभ्यन्तर कुम्भक करते हुए, क्योंकि आभ्यन्तर कुम्भक पूरक के बिना संभव नहीं है, अतः पूरक को अनिवार्य मानकर रेचक के बाद पूरक एवं पूरक के बाद कुम्भक करना स्वीकार किया है। यह अर्थ सूत्र और भाष्य के विरुद्ध होने से अनादरणीय है।[1] क्योंकि भाष्यकार ने यमनियमादि अष्टांग योग के मध्य आए प्राणायाम प्रकरण में त्रिविध प्राणायाम का लक्षण करते हुए लिखा है कि जिसमें प्रश्वास पूर्वक प्राण की गति को रोका जाता है, वह बाह्यप्राणायाम है।[2] सम्भवतः विज्ञान भिक्षु ने साधन पाद में वर्णित बाह्य प्राणायाम आभ्यन्तर प्राणायाम और स्तम्भवृत्ति प्राणायामों से एवं भाष्यकार एवं सूत्रकार का क्या तात्पर्य है—यह नहीं समझ कर उनको रेचक पूरक और कुम्भक मान लिया है, क्योंकि यदि अन्दर भरे बिना वायु का रोकना नहीं हो सकता तो विज्ञानभिक्षु बाह्य प्राणायाम अर्थात् प्राण को बाहर रोकने की सिद्धि की व्याख्या किस प्रकार कर सकेंगे ?

सूत्र में जो 'वा' शब्द आया है, वह विकल्पार्थक है। परन्तु उससे यह अर्थ नहीं लेना चाहिए कि या तो मैत्री करुणा आदि भावनाओं से या प्राण को बाहर निकाल कर रोकने के अभ्यास से चित्त की स्थिरता का कथन है, प्रत्युत उस विकल्प का सम्बन्ध अग्रिम सूत्र में वर्णित विषयवती प्रवृत्ति से है; क्योंकि मैत्री करुणादि भावनाओं के द्वारा राग द्वेष का त्याग करना तो अभ्यासी मात्र के लिए नितान्त अनिवार्य है। वहाँ तो विकल्प के लिए गुंजाइश है ही नहीं। हाँ, मैत्री करुणादि के द्वारा सम्पादित एकाग्रता के द्वारा चित्तकी भूमि परिकर्मों के अनुष्ठान के योग्य बन जाती है। अतः इस छः विकल्पों में साधनाओं के अभ्यासी को पूर्वयोग्यता के रूप में मैत्री करुणादि भावनाओं का अभ्यास अवश्य सिद्ध करना होता है।

प्राणायाम के अभ्यास से चित्त की समाहितचित्तता का तात्पर्य भोज के अनुसार यह है कि प्राणायाम चित्त की स्थिति को एकाग्रता में बाँध देता है, क्योंकि प्राण के गति करने से समस्त इन्द्रियाँ अपना अपना व्यापार कर सकती हैं, तथा मन और प्राण का अपने अपने व्यापार में योग क्षेम भी एक दूसरे पर निर्भर करता है, अतः प्राणायाम द्वारा क्षीण होता हुआ प्राण समस्त इन्द्रियों के व्यापार का निरोध करके चित्त की एकाग्रता सम्पादन में समर्थ होता है।[3]

यहाँ पर भोज ने समस्त इन्द्रियों के व्यापार का हेतु प्राण के व्यापार को माना है, अतः प्राणायाम के अभ्यास की सिद्धि होने पर प्राणों का जय

---

१. योग वार्त्तिक १.३४। २. व्यास भाष्य २.५०।।
३. भोजवृत्ति १.३४।

होते ही इन्द्रियों का जीतना अपने आप हो जाता है, क्योंकि प्राण ही इन्द्रियों को चलाने वाला है। दूसरी बात है, मन और प्राण की अपने अपने व्यापार में पारस्परिक योगक्षेम की, जिसका तात्पर्य यह है कि प्राण के गति करने से मन भी गति करता है। मन के रुकने से प्राण और प्राण के रुकने से मन भी रुक जाता है। अथवा मन और प्राण की गति अन्योन्याश्रित है। परन्तु प्राण मन की अपेक्षा स्थूल है, अतः प्राणायाम का अभ्यास मन के निरोधरूप सूक्ष्म लक्ष्य की सिद्धि के लिए एक अन्यतम साधन हैं। इसीलिए सूत्रकार ने यम नियम आदि अष्टांगयोग साधना के बिना ही चित्तवृत्ति निरोध के उपाय के रूप में परम्परा में स्वीकृत प्रच्छर्दन विधारण रूप प्राणायाम की साधना की ओर संकेत किया है।

साधन पाद में अष्टांगयोग के चतुर्थ अंग के रूप में सूत्रकार ने जिस प्राणायाम का उपदेश किया है, वह इससे सर्वथा भिन्न है। वहां उन्होंने बाह्यवृत्ति-रेचक, आभ्यन्तरवृत्ति-पूरक, स्तम्भवृत्ति-कुम्भक और बाह्य आभ्यान्तर विषयाक्षेपी-केवलकुम्भक-भेद से युक्त चतुर्विध प्राणायाम का उपदेश किया है, उस चतुर्विध प्राणायाम की सिद्धि से चेतना के प्रवाह मार्ग सुषुम्ना के मुख आच्छादित करने वाले कफ आदि मल का हटना स्वीकार किया है।[१] जिसके फलस्वरूप प्राण सुषुम्नामें प्रवाहित होकर नाना ज्ञान विज्ञान की प्राप्ति के एक मात्र उपाय धारणा ध्यान समाधि की योग्यता प्राप्त कर लेता है।[२]

उपर्युक्त साधना विधियों के अतिरिक्त पतञ्जलि के समय में चित्तवृत्तियों के निरोध के लिए विषयवती प्रवृत्ति भी प्रचलित रही है। व्यास और भोज आदि के अनुसार विषयवती प्रवृत्ति का अर्थ है गन्ध रस रूप स्पर्श एवं शब्द विषयक संवित् में चित्तवृत्तियों के निरोध का प्रयत्न।[३] उनके अनुसार नासिका के अग्रभाग में गन्धसंवित्, जिह्वा के अग्र भाग में रस संवित्, तालु में रूपसंवित् जिह्वा के मध्यभाग मे स्पर्श संवित् तथा जिह्वा के मूल में शब्दसंवित् की स्थिति है। इनके अनुसार इन स्थानों पर ध्यान की परिपक्वता से इन संवितों का क्रमशः साक्षात्कार भी हो जाता है। अर्थात् जिह्वा के अग्र भाग में ध्यान की परिपक्वता से दिव्य रस का, नासाग्रभाग में दिव्य गन्ध का, तालु में दिव्य रूप, जिह्वामध्य में दिव्य स्पर्श का तथा जिह्वामूल स्थान में संयम से दिव्य शब्द का प्रत्यक्ष योगियों को होता है। इस प्रत्यक्ष के प्रभाव से सर्वविध संशय नष्ट हो जाता है, सम्प्रज्ञात समाधि तक पहुँचने का मार्ग प्रशस्त हो जाता है। भाष्यकार ने

---

१. योगसूत्र २.५२।
२. योगसूत्र २.५२।
३. योग सुत्र १.३५।

इस प्रसंग में चन्द्र सूर्य नक्षत्र मणि प्रदीप रत्नादि की प्रभा में चित्त के संयम का वर्णन किया है, तथा उसे भी विषयवतीप्रवृत्ति नाम से ही अभिहित किया है।[1]

भोज ने इस अभ्यास को संप्रज्ञात समाधि का ही पूर्वांग माना है।[2] वस्तुतः यह वितर्कानुगत समाधि की ही एक साधना विशेष है। यदि वहाँ संतोष न करके एकाग्रता को और अधिक बढ़ाकर सूक्ष्म तन्मात्राओं का भी साक्षात्कार कर लिया जाए तो यह विचारानुगत समाधि कहलाएगी।

इन दिव्य विषयों का साक्षात्कार योगी को बाह्य अदिव्य गन्ध रस रूप स्पर्श शब्दादि से विरत कर उसमें जितेन्द्रियता का भी सम्पादन करता है, तथा शब्द स्पर्श रूप रस गन्ध के साधनों से साधक में क्रमशः सूक्ष्म और छिपे हुए दूरस्थ-शब्दों को सुनने सूक्ष्म, आवरण युक्त तथा दूरस्थ स्पर्शों को जानने, दिव्य व्यवहित या दूरस्थ रूपों को देखने, दिव्य व्यवहित तथा दूरस्थ गन्धों को सूंघने की योग्यता आ जाती है। जिन्हें प्रातिभ श्रावण वेदना आदर्श आस्वाद और वार्ता सिद्धियाँ कहा जाता है।[3] इसी प्रकार भाष्यकार द्वारा कथित सूर्य चन्द्र तथा ध्रुव आदि ग्रहों में संयम करने से साधक को क्रमशः सौरमण्डल, तारामण्डल और नक्षत्रों की गति का ज्ञान होता है।[4]

इसके अतिरिक्त विशोका ज्योतिष्मती प्रवृत्ति भी मन की स्थिति को बाँधने वाली होती है।[5] विशोका और ज्योतिष्मती को वृत्तिकार ने निम्नलिखित रूप में परिभाषित किया है। प्रस्तुत प्रसंग में ज्योति सात्त्विक प्रकाश को कहते हैं। वह सात्त्विक प्रकाश चित्त की जिस प्रवृत्ति में अत्यधिक हो वह ज्योतिष्मती प्रवृत्ति कहलाती है। जिस चित्तवृत्ति के सुखमय अभ्यास के प्रभाव से रजोगुण का परिणाम शोक दूर हो गया हो, वह विशोका कहलाती है।[6]

चित्त की इस ज्योतिष्मती प्रवृत्ति का ध्यान हृदय कमल में किया जाता है। कारण कि चित्त का निवास स्थान हृदयस्थ आनन्दमयकोश ही है। जहाँ भाष्यकार तथा अन्य सभी टीकाकारों के अनुसार चित्तसत्त्व प्रथम सूर्य चन्द्र मणिप्रभा के रूप में भासित होता है। तदनन्तर अस्मिता में संसारित हुआ चित्त निस्तरङ्ग हुए क्षीर सागर के तुल्य भासित होता है।

यहाँ पर निस्तरङ्ग समुद्र से उपमा दिये जाने से यह लक्षित होता है कि चित्त वितर्क विचारादि विकल्पों से रहित होकर निर्विचार समाधि की

---

१. व्यासभाष्य १.३५।
२. भोजवृत्ति। १३४।
३. योगसूत्र ३.३६।
४. वही ३.२६ वही २८।।
५. योगसूत्र १।३६।।
६. भोजवृत्ति १.३६।

उच्च अवस्था में वर्तमान हो जाता है, जो पूर्व वर्णित वितर्कानुगत समाधि से कहीं अधिक ऊंची है। तात्पर्य यह है कि नाभिकन्द रूप दश अङ्गुल परिमित जो हृदय कमल है, वह रक्त वर्ण अष्टदल पंचछिद्र अधोमुख एवं संपुटित है। उसी के अन्दर यह चित्त का साक्षात्कार ज्योतिष्मती प्रवृत्ति के रूप में होता है।

श्वेताश्वतरोपनिषद् में भी ऐसे ही प्रकाशों के दर्शन का वर्णन प्राप्त होता है, उसके अनुसार योगी को प्रथम कोहरे धुएं सूर्य हवा अग्नि जुगनू विद्युत स्फटिक और चाँद के रूप में अवभासित होते है, वे क्रमशः शांत हो जाते है, और अन्त में ,उसे आनन्दरूप ब्रह्म का साक्षात्कार हो जाता है।[1]

इस ज्योतिष्मती प्रवृत्ति की साधना से साधक को सूक्ष्म व्यवहित तथा विप्रकृष्ट पदार्थों के दर्शन की योग्यता की प्राप्ति तथा चित्त का प्रत्यक्ष बोध होता है।[2] ऋतंभरा प्रज्ञा या प्रवृत्त्यालोक की प्राप्ति भी योगी को हृदय में ध्यान करने से होती है। इसे ही उपनिषदों में दहरोपासना के नाम से अभिहित किया गया है। छान्दोग्य उपनिषद् में हृदय में निहित इस ज्योति के ध्यान का फल समस्त लोक-लोकान्तर द्यौ पृथिवी अग्नि वायु सूर्य चन्द्रमा विद्युत नक्षत्रादि लोक आकाश तथा समस्त ज्ञाताज्ञात ब्रह्माण्ड और निष्पाप अजर अमर अशोक, खान पान से रहित सत्यकाम सत्यसंकल्प आत्मा का साक्षात्कार होना स्वीकार करते हुए इसे ब्रह्मपुर तथा अमृतपुर कहा है; जो मनुष्य के बूढ़ा होने से बूढ़ा नहीं होता और न मरने से मरता है।[3]

उपनिषदों में जो हृदय को दहर आकाश कहा है, वह इसी धारणा से कि आकाश में जितने भी लोकान्तर है, वे सूक्ष्म रूप में हृदय में स्थित हैं, और वहीं पर ध्यान करने से योगी को उनका सम्यक् बोध हो सकता है।

व्यास के अनुसार पूर्ववर्णित ये विशोका ज्योतिष्मती प्रवृत्ति दो प्रकार की है। विषयवती विशोका ज्योतिष्मती एवं अस्मितामात्र विशोका ज्योतिष्मती।[4] ये दोनों शोक के कारण भूत रजोगूण से रहित होने के कारण विशोका और सत्त्वगुण की ज्योति से परिपूर्ण होने के कारण ज्योतिष्मती कहलाती हैं।

अस्मितामात्र ज्योतिष्मती अहंकार और अस्मिता का विषय करने वाली होने से क्रमशः आनन्दानुगत और अस्मितानुगत समाधि की स्थिति वाले उच्चकोटिं के योगियों के लिए है, जो विषयवती ज्योतिष्मती की भूमियों को

---

१. श्वेताश्वतर २।११।
२. योगसूत्र ३.२५, ३४।
३. छान्दोग्य ८।१३, ५।
४. व्यास भाष्य १.३६।

पार कर चुके हैं। इसी कारण सूत्रकार ने इस का व्याख्यान विषयवती विशोका ज्योतिष्मती के बाद ही में किया है।

मन की स्थिति के निबन्धन का एक अन्य उपाय भी उस काल में प्रचलित रहा है, वह है वीतराग चित्त के ध्यान से चित का राग रहित होकर एकाग्र होना।[१] इस सूत्र का अर्थ करते हुए व्यास भोज राघवानन्द सरस्वती वाचस्पति मिश्र विज्ञानभिक्षु हरिहरानन्दारण्य सदाशिवेन्द्र भावगणेश नागोजीभट्ट बालराम उदासीन आदि आचार्यों ने कृष्ण द्वैपायन शुक सनकादि वीतराग पुरुषों के चित्त का ध्यान करने से चित्त का स्थिर हो जाना स्वीकार किया है। जिस प्रकार कामुक का चिन्तन करने से चित्त कामुक हो जाता है, उसी प्रकार सनकादि के विरक्त चित्त का ध्यान करने से अभ्यासी का चित्त भी उसी के समान विषयों से विरक्त होकर स्थिर स्वभाव वाला हो जाता है।[२]

योगी का चित्त जिस भी विषय का ध्यान करता है, उसी से उपरक्त होकर तदाकार हो जाता है और उस विषय को जो निर्मल स्फटिक मणि के तुल्य उस स्वच्छ चित्त में प्रतिबिम्बित हो गया होता है, पूर्ण रूप से जान लेता है; किन्तु चित्त के द्वारा परचित में समाधि करना युक्त प्रतीत नहीं होता, क्योंकि प्रथम तो यदि योगी के चित्त द्वारा अन्य के चित्त को विषय बनाकर उसका उपराग प्राप्त करना मान लें, तो उस अन्य चित्त ने अन्य किसी के चित्त को विषय करके उसका उपराग प्राप्त किया हुआ हो। इस प्रकार अनवस्था दोष आ जायगा। इसी कारण सूत्रकार ने भी परचित्तमात्र का साक्षात् होना माना है, आलम्बन किए हुए विषय के सहित नहीं; क्योंकि पर चित्त द्वारा आलम्बन किया गया विषय योगी के चित्त का विषय नहीं बन सकता।[३]

भाष्यकार ने भी योगी को पर चित्त का इतना ही ज्ञान होना माना है कि वह रागयुक्त है, या विरक्त। परन्तु अमुक आश्रय में वह रक्त है—यह योगी नहीं जानता है।[४] क्योंकि जब योगी यह नहीं जानता कि किस विषय में परचित्त अनुरक्त है, तो परचित्त किस किस विषय में विरक्त है, यह भी नहीं जानता। अतएव योगी के द्वारा वीतराग विषय चित्त का ध्यान उसको यही ज्ञान उत्पन्न करा सकेगा कि वह चित्त विरक्त है। किस आलम्बन में विरक्त है यह नहीं। किन्तु वह ज्ञान तो नेत्र मुखाकृति आदि चिह्नों से योगी अयोगी सभी को हो जाता है। इसके अतिरिक्त भोज आदि प्रायः सभी टीकाकारों ने जिन व्यास द्वैपायनादि के चित्तों का ध्यान करना बताया है, वे चित्त स्वकारण में लीन

---

१. योगसूत्र १.३७।
२. नागोजि वृत्ति १।३७।
३. योगसूत्र ३.२०।
४. व्यास–भाष्य ३.२०।

होकर अभाव को प्राप्त हो चुके हैं, अर्थात् वर्तमान नहीं है; तो उनका ध्यान हो भी किस प्रकार सकता है? उपर्युक्त दोषों की आशंका से ही चन्द्रिकावृति में जो इसका अर्थ विषयों की अभिलाषा को पूर्णतया छोड़ देने वाला, चित्त मन की स्थिति को बाँधने वाला होता है,[1] इस प्रकार लिया है, वही अधिक समीचीन प्रतीत होता है। क्योंकि विषयराग रहित अवस्था वाला चित्त विषयों की ओर न दौड़कर समाहित हो जाता है। वस्तुतः विषयोपभोग ही हमारे शरीर में होने वाली समस्त व्याधियों का मूल कारण है। व्याधि ही समस्त अन्तरायों का मूल है। व्याधित मनुष्य में ही अकर्मण्यता घर कर लेती है। अकर्मण्यता या स्त्यान से संशय, संशय से प्रमाद, प्रमाद से आलस्य, आलस्य से अविरति, अविरति से भ्रान्तज्ञान, भ्रान्तज्ञान से एकाग्र भूमियों की अप्राप्ति तथा एकाग्रता की अप्राप्ति से ही चित्त का अस्थायित्व, चित्त के अस्थायित्व से ऐन्द्रिक विकार, ऐन्द्रिक विकारों से मानसिक विकलता, मानसिक विकलता से आसन की अस्थिरता और आसन की अस्थिरता से श्वास की विषमता का जन्म होता है। वीतराग स्थिति में आधियाँ और व्याधियाँ हमारा स्पर्श नहीं कर सकती; अतः वीतराग चित्त में ये समस्त अन्तराय उत्पन्न ही नहीं होते।

चित्त की वृत्तियों का एक परम्परागत मार्ग स्वप्न निद्रा की शारीरिक स्थिति में ज्ञान का आलम्बन पतञ्जलि के समय प्रचलित रहा है। इसके अनुसार स्वप्न काल के समान शरीर के शिथिल होने पर भी या निद्रा तथा निद्राकाल के समान शरीर के शिथिल होने पर भी ज्ञान का आलम्बन करने वाला चित्त भी मन की स्थिति को बाँधने वाला होता है।[2] भोज के अनुसार जिस समय इन्द्रियों के विषयों के संयोगादि बाह्य व्यापार के रुक जाने पर जहाँ मन के द्वारा ही आत्मा का भोक्तापन शेष रहता है, वह स्वप्न है,[3] तथा तमोगुण की अधिकता के कारण समस्त विषयों का त्याग कराने वाली वृत्ति का नाम निद्रा है।[4] इस स्वप्नज्ञान या निद्राज्ञान का आलम्बन करने से चित्त का स्थिर होना भाष्यकार तथा वृत्तिकार दोनों को अभिमत है।

इस प्रसंग में स्मरणीय है चित्त के समाधिधर्म को दो बाधाएँ प्रकट नहीं होने देतीं: विषय सेवन और पूर्व संस्कारों की स्मृति। स्वप्न में बाह्य विषयों से तो इन्द्रियां विरत हो जाती हैं, किन्तु संस्कारों का कोश स्मृति वृत्ति के आश्रय से नानाविध स्वप्नों को रचता रहता है। प्रगाढ़ सुषुप्ति में संस्कारों की स्मृति भी लुप्त हो जाती हैं, केवल निद्राजन्य अनुभव का स्मरण शेष रह जाता है।

---

१. चन्द्रिका १.३७।
२. योगसूत्र १.३८।
३. भोजवृत्ति १.३८।
४. वही १.१०।

सम्प्रज्ञात समाधि और स्वप्न दोनों में स्थूल शरीर के बाह्य कार्य बन्द होकर केवल सूक्ष्म शरीर में ही चित्त का व्यापार शेष रह जाता है। स्वप्नावस्था से इसमें यही विलणणता है कि तमस् के स्थान पर समाधि में सत्त्व की प्रधानता होती है। रजोगुण दोनों में गौणरूप के वर्तमान रहता है। विवेकख्याति और सुषुप्ति दोनों में समस्त ऐन्द्रिक व्यापार और संस्कारों की स्मृतियाँ लगभग रुक ही जाती हैं। विवेकख्याति में तमस् के प्रसार के स्थान पर सत्त्वगुण का प्रकाश पूर्णतया फैल जाता है। रजोगुण दोनों में केवल तज्जन्य अनुभव की क्रिया को संभव करने के लिए नाममात्र को शेष रह जाता है। सुषुप्ति में कारणशरीर में अभाव की प्रतीति होती है, जबकि विवेकख्याति में कारण शरीर में ही चित्त के द्वारा पुरुष एकदम भिन्न होता प्रतीत होता है। तात्पर्य है कि अभ्यासी प्रथम स्वप्न काल में शिथिल शरीर होकर ज्ञान का आलम्बन करे अर्थात् समस्त विषयों से इन्द्रियों को रोक कर स्थूल शरीर को भूले हुए के समान जानकर अवृत्तिक स्थिति में स्थापित करे। इसके बाद स्मृतिवृत्ति अर्थात् संस्कारों की स्मृति से भी चित्त को रोके। इस के साथ ही निद्रावृत्ति को भी प्रभुत्व जमाने से रोकता जाये, तो क्रमशः सम्प्रज्ञातसमाधि की विविध अवस्थाओं को पार करता हुआ वह विवेकख्याति तक जा सकता है।

वाचस्पति मिश्र के अनुसार जब योगी स्वप्न में निर्जन वन के निकट स्थित चन्द्रमण्डल के समान गौरवर्ण वाली तथा मृणाल के तुल्य कोमल अंगों वाले, अभिजात चन्द्रकान्तमणि के सदृश, सुगन्धियुक्त मालती पुष्पों की माला से सुशोभित परम मनोहर भगवान् शङ्कर की आराधना करते हुए जाग जाए तो उस सुखद स्वप्न की स्मृति में ही चित्त को लगा देने से योगी को एकाग्रता की प्राप्ति होती है।[1]

विज्ञानभिक्षु, नागोजिभट्ट तथा भावगणेशादि आचार्यों ने इस सूत्र से संसार को स्वप्नवत् क्षणभङ्गुर और समस्त जीवों को अज्ञान निद्रा में सुषुप्त के समान देखकर चित्त का विरक्त होकर एकाग्र हो जाना स्वीकार किया है।[2]

वस्तुतः स्वप्ननिद्राज्ञानालम्वन का तात्पर्य शरीर का शिथिलीकरण करते हुए उसे इतना शिथिल किया जाय, जितना वह स्वप्नावस्था में और निद्रा की अवस्था में रहता है। शरीर को इस स्थिति में पहुंचा कर भी ज्ञान का आलम्वन बनाए रखना। यह साधना शवासन में की जाती है और इस स्थिति को आधुनिक परम्परा में योगनिद्रा कहा जाता है। चित्तवृत्ति निरोध का यह भी

---

१. तत्त्ववैशारदी १.३८।　　२. योगसूत्र टीकाएं १.३८

प्रशस्त उपाय है। साधक इस साधना के द्वारा भी सम्प्रज्ञात समाधि का लाभ कर लेता है।

इन विविध उपायों के अतिरिक्त चित्त वृत्तियों के निरोध का एक अन्य मार्ग भी परम्परा में प्रचलित रहा है, वह है यथाभिमत ध्यान, अर्थात् साधक को जिसका भी ध्यान करना रुचिकर प्रतीत हो, उसका ही ध्यान करे। ऐसा करने से भी मन की स्थिति का निबन्धन हो जाता है।[1] व्यास के अनुसार अभिमत का ध्यान करने से, ध्यान की परिपक्वता होने पर चित्त अन्यत्र, अन्य वस्तु में भी समाधि की भूमि को प्राप्त करने के योग्य हो जाता है।[2] यहाँ अभिमत का अर्थ रुचिकर होने से है, अतः भोज ने अभिमत से बाह्य चन्द्रादि या आभ्यन्तर नाड़ीचक्रादि तात्पर्य ग्रहण किया है। नागोजिभट्ट भावगणेश वाचस्पतिमिश्र और बालराम उदासीन आदि ने अभिमत का अर्थ इष्ट देवता किया है। वह देवता अपने भक्तिभाव के अनुसार राम कृष्ण शिव विष्णु सरस्वती गणेशादि कोई भी हो सकता है। राघवानन्द सरस्वती ने अभिमत का अर्थ शास्त्र के अविरुद्ध लेकर नग्न स्त्री आदि के ध्यान का ध्येय पदार्थों से निवारण किया है।[3]

इन परिकर्मों की सिद्धि से योगी का मन इतना निर्मल और एकाग्र हो जाता है कि सूक्ष्म परमाणु से लेकर महान् से महान् जो आकाश आदि पदार्थ हैं, उनका निर्बाध रूप से ज्ञान प्राप्त कर लेता है।[4]

वस्तुतः सूक्ष्म पदार्थों की अवधि परमाणु तक है, और महान् विषयों की अवधि या चरम सीमा आकाश है; अतः परमाणु से परम महत् आकाश तक वशीकार की सिद्धि से सूत्रकार का यही तात्पर्य है कि वह योगी विश्व की किसी वस्तु या पदार्थ को ध्येय बनाकर उस पर चित्त को समाधिस्थ कर उसका ज्ञान प्राप्त कर सकता है, क्योंकि इस पूर्ण वशीकार की प्राप्ति के बाद योगी को विश्व का कोई भी पदार्थ अज्ञात नहीं रहता। इस अवस्था को प्राप्त चित्त विक्षेपों की निवृत्ति के परिणाम स्वरूप राजस और तामस वृत्तियों के क्षीण हो जाने के कारण उत्तम जातीय स्फटिक मणि की भाँति ग्रहीता ग्रहण और ग्राह्य विषयों में एकाग्रता से स्थित होकर तथा उनके उपराग से तदाकार होकर उनका ज्ञान प्राप्त करने में समर्थ हो जाता है।[5]

जिस प्रकार एक स्फटिकमणि के पास पीला नीला या लाल फूल रख देने से वह रत्न भी उस पुष्प के रंग से उपरक्त होकर क्रमशः पीला नीला

---

१. योगसूत्र १.३६।
२. व्यासभाष्य १.३६।
३. पातञ्जल रहस्यम् १.३।।
४. योगसूत्र १.४०।।
५. वही १.४१।

या लाल ही भासित होने लगता है; वैसे ही अतिस्वच्छता के कारण चित्त भी जिस आलम्बन का उपराग प्राप्त कर लेता है, उसी में समाधि को प्राप्त कर उसी रूप से भासित होने लगता है। सूत्रकार ने यद्यपि ग्रहीता ग्रहण और ग्राह्य के क्रम से इन तीन विषयों की चर्चा की है, किन्तु अनुष्ठान क्रम से ग्राह्य ग्रहण और ग्रहीता इस पूर्वपरता से तत्त्वों का साक्षात् होता है; अतः भोज के अनुसार सूत्रकार को ग्राह्य ग्रहण और गृहीता क्रम से शब्दों को सूत्र में रखना चाहिए था।[1]

ग्रहण ग्राह्य गृहीता पदों से सूत्रकार का क्या अभिप्राय है, इसके निर्धारण में भी व्यास और भोज आदि वृत्तिकारों में पर्याप्त अन्तर है। व्यास के अनुसार तो ग्राह्य समाधि के द्वारा पाँच स्थूलभूत और पाँच तन्मात्राओं का, ग्रहण के अन्दर अन्तःकरण और इन्द्रियों का तथा ग्रहीता के अन्दर पुरुष अथवा मुक्त पुरुषों का साक्षात्कार होता है।[2] किन्तु "वितर्कविचारानन्दास्मितानुगमात् सम्प्रज्ञातः" सूत्र में चार प्रकार की समाधियों का वर्णन करते हुए भोज वितर्कानुगत समाधि में महाभूतों और इन्द्रियों का, विचारानुगत में तन्मात्राओं और अन्तःकरण का साक्षात् होना मानकर इन अब तक की समाधियों को ग्राह्य समाधियाँ, तथा आनन्दानुगत में रजस् तमस् के लेश से युक्त अन्तः करण का एवं अस्मितानुगत में रजस्-तमस् के लेश से रहित शुद्ध सत्त्व का साक्षात् होना स्वीकार करते हैं, साथ ही वे आनन्दानुगत समाधि को ही ग्रहणसमाधि और अस्मितानुगत समाधि को ग्रहीता विषयक समाधि मानते हैं। ग्रहीता पुरुष के अविषय होने के कारण उसका प्रत्यक्ष अस्मिता के रूप से होता है। इसे अस्मिता विशिष्ट पुरुष का साक्षात् कह सकते हैं, क्योंकि केवल पुरुष में ग्रहीता का भाव नहीं घट सकता।[3] ग्राह्य और ग्रहण के विषय में व्यास की तथा ग्रहीता के विषय में भोज की यह मान्यता वाचस्पतिमिश्र नागोजिभट्ट, भावगणेश आदि आचार्यों की मान्यता से अभिन्न है।

क्रियायोग—

सूत्रकार ने प्रथमपाद में योग की परिभाषा और सामान्य भूमिका के बाद चित्तवृत्तियों के निरोध के लिए अभ्यास और वैराग्य की साधना का व्याख्या के बिना उपदेश करके उस काल में प्रचलित सात अन्य साधना पद्धतियों की ओर संकेत किया है। यह ऊपर कहा गया है कि इन साधनाओं के द्वारा एक सीमित मात्रा में ही सिद्धि मिल पाती है। साधना पाद में इससे पूर्व कि वे

---

१. भोजवृत्ति १.४१।।
२. व्यासभाष्य १.४१।।
३. भोजवृत्ति १.४१।

पूर्ण कालिक समर्पित साधकों के लिए अष्टांगयोग का उपदेश करें, उन्होंने सामान्य साधकों के लिए, अल्पकालिक साधकों के लिए क्रियायोग का उपदेश किया है। क्रियायोग एक सामान्य साधना मार्ग है, जिससे एक सामान्य गृहस्थ अपनी जीवनयात्रा को सुसंयमित कर सकता है। यद्यपि इससे वह कैवल्यलाभ नहीं कर पाता।[1]

योगदर्शन के अधिकांश टीकाकारों ने गतानुगतिक न्याय से क्रियायोग का विधान मध्यम अधिकारियों के लिए एवं अष्टांग योग का विधान अधम अधिकारियों के लिए है, ऐसा स्वीकार करते हुए क्रियायोग की अवतरणिका लिखी है। किन्तु उपर्युक्त मान्यता अर्थात् क्रियायोग मध्यम अधिकारियों के लिए है और अष्टांगयोग अधम अधिकारियों के लिए है, यह मान्यता सूत्रकार पतञ्जलि की मान्यता से प्रतिकूल होने से मान्य नहीं है। सूत्रकार ने क्रियायोग का प्रयोजन क्लेश का तनूकरण और समाधि भावना स्वीकार किया है,[2] क्लेशहानि और समाधि सिद्धि नहीं। उनके अनुसार क्लेश-हानि विवेकख्याति द्वारा होती है और विवेकख्याति का उदय योग के आठ अंगों का अनुष्ठान करने से अशुद्धि का नाश होने के अनन्तर होता है।[3] इसका तात्पर्य यह हुआ कि क्रियायोग की साधना से क्लेश क्षीण अर्थात् निर्बल तो हो जाते है, किन्तु उनकी सर्वतोभावेन निवृत्ति अष्टांगयोग साधना से विवेकख्याति का उदय होने के बाद ही होती है।

अब विचारणीय प्रश्न यह है कि क्या मध्यम अधिकारी, जो कि अधम अधिकारी से उत्कृष्ट है, के लिए अविद्या आदि क्लेश मूलों की निवृत्ति आवश्यक नहीं है। क्या वे पूर्णतः अविद्या निवृत्ति के, क्लेशों से पूर्णतः मुक्त होने के अधिकारी नहीं है? यह कैसे माना जाए कि एक ओर तो वह अधम अधिकारी (अष्टांग योग के अधिकारी) से उत्कृष्ट है, और दूसरी ओर साधना का फल प्राप्त करने के क्रम में उसके समान भी नहीं है। अधम अधिकारी अविद्या आदि क्लेशो से मुक्त होने का पात्र है, किन्तु मध्यम अधिकारी नहीं। यदि यह कहें कि मध्यम अधिकारी की पूर्व जन्म की साधना के फल स्वरूप उसके क्लेश नष्ट हो गये है या कम है, तो उचित नहीं है, क्योंकि यदि क्लेश नहीं है या कम है तो तनूकरण की क्यों अपेक्षा है? क्लेशहान तो क्लेश तनूकरण के बाद की प्रक्रिया है। उनके नष्ट होने या न रहने की स्थिति में तो तनूकरण (निर्बल करना) किसका होगा? निर्बल करने के बाद तो विनाश करना उचित है किन्तु विनाश के बाद निर्बल करना न उचित है, न सम्भव ही है। जब क्लेश है ही नहीं, नष्ट हो गये हैं तो किसे निर्बल किया जायेगा?

---

१. योगसूत्र २.१। २. यो. सू. २.२
३. वही २.२६, २८

सूत्रकार द्वारा निर्दिष्ट क्रियायोग और अष्टांग योग के प्रयोजन अथवा परिणाम (फल) को देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि जो साधक अभी संसार के प्रपञ्च में फंसे हुए हैं उनमें क्लेशों से पूर्णनिवृत्ति रूप कैवल्य को प्राप्त करने की कामना उत्पन्न नहीं हुई है, किन्तु उनके चित्त में भी योगसाधना के प्रति कुछ आकर्षण जागृत हो रहा है, जो आजकल के गृहस्थ साधकों की भांति सांसारिक जीवन जीते हुए योग साधना करना चाहते हैं सूत्रकार ने क्रियायोग का उपदेश उनके लिए किया है। इसकी (क्रियायोग की) साधना से उन्हें कैवल्य लाभ नहीं होगा, कैवल्य उनका काम्य भी नहीं है, किन्तु क्लेश क्षीण अवश्य होंगे। फलतः कालान्तर में वे कैवल्य की कामना भी कर सकते हैं। उस समय क्योंकि वे समाधि की भावना पहले कर रहे थे, अतः वे नवीन सामान्य साधक की अपेक्षा अधिक शीघ्र योगसाधना में सिद्धि प्राप्त कर सकेंगे।

अतःएव क्रियायोग का मध्यम अधिकारी के लिए और अष्टांगयोग का अधम अधिकारी के लिए उपेदश किया गया है यह मानने की अपेक्षा क्रियायोग का संसारी (अविरक्त) साधकों के लिए उपदेश किया गया है, अतः क्रियायोग का साधक संसारी होने के कारण अंशकाल में ही साधना करता है, जब कि अष्टांगयोग का साधक मुमुक्षु और पूर्णकालिक है, साधना में सर्वतोभावेन समर्पित है, यह मानना अधिक उचित है।

तपस्:-

क्रियायोग का प्रथम उपाय तपस् जो देह और इन्द्रियों का शोषण करने वाला है, किस प्रकार योग का उपकारक हो सकता है? क्योंकि देह और इन्द्रियों के शोषण से चित्त में क्षोभ उत्पन्न होता है, जो चित्तप्रसादमूलक योग का विरोधी है। इस शंका के निवारणार्थ भाष्यकार व्यास ने कहा है कि यह योग अतपस्वी को सिद्ध नहीं होता, क्योंकि चित्त अनादि काल से पुण्य-अपुण्य कर्म अविद्या अस्मिता राग द्वेष अभिनिवेशादि क्लेश तथा अनन्त वासनाओं से चित्रित हैं। चित्त के अन्दर सुप्त या असुप्तरूप में पड़ी हुई ये वासनाएँ शब्द स्पर्श रूप रस गन्धादि के जाल में व्यक्ति को ठीक उसी प्रकार फंसा लेती हैं; जिस प्रकार एक चतुर मछुआ रोटी अथवा माँस का लोभ दिखाकर मछलियों को फंसा लिया करता है; अतः जब तक इच्छादमनमूलक तपस् का अभ्यास नहीं किया जाए, तब तक ये उपर्युक्त कर्म क्लेश और वासनाएँ विरल भाव को प्राप्त नहीं होती। साथ ही तप हमें सुख दुःख में एकसमान प्रसन्न रहना सिखाकर चित्त को प्रसन्न ही करता है, क्षुब्ध नहीं करता। इसलिए तप का निरन्तर सेवन करना चाहिए।[1]

---

१. व्यासभाष्य २.१ पृ० १३८-१४१।

व्यास ने द्वन्द्व के सहन को तप कहा है और भूख प्यास, खड़े रहना, आसन विशेष में देर तक बैठना। गर्मी सर्दी सहना, आकारमौन और काष्ठमौन इन चार प्रकार के द्वन्द्वों का वर्णन किया है। इस प्रकार व्यास के अनुसार तपस् आठ प्रकार का है--कृच्छ चान्द्रायण संतापनादि के द्वारा भूखे रहने और प्यासे रहने का अभ्यास, गर्मी सहने का अभ्यास, सर्दी सहन करने का अभ्यास, दीर्घकाल तक आसन विशेष में लगातार बैठे रहने का अभ्यास, दीर्घकाल तक बिना हिले डुले खड़े रहने का अभ्यास, वाणीमात्र से मूक रहने का अभ्यास तथा शारीरिक चेष्टाओं के भी नियन्त्रण द्वारा काष्ठवत् सर्वांगीण मौन रखने का अभ्यास[1]। भोज ने केवल कृच्छ चान्द्रायणादि व्रतों को ही तपस् स्वीकार किया है।[2]

मनु और याज्ञवल्क्यादि ने इन कृच्छ चान्द्रायणादि व्रतों का वर्णन अनुष्ठान विधि सहित किया है, जिसके अनुसार प्राजापत्य कृच्छ का आचरण करने वाला द्विज प्रथम तीन दिन केवल प्रातः और पुनः तीन दिन केवल सायंकाल भोजन करे। तत्पश्चात् तीन दिन अयाचित्त अन्न का भोजन करे और अन्तिम तीन दिन उपवास रखे। (इस प्रकार यह प्राजापत्य कृच्छ कुल बारह दिन का होता है)। गोबर का रस, गोमूत्र, दूध, दही, घृत और कुशा का पानी ये इनका क्रमशः दो दो दिन सेवन करने एक रात्रि उपवास करने से सन्तापन कृच्छ होता है। तीन दिन प्रातः काल, तीन दिन सायं भोजन न करने फिर तीन दिन आयचित्त अन्न का सेवन करने, इस प्रकार इन नौ दिनों तक एक ग्रास भोजन करने और अन्त के तीन दिन कुछ भी न खाने से अतिकृच्छ व्रत सिद्ध होता है। तप्तकृच्छ का आचरण करने वाला द्विज स्थिर चित्त होकर नित्य एक बार स्नान करें। तीन दिन १६ तोले उष्ण जल पीवे, तीन दिन १६ तोले दूध, तीन दिन पाँच माशे घी पीवे। फिर तीन दिन उष्ण वायु पीवे। इस प्रकार दिन में तीन बार पान करें। भाव यह है कि पहले तीन दिन तीन बार में ४८ तोले उष्ण जल, अनन्तर तीन दिन तीन बार में कुल ४८ तोले उष्ण दूध पश्चात् तीन दिन १६ तोले घी और अन्त के तीन दिन वायु सेवन करें। स्वच्छ और स्वाधीन चित्त वाले व्यक्ति का निरन्तर बारह दिन एकाकी कुछ भी न खाकर वायु पर ही जीवित रहना पराक नामक सर्वोत्कृष्ट कृष्छ है। यह कृष्छ सब पापों को दूर करता है।

शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा से लेकर जैसे चन्द्रमा की कला वृद्धि को प्राप्त होती जाये, वैसे ही मोर के अण्डे के परिणाम से एक एक ग्रास को बढ़ाकर

---

१. वही २.२। २. भोजवृत्ति २.२।

पूर्णिमा तक १५ ग्रास पर पहुँच जावे। फिर कृष्ण पक्ष की प्रतिपदा को १४, द्वितीया को १३, इस प्रकार एक एक ग्रास प्रतिदिन घटाते हुए अमावस्या को उपवास करें। यह चान्द्रायण व्रत कहलाता है। ग्रीष्मकाल में पंचाग्नि साधना करें। चारों ओर अग्नि रख कर धूप में बैठें। वर्षाकाल में खुले स्थान में रहे और जाड़ों में भीगे कपड़ों में रहें। इस प्रकार क्रम से कष्ट सहिष्णुता को बढ़ावे और उग्र तप से अपने शरीर को सुखावे[1] इस प्रकार व्यास और भोज दोनों ने व्रतों के अनुष्ठान को मान्यता दी है।

परन्तु गीता में श्रीकृष्ण ने इसके विपरीत युक्त आहार विहार का उपेदश देते हुए कहा है कि योग न तो न बहुत खाने वाले को सिद्ध होता है, और न ही कुछ भी न खाने वाले को। न बहुत सोने वाले को और न बहुत जागने वाले को।[2]

इस विषय में कि योगी क्षुधा-पिपासा तथा निद्रा आदि चित्तवृत्तियों को किस सीमा तक जीत सकता है ? व्रतादि तप उपादेय हैं या अनुपादेय ? और कितने समय में इनके अनुष्ठान से साधक सिद्धि प्राप्त कर सकता है? इन प्रश्नों का सैद्धान्तिक उत्तर दे सकना सम्भव नहीं है। व्यक्ति व्यक्ति की अभ्यास और वैराग्य साधना के स्तर विशेष के कारण प्रति व्यक्ति के विषय में उत्तर भिन्न होगा। जिस साधक ने अभ्यास और वैराग्य की साधना के द्वारा संकल्प शक्ति को अति सबल बना लिया है। उसे प्रथम दिन ही पूर्ण सिद्धि मिल सकती है और जिसकी संकल्पशक्ति दृढ़ नहीं है, दूसरे शब्दों में जिसका वैराग्य पुष्ट नहीं हुआ है, उसे दिन और मास ही नहीं, कई वर्ष लग सकते हैं, यह भी असम्भव नहीं है कि उसे जीवन भर सिद्धि न मिले। प्रारम्भिक साधक के लिए उचित यह है कि वह सरल या कठिन किन्हीं भी व्रतों का आचरण करने का संकल्प ले, किन्तु वह व्रत दीर्घ कालीन न होकर अल्पकालीन हो। अल्पकालीन व्रत उपवास आदि के निर्बाधपूर्ण होने पर क्रमशः दीर्घ और दीर्घतर समय के लिए व्रतों के आचरण का संकल्प करे और अभ्यास करे। ऐसा करने से वह क्रमशः अपने उत्साह को दृढ़ बनाता हुआ अपनी संकल्पशक्ति को सबल बना सकता है।

यहां इतना जान लेना आवश्यक है कि व्रतों और उपवासों का हमारे शारीरिक और मानसिक दोनों ही प्रकार के स्वास्थ्यों से तथा चित्तवृत्ति के निरोध से गहरा सम्बन्ध है। आहार को नियन्त्रित करने से चित्त भी नियन्त्रित

---

१. मनु० ११।२-१२, १५, १६। मनु० ६।२३, २४।।
२. गीता ६.१६।।

तथा आहार के अनियन्त्रित रहने से चित्त भी अनियन्त्रित रहता है। इसी प्रकार आहार की शुद्धि से चित्त की शुद्धि होती है और आहार के अशुद्ध हो जाने पर चित्त भी अशुद्ध हो जाता है।

व्रतों और उपवासों की मान्यता में समता होने पर भी तप के क्षेत्र में व्यास और भोज के वर्णन में पर्याप्त अन्तर है; क्योंकि भोज स्वीकृत शीतोष्ण स्थान-आसन और आकारमौन काष्ठमौनादि यद्यपि कृच्छचान्द्रायणादि में भी किसी न किसी अंश में आ सकते हैं, किन्तु इन व्रतों को आकार मौन काष्ठमौनादि के बिना भी किया जा सकता है। अतः व्यास के द्वारा प्रतिपादित तपस् का क्षेत्र भोज के तपस् स्थल से बड़ा और विस्तृत है।

संयम पूर्वक इन तपों के अनुशीलन में सिद्ध हो जाने से योगी में भूख प्यास गर्मी सर्दी को सहन करने की शक्ति उत्पन्न हो जाने पर ही योगी अपरिग्रह का पूर्ण अनुष्ठान कर विरक्त हो पाता है। क्षुधा पिपासा और वस्त्रों आदि सुख साधनों का दास बना हुआ व्यक्ति जीवन में संतोष और अपरिग्रह को सिद्ध नहीं कर पाता। फलतः देहाध्यास की निवृत्ति न होने के कारण वह अन्तर्मुख हो कर अन्तः साधना में सफल भी नहीं हो सकता। इसीलिए भाष्यकार ने योगी के लिए भूख-प्यास गर्मी-सर्दी की सहनशीलता का विधान किया है, ताकि योगी स्वतपोबल से प्रत्येक अवस्था में चित्त में समत्व रख सके।

भोज के द्वारा वर्णित तप उपवास आदि को केवल शारीरिक तप ही कहा जा सकता है। परन्तु व्यास ने क्षुधा-पिपासा शीत-उष्ण स्थान आसनादि के वर्णन से जहाँ शारीरिक तपों का ग्रहण किया है, वहीं उन्होंने आकारमौन और काष्ठमौन ये दो प्रकार के वाचिक तप भी उपदिष्ट किए हैं। भगवद्गीता में निम्नलिखित मानसिक द्वंद्वों का जो बड़ा विशद वर्णन मिलता है, वह मानसिक तप के अन्तर्गत आता है। 'जो न हर्षित होता है, न द्वेष करता है, न शोक करता है और न कामनाएँ करता है; तथा जो शुभ और अशुभ सम्पूर्ण कर्मों का परित्याग करता है, वह भक्ति युक्त पुरुष मुझे प्रिय है। जो शत्रु-मित्र में, मान अपमान में, सर्दी-गर्मी में और सुख-दुःख में सम है, तथा जो आसक्ति से रहित और मौन रहने वाला है, निन्दा-स्तुति में समान है, जिस किसी प्रकार से शरीर का निर्वाह होने में सदा ही संतुष्ट और रहने के स्थान में भी ममता से रहित है, वह स्थिर बुद्धि वाला भक्तिमान् पुरुष मुझे प्यारा है।[1]

---

१. गीता १२।१७, १८, १६।

इस प्रकार हम देखते हैं कि गीता में इन श्लोकों द्वारा हर्ष द्वेष शोक आकांक्षा शुभ अशुभ कर्म, शत्रु मित्र, मान-अपमान, सुख दुःख, सत्संग कुसंग निन्दा-स्तुति, लाभ-अलाभ आदि नौ मानसिक द्वन्द्वों का वर्णन कर उनमें समता पूर्वक रहने से भक्ति की प्राप्ति और फलतः ईश्वर की प्रसन्नता की प्राप्ति का वर्णन किया गया है।

यद्यपि भाष्यकार व्यास ने स्वयं शारीरिक और वाचिक द्वन्द्वों की ही गणना की है, पर उनके द्वारा की गई परिभाषा इतनी व्यापक है, कि उसके अन्दर गीतोक्त समस्त द्वन्द्वों का भी समावेश किया जा सकता है।

महाभारत में इन्द्रियों के संयम को ही तप का मूल बताते हुए बलपूर्वक कहा है कि इन्द्रियों के निग्रह के बिना तपस् का होना संभव ही नहीं है।[1]

इन्द्रियाँ पाँच हैं कान त्वचा नेत्र जिह्वा और घ्राण। इनके विषय क्रमशः शब्द स्पर्श रूप रस गन्ध आदि हैं। प्रिय अप्रिय भेद से ये पाँच द्वन्द्वों के रूप में लिए जा सकते हैं। ऐसा मानने पर सुगन्ध-दुर्गन्ध सरस-नीरस सुरूप-कुरूप कोमल-कठोर प्रिय तथा अप्रिय शब्द आदि द्वन्द्वों में एकसम रहने को भी व्यास के द्वन्द्व सहनरूप तपस् के अन्तर्गत समाविष्ट कर उसके क्षेत्र को और अधिक विस्तृत किया जा सकता है।

यहाँ पर इस प्रकार की शंका नहीं करनी चाहिए कि यदि विवेकख्याति अथवा सम्यग्दर्शन से ही प्राप्तव्य का लाभ होता है, तो तपस् आदि की क्या आवश्यकता है? क्योंकि जब तक अभ्यासी तपस् के द्वारा द्वन्द्वों से अतीत नहीं हो जाता, तब तक उसके चित्त में सम्यग्दर्शन की पृष्ठभूमि, जो एकाग्रता और निर्मलता है, हो ही नहीं सकती। तप के अनुष्ठान से जब निर्द्वन्द्वता आ जाती है, तभी चित्त की भूमि स्वध्याय और ईश्वर प्रणिधान के योग्य बनती है। तपस् हमारी भावनाओं को विवेकख्याति के योग्य बनाता है। वस्तुतः संसार के जितने भी दुःख हैं, वे अतपस्वी जनों के लिए ही भयावह हैं, तपस्वियों के लिए नहीं। एक व्यक्ति दो दिन से भूखा है, भूख की पीड़ा उसके लिए असह्य हो गई है, वह रोटी-रोटी चिल्लाता हुआ दुःखों की दलदल में धँसता जा रहा है। दूसरा व्यक्ति पराक् कृच्छ का अभ्यास कर रहा है, वह चार या पाँच दिन से बिना भोजन किए रह रहा है। आत्मशुद्धि के लिए तपोनिरत वह व्यक्ति उस भूख से आनन्द का अनुभव कर रहा है। दुःख दोनों व्यक्तियों को एक ही भूख से है। पहले की भावना दूसरे व्यक्ति की भावना से सर्वथा भिन्न है। फलतः परिणाम भी सर्वथा विरुद्ध है।

---

१. महाभारत वन पर्व० २११।१८।।

एक व्यक्ति अपमानित होता है, तो अपमान करने वालों को नीचा दिखाने के लिए योजनाएँ बनाता है। दिन रात मानसिक परेशानी में डूबा रहता है। खाना पीना, सोना तक उसके लिए दूभर हो जाता है। दूसरा व्यक्ति भी अपमानित होता है। अपमान के कारण पर विचार करता है। आत्म निरीक्षण कर वह अपने उस दोष को ढूँढ़ निकालता है, जिसके कारण उसे अपमान या निन्दा का मुँह देखना पड़ा। उस दोष से अपने आप को मुक्त कर आनन्दित हो जाता है। अपमान करने वाले को कोटिशः धन्यवाद करता है। पहले व्यक्ति के लिए वह अपमान विष है, दूसरे के लिए अमृत है। वास्तव में देखा जाए तो अपमान हमारे जीवन को सुधार और उत्थान की ओर ले जाता है, और सम्मान पतन की ओर। सम्मान हमारे भक्तिभाव को कम कर हमें ईश्वर से विमुखता की ओर अग्रसर करता है, तो असम्मान भक्तिभाव और आस्तिकता उत्पन्न कर भगवान् की ओर अग्रसर करता है। इसीलिए मनु ने ब्राह्मण को अपमान की कामना करने का परामर्श दिया है।[1]

एक जनसाधारण पर पड़ा हुआ संकट उसे उद्विग्न और भयभीत कर देता है, पर एक ईश्वर भक्त पर जब जब संकट पड़ता है, तो उसे अधिकाधिक ईश्वर स्मरण करने को बाध्य करके उसका कल्याण ही करता है। इसीलिए पाण्डवों की माता कुन्ती से जब भगवान् कृष्ण ने वर मांगने को कहा तो कुन्ती ने उनसे संकट ही देने की प्रार्थना की कि उसे प्रभु का स्मरण निरन्तर बना रहे।[2] इस प्रकार संकट साधक की प्रसन्नता को बढ़ाता है। क्योंकि प्रथम तो संकट कुकर्मों का फल है। पूर्व जन्म जन्मान्तर की अपुण्य कर्मराशि ज्यों ज्यों उसे दुःखभोग करा रही है, उतना उतना ही उस पाप कर्मराशि के कम हो जाने से उसका चित्त उत्तरोत्तर काल में निर्मल होता जाता है। इस प्रकार वह साधक दुःख को सुख से, अपमान को सम्मान से, शोक को हर्ष से, क्षुधा को तृप्ति से अच्छा समझने लगता है।

जहाँ सुख सम्मान हर्ष और वैभव आदि हमें उन्मत्त कर विषयों के उपभोग की ओर उत्साह देते हैं और भगवान् को भुलाकर अविद्या की भूलभुलैया में डालते हैं, वहीं दुःख असम्मान शोक और निःस्वता हमें विषयों के और स्वयं के दोषों का दर्शन कराकर आनन्दस्वरूप ईश्वर की भक्ति और वैराग्य के क्षेत्र में आगे बढ़ाते हैं। संसार में सबसे बड़ा दुःख मृत्यु का है। महात्मा बुद्ध, शंकराचार्य दयानन्द आदि अनेकानेक पुरुषों को मृत्यु का दृश्य देखने से ही ज्ञान प्राप्त हुआ था। इस प्रकार मृत्यु का क्लेश भी योगी को

---

१. मनु स्मृति २.१६२.

२. दर्शनोपनिषद २.३।।

दुःख न देकर ज्ञान का प्रकाश ही देता है। अतः दुःख तो उन्हीं व्यक्तियों पर पड़ा करता है, जिनका भावी कल्याण सन्निकट होता है, तथा जिन पर ईश्वर की कृपा होती है, ऐसी भावना योगी को दुःखों की सहनशीलता ही प्रदान करती है।

जिसने तपोबल से जीते जी ही सुखोपभोग की इच्छा को और सन्तापन आदि क्रियाओं द्वारा अपने को मृतप्राय कर दिया हो, उसे संसार के तीनों ताप अर्थात् शारीरिक, मानसिक और आधिदैविक ताप दुःख पहुँचाने में असमर्थ होकर अधिकाधिक तपःपूत ही किया करते हैं। यही कष्टसहिष्णुता चारित्रिक दृढ़ता संयम जितेन्द्रियता संकल्पशक्ति या तपोबल कहलाता है। उपनिषदों में इसका बड़ा सुन्दर वर्णन प्राप्त होता है।

दुःखों से छूटना ही मोक्ष है। दुःखों से ही संसार पीड़ित हो रहा है। तपस् हमें सहर्ष दुःखों को सहना सिखाता है, अतः विद्वान् लोग तपस् की प्रशंसा करते हैं।[२]

वह तपस्वी योगबल से मृत्यु को प्राप्त नहीं होता, जो हठपूर्वक तपस्या करके स्वयं ही मर चुका है, उस मरे हुए का पुनः मरना कहाँ? जहाँ पर सब मर जाते हैं, वहाँ पर वह जीवित रहता है और जहाँ मूढ़ लोग जीवित रहते हैं, वहाँ पर वह मर जाता है। भाव यह है कि जिन विषयों के कामादिक उपभोगों में सभी लोग मरते हैं, उनमें वह जितेन्द्रिय योगी जीता रहता है, और जिन त्रिविध दुःखों की अनुभूति में मोहान्ध लोग जागते और पीड़ित होते रहते हैं, उनमें वह योगी स्वार्जित तपोबल से स्वतः ही मर चुका होता है।[१] इस प्रकार कहा जा सकता है कि तपस् की शक्ति महान् है। इस शक्ति से योगी असंभव को संभव में, दुःख को सुख में, जीवन को मरण में और मृत्यु को जीवन में परिणत कर सकता है। तपो बल के सामने अशक्य कुछ नहीं है। तपस् के प्रकर्ष से गर्मी-सर्दी भूख प्यास स्थान-आसन मौन-भाषण मान-अपमान सुख दुःख राग-द्वेष शोक-हर्ष मित्र-अमित्र शब्द स्पर्श रूप रस काम क्रोध लोभ मोह अहंकारादि विकारों पर विजय प्राप्त कर के योगी विवेकख्याति लाभ करने के योग्य बनता है।

स्वाध्याय—स्वाध्याय से भाष्यकार द्विविध अर्थ ग्रहण करते हैं[२] प्रणवादि पवित्र मन्त्रों का जप अथवा मोक्षविद्याविधायक शास्त्रों का अध्ययन।[३] भोजने केवल प्रणवपूर्वक मन्त्रों का जप ही स्वाध्याय का अर्थ किया है। यहाँ भाष्यकार

---

१. योगशिखोपनिषद् १.४५, ४६। २. व्यासभाष्य २.१।
३. भोजवृत्ति ३.३२।

द्वारा क्रियायोग के प्रकरण में प्रणव के साथ किए गए आदि पद के प्रयोग से यह लक्षित होता है कि वे प्रणव मन्त्र के साथ अन्य पवित्र मन्त्रों को भी जप के योग्य स्वीकार करते हैं, तथापि उनकी दृष्टि में मुख्यतया प्रणव ही जपने योग्य मन्त्र है, इसीलिए नियम के प्रकरण में स्वाध्याय की व्याख्या करते हुए उन्होंने प्रणव के साथ आदि का भी प्रयोग न करके केवल प्रणव जप अथवा मोक्षशास्त्रों के अध्ययन को स्वाध्याय कहा है।[1] यहाँ आदि पद का तात्पर्य महाव्याहृति सहित गायत्री मृत्युञ्जय आदि मन्त्र हैं। इसी विचार से मणिप्रभाकार ने प्रणव के साथ श्रीसूक्त रुद्रसूक्त पुरुषसूक्त आदि के मन्त्रों को जपयोग्य स्वीकार किया है।[2] विज्ञानभिक्षु शंकरभगवत्पाद भावगणेश और नागोजिभट्ट आदि भी मात्र प्रणव जप के ही पक्षापाती दीख पड़ते हैं। इसके विपरीत हरिहरानन्दारण्य वाणी के संयम को ही स्वाध्याय मानते हैं।[3]

ईश्वर प्रणिधान

उपनिषदों में विघ्नों के नाश और ज्ञान के प्रकाश के लिए ओंकार जप पर बड़ा बल दिया गया है, जिसकी चर्चा ईश्वरप्रणिधान के प्रसंग में यथावसर द्रष्टव्य है। जैसाकि पहले कहा जा चुका है सूत्रकार ने ईश्वर प्रणिधान शब्द का प्रयोग पूरे ग्रन्थ में चार बार किया है। एक बार प्रथम पाद में सूत्र संख्या ३३ में एक स्वतन्त्र प्रचलित साधना मार्ग के रूप में जो कि उनके अनुसार प्रणव जप रूप है। दूसरे बार द्वितीय पाद के प्रथम सूत्र में सामान्य साधकों के लिए क्रियायोग के तृतीय अंग के रूप में तथा तृतीयवार इसी पाद के सूत्र संख्या बत्तीस में योग के द्वितीय अंग नियम के अन्तिम अंश के रूप में तथा अन्तिम बार (चतुर्थवार) नियम गत ईश्वर प्रणिधान साधना का फल निर्देश करने के प्रसंग में सूत्र संख्या ४५ में तथा इस नियमगत ईश्वर प्रणिधान की साधना का फल समाधिसिद्धि स्वीकार किया है।

प्रथम ईश्वर प्रणिधान मन्त्र जप रूप है, जैसा कि सूत्रकार ने स्वयं ही 'तस्यः वाचकः प्रणवः, तज्जपस्तदर्थभावनम्' सूत्रों में स्पष्ट किया है। क्योंकि क्रियायोग और नियम योगांग के प्रकरण में सूत्रकार ने ईश्वर प्रणिधान से पूर्व स्वाध्याय का परिगणन किया है, तथा वह मोक्ष-शास्त्र के अध्ययन के साथ प्रणव आदि मन्त्रों के जप के रूप में स्वीकृत हैं, अतः यह ईश्वर प्रणिधान उससे (मन्त्र जप से) निश्चय ही भिन्न होना चाहिए। भाष्यकार ने व्यास क्रियायोग और अष्टांगयोग (नियम) दोनों प्रकरणों में ईश्वर प्रणिधान का अर्थ

---

१. व्यासभाष्य २.३२। २. मणिप्रभा २.१।
३. भास्वती २.१।

उस परमगुरु परमेश्वर में समस्त क्रियाओं (कर्मों) और उनके फल का समर्पण स्वीकार किया है।[१] कर्म एवं कर्मफल समर्पण रूप इस ईश्वर प्रणिधान का श्रीमद्भगवद्गीता में विस्तारपूर्वक विवरण हुआ है। एक स्थान पर भक्तियोग के प्रसंग में भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि यदि तुम अभ्यास योग में स्वयं को समर्थ नहीं पाते, तो तुम सभी कर्म मेरे लिए करो, अथवा सभी कर्मों का फल मुझे अर्पित कर दो, तुम्हारा कल्याण हो जाएगा।[२] इसी प्रकरण में उन्होंने कहा है कि 'जो लोग अपने सभी कर्म प्रभुको समर्पित कर देते हैं, वे जन्ममरण के चक्र से छूट जाते हैं, संसार सागर को पार कर जाते है।[३] इस तथ्य को उन्होंने एक अन्य स्थल पर भी स्वीकार करते हुए कहा है कि 'हे अर्जुन ? तुम जो कुछ भी कर रहे हो चाहे वह आहार विहार हो, चाहे यज्ञ दान और तप, सभी कुछ परम प्रभु को समर्पित कर दो। ऐसा करने से तुम न केवल सभी शुभ और अशुभ कर्मों के फलों से बच जाओगे, बल्कि कर्मों के बन्धन से भी मुक्त हो जाओगे।[४] एक अन्य स्थल पर तो उन्होने आदेश की भाषा में कहा है कि तुम पूरे मन से अपने सभी कर्म मुझे समर्पित कर निश्चिन्त होकर युद्ध करो।[५] क्योंकि जो साधक आसक्ति का विसर्जन कर सभी कर्मों को ब्रह्म को समर्पित करता हुआ करता है, वह उन कर्मों से उसी प्रकार लिप्त नहीं होता जिस प्रकार कमल जल में रहता हुआ भी उसमें लिप्त नहीं होता।[६]

पतञ्जलि के अनुसार इस ईश्वर प्रणिधान की साधना से साधक को योग साधना के अन्तिम चरण समाधि की सिद्धि भी हो जाती है।[७] भाष्यकार व्यास इस सूत्र की व्याख्या करते हुए समाधि की सिद्धि के साथ ही कुछ अन्य सिद्धियों की प्राप्ति का संकेत करते है। उनके अनुसार अपने समस्त भावों को ईश्वर को अर्पित करने वाले साधक को समाधि की सिद्धि के अतिरिक्त वह सब कुछ यथावत् जानने का सामर्थ्य भी प्राप्त हो जाता है, वह दूर देश विषयक जन्मान्तर विषयक और भूत-भविष्य किसी भी काल में घटने वाले विषय को यथावत् जान लेता है।[८]

परमगुरु को सर्व कर्म समर्पण अथवा समस्त कर्म फलों का विसर्जन, और बिना किंसी कामना के कर्मों का सम्पादन वैराग्य के बिना संभव नहीं है।

---

१. (क) योगभाष्य २.१। (ख) वही २.३२।
२. गीता. १२.१०—११।
३. वही. १२.६-७
४. वही. ६.२७-२८।
५. वही. ३.३०
६. वही ५.१०
७. योगसूत्र २.४५
८. योगभाष्य २.४५।

तथा यतमान संज्ञक वैराग्य से साधना प्रारम्भ करके परवैराग्य की सिद्धि अध्यात्म प्रसाद मूलक निर्विचार समाधि से उत्पन्न होने वाली ऋतम्भरा प्रज्ञा के बिना सम्भव नहीं है। इसी प्रकार निर्विचार समाधि में सफलता तथा अध्यात्म प्रसाद की उपलब्धि निरन्तर अभ्यास के बिना संभव नहीं है। अतः अभ्यास और वैराग्य की साधना नितरां आवश्यक है। अभ्यास और वैराग्य की इस साधना में ही क्रियायोग और अष्टांगयोग समाहित हो जाते है। अष्टांग योग की साधना अभ्यास और वैराग्य की ही सुविस्तृत एवं पूर्ण साधना है। तपस् स्वाध्याय और सर्वसमर्पणरूप ईश्वर प्रणिधान की समष्टि क्रियायोग अभ्यास और वैराग्य की साधना का संक्षिप्त रूप है। जिससे साधक अन्तिम लक्ष्य तक तो नहीं पहुंचता, किन्तु उसके क्लेश क्षीण हो जाते है। वह योग के परिसर में स्थिर रहता है और जब भी उसमें मुमुक्षां जागृत होती है, तब वह थोड़े प्रयत्न से अपने वैराग्य को सुपुष्ट करके सानन्दा और अस्मिता मात्रा समाधि में सिद्धि प्राप्त करता हुआ, अन्त में असम्प्रज्ञात अर्थात् निर्वीज समाधि को भी सिद्ध करके कैवल्य का लाभ कर लेता है।

अतः सूत्रकार पतञ्जलि के अनुसार प्रत्येक साधक को चाहिए कि वह वैराग्य पूर्वक अर्थात् हिंसा असत्य आदि के कारण भूत लोभ मोह क्रोध की निवृत्ति पूर्वक मन वचन और कर्म से अहिंसा आदि यमों का शौच आदि नियमों का सेवन करते हुए आसन के अभ्यास की सिद्धि से प्राणायाम साधना की योग्यता को, प्राणायाम की सिद्धि से प्रत्याहार पूर्वक धारणा साधना की योग्यता को प्राप्त करके क्रमशः धारणा ध्यान और समाधि में सिद्धि प्राप्त करे। यमों और नियमों की साधना प्रारम्भ में ही नहीं सम्प्रज्ञात समाधि की सिद्धि तक चलती है। वैराग्य पूर्वक निरन्तर अभ्यास से जब सम्प्रज्ञात समाधि की मध्य अवस्था में योगी पहुंचता है, तब ऋतम्भरा प्रज्ञा, जिसे विवेख्याति भी कहते हैं, का उदय होता है और उसके फलस्वरूप परवैराग्य सिद्ध होता है, एवं समस्त संस्कारों के निवृत्त होने पर, ऋतम्भरा प्रज्ञा से उत्पन्न संस्कारों की भी निवृत्ति हो जाती है। बीज भूत संस्कारों का नाश होने पर योगी को कैवल्य लाभ अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति होती है, जोकि योग साधना का अन्तिम लक्ष्य है। इस कैवल्य का क्या स्वरूप है इसकी चर्चा आगे यथावसर की जाएगी।

●●●

योग के अन्तराय और सिद्धियाँ

विगत परिच्छेदों में योग का स्वरूप और उसके (योग के) अंगों का वर्णन किया जा चुका है। योगमार्ग के पथिक को निज चित्त के सत्त्व् रजस् अथवा तमस् की अल्पता और अधिकता के कारण (अधिकारी भेद से) अपनी साधना के फलस्वरूप जो अवान्तर परिणाम प्राप्त होते हैं, उन्हें ही अन्तराय[1] अथवा सिद्धियाँ कहते हैं। जो साधक रजोबहुल अथवा तमोबहुल चित्त से युक्त होते हैं, उन्हें प्रायः रोग अकर्मण्यता कार्याकार्यसंशय इत्यादि शारीरिक अथवा मानसिक विकार उत्पन्न होते हैं, जिनके कारण उन्हें अपने मार्ग में निर्वाध रूप से बढ़ने में असुविधा उत्पन्न हो जाती हैं। इसी प्रकार सत्त्वप्रधान चित्त में भी कुछ विकार उत्पन्न होते हैं, वे रोगादिरूप न होकर अप्रत्याशित भोग आदि की प्राप्तिरूप होते हैं। इन्हें कभी कभी सिद्धि समझ लिया जाता है। ये सिद्धियाँ भी एक प्रकार की अन्तराय ही हैं। समाहितचित्त साधक इन्हें अन्तराय ही समझता है, किन्तु रजस् और तमस् से संश्लिष्ट व्युत्थित चित्तवाला प्राणी उन्हें ठीक उसी प्रकार सिद्धियाँ समझ बैठता है, जिस प्रकार जन्म से ही दरिद्रता आदि से सताया हुआ प्राणी किंचित्स्वर्णकण को प्राप्त कर उसे ही धन वैभव समझने लगता है।[3] जब कि समाहित चित्त योगी इन उपलब्धियों को त्रिविध दुःख की अत्यन्त निवृत्ति रूप परम पुरुषार्थ को निकट उपस्थित होता हुआ मानकर उस परम पुरुषार्थ की ओर ही अग्रसर बना रहता है, उससे विमुखता उत्पन्न कराने वाली सिद्धियों में अनुरक्त नहीं होता।[4]

सामान्यतः 'यथेष्ट का साधन हो जाना ही सिद्धि है' ऐसा समझा जाता है।[5] किन्तु यहाँ योग के सन्दर्भ में सिद्धि यथेष्ट का साधन न होकर 'शरीर चित्त और इन्द्रियों का उत्कर्ष है'[6] ऐसा समझना चाहिए। दूसरे शब्दों में शरीर चित्त और इन्द्रियों की असामान्य शक्ति आदि की उपलब्धि को सिद्धि कहा

---

१. भोजवृत्ति १.३० पृ० ३६।
२. योगसूत्र ३.३७।
३. तत्त्ववैशारदी ३.३७ पृ० ३५५।
४. तत्त्ववैशारदी ३.३७ पृ० ३५५।
५. युक्तिदीपिका पृ० १२७।
६. योगभास्वती ४.१ पृ० ३६२।

जा सकता है। प्रसिद्ध कोशकार अमरसिंह के अनुसार सिद्धियाँ आठ हैः– अणिमा महिमा लघिमा गरिमा प्राप्ति प्रकाम्य ईशित्व और वशित्व।[१] सांख्यकारिकाकार ईश्वरकृष्ण भी यद्यपि सिद्धियों की संख्या आठ ही मानते हैं, किन्तु वे अणिमा आदि के स्थान पर ऊहः शब्द अध्ययन त्रिविध दुःखों का विनाश सुहृत्प्राप्ति और दान इन आठ सिद्धियों का परिगणन करते हैं।[२] तत्त्वकौमुदीकार वाचस्पतिमिश्र ऊह आदि आठ सिद्धियों के स्थान पर इतर नामों परतारम् (अध्ययन), सुतारम् (शब्दः) तारतारम् (ऊहः), रम्यकम् (सुहृत्प्राप्ति), सदामुदित (दान) तथा तीनों प्रकार के दुःखों से मुक्तिरूप प्रमोद मुदित और मोदमान का निर्देश करते हैं। युक्तिदीपिका में तारम् आदि नाम कुछ भिन्न रूप से प्राप्त होते हैं। उसके अनुसार ऊह का दूसरा नाम **तारक**, शब्द का **प्रमोद**, आधिभौतिक दुःखों की निवृत्ति का **प्रमुदित**, आधिदैविक दुःखों की निवृत्ति का **मोदमान** सुहृत्प्राप्ति का **रम्यक्** एवं दान का **सदाप्रमुदित** नाम है। योगदर्शन में सिद्धि पद का प्रयोग अत्यन्त संकीर्ण अर्थों में न होकर व्यापक अर्थों में हुआ है। इसलिए यहाँ (योग के सन्दर्भ में) सिद्धियों की संख्या की इयत्ता कर सकना सम्भव नहीं है, इसीलिए सूत्रकार ने एकत्र प्रातिभ अर्थात् मनोमात्रजन्मा श्रावण (श्रवणेन्द्रिय द्वारा अनुभूयमान शब्दसाक्षात्कार) वेदना (स्पर्शेन्द्रिय द्वारा अनुभूयमान दिव्य-अदिव्यस्पर्श साक्षात्कार) आदर्श (नेत्रेन्द्रिय द्वारा अनुभूयमान दिव्य-अदिव्य रूप साक्षात्कार) आस्वाद (रसनेन्द्रिय द्वारा रससाक्षात्कार) वार्ता (घ्राणेन्द्रिय द्वारा अनुभूयमान दिव्य-अदिव्य गन्धसाक्षात्कार) को सिद्धि के नाम से स्मरण किया है[३] तो अन्यत्र जन्म औषधि मन्त्र तप और समाधि के द्वारा आकाशगमन संकल्पपूर्णता-कामगत्व तथा अणिमा आदि सिद्धियों की प्राप्ति का भी संकेत किया है।[४] इसके अतिरिक्त सूत्रकार ने ही प्रातिभ सिद्धियों की चर्चा के अनन्तर परशरीर प्रवेश, जल पंक कंटक आदि से असंग, दिव्यश्रोत्र आदि अनेक ऐश्वयों की चर्चा की है, जो योगी को विविध साधनाओं के अनन्तर प्राप्त होते हैं, इन्हें भी प्रकरण के अनुसार सिद्धियाँ ही कहा जाना चाहिए।[५] सामान्यतः इन ऐश्वर्यों को विभूति नाम से स्मरण किया जाता है। योगदर्शन में इस प्रकार की विभूतियों की संख्या काफी बड़ी है। यही कारण है, उसके तृतीय पाद का नाम भी विभूतिपाद पड़ गया है। जिसमें संकलित सूत्रों की संख्या समस्त सूत्रों के चतुर्थांश से अधिक है। इसके अतिरिक्त साधन पाद

---

१. अमरकोष।
२. साख्यकारिका संख्या ५१।
३. योगसूत्र ३.३६, ३७।
४. (क) योगभाष्य ४-१ पृ० ३६३। (ख) तत्त्ववैशारदी ४.१ पृ० ३६३।
५. योगसूत्र ३.३८-४१।

में भी यम और नियमों का वर्णन करते हुए उनसे प्राप्त विभूतियों का वर्णन किया गया है। यदि उन सबका भी एकत्र संकलन कर दिया जाए तो यह सूत्रसंख्या समस्त सूत्रसंख्या के पचास प्रतिशत से भी अधिक हो सकती है। अतः यह निर्विवाद रूप से स्वीकार किया जा सकता है, कि योगदर्शन में सिद्धि, जिन्हें दूसरे शब्दों में विभूति भी कहा जा सकता है, की संख्या बहुत है। इन सिद्धियों की प्राप्ति योग मार्ग के पथिक को क्रमशः हुआ करती हैं। इन सिद्धियों के द्वारा योगी अपनी जीवन सम्बन्धी आवश्यकताओं के लिये किसी अन्य के आश्रित नहीं रह जाता, जिसके फलस्वरूप उसे जीवन की अनिवार्य आवश्यकताओं के लिए भी संसार अथवा सांसारिक जनों से सम्बन्ध की आवश्यकता नहीं रहती, किन्तु यदि वह उन्हें प्राप्त करते ही तुष्ट होकर स्वयं को लोकोत्तर पुरुष समझने लगता है, तो वे उसे समाधिसाधना के मार्ग से भ्रष्ट कर देती हैं। इसीलिए सूत्रकार ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि 'ते समाधावुपसर्गाः व्युत्थाने सिद्धयः'[1] और इसीलिए योगी से यह आशा की जाती है कि वह इनकी कभी भी अपेक्षा न कर समाधि की साधना हेतु ही निरन्तर उन्मुख रहे।

योगदर्शन में समाधि को भी सिद्धि कहा गया है[2] और वही वस्तुतः साधक की सबसे बड़ी सिद्धि है। ऐसे सन्दर्भों में सिद्धि शब्द का प्रयोग क्रियाफल के सन्दर्भ में किया गया है।

योगदर्शन में वर्णित इन सिद्धियों (विभूतियों एवं क्रियाफलों) का यदि हम वर्गीकरण करना चाहे तो इन्हें तीन वर्गों में रख सकते हैं : (१) वे सिद्धियाँ जो समाधि मार्ग के पथिक को प्रत्यक्षतः सफलता की ओर अग्रसर करती हैं। इसमें इन्द्रियों की परमावश्यता[3] ज्ञानदीप्ति[4] ऋतम्भरा प्रज्ञा[5] आदि को रखा जा सकता है। (२) दूसरे वर्ग में उन सिद्धियों को रखा जाता है, जो समाधि के मार्ग में साक्षात् उपकारक न होते हुए भी मार्ग की बाधाओं को दूर कर साधक के पथ को प्रशस्त करती हैं। इस वर्ग में वैर त्याग[6] द्वन्द्वों का अभिघात[7] प्रकाश के आवरण का नाश[8] आदि को रखा जा सकता। (३) तृतीय वर्ग की सिद्धियाँ वे कही जा सकती हैं, जिनका समाधि की साधना से साक्षात् सहायक सम्बन्ध

---

१. योगसूत्र ३.३७। २. वही २.४५। ३. वही २.५५।

४. (क) वही २.२८। (ख) वही ३.५।

(ग) परिणामत्रयसंयमादतीतानागतज्ञानम्। ३.१६।

५. वही १.४८। ६. वही २.३५।

७. वही २.४८। ८. वही २-५२।

नहीं है, जीवन में कभी उसकी आवश्यकता भी पड़ सकती है और उनका सदुपयोग भी किया जा सकता है, किन्तु वे सिद्धियाँ योगी को लोकोत्तर शक्ति प्रदान कर देती हैं, जिसके फलस्वरूप योगी अहंकार आदि से अभिभूत होकर अपने पथ से भ्रष्ट हो सकता है। इनमें आकाशगमन[१] सर्वरत्नोपस्थान[२] चित्त का परशरीर में प्रवेश[३] आदि को रखा जायगा।

पूर्व पंक्तियों में निर्दिष्ट वर्गीकरण के अनुसार प्रथम और द्वितीय कोटि की सिद्धियों (विभूतियों) को उत्कृष्टतम और उत्कृष्टतर सिद्धि मानना उचित होगा; क्योंकि प्रथम कोटि की सिद्धियाँ साक्षात् समाधि को उत्पन्न करती हैं, अथवा निर्विकल्पक (असम्प्रज्ञात) समाधि की योग्यता उत्पन्न करती है, जब कि द्वितीय कोटि की सिद्धियाँ सम्प्रज्ञात समाधि को परम्परया उत्पन्न करती है, अथवा उसके लिए साधक को योग्यता प्रदान करती हैं। जैसा कि वृत्तिकार भोज ने भी स्वीकार किया है कि मैत्री करुणा आदि वृत्तियों के द्वारा जिस चित्त प्रसादन की उत्पत्ति होती है, वह चित्त की स्थिति (समाधि) के साधनभूत श्रद्धा वीर्य स्मृति आदि की साधना में उपस्थित होने वाले प्रतिबन्धकों का प्रतिबन्ध वशीकार द्वारा करता है।[४]

पूर्वोक्त वर्गीकरण के अनुसार यदि परिगणन करना चाहें तो समाधि की सिद्धि में परम्परया सहायक सिद्धियाँ निम्नलिखित हो सकती हैं–

१. **चित्त प्रसादनी सिद्धि**–जो सुखीजनों के साथ मैत्री, दुखीजनों के साथ करुणा, पुण्यात्माओं के साथ मुदिता एवं अपुण्यात्माओं के साथ उपेक्षावृत्ति के अपनाने से प्राप्त होती है। इसके अतिरिक्त इसे प्राणायाम (प्राणों के प्रच्छर्दन और विधारण) द्वारा भी प्राप्त किया जा सकता है।[५]

२. **क्लेशतनूकरणरूपा सिद्धि** : क्रियायोग अथवा नियमों में से अन्तिम तीन तप स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान के द्वारा सिद्धि प्राप्त होती हैं, जिसके फलस्वरूप समाधि साधना में सौविध्य लाभ हो जाता है।[६]

३. **वैरत्याग सिद्धि** : यमों में सर्वप्रथम निर्दिष्ट अहिंसा की लोभ मोह क्रोध निवृत्ति पूर्वक सफल साधना से यह सिद्धि प्राप्त होती है। इसकी सिद्धि से साधक भय आदि की वासनाओं से सर्वथा मुक्त हो जाता है, जिसके

---

१. योगसूत्र ३.४२।
२. वही २.३७।
३. वही ३.३८।
४. नागोजिवृत्ति १.३३ पृ० ४०।
५. योग सूत्र १.३३, ३४।
६. (क) योगसूत्र २.२। (ख) भोजवृत्ति २.२ पृ० ६१।

फलस्वरूप उसे समाधि (चितैकाग्र्य) की योग्यता प्राप्त होती है।[1] समाधि के मार्ग में निर्विवाद रूप से सहायक होने के कारण ही इसे यमों में सर्वप्रथम स्थान दिया गया है, साथ ही सत्य आदि महाव्रतों को भी अहिंसामूलक होने पर ही महाव्रत स्वीकार किया गया है।[2]

४. स्वाङ्गजुगुप्सा-सिद्धि : स्वाङ्जुगुप्सा का अर्थ है, अपने शरीर के अंगों के प्रति भी घृणा; जिसके फलस्वरूप साधक को अपने शरीर के प्रति भी अनासक्ति हो जाती है तथा स्त्री पुत्रादि अन्यजनों के प्रति आसक्ति का तो कोई अवसर ही नहीं रह जाता। फलस्वरूप उसे सांसारिक प्रलोभन आकृष्ट नहीं कर पाते, फलतः उसके लिए समाधि का मार्ग प्रशस्त हो जाता है। साधक को यह सिद्धि नियमों में अन्यतम शौच की साधना से प्राप्त होती है।[3] इस शौच के प्रभाव से ही साधक रजोगुण एवं तमोगुण के प्रभाव से मुक्त होता है, उसे एकाग्रता प्राप्त होती है, सर्वत्र अशुचि भाव विद्यमान होने से विषय इन्द्रियों को आकृष्ट नहीं कर पाते; फलतः साधक इन्द्रियों पर विजय प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार उसे आत्मसाक्षात्कार की योग्यता प्राप्त हो जाती है।

५. अनुत्तमसुखलाभसिद्धि : आन्तरिक लोकोत्तर सुखलाभरूपी सिद्धि योगी को नियमों में अन्यतम (द्वितीय) सन्तोष की साधना से प्राप्त होती है। बाह्य सुख इस आन्तर सुख की तुलना में कहीं नहीं ठहरता, अतः इसके फलस्वरूप साधक के मानस से समस्त भौतिक सुखों की कामनाएँ समाप्त हो जाती हैं, फलतः महानतम कामनाएं भी उसे आकृष्ट करने में सफल नहीं हो पाती हैं, अपितु वे उसे विष की भाँति प्रतीत होती है।[4] इस प्रकार उस साधक का चित्त क्रमशः स्थिर होकर समाधि सिद्धि को प्राप्त कर लेता है। सन्तोषजन्य इस अनुत्तम सुख लाभ सिद्धि के कारण ही मानवमात्र के लिए दुर्लभ समस्त कामनाओं की प्राप्ति का लोभ भी ब्रह्मविद्या के जिज्ञासु नचिकेता को किंचिन्मात्र भी विचलित न कर सका[5] कठोपनिषद् इसका साक्षी है।

६. द्वन्द्वानभिघात सिद्धि : शीतोष्ण क्षुधापिपासा आदि दुःखों से व्यथित न होना ही द्वन्द्वानभिघात है, जो कि आसनसिद्धि के फलस्वरूप साधक को प्राप्त होती है।[6] यह सिद्धिं प्राप्त होने पर साधक के चित्त को उपर्युक्त कष्ट चंचल नहीं बना पाते। यह चित्तनिरोध में परम्परया सहायक है।

---

१. भोजवृत्ति २.२ पृ० ६१।
२. योगभाष्य १.३० पृ० २४७-२४६।
३. (क) योगसूत्र २.४०। (ख) भोजवृत्ति २.४० पृ० १०१।
४. (क) योगसूत्र २.४२। (ख) योगसुधाकर २.४२ पृ० १०३।
५. कठोपनिषद् १.१.२५-२६।
६. (क) योगसूत्र २.४८। (ख) भोजवृत्ति २.४८ पृ० १०६।

इस प्रकार ये सिद्धियाँ साधक को क्रमशः समाधि के लिए योग्यता प्रदान करती हैं। इसके विपरीत तृतीय वर्ग में रखी गयी सिद्धियाँ (विभूतियाँ) इस प्रकार की हैं, जो समय विशेष में योगी को बाधाओं आदि से मुक्त कर योग साधना के लिए मार्ग प्रशस्त करती हैं, किन्तु यदि कदाचित् साधक उस ऐश्वर्य (शक्तिविशेष) को प्राप्त कर स्वयं को लोकोत्तर समझने लग गया तो उसका पथभ्रष्ट होना अत्यन्त सुगम है। इस प्रकार की सिद्धियाँ निम्नलिखित हैं–

१. **क्रियाफलाश्रयत्वसिद्धि** : यह सिद्धि सत्य की साधना की सफलता पर प्राप्त होती है। इसको प्राप्त करने पर योगी कर्म के बिना भी कर्म फल प्राप्त कर लेता है। साथ ही अपने कथन मात्र से (आशीर्वाद द्वारा) अन्य जनों को फल देने में समर्थ हो जाता है।[१]

२. **सर्वरत्नोपस्थानसिद्धि** : सर्वविध दिव्य अथवा अदिव्य रत्नों की स्वतः उपलब्धि। यह सिद्धि यमों में अन्यतम अस्तेय की निरन्तर साधना के अनन्तर प्राप्त होती है।[२]

३. **वीर्यलाभ सिद्धि**–सर्वशक्तिसम्पन्नतारूप यह सिद्धि निरन्तर ब्रह्मचर्य (अन्यतम यम) की सतत साधना के फलस्वरूप प्राप्त होती है।[३]

४. **जन्मकथन्तासंबोधसिद्धि** : जन्म जन्मान्तर के कारण का ज्ञान कराने वाली यह सिद्धि, अन्यतम यम अपरिग्रह की सतत साधना के फलस्वरूप प्राप्त होती है। इसकी प्राप्ति के अनन्तर वह 'मैं पूर्वजन्म में कौन था, मेरे कर्म किस प्रकार के थे, जिनके फलस्वरूप मुझे अमुक जन्म और सुखदुःख प्राप्त हो रहे हैं' इत्यादि को भली प्रकार (संशयरहित) जान लेता है।[४]

५. **अतीतानागतज्ञानसिद्धि** : पूर्व परिच्छेद में वर्णित धर्मपरिणाम लक्षण-परिणाम और अवस्थापरिणाम में संयम करने के फलस्वरूप साधक योगी भूत भविष्य आदि का सम्यक्साक्षात्कार कर लेता है।[५] काल का किसी प्रकार भी व्यवधान उसके ज्ञान में नहीं होता। हस्तामलकवत् वह भूत भविष्य का द्रष्टा बन जाता है।

---

१. (क) योगसूत्र २.३६। (ख) भोजवृत्ति। पृ० ९८।
२. योगसूत्र २.३७। ३. वही २.३८।
४. (क) वही २.३९। (ख) भोजवृत्ति २.३९ पृ० १००।
५. योगसूत्र ३.१६।

६. सर्वभूतरुतज्ञानसिद्धि : समस्त प्राणियों के वाग्व्यवहार को जानने की क्षमता प्राप्त होना। यह सिद्धि तब प्राप्त होती है, जब साधक शब्द अर्थ एवं प्रत्यय (ज्ञान) के परस्पर संकर अध्यास को त्याग कर इनके प्रविभाग में संयम करता है।[1] स्मरणीय है कि सामान्यतः वाग्व्यवहार के प्रसंग में शब्द-अर्थ और उससे उत्पन्न ज्ञान परस्पर इतने संकीर्ण होते है कि शब्द का उच्चारण अथवा साक्षात्कार होते ही उसका, उसके अर्थ का एवं उससे उत्पन्न ज्ञान का साक्षात्कार होता है। यही स्थिति वस्तु के साक्षात्कार के समय होती है। तद्वाचक शब्द और वस्तुविषयक ज्ञान का अवभासन सामान्यरूप से होता है।

७. पूर्वजातिज्ञान सिद्धि : स्वकीय अथवा परकीय पूर्व जन्म की परम्परा का ज्ञान होना यह सिद्धि अनुभवजन्य एवं कर्मजन्य वासनाओं के साक्षात्कार से प्राप्त होती है।[2]

८. परचित्तज्ञान सिद्धि : यह सिद्धि रागादियुक्त निज चित्त वृत्ति के साक्षात्कार के फलस्वरूप प्राप्ति होती है।[3]

९. अन्तर्धान सिद्धि : इस सिद्धि को प्राप्त करने के अनन्तर योगी अन्तर्धान होने की क्षमता प्राप्त कर लेता है। इस सिद्धि की प्राप्ति शरीर और उसके रूप का संयम तथा रूप में विद्यमान नेत्रग्राह्यतारूप शक्ति का अवष्टम्भ करने पर होती है।[4]

१०. अपरान्त (मृत्यु) ज्ञानसिद्धि : स्वकीय अथवा परकीय भावी मृत्यु का ज्ञान प्राप्त करने की सिद्धि सोपक्रम और निरुपक्रम द्विविध कर्मों के ज्ञान से प्राप्त होती है। यह ज्ञान कभी कभी विपरीत चिह्नों के द्वारा भी प्राप्त होता है।[5]

११. बलसिद्धि : मैत्री आदि व्यवहारों में संयम करने पर मैत्रीबल आदि सिद्धि तथा हाथी आदि अतिशय शक्तिशाली प्राणियों के बलों में संयम करने से तत् तत् बलों की प्राप्ति हो जाती है।[6]

१२. सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टज्ञानसिद्धि : इन्द्रियातीत वस्तुओं का, व्यवहित वस्तुओं का तथा अत्यन्त दूरस्थ वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त करने की सिद्धि उस साधक को प्राप्त होती है, जो मन को ज्योतिष्मती प्रवृत्ति के आलोक में निहित कर लेता है।[7]

---

१. योगसूत्र ३.१७।
२. योगसूत्र ३.१८।
३. योगसूत्र ३.१९।
४. योगसूत्र ३.२१।
५. वही ३.२२।
६. योगसूत्र ३.२३, २४।
७. वही ३.२५।

१३. **भुवनज्ञान, ताराव्यूहज्ञान, ध्रुव की गति का ज्ञान, कायव्यूहज्ञान** आदि विविध अलौकिक ज्ञान की सिद्धियाँ उन साधकों को प्राप्त होती है, जो क्रमशः सूर्य चन्द्र ध्रुव एवं नाभिचक्र में संयम की साधना करते हैं।[1]

१४. **क्षुत्पिपासानिवृत्तिसिद्धि** इस सिद्धि के प्राप्त होने पर साधक को भूख प्यास का कष्ट नहीं होता एवं वह निर्बाध रूप से साधना में रत रह सकता है। यह सिद्धि कण्ठकूप में संयम करने से प्राप्त होती है।[2]

१५. **स्थैर्यसिद्धि** चित्त की स्थिरतारूप सिद्धि कूर्मनाड़ी में संयम के परिणामस्वरूप साधक को प्राप्त होती है।[3]

१६. **सिद्धदर्शन** शिरःकपाल में ब्रह्मरन्ध्रनामक छिद्र को प्रकाश का आधार माना जाता है, उसे मूर्ध ज्योतिष भी कहते हैं; उसमें संयम करने से सिद्ध अर्थात् दिव्य पुरुषों के दर्शन प्राप्त करने की सिद्धि प्राप्त होती है।[4]

१७. **चित्तज्ञानसिद्धि** स्वकीय अथवा परकीय चित्त की एवं उनमें विद्यमान भावना आदि के ज्ञान की सिद्धि उस साधक को प्राप्त होती है, जो हृदय में संयम करता है।[5]

१८. **जलादि असङ्गसिद्धि** इस असङ्गसिद्धि के परिणामस्वरूप योगी जल पङ्क कण्टक आदि सभी में विचरण करता है; किन्तु जलादि का योगी के शरीर से सङ्ग नहीं होता, तथा शरीर से भी असङ्ग के कारण साधक जब चाहे शरीर का त्याग कर सकता है। योगी को यह सिद्धि कण्ठ प्रदेश में रहने वाले विशिष्ट प्राण **'उदान'** पर विजय प्राप्त करने के फलस्वरूप प्राप्त होती है।[6]

१९. **ज्वलनसिद्धि** इसी प्रकार उदान के स्थान पर **समान वायु** (नाभिमंडल में स्थित वायु पर संयम करने से साधक को अग्नि की सिद्धि प्राप्त हो जाती है, वह अपनी इच्छानुसार अपने शरीर के किसी अंश में इतना ताप उत्पन्न करने में समर्थ हो जाता है कि शरीर का वह अंग अग्नि के समान प्रज्वलित होता हुआ सा प्रतीत होता है,[7] उसके स्पर्श मात्र से काष्ठ जल उठता है, पानी उबलने लगता है।

---

१. योगसूत्र ३.२६-२९। २. वही ३.३०।
३. योगसूत्र ३.३१।
४. (क) वही ३.३२। (ख) योगसुधाकर पृ० १४५।
५. योगसूत्र ३.३४। ६. योगसूत्र ३.३९।
७. (क) वही ३.४०। (ख) मणिप्रभा ३.४२ पृ० १५३।

२०. दिव्यश्रोत्रसिद्धि दिव्य श्रोत्र सिद्धि के फलस्वरूप साधक एक काल में ही सूक्ष्म व्यवहित विप्रकृष्ट आदि शब्दों का साक्षात्कार करता है। यह सिद्धि श्रोत्र और आकाश में विद्यमान देशदेशिभाव सम्बन्ध में संयम से प्राप्त होती है।[1]

२१. आकाशगमन सिद्धि इस सिद्धि को प्राप्त करने वाला साधक हल्की रुई के समान भाररहित हो जाता है; जिसके फलस्वरूप वह इच्छानुसार पक्षियों के समान आकाशगमन कर सकता है। यह सिद्धि शरीर और आकाश के 'सम्बन्ध' में संयम करने से प्राप्त होती है।[2]

२२. भूतजयसिद्धि पृथिवी आदि पाँच भूतों के स्थूल रूप गन्ध रस आदि स्वस्वरूपों एवं पंचतन्मात्रा आदि सूक्ष्मरूपों में संयम करने वाला साधक पंचभूतों पर विजय पा लेता है।[3] भूतजय के परिणाम स्वरूप योगी अणिमा आदि आठों ऐश्वर्यो को प्राप्त करता है, तथा काठिन्य आदि भूतधर्म उसका अभिघात नहीं कर पाते। साथ ही रूप लावण्य एवं वज्र संहनन (वज्र की भाँति अमोघ आघात की क्षमता) साधक को प्राप्त हो जाती है।[4]

दत्तात्रेय योग शास्त्र के अनुसार पंचभूत धारणा अर्थात् मूलाधार स्वाधिष्ठान मणिपूर अनाहत और चक्रों के स्थान क्रमशः पृथिवी आदि महाभूतों के स्थान हैं। केवल-कुम्भक प्रारम्भ होने पर चित्त और प्राण की इन स्थानों पर स्थिरता रूप धारणा करने से साधक को उन भूतों पर विजय प्राप्त होती है।[5]

इस प्रकार योगी को अनेकानेक ऐसी सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं, जिनसे उसमें अलौकिकता का दर्शन हो सकता है। इन सिद्धियों का उपयोग शरीरयात्रा तथा योग साधना के हेतु शारीरिक सामर्थ्य का लाभ आदि प्राप्त करने के लिए किया जाना चाहिए। किन्तु यदि कदाचित् साधक को अलौकिक होने का अभिमान उत्पन्न हो गया तो उसके पथभ्रष्ट होते भी देर नहीं लगती।

इनके अतिरिक्त योगी को कुछ सिद्धियाँ (विभूतियाँ) ऐसी भी प्राप्त होती हैं, जिनका कार्य साधक के समक्ष उपस्थित असुविधाओं (बाधाओं) को दूर कर उसके लिए सम्प्रज्ञात अथवा असम्प्रज्ञात समाधि के लिए मार्ग प्रशस्त कर देना होता है। इनका उदय योगी के लिए भाग्योदय है। इस प्रकार की कुछ सिद्धियाँ निम्नलिखित हैं—

---

१. योगसूत्र ३.४१।
२. योगसूत्र ३.४२।
३. वही २.४४।।
४. वही ३.४५-४६।
५. दत्तात्रेय योगशास्त्र २२३—२३६

१. **आसन एवं प्राणायाम सिद्धि** आसनों की सफल साधना होने पर जहाँ एक ओर द्वन्द्वों का अभिघात हो जाता है, वहीं उस साधक को प्रायाणाम की योग्यता की सिद्धि भी हो जाती है, प्राण उसके वश में होने लगते हैं।[१] प्राणायाम के सिद्ध होने के अनन्तर स्वप्रकाशरूप चित्त को आवृत करने वाले अज्ञानरूप आवरण का विनाश हो जाता है।[२] चित्त के निर्मल होने पर बाह्य साक्षात्कार में कोई बाधा नहीं रह जाती। एक अन्य मान्यता के अनुसार चेतना के मार्ग सुषुम्ना नाड़ी के मुखपर विद्यमान कफ आदि मल का आवरण दूर होकर कुण्डलिनी का जागरण होता है, और पंचभूत धारणा प्रारम्भ लेती है।

२. **इन्द्रियनिरोधसिद्धि** योगाङ्गों में अन्यतम प्रत्याहार की साधना पूर्ण होने पर इन्द्रियों पर पूर्ण विजय साधक को मिल जाती है।[३] यह इन्द्रियजय चित्तवृत्ति निरोध का (समाधि का) प्रधान साधन है। पतंजलि ने प्रत्याहार साधना के अतिरिक्त भी इन्द्रियजय के अनेक उपाय बतलाए हैं—इन्द्रिय जय के लिए उनके अनुसार प्रथम उपाय शौच का पालन है।[४] इसकी चर्चा पहले की जा चुकी है। इसी प्रकार इन्द्रियों की पाँच अवस्थाओं ग्रहण स्वरूप अस्मिता अन्वय और अर्थवत्व में संयम करने से भी इन्द्रियों पर विजय प्राप्त हो जाती है।[५] इसके अतिरिक्त इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करने का सर्वोत्तम उपाय है, मन पर विजय प्राप्त करना, मन को स्थिर करना। मन की स्थिरता का एक अन्य सुन्दर उपाय है 'विषयवती प्रवृति',[६] अर्थात् दिव्यगन्ध आदि में मन को स्थिर करना, यह दिव्यगन्ध आदि नासिकाग्र आदि स्थलों में चित्त के स्थिरीकरण से उपलब्ध होते हैं।[७] इसके अतिरिक्त सात्त्विक प्रकाशयुक्त प्रशान्तचित की भावना, जिसे विशोकाज्योतिष्मती वृत्ति कहा जाता है, के फलस्वरूप भी चित्त की एकाग्रता सिद्ध होती है।[८] इसके साथ वीतरागता, स्वप्न-निद्रा की स्थिति में ज्ञान का आलम्बन अथवा नाभिचक्र आदि का ध्यान भी चित्त की एकाग्रता का हेतु हुआ करता है।[९]

३. **समाधिसिद्धि** नियमों में अन्तिम, ईश्वरप्रणिधान की सफल साधना करने पर साधक को समाधि सिद्धि प्राप्त होती है,[१०] जो साधक की अभीष्टतर है।

---

१. (क) योगसूत्र २.४६। (ख) योगसुधाकर २.४६ पृ० १०७।
२. (क) योगसूत्र २.५२। (ख) भोजवृत्ति २.५२ पृ० १११।
(ग) योगसूत्र २.३।
३. योगसूत्र २.५५।
४. वही २.४१।
५. योगसूत्र ३.४७।
६. वही १.३५।
७. मणिप्रभा १.३५। पृ० ४३।
८. योगसूत्र १.३६।
९. वही १.३७ ३६।
१०. वही २.४५।

४. विवेकज्ञानसिद्धि प्रायः सभी दर्शनों में तत्त्वज्ञान को मोक्ष का कारण कहा गया है। योग में यद्यपि साधना का महत्त्व है, तथा चित्तवृत्ति निरोधरूपी योग समाधि के द्वारा कैवल्य-अपर पर्याय मोक्ष की प्राप्ति का निर्देश किया गया है, तथापि यहाँ भी ज्ञान की उपेक्षा नहीं की गयी है। योग साधना के फलस्वरूप समाधि प्राप्ति के साथ साथ साधक को समस्त तत्त्व अतत्त्वों का पूर्ण यथार्थ ज्ञान हो जाया करता है, ऐसा स्वीकार किया गया है। यह विवेक ज्ञान सिद्धि साधक को निर्विचारा समापत्ति (समाधि) की सिद्धि के साथ ही हो जाया करती है, उस स्थिति में उसकी प्रज्ञा ऋतम्भरा अर्थात् समस्त अविद्यादि से मुक्त आत्मज्ञान को धारण करने लगती है।[१] यह ज्ञान शाब्दज्ञान और अनुमिति से प्राप्त ज्ञान से अतिशय उत्कृष्ट कोटि का होता है।[२] भावगणेश के अनुसार इस ज्ञान में योगी को परमात्मा का साक्षात्कार भी हुआ करता है।[३]

इसी ऋतम्भरा प्रज्ञा को विवेकख्याति भी कहा जाता है, क्योंकि व्यास के अनुसार 'सत्त्वपुरुषान्यताप्रत्यय, ही विवेकख्याति है;[४] तथा पतंजलि के अनुसार सत्त्वपुरुषान्यताख्याति के साथ ही साधक को सर्वभावाधिष्ठातृत्व और सर्वज्ञातृत्व प्राप्त हो जाता है,[५] जो ऋतम्भरा प्रज्ञा से भिन्न नहीं है। साधक को यह विवेकख्याति (विवेकज्ञान) अनेक प्रकार से प्राप्त हो सकती है। यथा योगाङ्गों का अनुष्ठान करने से अशुद्धि का नाश हो जाने पर साधक को विवेकख्याति पर्यन्त ज्ञानदीप्ति प्राप्त होती है।[६] शुद्ध सात्त्विक परिणामरूप चित्त में संयम करने से सत्त्वचित एवं पुरुष के भेद का ज्ञान होता है, जिसे सत्त्वपुरुषान्यताख्याति कहते हैं। इस सत्त्वपुरुषान्यताख्याति के परिणामस्वरूप साधक को सर्वभावाधिष्ठातृत्व के साथ सर्वज्ञातृत्व भी प्राप्त हो जाता है।[७] यही विवेकजन्य सर्वज्ञातृत्व क्षण एवं उसके क्रम विषयक संयम के फलस्वरूप भी प्राप्त हुआ करता है।[८] इसके अतिरिक्त विवेकज्ञान का उदय प्रकाशावरण के नाश अथवा प्रज्ञालोक के उदय होने पर भी हुआ करता है।[९] क्योंकि इस विवेकज ज्ञान के द्वारा समस्त विषयों का विषयक्रम आदि के बिना भी ज्ञान होता रहता है, अतः इसके द्वारा समस्त जागतिक पदार्थों के यथार्थ स्वरूप के ज्ञान के कारण उनके प्रति वितृष्णा (वैराग्य) उत्पन्न हो जाती है, इसी कारण

---

१. (क) योगसूत्र १.४८। (ख) भोजवृत्ति १.४८ पृ० ५६।
२. योगसूत्र १.४९।
३. भावगणेशवृति पृ० ५६।
४. योगभाष्य पृ० २३६।
५. योगसूत्र ३.४९।
६. वही २.२८।
७. योगसूत्र ३.४९।
८. वही ३.५२।
९. वही २.५२, ३.५।

यह विवेकज्ञान संसाररूप सागर से पार कराने वाला भी कहा जाता है;[१] तथा इसी विवेकज्ञान के कारण सत्त्व समस्त कर्त्तृत्वाभिमान से परे होकर स्वकारण प्रकृति में अनुप्रविष्ट हो जाता है तथा पुरुष भी चित्त संसर्ग से उपचरित भोग से असंपृक्त होकर शुद्ध स्वरूप में ही रह जाता है; जिसके फलस्वरूप पुरुष सब कर्म बन्धनों से मुक्त होकर कैवल्यभाव (मोक्ष) को प्राप्त कर लेता है।[२]

इस प्रकार हम देखते है कि साधक योगी को साधना के फल स्वरूप नाना प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त होती रहती है; इनमें कुछ तो साक्षात्समाधि अथवा मोक्ष की सहायक हुआ करती हैं तथा कुछ परम्परया साधनद्वारेण समाधि की सहायक हुआ करती हैं। इसके अतिरिक्त कुछ सिद्धियाँ ऐसी भी हैं, जो यथावसर निस्सन्देह समाधि के मार्ग में परम्परया साधक हुआ करती हैं, किन्तु वे सिद्धियाँ अनेकबार योगी को पथ भ्रष्ट भी कर देती हैं, अतः उन्हें सिद्धियों के रूप में स्वीकार करते हुए भी समाधि के मार्ग में उपसर्ग अर्थात् अन्तराय स्वीकार किया जाता है।[३]

ये सिद्धियाँ जहाँ तप और संयम द्वारा प्राप्त हुआ करती हैं, वहीं वे जन्म काल से ही अथवा औषधि विशेष के प्रयोग से अथवा समाधि के द्वारा भी प्राप्त हुआ करती हैं।[४] उदाहरणार्थ विदेह और प्रकृतिलय योगियों को जन्म से ही सम्प्रज्ञात समाधि की सिद्धि हुआ करती हैं।[५] यहाँ विदेह से तात्पर्य उन साधकों से है, जो देह के प्रति निरपेक्षभाव से व्यवहार रखते हैं।[६] प्रकृतिलय योगी वे कहे जाते हैं, जिन्होंने निज चित्त का उसके कारणभूत प्रकृति में लय कर लिया है।[७] मणिप्रभाकार (रामानन्द यति) के अनुसार जो साधक पंचभूत और इन्द्रियों के विकारों में से अन्यतम को आत्मा समझने (यद्यपि वह आत्मा नहीं है) के कारण शरीर त्याग के अनन्तर उसमें ही लीन हो जाते हैं, वे षाट्कौशिक देह से शून्य होने के कारण विदेह कहे जाते हैं।[८]

---

१. योगसूत्र ३.५८।
२. (क) योगसूत्र ३.५५। (ख) भोजवृत्ति पृ० १७०।
३. योगसूत्र ३.३६।
४. योगसूत्र ४.१।
५. (क) वही १.१६। (ख) भावगणेशवृत्ति १.१६ पृ० २५।
६. योगवार्त्तिक १.१६ पृ० ५८।
७. भोजवृत्ति पृ० २१।
८. मणिप्रभा १.२० पृ० २५।

उपर्युक्त विदेह और प्रकृतिलय से भिन्न योगियों को समाधिज सिद्धि प्राप्त होती है तथा उसके लिए समाधि से पूर्व श्रद्धा वीर्य स्मृति और सम्प्रज्ञात समाधि की अपेक्षा होती है, समाधि के अनन्तर विवेकज्ञान होकर असम्प्रज्ञात समाधि का लाभ होता है।[1] समाधि क्योंकि साधना का ही फल है, एवं साधना में संवेग तीव्र तीव्रतर और तीव्रतम आदि भेद से अनेक प्रकार का हो सकता है, अतः समाधिविषयक संवेग के अनुसार असम्प्रज्ञात सिद्धि में काल भेद हो सकता है। यथा तीव्रसंवेग सम्पन्न योगियों को अधिक शीघ्र असम्प्रज्ञात समाधि की सिद्धि हो जाती है। एवं उनमें भी मृदु मध्य और अधिमात्र भेद से क्रमशः काल का अन्तर अधिक और कम हो सकता है।[2] इसके अतिरिक्त ईश्वरप्रणिधान भी सम्प्रज्ञात समाधि की सिद्धि के लिए अन्यतम उपाय है।[3] ईश्वर प्रणिधान से यहाँ तात्पर्य है ईश्वर अर्थात् क्लेश और कर्मविपाक आदि से अपरामृष्ट पुरुष विशेष के वाचक 'प्रणव' का जाप तथा उसके अर्थ की भावना करना। इसके फलस्वरूप प्रत्यक्‌चेतना का उदय तथा अन्तरायों की निवृत्ति हो जाती हैं, जिसके अनन्तर साधक को सम्प्रज्ञात समाधि की सिद्धि हो जाती है।[4]

अन्तराय–

अन्तराय का अर्थ है, उपसर्ग बाधा या वे उत्पन्न स्थितियाँ, जो साधना के मार्ग में उपस्थित होकर रुकावट पैदा करती हैं। ये अनेक प्रकार की हो सकती हैं, सर्वप्रथम शारीरिक और मानसिक भेद से इसके दो भेद किये जा सकते हैं। शारीरिक अन्तराय रोग इत्यादि हैं, जो साधक की साधनाक्षमता पर प्रहार कर उसे साधना से विरत कर देते हैं। मानसिक अन्तराय सन्देह अथवा मिथ्याज्ञान आदि का उदय कहा जा सकता है, जो उत्पन्न होने पर साधक की निज निष्ठा पर ही प्रहार करके उसे अपनी साधना से विरत कर देते हैं।

पतंजलि के अनुसार ये अन्तराय चित्तविक्षेपरूप हुआ करते हैं तथा ये संख्या में नव हैं–व्याधि स्त्यान संशय प्रमाद आलस्य अविरति भ्रान्तिदर्शन अलब्धभूमिकत्व और अनवस्थितत्व।[5] विक्षेप के प्रसंग में व्याधि का अर्थ है रस रक्त आदि धातुओं, तथा इन्द्रियों में वैषम्य आ जाना। स्त्यान से तात्पर्य है चित्त की अकर्मण्यता अर्थात् साधना में प्रवृत्ति का अभाव, संशय में उभकोटिक

---

१. योगसूत्र १.२०।
२. वही १.२१-२२।
३. वही १.२३।
४. वही १.२४, २७-२६।
५. (क) योगसूत्र १.३०।
(ख) योगभाष्य पृ० ८८-८६।

ज्ञान विद्यमान होने से कर्त्तव्याकर्त्तव्य का ही निर्णय नहीं हो पाता, परिणामतः साधना से विमुखता हो जाती है। समाधि साधना की भावना न करना प्रमाद कहाता है। आलस्य में चित्त में अथवा शरीर में गुरुता आ जाने से प्रवृत्ति में शैथिल्य आ जाता है। अविरति-विषयों के प्रति आकर्षण की निवृत्ति के अभाव को कहते हैं। भ्रान्तिदर्शन विवेक अर्थात् ज्ञान का प्रतियोगी है। अलब्धभूमिकत्व से तात्पर्य समाधि की पूर्वभूमिकाओं की सिद्धि न होना है। अनवस्थितत्व का अर्थ है : चित्त की अतिशय चंचलता स्थिरता का अभाव।[१] ये नव विक्षेप योग के अन्तराय कहे जाते हैं। इन उपर्युक्त नौ अन्तरायों के साथ साथ कभी कभी विविध दुःख इच्छाओं की अपूर्णता के कारण चित्त में विक्षोभ, शरीर में कम्पन एवं श्वास प्रश्वास की अस्थिरता भी अन्तराय के रूप में उपस्थित हो जाते हैं।[२] इनकी उपस्थिति सामान्यतः स्वतन्त्ररूप से न होकर पूर्वोक्त नौ अन्तरायों के साथ साथ ही होती है। ये सहभावी विक्षेप अनेकबार साक्षात्समाधि में बाधक हो सकते हैं, और कभी योगाङ्गों के विरोधी होने से योग के लिए अन्तराय सिद्ध होते हैं। उदाहरणार्थ-आध्यात्मिक आधिभौतिक और आधिदैविक भेद से त्रिविध दुःख क्षोभ और अङ्गमेजयत्व ये आसन के विरोधी हैं[३]; जब कि श्वास रेचक प्राणायाम का विरोधी है, प्रश्वास पूरक प्राणायाम का विरोधी है, अथवा श्वास को बाह्य कुम्भक एवं प्रश्वास को आन्तर कुम्भक का विरोधी कहा जा सकता है। अङ्गमेजयत्व (कम्पन) दोनों ही प्रकार के कुम्भकों का विरोधी है।[४] ये दुःख आदि विक्षिप्तचित साधक को ही प्राप्त होते हैं, एकाग्र चित्त साधक को नहीं,[५] तथा इनके उत्पन्न होने पर अभ्यास द्वारा इन विक्षेपों पर विजय प्राप्त की जाती है।[६]

इनके अतिरिक्त इसी प्रकरण में पूर्व वर्णित विभूतियाँ भी योगी में लोकोत्तरपुरुष होने की भावना आदि की उत्पत्ति कराकर अभिमान आदि को उत्पन्न करके अनेक बार उसे पथभ्रष्ट कर सकती है; इसलिए उन्हें भी योगी के लिए अन्तराय स्वरूप ही समझा गया है,[७] अतः योगी को इनसे निरन्तर बचने का प्रयास करना चाहिए।

●●●

---

१. योगभाष्य पृ० ८८-८६।
२. योगसूत्र १.३१।
३. योग सुधाकर पृ० ३८।
४. योगसुधाकर पृ० ३८।
५. वही पृ० ३८।
६. योगसूत्र १.३२।
७. योगसूत्र ३.३७।

कैवल्य

कैवल्य शब्द का अर्थ है, केवलता या अकेलापन अर्थात् आत्मा का त्रिगुणात्मक प्रकृति के विकारभूत स्थूल सूक्ष्म कारण आदि शरीरों और तज्जन्य दिव्य-अदिव्य उपभोगों से छूट कर अपने चिन्मात्र स्वरूप से अवस्थित हो जाना। इस अवस्था को शास्त्रान्तरों में मुक्ति मोक्ष ब्रह्मलोक परमधाम अमृतधाम हान अमृत अपवर्ग निर्वाण निःश्रेयस् परमशान्ति परमगति भगवत्प्राप्ति आदि अनेकानेक नामों और रूपों में अभिहित किया गया है। स्वयं सूत्रकार ने भी इस अवस्था के दो लक्षण किए हैं। पुरुष के कार्य का सम्पादन कर चुकने पर निष्प्रयोजन हुए गुणों का अपने कारण में लीन हो जाना अथवा चितिशक्ति का अपने स्वरूप में अवस्थित हो जाना कैवल्य है, जिसकी प्राप्ति का अन्यतम साधन विशुद्ध विवेकज्ञान है।[1]

अथर्ववेद में ब्राह्मणों को पवित्र करने वाली वरदा वेदमाता का स्तवन करते हुए उसे लोक में दीर्घायुष्य स्वास्थ्य सुसन्तान पशु धन यश और ब्रह्म-तेज को देने वाली तथा परलोक में ब्रह्मलोक प्रदान करने वाली कहा है।[2] प्रस्तुत सन्दर्भ में वेदमाता शब्द विवेक या विद्या का ही समानार्थक है, चाहे उस बोध प्राप्ति का साधन वेदों का पढ़ना रहा हो, या गायत्री प्रणवादि पवित्र मन्त्रों का जप। अन्यत्र यजुर्वेद में भी विद्या और अविद्या दोनों का एक साथ ज्ञान होने पर अविद्या से मृत्यु को तरने का और विद्या से अमृत की प्राप्ति का वर्णन मिलता है।[3] यहाँ पर अविद्या को अपरा विद्या का समानार्थक तथा विद्या को परा विद्या का समानार्थक स्वीकार किया है, यह कहा जा सकता है। वेद ने भी संस्कारों से युक्त होने के कारण शास्त्रज्ञान को मोक्ष का हेतु न मानकर योगज साक्षात्कार निर्विकल्प ज्ञान या परप्रत्यक्ष को ही अमृतस्वरूप परमेश्वर की प्राप्ति का कारण बताया है। अतः वेद में ज्ञान को मोक्ष की प्राप्ति का मुख्य हेतु स्वीकार किया है। इसे ही सूत्रकार विवेकख्याति कहकर पुकारते हैं। अन्यदर्शनों में भी कैवल्य की प्राप्ति तत्त्वज्ञान आदि साधनों से स्वीकार

---

१. योगसूत्र ४.३४, ३२६।

२. अथर्ववेदं। १९.७१, १।

३. यजुर्वेद ४०.१४।

की गयी है। गौतम प्रमाण प्रमेय संशय प्रयोजन दृष्टान्त सिद्धान्त अवयव तर्क निर्णय वाद जल्प वितण्डा हेत्वाभास छल जाति और निग्रहस्थान इन सोलह पदार्थो के तत्त्वज्ञान से मिथ्याज्ञान या अविद्या का नाश होना स्वीकार करते हैं। अविद्या का नाश होने पर राग द्वेष मोहादि दोषों का नाश होता है। दोषों के नाश से (सुखोपभोग की) प्रवृत्ति नष्ट हो जाती है। प्रवृत्ति के नाश से (भावी) जन्म नहीं लेना पड़ता। भावी जन्म न होने से दुःखों का अत्यन्त अभाव हो जाता है। यह दुःखों का अत्यन्त अभाव ही मोक्ष है।[1] इस प्रकार गौतम ने भी अविद्या को ही बन्धन का मुख्य हेतु मान कर उसके नाश से दोष प्रवृत्ति जन्म और दुःख से छूटना माना है। पतंजलि के अनुसार भी प्रकृति और पुरुष के संयोग का हेतु अविद्या है। इसके (अस्मिता राग द्वेष और अभिनिवेशादि के समस्त परिवार सहित) नष्ट हो जाने पर प्रकृति और पुरुष का संयोग नहीं होता और यही मोक्ष कहलाता है।[2]

कणाद के अनुसार पृथिवी जल अग्नि वायु आकाश आदि पाँच भूतों तथा दिशा काल आत्मा और मन इन नौ द्रव्यों में रहने वाले गुण क्रिया सामान्य विशेष और समवाय के साधर्म्य और वैधर्म्य सहित सम्यक् ज्ञान को ही निर्वाण प्राप्ति का साधन माना जाता है।[3] श्री गौड़पादाचार्य के अनुसार पच्चीस तत्त्वों का ज्ञान होने पर चाहे वह ज्ञाता-जटाधारी हो, मुण्डी हो, शिखी हो और किसी भी स्थान पर निवास करता हो, मुक्त हो जाता है।[4] सांख्य और योग प्रकृति-पुरुष के विवेक को समानरूप से मोक्ष का हेतु मानते हैं। साथ ही मोक्ष में जीवात्मा का अपने स्वरूप में स्थित होना भी समान रूप से मानते हैं, किन्तु योग सूत्र के भाष्यकार व्यास ने ईश्वर की भक्ति विशेष को भी योगी की समाधि और उसका फल कैवल्य स्वीकार किया है।[5]

ब्रह्मसूत्रों के भाष्यकार आचार्य शंकर के मतानुसार नित्यानित्यवस्तु-विवेक वैराग्य शमादि षट् सम्पति और मुमुक्षुत्व[6] इन चार साधनों को मोक्ष का हेतु माना गया है। उनके अनुसार ब्रह्म सत्य है और जगत् मिथ्या है, ऐसा जो निश्चयात्मक ज्ञान है, वह नित्यानित्यवस्तुविवेक कहलाता है। दर्शन और श्रवणादि के द्वारा जो स्थूल देह से लेकर ब्रह्मलोक पर्यन्त समस्त अनित्य भोग पदार्थों में घृणा बुद्धि है, वही वैराग्य है। बारम्बार दोषदर्शन के द्वारा स्त्री पान ऐश्वर्यादि विषयसमूह से विरक्त होकर चित्त का अपने लक्ष्य में स्थिर

---

१. न्यायसूत्र. १.१.१-२।
२. योगसूत्र २.२४,२५।
३. वैशेषिक दर्शन १।१४,५।
४. सां० का० १ गौड़पादभाष्य।
५. व्यासभाष्य १, २३।
६. विवेक चूड़ामणि १।१८,१६।

हो जाना ही शम है। कर्मेन्द्रियों और ज्ञानेन्द्रियों को उनके विषयों से खींचकर अपने अपने गोलकों में स्थिर करना दम कहलाता है। चित्तवृत्तियों का बाह्य विषयों की ओर न दौड़कर स्थिर रहना उपरति है। चिन्ता और शोक से रहित होकर बिना कोई निवारक उपाय किए सब प्रकार के कष्टों को सहन करना तितिक्षा है। शास्त्र और गुरु वाक्यों में सत्यता की बुद्धि करना जिससे कि यथार्थ वस्तु की प्राप्ति होती है, श्रद्धा कहलाती है। अपनी बुद्धि को सब प्रकार शुद्ध ब्रह्म में ही सदा स्थिर रखना इसी को समाधान कहा है, चित्त की इच्छापूर्ति का नाम समाधान नहीं है। अहंकार से लेकर देहपर्यन्त जितने अज्ञानकल्पित पदार्थ हैं, उनको आत्मा से पृथक् जानकर त्यागने की इच्छा मुमुक्षुता कहलाती है।[1] इन उपरोक्त साधनों से चित्त की शुद्धि करने पर गुरु वाक्यों को सुनने विचारने, उपस्थित हुई शंकाओं का गुरु से समाधान प्राप्त करने, निर्णीत हुए तत्त्वों को पुनः चित्त में निविष्ट करने और चित्त में अच्छी प्रकार बैठे हुए उस तत्त्वज्ञान का ध्यान योग द्वारा समाधिस्थ होकर साक्षात् करने से तत्त्वज्ञान की प्राप्ति होकर मोक्ष की भी उपलब्धि होती है।

मोक्ष में जीवात्मा की स्थिति निज ब्रह्मीय स्वरूप में होती है, अर्थात् इस समय व्यष्टि अन्तःकरण से जीव उपाधि को प्राप्त हुआ जीव, अपने जीव भाव का सर्वदा के लिए त्याग करके निज सच्चिदानन्दघन विशुद्ध परब्रह्मीय स्वरूप में लीन हो जाता है, यही आचार्य शंकर के मत में स्वीकृत मोक्ष का स्वरूप है, वह पातंजल सूत्रों में वर्णित कैवल्य से पर्याप्त अभिन्न है। योग और सांख्य, जिसे त्रिगुणात्मक प्रकृति से छूटकर गुणातीत होकर चितिशक्ति या पुरुष का अपने स्वरूप में स्थित होना मानते हैं, उसे ही शाङ्कर वेदान्त माया से छूटकर (वेदान्त में प्रकृति के ही समानान्तर माया है) अपने ब्रह्मीय स्वरूप में अवस्थित होना कहते हैं। ईश्वर का लक्षण करते हुए सूत्रकार ने उसकी अन्य जीवों से दो ही विलक्षणताएँ बताई हैं, एक तो उसका क्लेश कर्मफल और वासनाओं से अछूता होना और दूसरे उसका पूर्ण ज्ञानी होना। वे दोनों विशेषताएँ भी धर्ममेध समाधि के फलस्वरूप योगी में आ ही जाती हैं। क्लेश तथा कर्मों की भी सर्वथा निवृत्ति हो जाती है और चित्तसत्त्व के रजस् तमस् आदि सब मलों से विशुद्ध हो जाने पर उसका ज्ञान अनन्त हो जाता है। यहाँ तक कि विश्व भर के ज्ञेय पदार्थ उसे उद्घाटित ज्ञान के समक्ष अल्प दिखाई देने लगते हैं।[2] अन्तर केवल यही रह जाता है, कि ईश्वर नित्य ऐश्वर्यशाली है। योगी उस काल विशेष में ही मुक्त होता है—उससे पूर्व बद्ध था; किन्तु

---

१. विवेकचूड़ामणि १.२०-२८। २. योगसूत्र ४.२०, ०।

वहाँ मुक्त होने के पश्चात् न तो काल का अन्तर रहता है और न ईश्वर तत्त्व के सर्वव्यापक होने के कारण देश का, अतः उस समय योगी भी ईश्वररूप ही हो जाता है। वेदान्त ने इसी को ब्रह्मस्वरूपता कह दिया है।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि प्रायः सभी आस्तिक दर्शन तत्त्वज्ञान से ही मोक्ष का होना स्वीकार करते हैं, तथा मोक्षावस्था में तीनों प्रकार के दुःख का सर्वथा नाश हो जाता है। इस अवस्था का वर्णन करते हुए व्यास ने कहा है, कि योगी का चित्त अज्ञान के मार्ग से बहता हुआ कैवल्य में विश्रान्ति को प्राप्त करने वाला हो जाता है।[१] अर्थात् योगी का चित्त विवेक ज्ञान से तृप्त होने के कारण केवलता की स्थिति की ओर बह निकलता है। समाधि की स्थिति से पूर्व विषयभोगों में आकर्षण प्रतीत होता था और चित्त का निरोध कष्टप्रद तथा प्रयत्नसाध्य था, किन्तु वैराग्य से जब चित्त के इस विषय स्रोत को खाली करके निरन्तर अभ्यास से कैवल्य का स्रोत खोलने का परिश्रम सफल हो गया, तो पहली धारा को छोड़ कर चित्त पुण्यमयी विवेक धारा में बिना प्रयत्न बहता रहता है।[२] कैवल्य और विषयसेवन दोनों परस्पर एकदम विमुख हैं। विषय चित्त के बाहर की ओर हैं। उनके सेवनार्थ चित्त को बर्हिमुख होना पड़ता है और इन्द्रियों के छिद्रों के माध्यम से विषय रूपी आलम्बन से सम्पर्क स्थापित करना पड़ता है। इसके विपरीत कैवल्य के सम्पादनार्थ चित्त को बाह्य जगत् से सर्वथा विमुख होकर आन्तरिक चित्तशक्ति से सम्पर्क स्थापित करना पड़ता है। विवेकज्ञान के उदय होने पर चित्त में इतनी अन्तर्मुखता आ जाती है कि बाह्य जगत् के कार्यों में लगाना उतना ही कठिन हो जाता है, जितना कि एक विषयी व्यक्ति को चित्त को समाधिस्थ करना।

इस अवस्था में भी व्युत्थान संस्कार सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिरूप विवेकज संस्कारों के प्रवाह के अन्तराल में उठ कर योगी को स्वशरीर तथा व्यावहारिक जीवन की स्मृति करा देते हैं।[३] अन्यथा योगी का देह पात हो सकता है, क्योंकि भोजन शौच जाना आदि का जीवन के स्थिति हेतु कार्य व्युत्थान दशा में ही संभव है, निरोध की अवस्था में नहीं। भगवद्‌गीता के अनुसार तीनों गुणों से अतीत पुरुष साक्षी के सदृश स्थित हुआ गुणों के द्वारा विचलित नहीं किया जा सकता। वह इस तथ्य को जानकर कि गुण ही गुणों में व्यवहार करते हैं, निज चिन्मात्र स्वरूप में एकीभाव से स्थित रहता है और कभी चलायमान नहीं होता। जो निरन्तर आत्मभाव में स्थित हुआ सुख दुःख में मिट्टी के ढेले

---

१. व्यासभाष्य ४.२६। २. वही १.१२।
३. योगसूत्र ४.२७।

पत्थर और स्वर्ण में प्रिय और अप्रिय में निन्दा और प्रशंसा में मान और अपमान में मित्र और शत्रु में समान भाव से रहता है, तथा समस्त कार्यों का परित्याग कर देता है, उसे गुणातीत अर्थात् सत्त्व आदि गुणों के प्रभाव से विर्निमुक्त और जीवन्मुक्त पुरुष कहते है।

गीता ने जिस अवस्था को त्रिगुणातीत अवस्था कहा है, उसी को योगदर्शन असम्प्रज्ञात समाधि कहता है। भाष्यकार व्यास ऐसी स्थिति को प्राप्त जीवन्मुक्त योगी को कुशल अथवा चरमदेह संज्ञा देते हैं। सप्तधा प्रान्तभूमि प्रज्ञा को अनुभव करते हुए अन्तिम या सातवीं भूमि पर पहुँचने पर योगी गुणों के सम्बन्ध से अतीत होकर स्वपरूपावस्थिति को प्राप्त हुआ केवली कहलाता है। इस सप्तविध प्रान्तभूमि प्रज्ञा से प्राप्त योगी को ही चित्त का प्रविलय होने पर गुणातीत होने के कारण मुक्त (जीवन्मुक्त) या कुशल कहते हैं।

इस कैवल्यावस्था जीवनमुक्तावस्था या कुशलावस्था की प्राप्ति में मुख्य हेतु परवैराग्य ही होता है। अपर वैराग्य के बिना केवल अभ्यासमात्र से अष्टांग योग की सिद्धि तथा परवैराग्य के बिना सम्प्रज्ञात समाधि या मोक्ष की सिद्धि होने पर ऋतम्भरा या प्रज्ञालोक का उदय होता है। उस प्रज्ञालोक का विविध भूमियों में प्रयोग करने पर योगी के मार्ग में अनेकविध ग्राह्म और ग्रहण सिद्धियाँ आती हैं। जिन में प्रवीणता प्राप्त करने पर योगी को पंचभूतों और इन्द्रियों पर विजय प्राप्त हो जाती है, इसे ही कैवल्य या कैवल्य-अवस्था कहते हैं।

●●●

---

१. गीता १४.२३, २५।।

२. व्यासभाष्य २.२७।

योग परम्परा के कुछ दार्शनिक पक्ष

यद्यपि योगदर्शन का मुख्य उद्देश्य अन्य दर्शनों की भाँति केवल सिद्धान्तों का प्रतिपादन करना न होकर अभ्यासात्मक शिक्षण है, तथापि इसका दार्शनिक पक्ष भी अपना एक विशिष्ट स्थान रखता है।

पतज्जलि के अनुसार संसार क्लेश रूप है, उससे विमुक्ति का मार्ग योग है, और विमुक्ति कैवल्य है। जिस प्रकार बौद्ध दर्शन में समस्त विश्व दुःखरूप है, दुःख की निवृत्ति संभव है, उसके उपाय हैं, और दुःखकी निवृति, ये चार आर्य सत्य है, अथवा जैसे वैद्यक शास्त्र में रोग रोगनिवृत्ति वैद्य और औषधिरूप चिकित्सा के चारस्तम्भ हैं, उसी प्रकार योग में भी सांसारिक दुःखों से निवृत्ति के लिए हेय हेयहेतु हान और हानोपाय हैं, इन पर विशेष रूप से विचार किया गया है। पतज्जलि के अनुसार दुःख हेय है, दुःख का हेतु संसार और उसका मूल अविद्या हेयहेतु है, दुःख का सदा सर्वदा के लिए नाशरूप कैवल्य हान कहलाता है और विवेकज्ञान उस हान का उपाय है।

प्राणीमात्र में दुःख से बचने की प्रवृत्ति देखने में आती है। छोटे से छोटें कीट पतंगे से लेकर बड़े सम्राट् तक किसी न किसी रूप में दुःख निवृत्ति के लिए प्रयत्नशील रहते हैं। फिर भी दुःख से सदा सर्वदा के लिए छुटकारा नहीं मिलता। यह दुःख तीन प्रकार का है आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक। आचार्य गौड़पाद के अनुसार आध्यात्मिक दुःख भी दो प्रकार का हैः शारीरिक और मानस। शारीरिक दुःख तो वह है, जो धातुओं की विषमता के कारण ज्वर, अतिसारादि के रूप में होता है। मानस दुःख प्रियजन के वियोग तथा अप्रियजन के संयोग से चिन्ता शोक आदि के रूप में होता है।[१] आधिभौतिक दुःख वह है, जो शत्रुओं, भयङ्कर मारक सिंहादि पशुओं, सर्प बिच्छू पक्षियों जलचरों और विषैले या कांटेदार वृक्षों से होता है। गर्मी सर्दी भूख प्यास आँधी बाढ़ भूकम्प अशनिपात ओले गिरना अतिवृष्टि अनावृष्टि आदि से उत्पन्न दुःख आधिदैविक दुःख है।

इन दुःखों से बचने के लिए औषधि प्रिय संयोग आदि जो उपाय किए

१. सांख्यकारिका गौडपाद भाष्य १।

जाते हैं, वे दुःखों की निवृत्ति नहीं कर पाते और यदि करते भी हैं तो सर्वथा निवृत्ति नहीं करते, इतना ही नहीं वे उपाय भी अन्ततोगत्वा दुःख क्लेशादि से अछूते नहीं अपितु पूर्ण ही हैं। इसी कारण पतंजलि ने इस विश्व के समस्त सुखोपभोगों को परिणामदुःख तापदुःख और संस्कारदुःख युक्त होने के कारण विवेकी पुरुष की दृष्टि में दुःखरूप ही कहा है।[1]

समस्त विषय परिणामतः दुःखजनक ही हैं, उनका उपभोग करने से इन्द्रियों की तृप्ति नहीं होती, बल्कि राग क्लेश की उत्पत्ति के द्वारा दुःख ही उत्पन्न होता है, अर्थात् विषयों को भोगते भोगते इन्द्रियाँ दुर्बल होती चली जाती हैं। अन्त में जब इन्द्रियों में उनको भोगने की शक्ति नहीं रहती, तब भी भोग वासना सताती ही रहती है; अतः परिणामतः दुःख पंक में ही धंसना पड़ता है। जैसे अग्नि में घृत आदि डालने से अग्नि की लपटें शांत नहीं होती, प्रत्युत् अधिकाधिक प्रचण्ड होती चली जाती हैं, इसी प्रकार विषयों के सेवन के परिणामस्वरूप चित्त में स्थित भोगानल बढ़ कर अतिशय दुःखदायी हो जाता है।[2]

विषयसुख की प्राप्ति में तथा भोग के सुख से राग क्लेश की उत्पत्ति होती है। विषय सामग्री की प्राप्ति में जो बाधाएँ आती हैं, उनसे चित्त में द्वेष नामक क्लेश की उत्पत्ति होती है। यह द्वेष विषयोपभोग के बाधक साधनों से उत्पन्न दुःख की स्मृति से ही पैदा होता है, अथवा कालान्तर में यदि उस विषय सामग्री का स्थायी वियोग हो जाए, तो भी वियोगजन्यदुःखाग्नि में जलना पड़ता है। यही ताप दुःख कहलाता है।

विषय सामग्री प्राप्त भी रहे तो भी उनके वियोग का भय बना रहता है, तो चित्त पर ऐसे दूषित संस्कार पड़ जाते हैं, कि वे मनुष्य को शुभाशुभ कर्म करने में बाध्य कर पुनः सुख दुःख में ही डाल देते हैं। फलतः प्राणी का छुटकारा सुख दुःख मोहदि से नहीं हो पाता। सत्त्व रजस् और तमस् ये परस्पर मिलजुल कर कार्य करते हैं। यद्यपि सत्त्व रजस् और तमस् के क्रमशः प्रधान, तथा रजस्-तमस् सत्त्व-तमस् और सत्त्व-रजस् के क्रमशः अप्रधान रहने पर सुख दुःख या मोहादि की ही उत्पत्ति प्रधानतया होती हैं, परन्तु गुणों की परिणामशीलता के कारण एकाकी सुख, एकाकी दुःख या एकाकी मोह की उत्पत्ति नहीं होती। शेष दो भी किसी न किसी अंश में उदित होते रहते हैं, अतः भोगों से कदापि दुःख से रहित सुख उत्पन्न हो नहीं सकता। इसलिए विवेकी पुरुष की दृष्टि में ये सब सुख भी दुःखरूप ही हैं। जैसे उत्तम

१. योगसूत्र २.१५।   २. मनु० २ ६४।

अन्न भी विषयुक्त होने के कारण त्याज्य होता है वैसे ही वे दुःखमोहशबल होने से समस्त दुःख निवारक उपाय भी हेय ही हैं।

जिस प्रकार एक मकड़ी का जाला अन्य अङ्गों को स्पर्शजन्य पीड़ा नहीं पहुँचाता, किन्तु आँख में पड़कर अति पीड़ा पहुँचता है। ऐसे ही आँख के गोलक के समान संवेदनशील विचारवान् व्यक्ति को इन समस्त भोगों में व्याप्त दुःख पीड़ाकर ही होता है, अतः विषयोपभोग दुःखों की निवृत्ति का उपाय नहीं है। मनुष्य के जीवन का आरम्भ गर्भवासदुःख तथा जन्मदुःख से हुआ है, और अन्त भी अतिवृद्धावस्था और मृत्युरूप दुःखों से युक्त है; अतः यह जीवन दुःख ही है।

बौद्धदर्शन में पहला आर्य सत्य यही माना गया है कि जीवन दुःखों से भरा है। यहाँ के सुख मूर्खों की दृष्टि में भले ही सुख हों, ज्ञानी व्यक्ति तो उन्हें दुःख ही समझता है। अतः धम्मपद में कहा है कि जब मनुष्य का जीवन हर समय जल रहा है, तो यहाँ क्या आनन्द मनाना।[१] भाव यह है कि संसार के विषयों की आग में जलते हुए उनसे प्राप्त क्षणिक सुख का मोद मनाना व्यर्थ है। इनसे दुःखों का नाश नहीं होता।

दुःख भी काल के सम्बन्ध से तीन प्रकार का है : अतीत वर्तमान और अनागत। अतीत दुःख तो भोग से निवृत्त हो ही चुका। वर्तमान दुःख भी इसी क्षण भोगारूढ़ होने के कारण हटाया नहीं जा सकता है, अतः दुःख के नाश से तात्पर्य यही है कि आने वाला दुःख हटाया जा सकता है। दुःख को हटाने के लिए उसके हेतु पर विचार करना आवयशक है। दुःखों का मूल कारण क्या है, यह समझ लेने के बाद उस कारण को हटा देने से दुःख की निवृत्ति सहज में ही हो सकती है, क्योंकि कारण के नहीं होने से कार्य भी नहीं होता।[२] सूत्रकार ने दुःखों का हेतु द्रष्टा और दृश्य के संयोग को बताया है। द्रष्टा नाम चेतन शक्ति या पुरुष का है, और दृश्य नाम बुद्धिसत्त्व का है। पुरुष भोक्ता है, सत्त्व भोग्य है। चेतन पुरुष से प्रतिबिम्बित होने पर सत्त्व में भी चेतना का संचार हो जाता है, जिससे पुरुष और चेतन से बने हुए सत्त्व का भेद प्रतीत नहीं होता। यह अभेद की प्रतीति ही भोग है।

वस्तुतः पुरुष और चित्त परस्पर अत्यन्त भिन्न हैं। पुरुष अविवेकवश चित्त के धर्मों का अपने में आरोप कर लेता है। यही उसके बन्धन और दुःख का

---

१. धम्मपद गाथा १४६।। २. वैशेषिक दर्शन १.२।

कारण है। सूत्रकार ने इसे ही अस्मिता क्लेश कहा है।[1] यह अस्मिता भी अविद्या से ही उत्पन्न होती है, जिसके फलस्वरूप न केवल चित्त में, अपितु चित्त में प्रतिबिम्बित अन्य वैषयिक पदार्थों में भी पुरुष स्वकीय स्वरूप देखने लगता है, फलतः उनमें आसक्त होता हुआ, उनकी प्राप्ति में हर्षित और अप्राप्ति में दुःखी होने लगता है। यही बन्धन है।

आचार्य वात्स्यायन ने भी मिथ्याज्ञान अहंकार को दुःख का हेतु स्वीकार करते हुए लिखा है कि मिथ्याज्ञान ही मोह है। तत्त्वज्ञान का न होना मिथ्याज्ञान नहीं है। विषयों में प्रवृत्त होने से जो जन्म मरण का सिलसिला पैदा होता है, वह मिथ्याज्ञान ही है। अनात्म पदार्थ में आत्मा की भावना अर्थात् यह मैं हूँ इस प्रकार का जो मोह है, वही अहंकार है।[2] अतः अनात्म पदार्थों को आत्मा से भिन्न जान लेना ही दुःखों की निवृत्ति का एक मात्र साधन है, यह कहा जा सकता है। तदर्थ पहले अनात्म पदार्थों का स्वरूप कार्य तथा प्रयोजनादि बताने के लिए सूत्रकार पतज्जलि कहते हैं कि यह अनात्म जगत् प्रकाश क्रिया, स्थिति स्वभाव वाला है तथा भूतों और इन्द्रियों के रूप वाला है। यह पुरुष के भोग और अपवर्ग के प्रयोजन की सिद्धि के लिए है।[3]

व्यास तथा भोज ने सूत्रकार के आशय को स्फुट करते हुए दृश्य (प्रकृति) का वर्णन इस प्रकार किया है :–

प्रकृति त्रिगुणात्मक है। इनमें सत्त्व, रजस् और तमस् ये तीन गुण हैं। सत्त्व गुण का स्वभाव प्रकाश है। रजोगुण का क्रिया करना और तमोगुण का स्वभाव रोकना है। ये तीनों गुण ही समष्टि रूप में प्रकृति कहलाते हैं। सांख्य योग मत में यह प्रकृति अपनी स्वतन्त्र सत्ता रखती है, शकंराचार्य की माया की भाँति यह मिथ्या नहीं है। प्रकृति के विषय में भाष्यकार की निम्नलिखित मान्यताएँ हैं :–

(क) परस्पर-उपरक्ति–ये तीनों गुण यद्यपि पृथक् स्वभाव वाले हैं, तो भी ये परस्पर उपरक्त रहते हैं। सत्त्वगुण अपने प्रकाश का उदय रजोगुण के सहारे करता है, तो तमोगुण की विद्यमानता के कारण एकदम नियत पदार्थ को ही प्रकाश में लेता है, एक साथ विश्व के समस्त पदार्थों को प्रकाशित नहीं करता। इसी प्रकार रजोगुण की प्रवृत्ति का प्रकाश भी सत्त्व के उपराग से होता है, तथा तमस् के प्रभाव से वह प्रवृत्ति नियन्त्रित रहती है। इसी प्रकार तमोगुण की स्थिति की अभिव्यक्ति सत्त्व के सहयोग से, क्रिया रजोगुण के

---

१. योगसूत्र २.६।

२. न्याय दर्शनभाष्य ४.२।१।।

३. योगसूत्र २१८।

सहयोग से और स्थिति स्वयं होती है। इसी प्रकार रजस् में प्रवृत्ति और सत्त्व में प्रकाश स्वभाव सिद्ध होता है।

(ख) संयोग वियोग धर्म—जिस समय किसी पुरुष के हेतु भोग जुटाना हो तो कार्य आरम्भ करने के हेतु ये गुण गौण प्रधान भाव से परस्पर मिलकर सहयोगी भाव से जुट जाते हैं। किसी विवेकी पुरुष के लिए अपवर्ग का सम्पादन करना हो तो अपवर्ग का सम्पादनरूप पुरुषार्थ सिद्ध करते ही वियुक्त हो जाते हैं।

(ग) उत्पादकता—एक दूसरे से मिलकर ये गुण ही महत्तत्त्व से लेकर पृथिवी आदि नानाविध जगत् के उत्पादक हैं। जैसे स्त्री और पुरुष अन्योन्य मिथुनीभाव से पुत्रादि सृष्टि के उत्पादक होते हैं, वैसे ही ये गुण भी परस्पर उपाश्रय से नानाविध जड जङ्गम सृष्टि के उत्पादक हैं, तथा यह उत्पादकता अन्योन्य मिथुन से ही है, अन्यथा नहीं।

(घ) अभिन्नशक्तिविभाग—परस्पर अंगांगिभाव से मिले हुए होने पर भी इनकी अपनी कार्यजननशक्ति पृथक्-पृथक् रूप से बनी रहती है। उसमें संकरता नहीं हो पाती। यही कारण है कि प्रकाशात्मक व्यापार करते समय उस क्षण दुःख या मोह नहीं दीख पड़ते, क्रियात्मक व्यापार के समय प्रकाशादि नहीं दीख पड़ते तथा स्थितिरूप कार्य के काल में क्रिया आदि नहीं दीख़ पड़ती। तात्पर्य यह है कि अन्य दो की वृत्तियाँ होते हुए भी इतनी नियन्त्रित रहती हैं, कि कार्य में संकरता नहीं आ पाती।

(ङ) तुल्यातुल्य जातीयता—मिलकर कार्य करने पर भी गुण तुल्य जातीय कार्य को ही आरम्भ करते हैं। जिस समय प्रकाशरूप कार्य होता है, उस समय सत्त्व गुण ही तुल्य जातीय होने के कारण उत्पादक बनता है, अन्य दो सहकारी मात्र रहते हैं। कभी ऐसा नहीं होता कि तुल्य जातीय प्रकाशरूप कार्य में रज हस्तक्षेप करके सुख के स्थान पर दुःख उत्पन्न कर दे। इसी प्रकार क्रिया की उत्पत्ति में रजस् उपादान बनता है, अन्य दो सहकारी बनते हैं; एवं तमस् भी स्थिति की उत्पत्ति में उपदान होता है, तथा अन्य सहकारी होते हैं।

(च) परार्थता—किसी कार्य में सत्त्वगुण प्रधान होकर अभिव्यक्तभाव से रहता है, तो कहीं रजोगुण और कहीं तमोगुण प्रधान होकर रहता है। अन्य गुण अप्रधान रहकर उसकी सहायता करते हैं। ये तीनों ही गुण निःस्वार्थभाव से पुरुष के भोग अपवर्ग का सम्पादनरूप उपकार करने वाले हैं। जिस प्रकार एक चुम्बक पत्थर लोह खण्ड का आकर्षण करके अपने स्वामी को कार्यसिद्धि

द्वारा उपकृत करता है, वैसे ही ये त्रिगुणात्मक दृश्य भी विषय निवेदन द्वारा अपने स्वामी पुरुष पर उपकार करते हैं। यह त्रिगुणात्मक दृश्य जगत् और इन्द्रिय आदि के आकार में स्थूल सूक्ष्म परिणाम को प्राप्त होता रहता है। इसका प्रत्येक परिणाम सप्रयोजन होता है। किन्तु वह प्रयोजन एक मात्र पुरुष के भोग एवं अपवर्ग का सम्पादन करना ही है। यद्यपि ये भूत अपने अपने विशिष्ट कार्य को करते हुए अलग प्रधान अप्रधान भाव से स्थित होते हैं, परन्तु जिस समय ये साम्यावस्था में स्थित होते हैं, उस समय तीनों ही प्रधान शब्द से अभिहित किए जाते हैं। यह प्रधान दृश्य भी कहलाता है। जिस समय पुरुष इस प्रवाह के इष्ट या अनिष्ट (धर्मरूप या अधर्मरूप) स्वरूप को धारण करता है, उस समय वह क्रमशः सुख और दुःख को प्राप्त हो जाता है। यही पुरुष का भोग कहलाता है। जिस समय वह अपने स्वरूप का निश्चय कर लेता है, तब मुक्त हो जाता है। भोग और अपवर्ग के अतिरिक्त प्रकृति का कोई प्रयोजन नहीं है।[१] प्रकृति अव्यक्त नित्य और कार्यकारण रहित है; महत्तत्त्वादि पुरुषार्थ अनित्य और कार्यकारणरूप हैं। वे विकारभूत पदार्थ स्थूल सूक्ष्म भेद से दो प्रकार के होते हैं। इनमें पृथिवी आदि (पाँच) भूत स्थूल तथा गन्धादि पाँच तन्मात्राएँ, नेत्र आदि ज्ञानेन्द्रियाँ, हाथ आदि कर्मेन्द्रियाँ तथा मन बुद्धि और अहंकार जो अन्तःकरण कहलाते हैं, सूक्ष्म हैं। इस प्रकार प्रधान से कुल तेईस तत्त्वों की उत्पत्ति होती है। सूत्रकार ने इसलिए प्रकृति को भूतेन्द्रियात्मक कहा है। इस त्रिगुणात्मक जगत् को विशेष अविशेष लिंगमात्र और अलिंग इन चार विभागों में विभाजित किया जाता है। विशेष के अन्तर्गत श्रोत्र त्वक् चक्षु जिह्वा घ्राण ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, वाणी हाथ पैर गुदा और उपस्थ ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ मनरूप उभय (ज्ञान और कर्म दोनों की) इन्द्रिय, ये सोलह तत्त्व गिने जाते हैं। पाँच स्थूल भूत आकाश वायु अग्नि जल और पृथिवी ये पाँचों महाभूत क्रमशः शब्द स्पर्श, रूप रस गन्ध इन पाँच अविशेष तन्मात्राओं के विशेष हैं, तथा मन आदि ग्यारह इन्द्रियाँ अविशेष अस्मिता के विशेष या कार्य हैं। इस प्रकार अविशेष गणना में कुल छः हैं: अहंकार तथा पाँच तन्मात्राएँ। ये छओं सत्तामात्र बुद्धि के अविशेष परिणाम हैं। जो इन छओं से परे लिंगमात्र बुद्धि है, उस सत्तामात्र बुद्धि में स्थिरता पाकर ये पराकाष्ठा को प्राप्त होते हैं। तात्पर्य यह है कि इन अविशेषों का अन्तिम व्यक्त कारण महत्तत्व है। यहाँ पर महत्तत्व को सत्तामात्र कहने का यह अभिप्राय है कि प्रधान के अव्यक्त होने से वह पुरुष के लिए भोगापवर्ग को सम्पादित करने में समर्थ नहीं है। महत्तत्व व्यक्त और पुरुषार्थ योग्यता वाला है, अतः समस्त पुरुषार्थ योग्यता

१. व्यासभाष्य २.१८।

वाले व्यक्त तत्त्वों की विश्रान्ति महत्तत्व में है। प्रकृति में जो पुरुषार्थ योग्यता का अभाव है, उसका कारण यह है कि प्रकृति में तीनों गुण साम्य अवस्था में रहते हैं। पुरुषार्थ योग्यता का उदय गुणों में विषम परिणाम आने से होता है, उससे पूर्व नहीं। विषमता का प्रवाह महत्तत्व से प्रारम्भ होकर पृथिवी पर्यन्त तेइस तत्त्वों में बराबर चलता रहता है। प्रकृति पुरुषार्थ के अयोग्य होने पर भी इन समस्त तत्त्वों का अव्यक्त कारण होने से बकरी के गले के स्तनों की भाँति निरर्थक नहीं है, अपितु सार्थक ही है। कार्यकारणभाव प्रकृति में नहीं है। साम्यावस्था में त्रिगुणात्मक प्रकृति न तो किसी का कार्य है और न कारण। यह कार्यकारणभाव भी वस्तुतः गुणों की विषमावस्था में ही महत्तत्व से पृथिवी पर्यन्त जो व्यक्त जगत् है, उसी में है।

गुणों का अविनाशित्वः—उपर्युक्त पाँच पर्वों में से विशेष अविशेष और लिङ्गमात्र इन तीनों का कारण पुरुषार्थता है, इसलिए ये तीनों अवस्थाएं अनित्य कही जाती हैं। किन्तु समस्त परिणामों में अनुगत जो गुणत्रय हैं, वे न तो उत्पन्न होते हैं और न नष्ट होते हैं, किन्तु अतीत अनागत वर्तमान तथा उत्पत्ति और विनाशशील महत्तत्त्वादि के द्वारा वे भी काल से प्रभावित होते हुए और उत्पति तथा विनाशशील-से दीख पड़ते हैं। जैसे लोक व्यवहार में कहते हैं कि देवदत्त दरिद्र हो गया, क्योंकि उसकी गौएं मर गई है।[1] यहाँ पर जो देवदत्त में दरिद्रता का व्यवहार किया गया है, वह गौवों के मरने से है, देवदत्त के स्वरूप को तो किसी भी प्रकार की कोई भी हानि नहीं पहुँची है। इसी प्रकार गुणों की उत्पत्ति और विनाश भी पृथिवी आदि व्यक्तियों की अपेक्षा से है, वस्तुतः नहीं।

कार्य का सत्त्वः—प्रकृति का प्रथम कार्य महत्तत्व है, वह उत्पत्ति से पूर्व सूक्ष्मरूप से प्रकृति में रहता है। सृष्टिकाल में वह प्रकृति से विभक्त हो जाता है। छः अविशेष पदार्थ भी उत्पति से पूर्व महत्तत्व में निहित रहते हैं, जो सृष्टिकाल में विभक्त हो जाते हैं। इसी प्रकार इन छः अविशेषों में सोलह विशेष भी सूक्ष्मरूप से वर्तमान रहते हैं, जो सृष्टिकाल में व्यक्त हो जाते हैं।

परिणाम की द्विविधताः—विशेषों के अनन्तर कोई तत्त्वान्तर परिणाम नहीं है, किन्तु उनके धर्म लक्षण और अवस्था आदि परिणाम होते ही हैं। अभिप्राय यह है कि परिणाम दो प्रकार का है : तत्त्वान्तर परिणाम और अतत्त्वान्तर परिणाम। तत्त्वान्तर परिणाम में कारण से विलक्षण कार्य की उत्पति होती है, जैसे अलिंग प्रकृति से महत्तत्त्व, महत्तत्त्व से छः अविशेष, छः अविशेषों से सोलह

---

१. व्यासभाष्य २.१९।

विशेष। ये सब नए तत्त्वों की उत्पत्ति के कारण तत्त्वान्तर परिणाम कहलाते हैं; किन्तु अतत्त्वान्तर परिणाम में तत्त्वान्तर की उत्पति नहीं होती है, जैसे पृथिवी से घट आदि की उत्पत्ति अथवा चित्त में निरोध एकाग्रता तथा समाधि आदि परिणामों की उत्पत्ति।

सांख्य में इन अलिंग लिंगमात्र अविशेष और विशेष तत्त्वों को नामान्तर से अभिहित किया गया है। वहां कारण को प्रकृति और कार्य को विकृति कहा गया है। प्रधान महत्तत्व का कारण हैं, अन्य कुछ उसका उपादान कारण नहीं है, अतः प्रधान को प्रकृति, लिंगमात्र बुद्धि और छः अविशेषों में कार्य कारण भाव दोनों विद्यमान होने से उनको प्रकृतिविकृति और सोलह विशेष तत्त्वों में कार्यत्व ही विद्यमान होने अर्थात् उनसे तत्त्वान्तर की उत्पत्तिरूप कारणभाव न होने से इनको विकृति अथवा विकार कहा जाता है।[1]

श्वेताश्वतर उपनिषद् में भी सत्त्व रजस् तमस्–इन तीन गुणों वाली प्रकृति को सफेद लाल और काले रंग वाली बकरी से उपमा देते हुए इसे 'अजा' अर्थात् कभी उत्पन्न न होने वाली (अनादि) कहा है।[2]

योग दर्शन में पुरुष या जीवात्मा–

व्यास ने आत्मा को ज्ञान स्वरूप माना है, और उसे 'दृशिमात्र'[3] शब्द से अभिहित किया है, जिसका तात्पर्य यह है कि आत्मा में देखने की शक्तिमात्र हैं उसमें देखने आदि क्रियाओं से कोई परिणाम नहीं होता है। वह ज्ञानस्वरूप मात्र है। इस पर यह शंका नहीं करनी चाहिए कि यदि पुरुष केवल ज्ञानस्वरूप है, तो वह मैं जानता हूँ, मैं देखता हूँ, इस प्रकार की प्रतीतियाँ कैसे कर सकता है एवं इस प्रकार की प्रतीतियों का आश्रय कैसे हो सकता हैं ? क्योंकि यद्यपि वह स्वभाव से ज्ञान का आधार न होकर शुद्ध ही है, तथापि बुद्धि वृत्ति को अपने में देखने लगता है, अर्थात् बुद्धिरूपी दर्पण में प्रतिबिम्बित हुआ पुरुष अविवेकवश बुद्धि को अपना स्वरूप मान लेता है। इसी कारण यह वृत्तिज्ञान का आधार सा दीख पड़ता है, यही पुरुष का ज्ञातृत्व है और यही वृत्तिसारूप्य या भोग है।

पुरुष अपरिणामी है :– यह पुरुष न तो बुद्धि के समानरूप वाला है और न अत्यन्त विपरीतरूप वाला है; किन्तु अपरिणामी होने के कारण बुद्धि से विलक्षण है। जिस प्रकार बुद्धि को अपने गो घट आदि विषय कभी ज्ञात

---

१. सांख्यकारिका।।३, १०।। २. श्वेताश्वर ४ ५।
३. योगसूत्र २.२।

और कभी अज्ञात होते हैं। उसी प्रकार पुरुष को अपने विषय जो बुद्धि वृत्तियाँ हैं, वे कभी ज्ञात अज्ञात नहीं होते क्योंकि यह अपरिणामी होने से कभी विषयाकारता को प्राप्त और कभी अप्राप्त नहीं होता। यहाँ यह शंका नहीं करनी चाहिए कि यदि पुरुष को अपना विषय बुद्धि सदा ज्ञात रहती है तो (असम्प्रज्ञात समाधि अथवा कैवल्य अवस्थावर्ती) निरोध काल में ज्ञात क्यों नहीं होती, क्योंकि निरोध काल में बुद्धि का अभाव हो जाने से उसके ज्ञातृत्व का प्रश्न ही नहीं उठता।

पुरुष परार्थ नहीं स्वार्थ है तथा निर्गुण है। इन्द्रिय शरीर अहंकार आदि से मिलकर प्रकृति पुरुष के भोग अपवर्ग लिए काम करती है; अतः संहत्यकारी होने से परार्थ है। जैसे मकान शय्या आसन आदि संघात दूसरे के लिए होते हैं, अपने लिए नहीं। उसी प्रकार बुद्धि भी अपने से अन्य पुरुष के लिए है। इस प्रकार प्रकृति परार्थ और पुरुष स्वार्थ होने से परस्पर विलक्षणधर्मा हैं। यहाँ यह शंका हो सकती कि शय्या आसनादि संघात भी तो अपने से भी भिन्न शरीरादि संघात के सुख के लिए ही तो होते है, तो असंहत पुरुष के प्रयोजन की कल्पना कैसे सम्भव है। उसका उत्तर वृत्तिकारभोज ने बड़ा सुन्दर दिया है। उनके अनुसार यद्यपि सामान्यरूप से संघात परार्थ ही सिद्ध होते हैं, परन्तु सत्त्व आदि गुण तो मिलकर कार्य करने वाले हैं ही, अतः इनसे विलक्षण कोई अन्य धर्मी मानना आवश्यक नहीं है। ऐसा विचार करने पर सत्त्वादि गुण से विलक्षण केवल चिन्मात्र भोक्ता ही सिद्ध होता है।[२] इतना होने पर भी पुरुष बुद्धि से सर्वथा विरूप भी नहीं है। यद्यपि बुद्धि शांत घोर और मूढ़ाकार रूप से परिणत होने वाली होने से त्रिगुणात्मक और अचेतन है, और पुरुष अपरिणामी प्रसन्न और चेतन है, फिर भी वह बुद्धि वृत्ति के ज्ञान का द्रष्टा होने से अत्यन्त विरूप भी नहीं है। क्योंकि यदि अत्यन्त विरूप होता, तो अपने आप से प्रतिबिम्बित होकर चेतन सी बनी हुई बुद्धिवृत्ति में अपने स्वरूप का आरोप न करता।

आत्मा क्षणिक विज्ञान नहीं है—वृत्तिकार भोज ने भी आत्मा को शुद्ध केवल अपरिणामी चेतन और अधिष्ठाता होना ही स्वीकार किया है। अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन करते हुए तथा पूर्वमतों का निराकरण करते हुए उन्होंने लिखा है कि संसारावस्था में यह आत्मा कर्ता भोक्ता और अनुसन्धाता प्रतीत होता है, अन्यथा यदि एक कोई चेतन उस प्रकार का न हो और ज्ञान क्षणों को

---

१. भास्वती २.२०। पृ० २१६।　　२. भोजवृत्ति ४.२४।

ही, जो पूर्वापर के सम्बन्ध से रहित हैं, उनको ही (वैनासिक बौद्धों की तरह) आत्मा मान ही लिया जाए, तो कर्म और फल के पारस्परिक सम्बन्ध का नियम न रहेगा तथा किये हुए कर्म की हानि और न किये हुए कर्मफल की प्राप्तिरूप दोष भी उपस्थित होगा; तात्पर्य यह है कि यदि आत्मा को क्षणिक विज्ञान मान लें तो पहला विज्ञान तो कर्म को करके क्षणिक होने के नाते नष्ट हो गया, पुनः फलोत्पत्ति के समय जो विज्ञान उत्पन्न हुआ उसे कर्म न करने पर भी फल प्राप्त हो गया और प्रथम विज्ञान अपने किए हुए के फल को भी न पा सका, ये दोनों ही दोष होगे। जिसने शास्त्रों में कहे कर्म को किया है, यदि वही फल का भोक्ता रहे, तो क्योंकि सबकी प्रवृत्ति कल्याण प्राप्ति के लिए और दुःख की निवृत्ति के लिए रहती है, अतः शास्त्रानुकूल कर्मों में सबकी प्रवृत्ति होगी और क्योंकि किसी भी कर्म का ग्रहण करना या छोड़ना विचार से ही होता है, किन्तु ज्ञान क्षणों के परस्पर भिन्न होने से विचार की भी सिद्धि नहीं होती। इससे यही व्यवस्था मानना उचित होगा कि जो आत्मा (पुरुष) कर्ता और अनुसन्धाता है, वही भोक्ता है। मोक्षदशा में यह आत्मा समस्त ग्राह्य और ग्रहण लक्षणों वाले व्यवहारों का अभाव होने से केवल चेतनमात्र रहता है। वह चैतन्य अपने स्वरूप को जानने से नहीं है, अपितु स्वरूप से ही है, क्योंकि आत्मा में विषयों को ग्रहण करने का सामर्थ्य होता है, अपने स्वरूप को ग्रहण करने का नहीं। चेतन से गृहीत की हुई वस्तु 'यह है' इस प्रकार ग्रहण की जाती हैं, और चेतन का स्वरूप 'मैं हूँ' इस प्रकार ग्रहण किया जाए यह कैसे संभव हो सकता है ? क्योंकि अपना ग्रहण अन्तर्मुख होकर और विषयों का ग्रहण बहिर्मुख होकर किया ज़ाता है। श्रुति भी यही कहती है कि जो आत्मा इस सारे जगत् को जानता है, उसको किस अन्य से जानें ? जानने वाले (आत्मा) को किससे जाने ?[1]

आत्मा का रूप संसारदशा और मुक्तिदशा में एक ही है—प्रकृति के साथ अज्ञानमूलक भोग्य का भोग करनारूप अनादि स्वाभाविक सम्बन्ध विद्यमान रहने पर उसका प्रकृति के विकार महान् आदि रूप से संयोग होता है, जिससे आत्मा अपना प्रतिबिम्ब महत्तत्त्व को प्रदान करता है, उस प्रतिबिम्ब को अन्तःकरण ग्रहण कर लेता है। चेतन आत्मा के संयोग से ही बुद्धि में कर्तृत्व भोक्तृत्व का निश्चय होता है। उसी से ही जगत् के समस्त व्यवहारों की सिद्धि हो जाती है, परमार्थिक रूपसे आत्मा को कर्त्ता भोक्ता आदि मानने पर उसको परिणामी मानना पड़ेगा। परिणामी और नित्य मानने पर आत्मा का आत्मभाव

१. बृहद् आरण्यक उपनिषद् २.४.१४।।

अर्थात् एकरस होकर रहना न बन सकेगा; क्योंकि एक ही समय में एक रूप से रहकर वह परस्पर विभिन्न अवस्थाओं का ज्ञाता नहीं हो सकता; जैसे जिस अवस्था में आत्मा में समवाय सम्बन्ध से सुख उत्पन्न हुआ, उसी अवस्था में आत्मा में दुःख का अनुभव करना नहीं हो सकता, अतः अवस्थाओं के भेद से अवस्थाओं से अभिन्न अवस्था वाले का भेद मानना चाहिए। आत्मा में भेद मानने से उसे परिणामी मानना पड़ेगा और परिणामी वस्तु नित्य नहीं हो सकती, अतः योगदर्शन के अनुसार आत्मा मोक्ष और संसार में एक सा रहता है।

सांख्यशास्त्र के आचार्य ईश्वर कृष्ण भी पुरुष का बन्धन में पड़ना मुक्त होना या आवागमनादि स्वीकार नहीं करते, उनके अनुसार यह सब प्रकृति में ही होता है। आत्मा में न बन्धन है, न मोक्ष, न आवागमन।[1]

आत्मा आनन्दस्वरूप नहीं—जो दार्शनिक चिदानन्दमय अवस्था को प्राप्त होना आत्मा की मुक्ति मानते हैं, उनका पक्ष युक्त नहीं है; क्योंकि आनन्द सुखरूप ही है और सुख सर्वदा ज्ञेयरूप से ही भान होता है। ज्ञेयता बिना ज्ञान के नहीं हो सकती। ज्ञान और ज्ञेय दोनों पदार्थों को आत्मा मानने से यह दोष आता है कि ज्ञान और ज्ञेय एक कभी नहीं हो सकते। अतः शङ्कराचार्य आदि अद्वैतवादी विद्वानों ने, जो मुक्ति में ब्रह्म और आत्मा की एकता के ज्ञान से अपार सुख का प्राप्त होना माना है[2], वह योगाचार्यों की दृष्टि में ठीक नहीं है। आत्मा में सुख दुःखादि का भोग बुद्धि द्वारा आरोपित होता है, साक्षात् नहीं। बुद्धि द्वारा आरोपित इस भोग को भी आत्मा उदासीन रूप से अधिष्ठाता होकर स्वीकार करता है। फलतः वह सुख या आनन्दस्वरूप नहीं है।

आत्मा में इच्छा प्रयत्न आदि नहीं है—नैयायिक लोग बुद्धि के योग से आत्मा को चेतन मानते हैं, तथा मन के संयोग से बुद्धि का जन्म मानते हैं, जैसे कि इच्छा द्वेष प्रयत्न सुख दुःख ज्ञान आदि व्यवहार दशा में आत्मा और मन के संयोग से पैदा होते हैं।[3] उन्हीं गुणों से आत्मा ज्ञाता कर्ता और भोक्ता कहा जाता है, किन्तु मोक्ष दशा में मिथ्या-ज्ञान का उच्छेद हो जाने से भ्रान्तिमूलक सुख दुःख इच्छा द्वेष आदि का अत्यन्त नाश हो जाने पर आत्मा अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है। यह उनका मन्तव्य ठीक नहीं है; क्योंकि नित्यत्व व्यापकत्व आदि धर्म तो आकाश आदि में भी रहते हैं, अतः उन्हें आत्मा को चेतन स्वरूप अवश्य मानना चाहिए। आत्मत्व जाति का सम्बन्ध ही

---

१. सांख्याकारिका ६२।
२. विवेक चूड़ामणि ४८२।।
३. न्यायसूत्र १.१.१०।

आकाशादि से भेदक है—यह नहीं कहा जा सकता। क्योंकि आत्मत्व तो बद्ध जीवों में भी है। अतः योग परम्परा में मुक्तात्मा की विलक्षणता के प्रतिपादनार्थ उसे आकाशादि से भिन्न अधिष्ठान चैतन्यरूप ही मानना चाहिए।

आत्मा अहम् प्रतीति का विषय नहीं है:—मीमांसक लोग आत्मा को अहं संवित्ति का विषय मानते हैं, उनका पक्ष ठीक नहीं है।[1] उनकी प्रतिज्ञा है कि आत्मा 'मैं' ज्ञान से ग्रहण करने योग्य हैं। अहम् प्रतीति में एक ही आत्मा में आश्रयता सम्बन्ध से कृर्तत्व और विषयता सम्बन्ध से कर्मत्व मानना पड़ेगा। किन्तु यह मन्तव्य अयुक्त है, क्योंकि प्रमातृरूप कर्तृत्व और ज्ञेयरूप कर्मत्व परस्पर विरोधी धर्म हैं। ये विरुद्ध धर्म एक साथ एक ही पदार्थ में कैसे रह सकते हैं। जो दो विरुद्ध धर्मों के अधिष्ठान है, वे एक नहीं है, जैसे भाव और अभाव। इसी प्रकार कर्तृत्व कर्मत्व का भी विरोध है। यदि कहें कि कर्तृत्व का विरोध कर्मत्व से नहीं, करणत्व से है तो ठीक नहीं; क्योंकि विरोधी धर्मों का आरोप जैसे कर्तृत्व और करणत्व में है, जैसे ही कर्तृत्व और कर्मत्व में भी है। इसलिए आत्मा अहं प्रत्यय ग्राह्य न होकर अधिष्ठातामात्र है, और वह चेतनत्व से पृथक् कोई वस्तु नहीं है।

आत्मा विभु है:—जैन आचार्य द्रव्यबोध के पर्यायभेद से अथवा नामान्तर मात्र रखकर आत्मा को अव्यापक शरीरतुल्य परिमाण वाला और परिणामी मानते हैं, वह उचित नहीं है।[2] क्योंकि शरीर परिमाण मानने पर उसमें चेतनता का अभाव प्राप्त होगा, जिसके फलस्वरूप चेतनता का अभाव होने के कारण आत्मा का आत्मत्व ही सन्दिग्ध होने लगेगा। इसलिए आत्मत्व की सिद्धि के लिए उसे चिद्रूप मानना आवश्यक है।

आत्मा में साक्षात् कर्तृत्व धर्म नहीं हैं:—कुछ दार्शनिक 'आत्मा को कर्ता मानते हैं, जैसे घट पटादि विषयों के समीप होने पर जो ज्ञानलक्षण क्रिया उत्पन्न होती है, उस क्रिया का फल विषय का ज्ञान कराना ही है। क्रिया में ज्ञानरूप क्रियाफल का स्वरूप प्रकाश भासित होता है, इस स्थिति में विषय ग्राह्यरूप से और आत्मा ग्राहकरूप से माना जा सकता है, क्योंकि वह फल 'मैं घट को जानता हूँ' इस आकार से होता है तथा क्रिया का कारण कर्ता ही होता है, अतः कर्तृत्व और भोक्तृत्व आत्मा में आवश्यक ही है।' यह पक्ष युक्तिसंगत नहीं माना जाता है, प्रथम तो उन ज्ञानरूप फलों का कर्ता आत्मा एक ही कार्य में होता है अथवा क्रम से *यह विचारणीय होगा*। यदि उन सबका किसी एक काल विशेष में कर्तापन स्वीकार करना चाहेंगे, तो अन्य क्षणों में

१. तत्त्वाधिगमसूत्र ५।१६।।

२. शास्त्रदीपिका पृ० १२२-३२।

वह कर्ता नहीं रहेगा, और यदि उसे क्रम से कर्ता मानेंगे, तो आत्मा में कर्तृत्व का एकरूप नहीं घट सकेगा; क्योंकि यदि उसे एक रूप से कर्ता माना जाए तो वह व्यापक होने से प्रत्येक क्रिया में सन्निहित होने से सभी कार्य एक रूप होने चाहियें। यदि अनेकरूप से कर्ता माना जाए, तो परिणामी होने से चेतन नहीं रह सकेगा। इससे सिद्ध हुआ कि आत्मा को चैतन्य मानने पर उसमें साक्षात् कर्तृत्व नहीं मानना चाहिए। अतः योगशास्त्र में नित्य चिन्मात्र आत्मा का कर्तृत्व स्वीकार नहीं किया जाता है, इसी प्रकार आत्मा में जो विषयों के ज्ञान और प्रकाश द्वारा ग्राहकता शक्ति का उदय मानना है, वह भी उचित नहीं है।

आत्मा विमर्श रूप से चेतन नहीं है, कुछ विद्वान् आत्मा को विमर्श रूप से चेतन मानते हैं। वे कहते हैं कि विमर्श के अतिरिक्त आत्मा को किसी प्रकार से चेतन नहीं माना जा सकता। चेतनता जड़ से विलक्षण अवश्य है, किन्तु उसका निरूपण विमर्श से अन्य किसी भी प्रकार संभव नहीं है। यह पक्ष भी उचित नहीं है, क्योंकि विमर्श नाम विचार का है। विचार की उत्पत्ति अस्मिता से होती है, दूसरे शब्दों में 'ऐसा हूँ'–इस आकार से जो जाना जाता है, वह विमर्श कहलाता है, और इस प्रतीति में अहं शब्द से आत्मरूपी अर्थ का प्रकाश विकल्प रूप से, मिश्रितरूप से होता है। स्वभाव सिद्ध निश्चयात्मक ज्ञान बुद्धि का धर्म है, चेतन आत्मा का नहीं, अतः आत्मा को विमर्शरूप मानने पर उसमें बुद्धि से अभेद प्राप्त होगा, फलतः उसकी प्रकाशरूप कूटस्थ नित्यता न बन सकेगी।

आत्मा का कैवल्य–इस प्रकार आत्मा का स्वरूप अधिष्ठातृतारूप ही है और वृत्तिसारूप्य को छोड़कर अपने रूप में प्रतिष्ठित हो जाना ही कैवल्य है, अतः आत्मा स्वरूपतः चिन्मात्र अधिष्ठाता है। वही स्व प्रतिबिम्ब समर्पण से बुद्धि को भोग्य बनाता है। इसी से अधिष्ठित होकर तीनों गुण नाना कार्यों को करते हैं। वृत्तिसारूप्य ही आत्मा का भोग तथा वृत्तिसारूप्य को छोड़कर अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाना ही आत्मा की मुक्ति है।

योग परम्परा के अनुसार–आत्मा नित्य कूटस्थ त्रिगुणातीत ज्ञानस्वरूप व्यापक निष्क्रिय अपरिणामी अधिष्ठाता तथा चिन्मात्र तत्त्व माना जाता है। इस परम्परा के अनुसार दृश्य जगत् पुरुषार्थ ही है।[1] पूर्वोक्त महत्तत्त्व से लेकर पृथिवी तक पचीस तत्त्वों की गिनती दृश्य जगत् के अन्तर्गत मानी जाती है, वह सारा दृश्य जगत् अपने किसी प्रयोग की सिद्धि के लिए प्रवृत्त नहीं होता,

---

१. योगसूत्र २.२१।

अपितु इस चिन्मात्र पुरुष के लिए भोग और मोक्ष के सम्पादन के लिए ही है। अपने सुख दुःख आदि का उपभोग भी प्रकृति स्वयं नहीं कर सकती, अतः प्रकृति पुरुष के प्रयोजनार्थ ही है, स्वार्थ नहीं (पुरुष के प्रयोजन से भिन्न अन्य किसी का कोई प्रयोजन नहीं है)। पुरुष के कैवल्य तक ही दृश्य का स्वरूप है।

पुरुष अनेक हैं—यहाँ पर यह शंका होती है कि पुरुषार्थ कैवल्य के सम्पादन करने पर जब प्रकृति विरतव्यापार हो जाती है, तब तो पुरुष के मुक्त हो जाने से प्रकृति व्यर्थ हो जानी चाहिए, तथा संसार का भी उच्छेद हो जाना चाहिए। इस शंका के समाधानार्थ सूत्रकार कहते हैं कि विवेक ख्याति प्राप्त हो जाने से जिस पुरुष का प्रयोजन सिद्ध हो गया है, उसके लिए प्रकृति के विरत–व्यापार होने पर भी यह संसार नष्ट नहीं होता, क्योंकि पुरुष अनेक हैं और यह सबके साझे की वस्तु है।[1]

तात्पर्य यह है कि यद्यपि जिसको विवेक ज्ञान प्राप्त हो गया है, उस एक पुरुष के प्रति यह संसार कृतप्रयोजन ही हो जाता है, किन्तु पुरुषों की संख्या अनन्त और प्रकृति के एक मात्र होने से एक पुरुष का प्रयोजन सिद्ध हो जाने पर अन्य अविवेकी पुरुषों के प्रयोजन की सिद्धि के लिए यह प्राकृतिक संसार बना ही रहता है, अतः सब पुरुषों का साधारण भोग्य होने से इसका कभी नाश नहीं होता है, क्योंकि एक पुरुष के मुक्त हो जाने से अन्य असंख्यात पुरुष भी मुक्त नहीं हो जाते। दूसरे शब्दों में इसे इस प्रकार कह सकते हैं कि जिस प्रकार अन्धे पुरुषों को रूप दृष्टिगत न होने से रूप का अभाव नहीं होता, क्योंकि अन्य नेत्र वाले पुरुषों को उस रूप की उपलब्धि बराबर हो रही है। उसी प्रकार एक पुरुष के लिए अनावश्यक होने से अन्य पुरुषों के लिए प्रकृति की उपादेयता में अन्तर नहीं आता।

अनेक शरीरों में पुरुष को एक मानना उचित न होगा क्योंकि उस पक्ष में व्यक्तियों की इन्द्रियों अन्तःकरणों और कर्मों में भेद नहीं दीख पड़ना चाहिए तथा समस्त अन्तःकरणों का एक ही पुरुष में व्यपदेश होने पर एक के सुखी होने से सब सुखी तथा एक के दुःखी होने से सब को दुःखी हो जाना चाहिए। इसी प्रकार यदि एक ही पुरुष का अनेक अन्तः करणों से सम्बन्ध मानेंगे तो उसकी मुक्ति और बन्ध आदि न बन सकेंगे, और कदाचित् समस्त अन्तःकरणों के एक साथ लय से मोक्ष माना जाए तो संसार का उच्छेद हो जाएगा। इसी प्रकार देहान्तर में जाना, जीना मरना भी असिद्ध हो जाएगा। अतः वाचस्पति मिश्र ने भी पुरुष एकत्व की बोधक श्रुतियों का प्रत्यक्षादि प्रमाणों से बाध हो

१. योगसूत्र २.२२।

जाने और निरवयव पुरुष में देश काल विभाग का अभाव होने से उनका गौण अर्थ ही स्वीकार किया है।[1]

आचार्य ईश्वरकृष्ण ने भी जन्म मरण, इन्द्रियादि के प्रतिनियम से सब जीवों में एक साथ एक ही प्रवृत्ति न होने से तथा उनके स्वभावों में सत्त्व रजस् तमस् की न्यूनता अधिकता होने से पुरुषों को अनेक माना है।[2]

श्रुति में भी बहुत प्रजाओं की उत्पत्ति करने वाली तथा रक्त श्वेत और कृष्ण वर्ण वाली एक प्रकृति को एक अनादि जीवात्मा भोगता हुआ अधिकार में रखता है, तथा दूसरा अजन्मा मुक्तत्मा भोगी हुई उस प्रकृति को त्याग देता है, ऐसा स्वीकार किया गया है, जिससे पुरुष के बहुत्व का ही प्रतिपादन होता है।[3]

मोक्ष में भी पुरुषों की सत्ता बनी रहती है, वे ईश्वर में मिलते नहीं है। भाष्यकार मुक्ति में भी पुरुषों का पृथक्-पृथक् वर्तमान होना मानते हैं, ब्रह्म में लीन होकर अपने स्वरूप का त्याग नहीं करते। इसीलिए भाष्यकारने ईश्वर की मुक्त जीवों से पृथक्ता दिखाते हुए मुक्त पुरुषों का बहुत्व स्वीकार किया है।[4] भाष्यकार ने मुक्त पुरुषों में स्वरूप की विद्यमानता का वर्णन करते हुए बहुवचन का प्रयोग किया है। अतः वेदान्त में जो मुक्त पुरुष का अविभक्तरूप से ब्रह्म में लय होना माना है, वह योग मत में स्वीकार्य नहीं है।[5]

व्यापकता–यहाँ यह शंका नहीं करनी चाहिए कि आत्मा व्यापक होते हुए अनेक कैसे हो सकती है, क्योंकि योग मत में व्यापक तो चित्त को भी माना गया है।[6] पुनः चित्त भी अनेक नहीं होने चाहिए, किन्तु जिस प्रकार चित्त प्रति शरीर भिन्न हैं, उसी प्रकार आत्माएं भी प्रति शरीर पृथक् है।[7] भास्वतीकार ने भी चित्त की व्यापकता का अर्थ आकाश की भाँति सर्वत्र व्याप्ति नहीं लिया है, अपितु चित्त को सक्रिय अमूर्त और हस्तादि से अपरिमेय तथा दीर्घ ह्स्वादि आकारों से मुक्त अवयवरहित स्वीकार करते हुए समस्त ब्रह्माण्डस्थ पदार्थों से अबाध रूप से सम्बद्ध होने के कारण ही व्यापक माना है, सर्वत्र

---

१. तत्त्ववैशारदी २.२२।
२. सांख्य कारिका १८।
३. श्वेताश्वर उपनिषद् ४.५।।
४. (क) व्यासभाष्य १.२४। (ख) व्यास भाष्य ४.३३।
५. वेदान्तसूत्र ४.४.४।
६. व्यास भाष्य ४.१०।
७. व्यास भाष्य ४.१६।

विद्यमानता से नहीं।[1] इसी प्रकार आत्मा में आकार और परिमाण धर्म न रहने के कारण आत्मा की व्यापकता का अर्थ उससे अमूर्त्त और सूक्ष्म होने के कारण चित्त की समस्त वृत्तियों और विषयों का एक ही काल में द्रष्टा होना है।

इस प्रकार प्रकृति और पुरुष के स्वरूप का वर्णन करके सूत्रकार ने प्रकृति और पुरुष के स्वरूप ज्ञान को संयोग का प्रयोजन माना है।[2] स्वशक्ति दृश्य का स्वरूप है और स्वामिशक्ति पुरुष का स्वरूप है। उनसे दृश्य के स्वरूप का ज्ञान होना ही भोग है, और द्रष्टा के स्वरूप की प्राप्ति अपवर्ग है। यह संयोग तभी तक है, जब तक कि पुरुष को अपने स्वरूप का दर्शन नहीं होता; अतः पुरुष का दर्शन दोनों को वियुक्त कर देता है। दर्शन का अर्थ प्रकृति के स्वरूप का ज्ञान है। यह अज्ञान का विरोधी है, जो दोनों के संयोग का कारण है। वस्तुतः पुरुष का ज्ञान रूप जो दर्शन है, वह मोक्ष का कारण नहीं है, अपितु अदर्शन का अभाव होने पर बन्धन का अभाव स्वतः ही हो जाता है। दर्शन होने पर बन्ध के कारण भूत अदर्शन का नाश हो जाता है, इसी हेतु दर्शन या विवेक को कैवल्य का कारण बताया गया है। अभिप्राय यह है कि आत्मा स्वरूप से बद्ध नहीं, अपितु मुक्त ही है। उसमें अविवेक से बन्ध प्रतीत होता है। अतः बुद्धि आदि से से रहित आत्मा की स्वरूपावस्थिति ही मोक्ष है। इस स्वरूपावस्थिति का कारण विवेक ज्ञान नहीं हे, अपितु अविवेक के हटने मात्र से आत्मा स्वरूपावस्थित हो जाता है। इस प्रकार विवेक ज्ञान मोक्ष का साक्षात् साधन न होकर परम्परया ही साधन है।

यह अदर्शन (अविद्या) क्या है, और क्यों होता है, इस प्रसंग में निम्नलिखित आठ विकल्प हो सकते हैं।

१—क्या गुणों की कार्य आरम्भ करने की शक्ति से अदर्शन होता है ?

२—क्या प्रकृति पुरुष का भेद दर्शाने वाले प्रधान चित्त का उत्पन्न न होना ही अदर्शन है ?

३—क्या गुणों का प्रयोजन ही अदर्शन है ?

४—प्रलय काल में प्रकृति में लीन हुए चित्त में विद्यमान जो मिथ्याज्ञान की वासना है, क्या वही अदर्शन है ?

---

१. भास्वती ४.१०।   २. योगसूत्र २.२३।

५–क्या प्रलयकाल में स्थित संस्कार के क्षीण होने पर साम्यावस्था को प्राप्त प्रकृति में जो विषम परिणाम मूलक गति संस्कार का उदय होता है, वह संस्कार ही अविद्या है ?

६–क्या प्रधान में निहित दर्शन शक्ति ही अविद्या है ?

७–यह अदर्शन पुरुष और प्रकृति के संयोग के बिना न हो सकने से क्या प्रकृति और पुरुष उभयनिष्ठ है ?

८–क्या विषयों का दर्शन ही अदर्शन है ?

अदर्शन का स्वरूप कुछ भी हो अविद्या ही पुरुष प्रकृति–संयोगरूप उस अदर्शन का कारण है।[1] ऊपर उपस्थित किए विकल्पों में से चौथा विकल्प ही सूत्रकार का सिद्धान्त पक्ष है, अर्थात् पंचपर्वा अविद्या के अभाव से संयोग का भी अभाव हो जाता है, और यही आत्मा की मुक्ति है।[2]

अविद्या को सूत्रकार ने आत्मा और प्रकृति के संयोगरूप बन्धन का हेतु माना है और इसकी निवृत्ति से बन्धन की निवृत्ति मानी है, यह चर्चा हो चुकी है। भाष्यकार ने इसे विपर्यय वृत्ति का ही पर्याय मानकर चित्त की एक वृत्तिमात्र ही स्वीकार कर लिया है। इसके पाँच पर्वो के अन्तर्गत अविद्या अस्मिता राग द्वेष और अभिनिवेश का व्याख्यान करके अस्मिता राग द्वेष और अभिनिवेश इन चारों क्लेशों को भी अविद्या में समाविष्ट कर लिया है, तथा इसको 'चित्तमल' की संज्ञा दी है।[3] अतः भाष्यकार की मान्यता के अनुसार विपर्यय अविद्या क्लेश चित्तमल अदर्शन और अविवेक आदि शब्द पर्यायवाची ही कहे जा सकते हैं।

अविद्या को विपर्य्ययवृत्ति मानने से जहाँ इसका चित्त और आत्मा से स्वाभाविक सम्बन्ध स्पष्ट हो जाता है, वहीं भाष्यकार की एक अन्य मान्यता भी झलक उठती है कि कैवल्य की प्राप्ति के लिए प्रमाण विपर्य्यय विकल्प निद्रा और स्मृति इन पाँचों के निरोध की भी आवश्यकता नहीं है, अपितु मात्र विपर्ययवृत्ति के निरोध से भी कैवल्य की प्राप्ति हो सकती है। तात्पर्य यह है प्रमाण विकल्प निद्रा और स्मृति आदि अन्य चित्तवृत्तियाँ क्लेशरहित होने से बन्धन कीं हेतु नहीं है, केवल यह क्लेशरूपा विपर्य्यय वृत्ति ही बन्धन का हेतु है। यही कारण है कि जीवन्मुक्त अवस्था में भी योगी देह धारण कर कार्य करता रहता है, तथा जीवन के व्यवहार की व्यवस्था करने के लिए प्रमाण निद्रा

---

१. योगसूत्र २.२४।　　　२. योगसूत्र २५।
३. व्यास भाष्य १.८।

विकल्प स्मृति आदि अन्य चारों वृत्तियों के अवश्यंभावीरूप से वर्तमान रहते हुए भी योगी के कर्म अशुक्ल-अकृष्ण होते हैं।[1] अविद्या के इन पाँच पर्वो को सूत्रकार ने पाँच क्लेश कहा है, जिनके नाम क्रमशः अविद्या अस्मिता राग द्वेष और अभिनिवेश हैं।

सांख्यदर्शन में विपर्य्यय पाँच प्रकार का कहा गया है[2] और योगोक्त पाँच क्लेशों को ही क्रमशः तम मोह महामोह तामिस्र और अन्धतामिस्र इन नामान्तरों से अभिहित किया गया है। इन पाँचों क्लेशों का स्वरूप निम्नलिखित है–

अविद्या–सूत्रकार ने अनित्य में नित्य की, अशुचि में शुचि की, दुःख में सुख की और अनात्मा में आत्मा की भावना को ही अविद्या कहा है।[3]

(क) अनित्य में नित्यज्ञान–अनित्य नित्य नहीं है, अशुचि शुचि नहीं है, दुःख सुख नहीं है और अनात्मा आत्मा नहीं है, किन्तु फिर भी उसमें तत्तद् भावों की मिथ्या प्रतीति होना अविद्या है। इस विचार से वृत्तिकार भोज ने अविद्या का यह सामान्य लक्षण किया है कि 'जिसमें जो धर्म न हो उसमें उसका भान होना अविद्या है', जैसे अनित्य में नित्य का इत्यादि। उन्होंने अनित्य घटादि में नित्यता का अभिमान[4] यह उदाहरण दिया है। भाष्यकार ने पृथिवी द्यौ चन्द्रमा तारे देवता आदि का उदाहरण दिया है।[5] मूर्ख व्यक्ति भी घटादि को नित्य नहीं समझते। हां ब्रह्माण्ड को अवश्य जैन आदि अनेक दार्शनिक नित्य समझते हैं, अतः अनित्य में नित्य ज्ञानार्थ घटादि का वृत्तिकार ने जो उदाहरण दिया है, वह युक्त नहीं प्रतीत होता।

(ख) अशुचि में शुचि-ज्ञान–अर्थात् बीभत्स काया में शुचिता की भावना करना। भाष्यकार ने वैयासिकी गाथा का श्लोक उद्धृत करते हुए मूत्रादिसे पूरित गर्भस्थान, रज-वीर्यादि अपवित्र बीज, भोजन के रसों, मल-मूत्र, कफ-श्लेष्मा, पसीना आदि के स्राव वाली तथा मरणोपरान्त दुर्गन्धयुक्त होने वाली इस काया को अपवित्र तथा परम बीभत्स बताया है। अपवित्र शरीर में यह कन्या बड़ी सुन्दर है, इसके अङ्ग मानों मधु और अमृत से बने हुए हैं। यह चन्द्र से निकाली हुई सी दीख पड़ती है। नील कमल के समान बड़े नेत्रों वाली यह हाव भाव भरी आँखों से मानों जीव लोक को सुख देने का आश्वासन दे रही है, इत्यादि प्रकार से अशुचि में शुचिता की भ्रान्ति देखी जाती है।[6]

---

१. योगसूत्र ४.७।
२. सांख्यसूत्र ३.३७।
३. योगसूत्र २.५।
४. भोजवृत्ति २.५।
५. व्यासभाष्य २.५।
६. व्यासभाष्य २.५।

(ग) दुःख में सुखज्ञान—विषयोपभोगों में सुख समझना दुःख में सुख की भ्रान्ति है, क्योंकि विषय परिणाम में बल-बुद्धि नाशक, वियोग काल में दाहक और संस्कारों को बिगाड़ने वाले होने से दुःखरूप ही हैं।

(घ) अनात्म में आत्माभिमान—यहाँ पर भोज ने जड़ शरीर को आत्मा मानने का उदाहरण दिया है;[1] किन्तु भाष्यकार ने अनात्म चेतन अचेतन बाह्य उपकरण एवं भोगाधिष्ठान शरीर तथा मन का ग्रहण किया है,[2] जिसके अन्तर्गत धन-धान्य सगे सम्बधी भूमि-मकान आदि सब आ जाते हैं, अतः व्यास की व्याख्या व्यापक और अधिक स्पष्ट है। आचार्य पंचशिख के अनुसार भी जो व्यक्ति स्त्री पुत्र धनादि अनात्मपदार्थों को अपना स्वरूप समझकर उनकी कुशलता से आनन्दित होता है और उनकी विपत्ति से शोक करता है, वह अज्ञानी ही है।

न्यायभाष्यकार वात्स्यायन ने भी अविद्या का यही स्वरूप बताया है, उनके अनुसार जो व्यक्ति शरीरादि विषयों में 'मैं हूँ', ऐसी भावना करके उनके नाश में अपना नाश मानता हुआ, उनको बनाए रखने की चाह से भरा हुआ पुनः पुनः उनको ग्रहण करता हुआ जन्म मरण के लिए प्रयत्न करता है, वह उनसे सम्बन्ध न छोड़ने से आत्यन्तिक दुःख से छुटकारा नहीं पाता। उधर तत्त्वजिज्ञासु दुःखाधिष्ठान को दुःख को और दुःख मिश्रित सुख को भी 'यह सब दुःख है' ऐसा मानता हुआ दुःख को ठीक से समझ लेता है। पहिचाना हुआ वह दुःख क्षीण हो जाता है, क्योंकि तत्त्वजिज्ञासु उसे भी विषाक्त अन्न की भाँति ग्रहण ही नहीं करता। इसी तरह वह कर्म ओर दोषों को दुःख का हेतु समझ लेता है। दोषों को छोड़े बिना दुःख प्रवाह का उच्छेद नहीं हो सकता, अतः उन दोषों को वह छोड़ देता है। दोषों के प्रहीण होने पर उस तत्त्वज्ञ की प्रवृत्ति प्रतिसन्धान के योग्य नहीं रहती। प्रेत्यभाव फल तथा हेयदुःख ज्ञेय है, कर्म तथा दोष प्रहेय हैं, अपवर्ग प्राप्तव्य है, उसके पाने का एकमात्र उपाय तत्त्वज्ञान है।[3] वह ऐसा समझता है।

इस प्रकार यह अविद्या चतुष्पदी है। जैसे अमित्र का अर्थ न तो मित्र होता है और न मित्र का अभाव, अपितु मित्र से विरुद्धस्वभाव वाले शत्रु का बोध अमित्र पद से होता है; उसी प्रकार अविद्या नाम न तो विद्या का है; और न विद्या के अभाव का, अपितु अविद्या से विरुद्ध स्वभाव वाला जो मिथ्याज्ञान का सद्भाव है, उसे अविद्या कहते हैं।

---

१. भोजवृत्ति २.५। २. व्यासभाष्य २.५।
३. न्यायदर्शन वात्स्यायन भाष्य ४.२.१।

(२) अस्मिता—सूत्रकार ने दृक्शक्ति और दर्शनशक्ति का एक रूप से भान होना अस्मिता माना है।[१] दृक्शक्ति पुरुष चेतन क्रियारहित और अपरिणामी है। दर्शनशक्ति (चित्त) जड़ प्रसवधर्मी और क्रियाशील है। पुरुष स्वामी है, और चित्त उसकी अपनी मिलकियत है। इस प्रकार ये दोनों अत्यन्त भिन्न हैं, किन्तु अविवेकवशात् पुरुष उसे (चित्त को) अपना स्वरूप समझता है, यही अस्मिता है। उपनिषदों में इसे हृदय ग्रन्थि कहा है, तथा चेतन पुरुष का साक्षात्कार होने पर ही इस ग्रन्थि का भेदन होता है, ऐसा स्वीकार किया है।[२] इसे चिज्जड़ ग्रन्थि भी कहा जाता है।

(३) राग—सुख भोगने के बाद चित्त में जो उसके स्मरण से सुख के साधनों में लालसा या तृष्णा बनी रहती है, उसे राग कहते हैं।[३] वस्तुतः राग का जन्म अस्मिता से ही होता है, क्योंकि अस्मिता से क्लेश के कारणभूत मन इन्द्रियों और शरीर में आत्मभाव या ममत्व पैदा हो जाता है और इसको सुख पहुँचाने वाले विषयों और वस्तुओं के प्रति उन में तृष्णारूप राग पैदा हो जाता है।

(४) द्वेष—दुःख के अनुभव से जो उसकी स्मृति होने पर दुःख में और दुःख के साधनों में विरोध और उनको नष्ट कर देने की इच्छा या क्रोध उत्पन्न होता है, उसको द्वेष कहते हैं।[४] यह द्वेष राग से ही पैदा होता है, क्योंकि चित्त में राग का संस्कार जम जाने के बाद जिन विषयों और वस्तुओं से शरीर इन्द्रिय मन आदि को सुख साधनों में विघ्न पड़ने से दुःख पहुँचता है, उनसे द्वेष होने लगता है। ये (राग-द्वेष) दोनों ही आत्मकल्याण के विरोधी हैं। गीता में भी इसीलिए कहा है कि इन्द्रियों के भोगों में स्थित जो राग और द्वेष हैं, योगी उनके वश में नहीं होवे, क्योंकि ये दोनों ही इस कल्याणमार्ग के महान् शत्रु हैं।[५]

अभिनिवेश-राग द्वेष आदि से ही शरीर इन्द्रिय आदि साधनों को बचाने के संस्कार उदित होते हैं। उसे अभिनिवेश कहते हैं। सूत्रकार ने इसे जिजीविषाके उदाहरण से स्पष्ट किया है जो सब जीव जंतुओं के हृदय में प्रवाही तथा विद्वानों के लिए भी अन्य जनों की भांति ही सामान्य है।[६] सब भूत प्राणियों में यह इच्छा होती है कि शरीर से उनका वियोग न हो, इसे आशिष कहते हैं। कोई भी प्राणी यह नहीं चाहता कि वह न रहे। अपने अभाव

---

१. योगसूत्र २.६।
२. मुण्डक उ० २.२.८।
३. भेजवृत्ति २.७।
४. व्यासभाष्य २.८।
५. गीता ३.३४।
६. योगसूत्र २.९।

का या मिटने का यह डर एक प्रकार का अभिनिवेश क्लेश कहलाता है। भाष्यकार ने नवजात कृमियों में भी अभिनिवेश क्लेश की विद्यमानता को पूर्वजन्म के मरणानुभव से उत्पन्न माना है, और अभिनिवेश से पूर्वजन्म की सिद्धि की है।[१]

अभिनिवेश की परिभाषा करते हुए सूत्रकारने सूत्र में विद्वान् में भी जो अभिनिवेश क्लेश का सद्भाव स्वीकार किया है, उसका अभिप्राय केवल शास्त्र विज्ञानी से है, विवेकी या ज्ञानी से नहीं; किन्तु भाष्यकार ने उसका सद्भाव कुशल अकुशल दोनों के लिए समान माना है।[२] भाष्यकार के ही शब्दों में सप्तधा प्रान्तभूमि प्रज्ञारूप उच्चतम विवेकख्याति के भागी पुरुष को कुशल कहा जाता है, जिसे धर्ममेघ समाधि में चित्त का कारण में लय हो जाने पर मुक्त भी कहा जाता है।[३] इसके अतिरिक्त आलम्बन के सम्मुख होने पर दग्धबीज क्लेशों के पुनः उत्पादन का निराकरण करते हुए क्षीणक्लेश अथवा चरमदेह व्यक्ति को भी कुशल कहा है।[४] ऐसा होने पर भाष्यकार का कुशल अकुशल दोनों में अभिनिवेश क्लेश का समान भाव से सद्भाव स्वीकार करना युक्त नहीं है, क्योंकि क्षीणक्लेश व्यक्ति के क्लेशों का क्षय हो जाने से अभिनिवेश क्लेश भी क्षीण हो गया, पुनः उसका प्ररोह कैसे सम्भव हो सकता है ? श्रुति ने भी पुरुष को ज्ञान होने से मृत्युभय से पार जाना प्रतिपादित करते हुए लिखा हैं कि मैं इस अन्धकार से ऊपर वर्तमान प्रकाशरूप महान् परमेश्वर को जानता हूँ, जिसको जानकर उपासक मृत्यु को लांघ जाता है, इसके अतिरिक्त मोक्ष का अन्य कोई मार्ग नहीं है।[५] गीता में भी तत्त्वज्ञानी को मरणत्रास का निषेध करते हुए कहा है कि जैसे जीवात्मा की इस देह में कौमार्य यौवन और वृद्ध अवस्थाएं होती है, वैसे ही वृद्ध अवस्था के बाद शरीरान्तरण होता है, इससे मरण में तत्त्वज्ञानी पुरुष मोह नहीं करता है।[६] तात्पर्य यह है कि जैसे कौमार्य यौवन और जरा अवस्थारूप स्थूल शरीर का विकार अज्ञान से आत्मा में भासता है, वैसे ही एक शरीर से दूसरे शरीर को प्राप्त होना रूप सूक्ष्म शरीर का विकार अज्ञान से आत्मा में प्रतीत होता है। वस्तुतः बचपन यौवन जरा और देहान्तरण से असङ्ग एवं निर्विकार आत्मा को जानने वाला पुरुष किस बात का मोह करेगा ? अतः भाष्यकार का कुशल के लिए भी अभिनिवेश मानना चिन्त्य ही प्रतीत होता है। वृत्तिकार ने अभिनिवेश क्लेश का सद्भाव कृमि से लेकर ब्रह्मा पर्यन्त समस्त उत्तम अधम योनियों के लिए ही माना है।[१] यह

---

१. व्यासभाष्य २.६। २. वही २.६।
३. वही २.२७। ४. वही २.४।
५. यजुर्वेद ३१, १८। श्वेताश्वर उपनिषद् ३.८। ६. गीता २।१३।

मन्तव्य उचित है, क्योंकि सांख्य आदि के मतानुसार ब्रह्मा एक योनि विशेष ही है[२] और विभिन्न योनियों में जन्म तभी तक होता है, जब तक कि क्लेशों का आशय अवशिष्ट हो। क्षीण क्लेश योगी का पुनः जन्म नहीं होता।

क्लेशों की चार अवस्थाएँ—उपर्युक्त अस्मिता राग द्वेष अभिनिवेश चारों ही क्लेश अविद्या से उत्पन्न होते हैं। अविद्या अर्थात् अयथार्थ दर्शन से चित्त में आत्मभावरूप अस्मिता उत्पन्न होती है। अस्मिता से शरीर स्त्री-पुत्र धन-धान्यादि सुख साधनों की लालसा रूप राग उत्पन्न होता है। राग के द्वारा सुख साधनों के विरोधी पदार्थों के प्रति द्वेष पैदा होता है और शरीर के नाशक मरण आदि में द्वेष से अभिनिवेश का जन्म होता है। अतः इन समस्त क्लेशों की मूल प्रसव भूमि अविद्या है। ये क्लेश चार अवस्थाओं में रहते हैं : प्रसुप्त तनु विच्छिन्न और उदार।[३] इसकी चर्चा पहले की जा चुकी है।

पुरुष का कर्म-फल भोग चक्र

यह पुण्यापुण्य कर्माशय काम क्रोध, लोभ और मोह से पैदा होता है। कामजन्य कर्माशय विषय सेवन की कामना से उत्पन्न होता है। जैसे रावण का सीता हरण करना। क्रोधज कर्माशय क्रोधावेश में किये गये ब्रह्महत्या आदि दुष्कर्मों से उत्पन्न होता है, जैसे सहस्रबाहु अर्जुन ने जमदग्नि ऋषि को मार दिया था।[४] लोभज कर्माशय अन्याय अथवा अस्तेयपूर्वक लोभवश परद्रव्यहरण असत्य भाषण आदि करने से उत्पन्न होता है। जैसे युधिष्ठिर का कुल रक्षा के लोभ से अश्वत्थामा का मरना घोषित करना या मृगादि निरीह पशुओं को चर्म मांसादि के लोभ से मारना। यज्ञ आदि के सुफल के मोह से हिंसा आदि दुष्कर्मों को करना मोहज कर्म है।

कर्मफलोत्पत्ति में शीघ्रता का हेतु संवेग है—व्यास तथा भोज दोनों ही तीव्र संवेग को कर्म के शीघ्र परिपाक में हेतु मानते हैं।[५] व्यास के अनुसार तीव्र संवेग से मन्त्र तपस्या और समाधि के अभ्यास के द्वारा ईश्वर देवता तथा महर्षि आदि महानुभावों की आराधना से पुण्य कर्माशय शीघ्र परिपक्व हो जाता है। इसी प्रकार भयभीत हुए, बीमारी से पीड़ित हुए और अन्य संकटों से सताए हुए प्राणियों के साथ अत्याचार करने, विश्वास प्राप्त व्यक्ति के साथ विश्वासघात करने से तथा महात्मा और तपस्वी लोगों का बुरा करने से पाप

---

१. भोजवृत्ति २.१।
२. सांख्यकारिका ५४।
३. योगसूत्र २.४।
४. योगसूत्र २.१२।
५. भोजवृत्ति २.१२।

कर्माशय शीघ्र पकता है।[१] मनुष्यों का कर्माशय दो प्रकार का होता है, दृष्ट जन्म में भोगने योग्य तथा भावी जन्मान्तर में भोगने योग्य। नरक भोग रहे 'क्षुद्र प्राणियों' को इसी जन्म में भोगने योग्य कर्माशय नहीं होता तथा दग्धक्लेश योगियों का अगले जन्मों में भोगा जाने वाला कर्माशय नहीं होता।[२]

विज्ञानभिक्षु ने नारकीय जन्तुओं का इसी जन्म में भोग्य कर्माशय नहीं होता—इस वचन का यह अर्थ लिया है कि नारकीय पुरुषों को वहाँ मानव देहादि साधन सामग्रीं के अभाव के कर्मानुष्ठान न हो सकने के कारण उनका कर्माशय इसी जन्म में भोगने योग्य नहीं है, और स्वर्गीय पुरुषों का स्वर्ग में कर्मोंपयोगी मानव शरीर न मिलने पर भी उनका भारतवर्ष में आकर स्व-दिव्य शक्तिजन्य लीलामात्र से शरीर धारण कर प्रयाग आदि तीर्थों पर कर्मानुष्ठान करना और उसके फल को भोगना आदि सुनने से स्वर्ग के लोगों का उसी जन्म में भोगने योग्य कर्माशय होता है, यह वर्णन किया है,[३] यहाँ स्मरणीय है कि भाष्यकार ने केवल नरक भोग रहे प्राणियों का ही उसी जन्म में भोगने योग्य कर्माशय होने का निषेध किया है। वैसे भी सूत्रकार तथा भाष्यकार ने केवल मनुष्यकृत स्वर्गनरकजनक शुक्ल और कृष्ण कर्माशय को ही क्लेशमूलक तथा जन्म जन्मातर में भोग्य बताते हुए नारकीय जीवों के भावी जन्म में भोग्य कर्माशय का वर्णन किया है, देवादि के अमानुष कर्माशयों का नहीं, अतएव जो नन्दीश्वर और नहुष के कर्माशयों को इस जन्म में भोग्य बताया है, वे दोनों मनुष्यों के कर्माशय हैं, देवों के नहीं। अन्यथा उन्होंने लीलामात्र से मनुष्य देहधारी देवों के कर्मों का भी वर्णन किया होता। तथा देवेन्द्र उपाधि को प्राप्त मनुष्य देहधारी नहुष कृत कर्मों के वर्णन की क्या आवश्यकता थी ? अतः यहाँ भाष्यकार का मात्र इतना ही तात्पर्य है कि नारकीय अर्थात् मानवेतर जो पशु-पक्षी, कीट-पतंग आदि हैं, उनको वे वर्त्तमान जन्म के कर्माशय से नहीं, अपितु पूर्व किसी मानव जन्म में संचित कर्माशय से सुख दुःखादि भोगों को प्राप्त होना मानते हैं। भाव यही है है कि भाष्यकार मानवेतर पशु-पक्षी कीट-पतंग सरीसृप जलचर वृक्ष लता आदि योनियों में कर्माशय के साधनभूत कर्म का होना स्वीकार न करके इन समस्त योनियों को भोग योनियाँ ही मानते हैं, तथा मनुष्य की योनि में कर्म-भोगादि दोनों के संभव होने से मनुष्य योनि उनके मतानुसार कर्म और भोग की उभय-योनि है। यदि भाष्यकार देवों की योनियों को भी दिव्य भोगमात्र की योनि मानते, तो उनके भी दृष्ट जन्म में भोग्य कर्माशय का निषेध करते, किन्तु भाष्यकार ने ऐसा नहीं किया, क्योंकि

---

१. व्यासभाष्य २.१२।
२. व्यासभाष्य २.१२
३. योगवार्तिक २.१२।।

विदेह प्रकृतिलयादि देवों को स्थूल शरीर के अभाव से योनि स्वीकार नहीं किया जा सकता। दग्धबीज कर्माशय वाले योगियों का अदृष्ट जन्म वेदनीय कर्माशय न मानने का भी तात्पर्य है कि दग्धक्लेश योगी के भावी जन्म का अभाव होने से उनका कर्माशय दृष्टजन्म वेदनीय ही है।

तीव्र संवेग से किए हुए शुक्ल या कृष्ण कर्मों का फल उसी जन्म में प्राप्त हो जाता है, जैसे शिलाद मुनि के पुत्र नन्दीश्वर कुमार ने बाल्य अवस्था में ही महादेव जी की अति उग्र पूजा आराधना की, एवं इसी जन्म में देवताभाव दीर्घ आयुष्य और दिव्य भोगों को प्राप्त कर लिया।[1] इसी प्रकार नहुष भी देवताओं का राजा था, परन्तु शिविका वहन में लगे महानुभाव ऋषियों का पार्ष्णिप्रहाररूप अपकार करने से अगस्त्य मुनि के शाप द्वारा शीघ्र ही देवभाव को त्याग कर अजगर सर्पभाव को प्राप्त हो गया।[2]

भोज ने उसी जन्म में फल देने वाले कर्मों को भी तीन प्रकार का माना है। जाति आयु भोगरूप तीनों फल देने वाले, जाति और आयु इन दो ही फलों को देने वाले तथा तीसरे केवल जाति अन्तरणरूप एकविध ही फल देने वाले। नहुष को देवताभाव दीर्घ आयु और दिव्य भोग प्राप्त होने से उसका कर्म तीनों फलों का देने वाला था। जाति और आयुष्यरूप द्विविध फल विश्वामित्र आदि को तप के प्रभाव से प्राप्त हुआ था। तथा पूर्वोक्त नहुष आदि में जातिमात्र का परिणाम हुआ वह एक प्रकार का फल देने वाला कर्म था। इसी प्रकार उर्वशी अप्सरा का कार्तिकेय के वन में बिना आज्ञा के प्रविष्ट हो जाने से जो लतारूप में जात्यन्तर परिणाम हुआ था वह भी एक ही प्रकार के फलोत्पादक शाप के प्रभाव से था।[3] सूत्रकार ने इन समस्त परिणामों को अविद्या आदि क्लेशरूपी मूल का फल बताया है, जो जाति आयु और भोग के रूप में ही प्राप्त होता है।[4] जाति आयु भोग और कर्म फल के सिद्धान्त का भोज ने वर्णन न करके केवल जाति आयु और भोग का लक्षण बड़ा स्फुट रूप से किया है। तदनुसार मनुष्यत्वादि जाति है। जीव के एक शरीर से सम्बद्ध रहने के काल का नाम आयु है। भोग नाम स्पर्शादि विषयों का है, जो इन्द्रियों में सुख दुःख के अनुभव के रूप में प्रतीत होता है।[5] किन्तु भाष्यकार ने कर्म फल भोग के सिद्धान्त का सुन्दर ढंग से निरूपण किया है।

---

१. मणिप्रभा २.१२।
२. व्यासभाष्य २.१२।
३. भोजवृत्ति २.१२।
४. योगसूत्र २.१३।
५. भोजवृत्ति। २.१३।

(क) भोगों की जड़ क्लेश है—क्लेश जड़ (मूल) है। उस जड़ के आश्रय पर कर्माशयरूपी वृक्ष टिकता है। इस कर्माशयरूप वृक्ष में जाति आयु और भोग ये तीन प्रकार के फल लगते है। कर्माशयरूपी वृक्ष तब तक ही फलता फूलता है, जब तक चित्त रूपी भूमि में इसकी क्लेश रूपी जड़ विद्यमान रहती है। इस वृक्ष को हरा भरा रखने के लिए संस्कार रूपी खाद और वासनारूपी जल की पर्याप्त मात्रा में आवश्यकता रहती है। इनके अभाव में यह सूखने लगता है और सुख दुःखरूप फल देना भी बन्द कर देता है, तथा विवेकख्यातिरूप प्रचण्ड धूप से यह दग्ध हो जाता है। भाव यह है कि कर्माशय क्लेशों की विद्यमानता में ही सुख दुःख आयु जाति आदि फल देता है, उसके अभाव में नही। जिस प्रकार धान से पौधे तब ही उगते हैं, जब कि वे छिलके से ढके हुए हों तथा जले हुए भी न हों। वे न तो तब उग पाते हैं जब कि छिलका हट गया हो और न तब ही उग पाते हैं, जब कि छिलके से विधिवत् ढके होते हुए भी जल चुके होंगे। इसी प्रकार कर्म भी तभी भोगरूप फल दे सकते हैं, जब वे क्लेशरूप छिलके से ढके हुए हों तथा दग्धबीज न हुए हों। यदि क्लेशरूप छिलका हट गया हो तो भी वे फल नहीं देते और यदि क्लेशों सहित विवेख्यातिरूप प्रचण्डानल में जल कर दग्धबीज हो गए हों तो भी नहीं फलते। कर्मों के विषय में भाष्य में अन्य भी विकल्प दिए हैं जिसकी संक्षिप्त चर्चा पहले यथास्थान पर की जा चुकी है। विकल्पों का स्वरूप निम्नलिखित हो सकता है :–

(अ) क्या एक कर्म एक जन्म का कारण है, अथवा एक कर्म अनेक जन्मों तक फल देता रहता है ?

(आ) क्या अनेक कर्म अनेक जन्मों का निर्माण करते हैं, या अनेक कर्म इकट्ठे मिलकर एक जन्म का निर्माण करते हैं :–

इस प्रकार इन दो-दो विकल्पों वाले दो पक्षों में कुल चार विकल्प उठाये गए हैं। क्रमशः उनका समाधान तथा सिद्धान्त पक्ष निम्नलिखित है :–

अनेक कर्मों से एक जन्म मिलता है–

(अ) एक कर्म आगामी एक जन्म का कारण नहीं हो सकता, क्योंकि ऐसा मानने पर अनादि काल से अनेक कर्मों के संचित फल को भोगने की व्यवस्था नहीं बन सकेगी। इस प्रकार कर्मों का फलक्रम नियत होने से लोक में भी कर्मफल सिद्धान्त पर अविश्वास हो जाएगा। भाव यह है कि एक जन्म में मनुष्य असंख्यात कर्म करता

है। यदि एक कर्म को भोगने के लिए एक जन्म की व्यवस्था की जाए तो उन असंख्य कर्मों को भोगने के लिए असंख्यजन्म लेने पड़ेंगे, फिर उनमें से एक एक जन्म में किए गए कर्मों को भोगने के लिए अनेक जन्मों का सद्भाव मानने से अनवस्था हो जाएगी।

(आ) न ही एक कर्म अनेक जन्मों का कारण है, क्योंकि ऐसा मानने पर शेष बचे हुए कर्मों को फल देने के लिए अवसर ही न मिल सकेगा। अथवा उनके भोग का कभी अन्त भी न होगा।

(इ) न ही अनेक कर्म अनेक जन्मों के कारण हो सकते हैं, क्योंकि अनेक कर्म जो एक ही काल में अनेक जन्म देने लगेंगे तो अनन्त जन्म प्राप्त होने से भोग व्यवस्था असम्भव हो जाएगी तथा पहले के दोष भी इसमें आ जाएँगे। अतः यह तीसरा विकल्प भी असंगत है। इस प्रकार अनेक कर्म एक ही जन्म का आरम्भ करते हैं यह सिद्ध हुआ।

(ख) कर्माशय द्विविध हैं–

चित्त में अनादि काल में असंख्यात संस्कार विद्यमान हैं। ये संस्कार हजारों लाखों जन्मों से चले आ रहे हैं। जिन कर्म वासनाओं के संस्कार चित्त में प्रबलरूप से उत्पन्न होते हैं, उन्हें प्रधान कर्माशय और जो शिथिल रूप में पड़े रहते हैं उन्हें उपसर्जन कर्माशय कहते हैं। मरण काल में ये प्रधान कर्माशय पूरे वेग के जाग उठते हैं, तथा चित्त पर अपना आधिपत्य जमा लेते हैं। वे पूर्व तथा वर्तमान जन्म के सब कर्म संस्कारों के अनुकूल ही वासनाओं को उद्भूत करते हैं।[1] इन प्रधान संस्कारों में भी जो प्रधानतम संस्कार होता है, शेष संस्कार उसके सहायक बन जाते हैं, तब उनकी संयुक्त वासना के अनुसार ही अगला जन्म मिलता है। मनुष्य पशु-पक्षी कीट पतंग वृक्ष लता आदि के जन्म का सामान्य निर्धारण तो प्रधान कर्माशय के आधार पर ही हो जाता है, किन्तु पशु पक्षी आदि में भी योनि विशेष का निर्णय प्रधानतम कर्म की वासना के अनुरूप ही होता है, जिसमें उस वासना को अपने अभिव्यंजन का अधिकाधिक अवसर मिल सके। उन्हीं कर्माशयों के अनुसार उसका भोग निर्धारित होता है। ऐसे प्रधान कर्माशय को, जिसके अगले जन्म में आयु भोगादि सुनिश्चित हो गए हों, नियत विपाक कर्माशय कहते हैं। यही भावी जन्म का हेतु होता है। इसे दृष्टजन्मवेदनीय या एकभविक कर्माशय भी कहते हैं। इसे ही लोक में प्रारब्ध नाम से जाना जाता है।

---

१. योगसूत्र। ४.८।

इसी बात को एक उदाहरण की सहायता से इस प्रकार स्पष्ट कर सकते हैं :– मानलीजिए एक व्यक्ति को मांसाहारी लोगों के ससर्ग से मांसाहार करने का अभ्यास पड़ गया। मांसाहार से उसके स्वभाव में उत्पन्न क्रूरता उग्रता अशान्ति हिंसा आदि बढ़ते बढ़ते अन्ततः एकदिन उसके व्यक्तित्व को सर्वथा बदल कर एक हिंसक निर्दय और क्रूर बना देगें। यह प्रभाव पहले पहल उसके स्थूल बाह्य कार्यो मे, पुनः आचार व्यवहार और विचार में अधिकाधिक बढ़ने लगेगा, तो उसका अन्तःकरण और सूक्ष्म शरीर भी इससे प्रभावित हुए बिना न रह सकेगा। फलतः उसका सूक्ष्म शरीर भी उस हिंसक पशु विशेष जैसा होता चला जाएगा, जिसमें इस प्रकार की मनोवृत्तियाँ स्वभाव सिद्ध होती हैं। मन के विचारों की छाप मुखाकृति चितवन और चाल ढालपर भी झलकने लगती है; अतः ऐसे मनुष्य के मुख से क्रूरता निर्दयता हिंसा आदि अभिव्यक्त होने लगती हैं। देह त्याग के बाद ऐसा मनुष्य जहाँ कहीं भी जाएगा, वहीं पर हिंसा मांस भक्षणादि साधनों और सामग्री की इच्छा करेगा, अतः प्रकृति उसे वृकादि की योनि में ही भेजेगी ताकि वहाँ पर उसकी वासनाओं को अभिव्यक्ति का खुला अवसर मिल सके। गीता में इसी सिद्धांत को इस प्रकार बताया है कि जिस जिस भी भाव का स्मरण करता हुआ प्राणी शरीर छोड़ता है, वह उस भाव से परिपूर्ण होने के कारण उसी योनि को प्राप्त करता है।[1]

उपनिषदों मे भी यह मान्यता प्राप्त होती है कि जो जिस भी इच्छा को मन में रखता हुआ उसकी पूर्ति चाहता है, वह मनुष्य उन वासनाओं के अनुसार ही जहाँ कहीं भी उत्पन्न होता है। आप्तकाम मनुष्य की भावनाएँ अवश्य यहाँ ही विलीन हो जाती हैं।[2] भाव यह है कि जिन वासनाओं को लेकर जीवात्मा शरीर को छोड़ता है उन वासनाओं के अनुरूप ही उसे नया गर्भ तैयार मिलता है। हिंसक प्रवृत्ति के व्यक्ति को हिंसक पशुओं का जन्म, परोपकारी किन्तु अविवेकी पुरुष को गौआदि उपकारक पशुओं का जन्म मिलता है। इसी प्रकार नानाविध योनियों की प्राप्ति अपने अन्तिम समय के संकल्प के अनुसार होती है।

(ग) अनियत विपाक कर्माशय–

उपसर्जन कर्म भी अगले जन्मों में भोग्य हैं, पर अभी उनका फलोपभोग

---

१. गीता ८.६। २. मुण्डक ३.२.२।

करने के लिए योनि समय तथा सुख दुःखादि विपाक नियत नहीं हुए हैं; अतः ऐसे कर्मों को अनियत विपाक या अदृष्ट जन्मवेदनीय कहा जाता है। ये उपसर्जन कर्माशय प्रधान कर्म से दब जाने के कारण तीन प्रकार की गतियों वाले होते हैं–(क) या तो बिना पके, नियत विपाक कर्म को कुछ कम या अधिक करके ये स्वयं नष्ट हो जाते हैं। अर्थात् प्रधान कर्म के विपाकवश जो फल मिलना था, अनियत विपाक वाला कर्माशय यदि प्रधान कर्म के विरोधी स्वभाव वाला है, तो उस फल को कम कर देता है और यदि सजातीय है, तो फल में वृद्धि करके स्वयं नष्ट हो जाता है। (ख) या वे नियत विपाक में ही मिल जाते हैं, अर्थात् नियत विपाक में जो भी पाप या पुण्य की राशि है, उसी के साथ उपसर्जन कर्म की राशि भी अलग पाप या पुण्य में मिल जाती है। इस प्रकार समय आने पर स्वतः ही फल दे देती है। (ग) या वे उपसर्जन कर्म चित्तभूमि में दबे हुए वैसे ही पड़े रहते हैं, जब तक कि किसी अनुकूल जन्म और साधन को पाकर फल देने के लिए अवसर नहीं मिलता। जब कभी उनके जगाने वाले कर्माशय की प्रधानता होती है, तब वे जाग उठते हैं। कितने ही जन्म अथवा समय के बीतने पर किये हुये कर्म का नाश नहीं होता।

यहाँ यह आशंका नहीं करनी चाहिए कि एक प्राणी को मनुष्य शरीर भोगने के बाद जब पशु-शरीर प्राप्त हुआ, तो उसे पशु-उचित भोग कैसे प्राप्त हो सकेगा ? क्योंकि संस्कार दो प्रकार के होते हैं। एक तो जाति आयु भोग उत्पन्न करने वाले और दूसरे केवल स्मृति को उत्पन्न करने वाले। जो संस्कार स्मृतिमात्र के उत्पादक हैं, उन्हें ही वासना कहते हैं, ये अनेकानेक जन्मों से चित्त में भरे रहते हैं, अथवा पुरुष चित्त संयोग के अनादि होने से और जीने की इच्छा के नित्य होने से, अनादि काल से इन क्लेशों विविध कर्मों और उनके विपाकों से उत्पन्न हुई वासनाओं से चित्रित तथा चंचल बना हमारा चित्त लौह काष्ठ तथा रज्जु से बने बन्धनों की अपेक्षा भी दृढ़ बन्धन का कारण होता है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि अनादि काल से चित्त में सब प्रकार की योनियों के भोगों की वासनाएँ भरी हुई हैं, अतः एक मनुष्य जब मानव शरीर को छोड़कर पशु शरीर में जाता है तो पूर्व के पशु-शरीर के भोगों की वासनाएँ जाग उठती हैं और उसे वर्तमान पशु-देह के भोगों को भोगने के योग्य बना देती हैं।

कर्मफल—ये जाति आयु और भोग पुण्यमूलक हों तो सुख और अपुण्यमूलक हों तो दुःख देते हैं, किन्तु पुण्य अपुण्य ये दोनों प्रकार कर्म कर्माशय के उत्पादक होने के कारण बन्धन के हेतु हैं। इसी प्रकार पुण्यापुण्य मिश्रित कर्म भी बन्धन का हेतु है। जिस प्रकार एक लोहे की जंजीर भी बाँधने के काम आती है, चाँदी की जंजीर का प्रयोजन भी बाँधना ही होता है और सोने की जंजीर भी चाहे कितनी ही उत्तम हो बाँधने के ही काम आती है। इसी प्रकार तमः प्रधान अपुण्य कर्म, रजः प्रधान पुण्यापुण्य कर्म, सत्त्वप्रधान पुण्य कर्म ये तीनों ही जीव को भवपाश में फँसाते हैं, किन्तु जो आसक्ति रूप रजस् तमस् सत्त्व के त्रिगुणात्मक प्रभाव से रहित निष्काम कर्म हैं, वे बन्धन का कारण नहीं हैं, अतः यह कहा जा सकता है कि बन्धन का कारण कर्म नहीं अपितु आसक्ति हैं।

बौद्धों के प्रसिद्ध ग्रन्थ धम्मपद के अनुसार ज्ञानी पुरुष लोहे लकड़ी या रस्सी के बन्धन को बन्धन नहीं मानते। उनके अनुसार बन्धन हैं, सांसारिक भोग मणि कुण्डल स्त्री पुत्र आदि में राग या आसक्ति।[१] भगवद्गीता के अनुसार जिसने आसक्ति को त्याग दिया है, जो नित्य तृप्त और इच्छा रहित है, अर्थात् राग द्वेष मोह आदि की कामनाओं को छोड़ चुका है, उसके कर्मफल से सुख दुख भोगरूप आशय की उत्पत्ति नहीं होती, इसलिए आसक्ति रहित कर्मों को अकर्म तथा अनासक्त कर्त्ता को अकर्त्ता कहा जाता है।[२]

वासनाएँ—वृत्तिकार के अनुसार ये वासनाएँ दो प्रकार की होती है; एक तो स्मृतिमात्र फल प्रदान करने वाली और दूसरी जन्म आयु और सुख दुःखादि भोग प्रदान करने वाली। वासना एक या अनेक जन्मों के कर्मों से उत्पन्न होती है, जिसका वर्णन पूर्व हो चुका है। यह जो स्मृतिमात्र फल देने वाली वासना है, उसे इस प्रकार कहा जा सकता है कि कृष्ण शुक्लादि त्रिविध कर्मों में से जिस कर्म से देव मनुष्य तिर्यकादि जो शरीर प्राप्त होता है, उस कर्म के विपाक के अनुकूल जो वासना है, वही उससे प्रकट होती है। जिस कर्म से पहले देव शरीर प्राप्त हुआ, हजारों जन्म बाद, जब उससे पुनः देव शरीर आरम्भ होगा, तब उससे उनके अनुकूल ही स्मृतिरूप फल देने वाली वासना प्रकट होगी। देवजन्म में दैवी स्मृतियाँ ही होती है, मानुषी या पाशविक नहीं। अन्य वासनाएँ भी होती हैं, किन्तु स्मृतिफला वासना के दैवी होने से वे तिर्यक्

१. धम्मपद [संस्कृत छाया] ३४५।   २. गीता ४.११.२०।

मनुष्य पशुआदि की विजातीय वासनाएँ अव्यक्त रूप से पड़ी रहती हैं।[1]

वृत्तिकार भोज के मत में यहाँ पर जिन वासनाओं की अभिव्यक्ति का प्रकरण चल रहा है, वे स्मृतिमात्र फल देने वाली हैं तथा जाति आयु भोग फल देने वाली वासनाओं से भिन्न हैं। किन्तु व्यास ने यहाँ इस स्मृतिमात्र फलवाली वासनाओं की चर्चा भी नहीं की। स्मृति और संस्कार के एकरूप होने से जाति देश और काल का व्यवधान आ जाने पर भी ये वासनाएँ नष्ट नहीं होती हैं[2], अपितु व्यक्त या अव्यक्त रूप में बनी ही रहती है। भाव यह है कि जाति देश या काल से व्यवहित होने पर भी वासना अपने प्रकाशक के कर्म विपाक के उपस्थित होने पर एकदम जाग उठती हैं, छिपी नहीं रहती। भाष्यकार इस सिद्धान्त को उदाहरण की सहायता से समझाते हुए लिखते हैं कि मान लो एक व्यक्ति को मनुष्य शरीर के बाद बिलाव का जन्म मिला। वही बिलाव का जन्म उसे पहले मिला था। तो ऐसा नहीं होता कि सौ जन्मों की दूरी बीच में आ जाने से उसकी जो पहली मार्जार योनि में चूहों को खाने की वासना थी, वह न जागकर पिछले मनुष्य जन्म की ही अथवा अन्य किसी निकटवर्ती जन्म की वासना जाग उठे, अपितु वही पूर्व के मार्जार जन्म की ही वासना जागती है। इसका कारण यह है कि किसी भी वासना को जगाने में दो हेतु होते हैं संसार और स्मृति। इन दोनों के एकरूप होने पर ही वासना जागती है, अन्यथा नहीं। सौ जन्म पूर्व बिलाव के शरीर में प्राप्त किए चूहों को मारने आदि के अनुभव चित्त में संस्कार रूप से सो रहे हैं, फिर भी जब तक वर्तमान जन्म में समान विषय वाली स्मृति नहीं मिलती, तब तक संस्कार वासना रूप में परिणत नहीं होता है और वह समान विषय वाली स्मृति वर्तमान मार्जार शरीर में ही मिल सकती है, अन्य शरीर में नहीं। अभी अभी पिछले ही मानव शरीर की वासनाएँ भी उत्पन्न नहीं हो पाती, क्योंकि उनके संस्कारों को भी समान विषय वाली स्मृति चाहिए और वह केवल मानव शरीर में ही संभव है, अन्य शरीर में नहीं।[3]

सदाशिवेन्द्र सरस्वती ने भी संस्कारों को अपनी जाति के अनुसार ही पकना माना है। क्रियासंस्कार क्रिया के रूप में, ज्ञान के संस्कार ज्ञान के रूप में तथा रागादि के अन्य संस्कार अन्य रागादि रूपों में पकते हैं—विषय भेद होने पर नहीं पकते, क्योंकि कारण सजातीय कार्य को ही उत्पन्न कर

---

१. भोजवृत्ति ४.८। २. योगसूत्र ४.६।
३. व्यासभाष्य ४.६।

सकता है, विजातीय को नहीं।[1] यह जाति का उदाहरण हुआ। इसी प्रकार यदि वह बिलाव पहले बिलाव जन्म में भारत में उत्पन्न हुआ था, इस बार किसी देशान्तर द्वीपान्तर या लोकान्तर में बिलाव शरीर में ही आया तो भी अपने प्रकाशक कर्म को पाकर उसकी वासनाएँ उद्बुद्ध हो ही जाएँगी। एवं यदि पहली बार बिलाव देह धारण करके दूसरी बार बिलाव देह धारण करने में करोड़ों वर्ष भी व्यतीत हो जाएँ तो भी उसकी वासनाएँ नष्ट नहीं होंगी।

यहाँ पर यह शंका नहीं करनी चाहिए कि करोड़ों वर्षों अथवा हजारों जन्मों बाद कोई वासना कैसे उत्पन्न हो सकती है, क्योंकि आशीः के सदा बने रहने के कारण ये वासनाएँ भी नित्य ही बनी रहती हैं।[2]

सूत्र में आए 'आशिष' शब्द से वृत्तिकार ने सुखसाधनों का आक्षेप करते हुए लिखा है, जो यह महामोहरूप आशिष है कि मेरे सुख साधन सदैव बने रहें, इनसे मेरा वियोग कभी भी न हो, इस प्रकार का जो संकल्प विशेष है, वह वासनाओं का कारण है।[3] सुख साधन तो पुत्र कलत्र धन-धान्य पद अधिकार आदि कुछ भी हो सकते हैं, किन्तु भाष्यकार ने सुखसाधनों से तात्पर्य जीने की इच्छा को लिया है। उनके अनुसार जो यह इच्छा है कि मैं न होऊँ ऐसा न हो (अर्थात् मेरा कभी लोप न होवे, मैं सदैव जीवित रहूँ)—यह जो सब प्राणियों में दीख पड़ती है, वह स्वभाविक नहीं है। जो स्वभाववादी इस जीवित रहने की इच्छा को सकारण न मानकर स्वाभाविक मानते हैं, वह युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि नवजात बच्चे को मरण धर्म का अनुभव नहीं होता है, फिर उसको मरण भय क्यों होता है ? क्योंकि दुःखानुभव की स्मृति से द्वेष और द्वेष से भय की उत्पत्ति होती है, अतः मरणभय को मरणदुःखानुभव से युक्त और सकारण ही माना जा सकता है, स्वाभाविक नहीं। स्वाभाविक वस्तु अपनी उत्पत्ति में किसी निमित्त को ग्रहण नहीं करती और यह मरणभय तो सर्वानुभूत पूर्वदुःख की स्मृतिजन्य होने से स्वाभिव्यक्ति में स्मृति को ग्रहण करता है। इसलिए चित्त में यह जीवित रहने की इच्छा स्वाभाविक या अकारण नहीं, किन्तु अनुभवरूप निमित्त के कारण ही है। यदि वासनाओं की अभिव्यक्ति को स्वाभाविक माना जाए तो चित्तगत समस्त वासनाओं की अभिव्यक्ति एक साथ क्यों नहीं होती ? पुरुष के भोगानुसार किसी किसी वासना का ही स्फुरण क्यों होता है ? अतः वासनाएँ सकारण हैं, स्वाभाविक नहीं। स्वाभाविक होने पर उन्हें हर समय होना चाहिए। यह मरणभय भयंकर वस्तु या अनिष्ट प्रसंग

---

१. योग सुधाकर ४.९।
२. योगसूत्र ४.१०।
३. भोजवृत्ति ४१०।

की उपस्थिति में ही वह क्यों होता ?[1] अतः मरणभयादि सहेतुक हैं, यह मानना ही उचित है।

वासनाओं का आश्रय चित्त–

इन वासनाओं का आश्रय जो चित्त है वह न्याय-वैशेषिक सम्मत अणु परिमाण वाला है[2] अथवा सांख्यसम्मत मध्यम परिमाण वाला है, अथवा इन दोनों से अतिरिक्त विभु परिमाण वाला है–इस शंका के समाधानार्थ भाष्यकार कहते हैं कि सांख्य वाले चित्त को संकोच विकास शील मानते हैं, अर्थात् जैसे एक दीपक को घड़े में रख देने पर उसका प्रकाश घड़े तक ही संकुचित रहता है। पुनः उसी दीपक को भवन में रख देने पर उसका प्रकाश भवन के आकार के समान विकसित हो जाता है। उसी प्रकार चित्त के प्रकाश में भी संकोच ओर विकास होता रहता है। जिस समय चित्त मूषकादि के छोटे शरीर में जाता है, तब उसका प्रकाश संकुचित तथा जब हाथी आदि के विशाल शरीर में आता है तब उसका प्रकाश विससित हो जाता है। सँाख्यशास्त्र के आचार्य चित्त को अणु परिमाण वाला इसलिए नहीं मानते कि जिस समय एक शीतल सुरभित और दीर्घ शष्कुली को खाते हैं उस समय एक ही समय पांचों ज्ञानों की उत्पत्ति देखने में आती है। शष्कुली की शीतलता से स्पर्श की, सुरभि से गन्ध की, रसमयता से रस की, आकारादि के दर्शन से रूप की और भोजन क्रिया जन्य शब्द की। अणु परिमाण वाला मन इन पाँच ज्ञानों की उत्पत्ति एक साथ नहीं कर सकता; अतः चित्त मध्यम परिमाण वाला है, अन्यथा एक ही चित्त विभिन्न देशों में स्थित सब इन्द्रियों से एक ही काल में संयुक्त होकर उनके ज्ञान का ग्रहण कैसे कर सकता है। मध्यम परिमाण वाला होने से ही उसका एक शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर में जाना सिद्ध हो सकता है।[3]

भाष्यकार के अनुसार आचार्य पतंजलि का आशय यह है कि चित्त तो विभु है, किन्तु सांख्यदर्शन में जो संकोच विकासशीलता बतलाई गयी है, वह चित्त की वृत्ति का स्वभाव है चित्त का नहीं। चित्त को आचार्य पतंजलि के मत में, जो विभु कहा गया है, उससे यह अर्थ नहीं लेना चाहिए कि एक ही चित्त सर्वत्र विद्यमान है, क्योंकि आचार्य हरिहरानन्दारण्य ने इस विभुत्व से सूत्रकार और भाष्यकार का क्या तात्पर्य है ? इसे इस प्रकार स्वीकार किया

---

१. व्यासभाष्य। ४.१०।

२. (क) वैशेषिक सूत्र । ७.१.२३। (ख) न्यायसूत्र ३.२.६३।

३. व्यासभाष्य ४.१०।

है कि चित्त आकाशादि की भाँति सर्वत्र विद्यमान नहीं है, अपितु सक्रिय, अमूर्त्त, हस्तादि से अपरिमेय, दीर्घ ह्रस्वादि आकारों से मुक्त तथा ब्रह्माण्डस्थ समस्त पदार्थों से अबाध रूप से सम्बद्ध है। इसी कारण उसे विभु कहा जाता है अनन्त आकाश की भाँति सर्वत्र व्यापक होने से नहीं।[1] विचार करने से भी चित्त का यही स्वरूप निर्धारित होता है। सांख्ययोग मत में चित्त त्रिगुणात्मक प्रकृति का सबसे प्रथम विकार है। इसी बात को हम इस प्रकार भी कह सकते हैं कि जड़ तत्त्व कुल चौबीस हैं। उनमें से प्रकृति अव्यक्त तथा गुणों की साम्यावस्था मात्र होने के नाते पुरुष के प्रयोजन की पूर्ति करने में शून्य है। शेष जो तेईस व्यक्त तत्त्व हैं, उनमें से चित्त (महतत्त्व) के सूक्ष्मतम होने के नाते अन्य कोई तत्त्व उसका बाध नहीं कर सकता। अतः चित्त ब्रह्माण्ड के सूक्ष्म स्थूल समस्त पदार्थों को अबाध रूप से जानने के लिए समर्थ साधन है। चित्त के विभुत्व का इतना ही तात्पर्य है। चित्त को आकाशादि की भाँति सर्वव्यापक मानने पर उसे एक ही मानना पड़ेगा। एक मानने पर असंख्य व्यक्तियों के शरीरों से उसका सम्बन्ध स्वीकार करना पड़ेगा। ऐसी अवस्था में एक व्यक्ति के चित्त में चित्त के सात्त्विक कर्म ज्ञान वैराग्य ऐश्वर्य और धर्म के उदय होने से सभी प्राणी ज्ञानी वैराग्यवान् और धर्मात्मा हो जाएँगे, तथा एक व्यक्ति के चित्त में चित्त के तामसिकधर्म अज्ञान अवैराग्य, अनैश्वर्य और अधर्म के उदय से सभी अन्य प्राणी भी अज्ञानी अविरक्त अनीश्वर तथा अधर्मी हो जाने चाहिए, साथ ही प्रति शरीर द्वारा किए हुए पाप-पुण्य की व्यवस्था भी न हो सकेगी तथा एक व्यक्ति के सुखी या दुःखी होने से अन्य सब व्यक्तियों को भी सुखी या दुःखी हो जाना चाहिए; किन्तु प्रत्यक्षादि प्रमाणों से प्रति प्राणी के सुख-दुःख ज्ञान-अज्ञान, वैराग्य-अवैराग्य, धर्म-अधर्म, ऐश्वर्य-अनैश्वर्य आदि की भिन्नता स्पष्ट दीख पड़ने से चित्त को एक स्वीकार नहीं किया जा सकता।

सांख्यशास्त्र के आचार्य ईश्वरकृष्ण ने भी केवल मूल प्रकृति को ही अहेतुमान् नित्य व्यापक क्रियाहीन एक आश्रयभूत, लयधर्म रहित, निरवयव एवं स्वतन्त्र माना है, तथा अन्य महत्तत्त्व से लेकर पृथिवी पर्यन्त समस्त व्यक्त तत्त्वों को हेतुमान् अनित्य अव्यापक क्रियायुक्त अनेक पराश्रित लयशील सावयव और परतन्त्र माना है।[2] अतः चित्त का महत्तत्त्व ही नामान्तर होने के कारण प्रकृतिरूप उपादान से उत्पन्न होने वाला, अनित्य अव्यापक क्रियायुक्त अनेक पर अर्थात् मूल प्रकृति के आश्रित रहने वाला विवेकख्याति के अनन्तर अपने कारण में लय हो जाने वाला सावयव तथा अपने स्वामी पुरुष के परतन्त्र है, यह सिद्ध

---

१. भास्वती ४.१०। २. सांख्यकारिका १०।

हुआ। स्वामी बालराम उदासीन ने भी चित्त को अनेक तथा अव्यापक ही माना है।[1] सूत्रकार भी चित्त को संख्या में बहुत तथा प्रति शरीर नियत ही मानते हैं। इन्होंने बन्धन के कारणों को शिथिल करने और प्रचार के संवेदन को जानने से संयमसिद्धियुक्त योगी के स्वचित्त का परशरीर में प्रवेश करना लिखा है।[2] यदि सूत्रकार एक ही चित्त को सर्वत्र विद्यमान तथा सब शरीरों से सम्बद्ध मानते तो ऐसा नहीं लिखते। क्योंकि उस स्थिति में योगी का चित्त व्यापक होने से सर्वकाल में ही परशरीर में प्रविष्ट रहता। ऐसी अवस्था में संयम प्रयोग का वर्णन व्यर्थ हो जाता है। भाष्यकार ने भी इस सूत्र की व्याख्या करते हुए लिखा है कि कर्मबन्ध के क्षय से तथा चित्त के प्रचार के संवेदन से योगी अपने चित्त को अपने शरीर से निकाल कर शरीरान्तरों में डाल देता है।[3] भाष्यकार के द्वारा प्रयुक्त शब्दों से स्पष्ट है कि चित्त प्रति शरीर नियत हैं, क्योंकि स्वचित्त को स्वशरीर से निकालना तभी हो सकता है, जब कि चित्त शरीर के अन्दर ही सीमित परिमाण वाला हो। सर्वत्र व्यापक आकाश को कोई योगी अपने शरीर से बाहर नहीं निकाल सकता, तथा आकाश के समान प्रथम ही सर्वगत होने से उसे अन्यों के शरीर से प्रवेश कराने का भी विकल्प नहीं उठता। दूसरे के शरीर में योगी का चित्त पहले नहीं था, तभी तो योगी ने डाल दिया तथा अपने शरीर से निकाल कर डाला तो निकालने के बाद योगी के शरीर में नहीं रहा। ये समस्त धर्म किसी नियत परिमाण वाली वस्तु के ही होते हैं, सर्वत्र विद्यमान वस्तु के नहीं। इसीलिए वृत्तिकार भोज ने इन्द्रियों के मार्ग से चित्त का विषयों की ओर प्रसार करना तथा रसवहा और प्राणवहा नाड़ियों का होना भी लिखा है।[4] प्रसार और वहनादि धर्म किसी परिच्छिन्न परिमाण युक्त वस्तु के होते हैं, सर्वत्र विद्यमान वस्तु के नहीं; क्योंकि नाड़ियों के मार्ग से रस प्राणादि की भाँति चित्तकी शरीरगत एक संस्थान से दूसरे संस्थानादि में आने जाने की क्रिया की भी तभी आवश्यकता पड़ सकती है, जब चित्त शरीर में भी सर्वत्र व्यापक न हो, अन्यथा नहीं।

अन्यत्र भी भाष्यकार ने चित्तों को प्रति पुरुष पृथक्-पृथक् ही माना है।[5] इसी प्रकार विभूतिपाद तथा कैवल्य पाद में अन्य अनेक सूत्रों पर लिखे गए भाष्य तथा वृत्ति से यही निर्णीत होता है कि सूत्रकार भाष्यकार और वृत्तिकार तीनों ही चित्त को प्रति शरीर नियत एकदेशी संख्या में बहुत तथा समस्त ब्रह्माण्डगत किसी भी पदार्थ को संयम के प्रयोग से साक्षात् कर लेने की

---

१. पातंजलदर्शन प्रकाश। ४.१०, पृ० ३ ६.७०।
२. योगसूत्र ३.३८।
३. व्यासभाष्य ३.८।
४. भोजवृत्ति ३.३८।
५. व्यासभाष्य ४.१६।

योग्यता के कारण विभु मानते हैं।[१] ऐसा न मानने पर जो कैवल्यावस्था में चित्त का स्वकारण में प्रविलय माना है वह भी नहीं बन सकेगा।[२] क्योंकि उस अवस्था में एक चित्त के ही समस्त शरीरों से सम्बद्ध होने के कारण यदि चित्त का प्रविलय होगा, तो सारे ही पुरुषों को कैवल्य की सिद्धि हो जाएगी, तथा संसार का उच्छेद हो जाएगा; और यदि चित्त का प्रविलय नहीं होगा, तो संसार कुशल-अकुशल सिद्ध-असिद्ध सब के लिए बना ही रहेगा। फलतः इस योगशास्त्र में जो कैवल्य का उपदेश प्रतिपादित किया गया है, वह किसी भी पुरुष का कैवल्य संभव न हो सकने से असिद्ध और व्यर्थ हो जायेगा। अतः चित्तों को प्रति शरीर नियत एक देशी असंख्य मानते हुए सृष्टि का परम सात्त्विक और सूक्ष्मतम तत्त्व होने के कारण अखिल विश्व के किसी भी पदार्थ को प्रकाशित करते की सामर्थ्य वाला और इसी कारण विभु भी माना गया है, जो युक्तिसंगत है, आकाशादि की भाँति सर्वत्र विद्यमान होने से नहीं। यही श्री पी० एन० मुकर्जी की भी मान्यता है।[३]

चित्तवृत्ति का यह संकोच विकास भी स्वाभाविक नहीं है, अपितु वह धर्म अधर्म वैराग्य-अवैराग्य ऐश्वर्य-अनैश्वर्य ज्ञान-अज्ञानादि निमित्तों की अपेक्षा से होता है। ये धर्मादि निमित्त भी दो प्रकार के हैं : बाह्य और आध्यात्मिक। उनमें शरीर इन्द्रिय धन आदि बाह्य साधनों से होने वाले स्तुति दान अभिवादन आदि कहलाते हैं और बाह्य साधनों से निरपेक्ष केवल चित्त के द्वारा सम्पादित होने वाले श्रद्धा वीर्य स्मृति समाधि और प्रज्ञा और वैराग्य आदि आध्यात्मिक निमित्त हैं। ऐसा ही पंचशिखाचार्य का मत है। मैत्री आदि योगियों के आचरण शरीरादि बाह्य साधन निरपेक्ष हैं, और अत्युच्च कोटि के कुशल धर्म को उत्पन्न करने वाले हैं। इन दोनों प्रकार के निमित्तों में से मानस अथवा आध्यात्मिक निमित्त अधिक बलशाली हैं। ज्ञान और वैराग्य से अधिक प्रबल कोई भौतिक साधन नहीं है, क्योंकि मानस बल के बिना दण्डकारण्य को शून्य करना अथवा अगस्त्य मुनि के समान समुद्र का पान करना इत्यादि केवल शारीरिक बल से कौन कर सकता है।[४] तात्पर्य यह है कि जो यज्ञ हवन कथा कीर्तन दान दीक्षा पठन-पाठन आदि कर्म हैं, वे शारीरिक आदि बल को बढ़ाने वाले साधन हैं, किन्तु मानस बल को बढ़ाने वाले श्रद्धा वीर्य स्मृति समाधि प्रज्ञा ऐश्वर्य ज्ञान वैराग्यादि सूक्ष्म एवं अलौकिक साधन हैं, उनके अनुष्ठान से योगी को

---

१. द्रष्टव्य सूत्र भाष्य और वृत्ति० ३.१६.२०, ४.४, १५, १६, २१।
२. (क) व्यासभाष्य २.१०। (ख) भोजवृत्ति २.१०।
३. योग फिलासफी आफ पतंजलि। ४.१०। पृ० ३६५।
४. व्यासभाष्य ४.१०।

अनुल्लंघनीय बल प्राप्त हो जाता है। इसी बल से शुक्राचार्य ने दण्डक वन के एक राजा द्वारा घोर अपराध करने पर राज्य पर कोप करते हुए सात दिन तक लगातार ओलों की वर्षा के द्वारा दण्डकारण्य को निर्जन कर दिया था तथा अगस्त्य ने जो सम्पूर्ण समुद्र को पी लिया था शरीरिक बल के द्वारा ये कार्य असम्भव ही है।

वासनाओं को सूत्रकार ने अनादि बताया है, किन्तु इससे यह शंका नहीं करनी चाहिए कि जो पदार्थ अनादि होता है, उसके अनन्त होने से वासनाओं का कभी अन्त न हो सकेगा। फलतः वासनाओं से छुटकारा न मिलने से मोक्ष भी न हो सकेगा। क्योंकि वासनाएँ अनादि हैं, तथा हेतु फल आश्रय और आलम्बन के अभाव में उनका भी अभाव हो जाता है।[1] वासनाओं की उत्पत्ति का मूल हेतु अविद्या है और अविद्या के अभाव से सम्यक् ज्ञान का उदय होने पर स्वतः इनका अभाव हो जाता है। अविद्या से ही राग द्वेषादि तथा सुखोपभोग की लिप्सा उत्पन्न होती है। भोज और व्यास दोनों ही वासनाओं का मुख्य हेतु अविद्या को मानते हैं। व्यास ने अविद्या को एक अभिनेत्री के रूप में चित्रित किया है, जो एक छः अरों वाले संसार चक्र को निरन्तर घुमा रही है। तदनुसार अविद्या से राग द्वेष की उत्पत्ति होती है। राग द्वेष जीव को प्रयत्न करने में बाध्य करते हैं। रागवश होकर जीव किसी पर अनुग्रहरूप धर्म करता है, तो द्वेष वश होकर किसी की हानिरूप अधर्म करता है। धर्म और अधर्म से सुख और दुःख की उत्पत्ति होती है। सुख से राग जन्म लेता है, तो दुःख से द्वेष का उदय होता है। राग द्वेष से पुनः धर्म अधर्म पुनः धर्म अधर्म से सुख दुःख, इस प्रकार यह संसार चक्र दिनरात अव्याहत गति से असंख्यात जीवों को भ्रान्त किए हुए चल रहा है।[1] वही इन वासनाओं का आश्रय या उत्पत्ति स्थान है। संसार के समस्त विषय इन वासनाओं के आलम्बन हैं। अतः जब तक वासनाओं के हेतु फल आश्रय और आलम्बन ये चारों विद्यमान हैं, तभी तक वासनाएँ रहती हैं और अविद्या सुख दुःख में आसक्ति उत्पन्न करती हैं। ज्ञान और वैराग्य के उदय से वासनाएँ मिट जाती हैं। यहाँ यह स्मरणीय है अहंकार को वासनाओं का आधार कहा है, किन्तु वासनाओं का आधार वही अहंकार है, जिसमें विवेकख्याति का उदय नहीं हुआ है। विवेक ख्याति युक्त अहंकार में वासनाएँ उदित नहीं हो सकती।

इस प्रसंग में यह शंका नहीं करनी चाहिए की एक सूत्र में सूत्रकार ने वासनाओं का अनादित्व प्रतिपादित किया है और अन्यत्र सूत्र में उनका अभाव होना स्वीकार कर लिया।[2] यदि अनादि वस्तु का भी अभाव हो सकता हो, तो पुरुष

---

१. व्यासभाष्य ४.११।

२. योगसूत्र ४.१०-११।

का भी अभाव हो सकता है। इसका समाधान यह है कि—क्योंकि अनादित्व भी दो प्रकार से होता है; एक स्वरूप से और दूसरा प्रवाह से—जो स्वरूप से अनादि होता है, उस पदार्थ का कभी नाश नहीं होता; किन्तु जो प्रवाह से अनादि होता है, उसके कारण में लय भाव को प्राप्त हो जाने को नाश होना कहते हैं। पुरुष स्वरूप से अनादि है, अतः उसका नाश संभव नहीं है, किन्तु वासनाएँ प्रवाह से अनादि हैं, जो हेत्वादि के परिणाम स्वरूप उदित होती हैं; अतः उन हेत्वादि चारों के तिरोभूत हो जाने पर वासनाओं का अभाव हो जाता है।

सांख्य योग दर्शन के अनुसार कारण में कार्य का आविर्भाव तिरोभाव होता है, सर्वथा नाश नहीं होता है। अतः भूत और भविष्यत् वस्तु भी कारण में अपने स्वरूप से विद्यमान ही रहती हैं, केवल धर्मों के काल का भेद होता है।[1] तात्पर्य यह है कि यद्यपि एक ही वस्तु में अतीतता वर्तमानता और अनागतता तीनों धर्म विद्यमान रहते हैं, किन्तु इन विरुद्ध धर्मों का एक ही काल में समान अस्तित्व नहीं हो सकता; अतः जिस काल में घट वर्तमान होता हुआ वर्तमानतारूप धर्मवाला होता है, उस काल में वर्तमानतारूप धर्म तो वर्तमानकालिक होता है, परन्तु अतीततारूप धर्म वर्तमान काल वाला नहीं होता। इसी प्रकार अनागतता धर्म अनागतकालिक अर्थात् अनागतकाल वाला होता है, वर्तमान काल वाला नहीं होता और न अतीत काल वाला होता है। भाष्यकार के अनुसार धर्मों में विद्यमान ये भूत भविष्यत् और वर्तमान धर्म योगी के परप्रत्यक्ष के विषय हैं। यदि पदार्थों में अतीत और अनागत धर्मों की विद्यमानता नहीं मानी जाए, तो योगी को त्रैकालिक पदार्थ विषयक योगज प्रत्यक्षज्ञान नहीं हो सकेगा। क्योंकि विषय की सत्ता के बिना प्रत्यक्ष ज्ञान का होना संभव नहीं है, अतः अतीत अनागत धर्मों की विद्यमानता को मानना ही पड़ता है और यही सांख्य और योग का सिद्धांत है।[2] वृत्तिकार भोज भी विभिन्न वासनाओं और उसके फल के भेद होते हुए भी चित्तरूपी धर्मों का मोक्ष पर्यन्त एक रूप बना रहना मानते हैं। ये भूत और भविष्यत् में विद्यमान धर्म अपने काल में स्थित हुए स्वरूप को नहीं छोड़ते, जब ये वर्तमान काल में रहते हैं तभी भोग के योग्य बन पाते है। अतीत और अनागत में ये सूक्ष्मरूप में अव्यक्त भाव से रहते हैं और वर्तमान में स्थूलरूप में व्यक्त भाव से।[3]

योगदर्शन में ईश्वर का स्वरूप—ईश्वर अविद्या आदि पाँच क्लेशों पुण्य अपुण्य पुण्यापुण्यादि तीन प्रकार के कर्मों सुख दुःख जाति आयु आदि विपाकों

---

१. योगसूत्र ४.१२।
२. व्यासभाष्य ४.१२।
३. भोजवृत्ति ४.१२।

और संस्काररूप आशय से विनिर्मुक्त है।[1] सूत्रकार ने यहाँ पर ईश्वर का लक्षण करते हुए उसे कर्म क्लेश विपाक और आशय से विनिर्मुक्त या अछूता बताया है, अतः यह शंका होती है कि सूत्रकार को यह कहने की तो आवश्यकता ही नहीं थी। क्योंकि क्लेश कर्म विपाक ओर आशय आदि तो चित्त के धर्म हें, इनसे अछूता तो पुरुष तत्त्व भी है। पुनः पुरुषों से विशेष ईश्वर तत्त्व का स्वरूपाख्यान करते हुए उसे इसी आधार पर अन्य सब पुरुषों से विलक्षण प्रतिपादित करना है कि उसका क्लेशादि से संपर्क नहीं होता, उचित नहीं है। इस आशंका का समाधान यह है कि ये क्लेश आदि यद्यपि चित्त में ही वर्तमान है, फिर भी इनका आरोप पुरुष में ही किया जाता है, क्योंकि वह पुरुष तत्त्व ही अविवेकवश चित्त को अपना स्वरूप समझकर बद्ध होकर सुख दुःखादि का भोक्ता होता है। जैसे लोक में सेनाओं के जीत जाने से उनके राजा की जीत तथा सेनाओं के परास्त हो जाने से उनके राजा की हार होती है। क्योंकि सेनाओं के साथ राजा का स्व-स्वामिभाव सम्बन्ध है, और इसी कारण राजा ही उस जयपराजय से उत्पन्न सुख दुःख का भोक्ता होता है। इसी प्रकार चित्त और पुरुष का भी स्वस्वामिभाव सम्बन्ध होने से चित्तगत क्लेश कर्म विपाक और आशय का आरोप पुरुष में होता है। अतः इस आशय से पुरुष को क्लेशादि से परामृष्ट और ईश्वर तत्त्व को क्लेशादि से अपरामृष्ट और पुरुषविशेष कहा गया है।

वह मुक्त पुरुष से भी विशेष है—यहाँ पुनः यह आशङ्का होती है कि बद्ध पुरुष का क्लेशादि से प्रातिभासिक सम्बन्ध होने से ईश्वर को बद्ध जीवों से विशेष कहना तो युक्त ही है, किन्तु मुक्त जीव जो कि क्लेशादि के कारणभूत वृत्तिसारूप्य से ऊपर-उठकर स्वरूप में प्रतिष्ठा लाभ कर चुके हैं, वे भी पुरुष ही हैं, उनसे तो ईश्वर विशेष नहीं है। पुनः सूत्रकार ने ईश्वर को मुक्त पुरुष ही क्यों नहीं कह दिया ? इसका उत्तर यह है कि यद्यपि मुक्त पुरुषों का वर्तमान काल में क्लेशादि से सम्बन्ध नहीं है, तथापि बन्धनों से मुक्त होने से पूर्व उनका क्लेशादि से सम्बन्ध था; किन्तु ईश्वर का सम्बन्ध उन क्लेशादिकों से न वर्तमानकाल में है, न भूतकाल में था और न कभी भविष्यत्काल में होगा, अतः वह नित्यमुक्त है, यह कहना उचित ही है; जब कि मुक्ति को प्राप्त पुरुष नित्य मुक्त नहीं है। इसलिए वह ईश्वर मुक्त पुरुषों से भी विशेष है।[2]

वह प्रकृतिलीन या विदेह भी नहीं है—इसी प्रकार विदेह और प्रकृतिलीनों

---

१. योगसूत्र १.२४। २. योगभाष्य १.२४।

का भी तत्तत् अवस्था की प्राप्ति से पूर्व क्लेशादि से सम्बन्ध था तथा पुनरावृत्ति के बाद भी उनका सम्बन्ध क्लेशादि से होगा, किन्तु ईश्वरतत्त्व नित्य मुक्त होने से उनसे भी विशेष है।[1]

अणिमादि सिद्धियों को प्राप्त योगी से भी विशेष है—ईश्वरतत्त्व भूतजय को प्राप्त ऐश्वर्यों से युक्त सिद्ध योगी से भी विशेष है; क्योंकि प्रथम तो योगी को उन ऐश्वर्यों की प्राप्ति किसी कालविशेष में हुई है, अतः प्राप्ति से पूर्व योगी ईश्वर नहीं था, किन्तु ईश्वर को वे समस्त ऐश्वर्य नित्य सिद्ध हैं, किसी काल विशेष में सिद्ध नहीं हुए; अतः वह नित्य ऐश्वर्यवान् अथवा ईश्वर है, जब कि ऐश्वर्य प्राप्त योगी सदा ईश्वर नहीं है।[2]

दूसरी बात यह है कि सिद्ध योगी को प्राप्त ऐश्वर्य ईश्वर के ऐश्वर्य के समकक्ष नहीं होते, अपितु अत्यल्प ही होते हैं। इस विश्व में जितने भी योगी आज तक हुए हैं, और होंगे उन सब का ऐश्वर्य एकत्र होकर भी ईश्वरतत्त्व के ऐश्वर्य के समक्ष नगण्य ही है। इसी तथ्य को भाष्यकार ने इस प्रकार कहा है कि उसका ऐश्वर्य साम्य और अतिशय से मुक्त है, न कोई अन्य उसके समान ऐश्वर्यशाली है, न अधिक। इसलिए जिसमें ऐश्वर्य की पराकाष्ठा या चरमसीमा है, वही ईश्वर है। यदि ईश्वर के सत्य संकल्पादि ऐश्वर्य के समान किसी अन्य योगी का ऐश्वर्य मान लिया जाए, तो जिस योगी का ऐश्वर्य ईश्वर के ऐश्वर्य के तुल्य माना जाएगा, वह भी ईश्वर ही हो जाएगा। दो समान ईश्वरों के मानने में उनमें अभिप्राय का भेद होने से सृष्टि का कोई भी कार्य नहीं चल सकेगा; अथवा एक चाहे कि नई सृष्टि हो, दूसरा चाहे कि पुरानी ही रहे, इस प्रकार के विरुद्ध संकल्पों की उपस्थिति होने पर जिसकी इच्छा का विघात होगा—उसी का ऐश्वर्य कम माना जाएगा। यदि किसी की भी इच्छा का विघात नहीं होगा, तो कार्य की सिद्धि ही न हो सकेगी; अतः जिसका ऐश्वर्य समता और अधिकता से विर्निमुक्त है, वही अन्य सब पुरुषों से विशेष है।[3]

ईश्वर के ऐश्वर्य की सर्वोच्चता के विषय में उपनिषदों में भी ऐसा ही वर्णन मिलता है कि ईश्वर के निरवयव होने से न कोई महत्तत्त्वादि तत्त्वान्तर उसका कार्य है, और न उसका अन्य कोई (प्रधानादितत्त्व) कारण ही है। न कोई उसके समान देखा जाता हैं, नहीं कोई उससे अधिक है। उसकी शक्ति नाना प्रकार की है। उस परमेश्वर में अनन्त ज्ञान और अनन्त बल और अनन्त

---

१. योगभाष्य १.२४।
२. वही १.२४।
३. वही १.२४।

क्रिया स्वभावसिद्ध ही है।[1]

यहाँ यह शंका हो सकती है कि ईश्वर को न मानकर प्रधान अथवा मूल प्रकृति का ही पुरुष के भोगापवर्गरूप प्रयोजन के सम्पादन में स्वयं प्रवृत्त होना क्यों न मान लें। तो इसका उत्तर यह है कि जिस प्रकार चेतन चालक की प्रेरणा के बिना मोटर गाड़ियाँ आदि नहीं चल सकती, उसी प्रकार चेतन परमेश्वर की प्रेरणा के बिना जड़ प्रकृति भी पुरुषार्थ सिद्धि नहीं कर सकती, अतः प्रकृति के प्रेरक ईश्वर का अस्तित्व अनुमान प्रमाण से सिद्ध है। यद्यपि यह प्रश्न हो सकता है कि चेतन तथा अपरिणामी तत्त्व ईश्वर में ज्ञान तथा प्रेरणादि क्रियारूप परिणाम का होना असंभव है, क्योंकि ज्ञानादि क्रिया रजोगुण और तमोगुण रहित विशुद्ध चित्त का धर्म है। नित्य मुक्त ईश्वर का स्वस्वामिभाव सम्बन्ध भी असंभव सा ही है, क्योंकि सम्बन्ध अविद्या प्रयुक्त होता है। अविद्या के क्लेश रूप होने से उसका क्लेश कर्म विपाक और आशय से अपरामृष्ट ईश्वर में सद्भाव स्वीकार नहीं किया जा सकता, अतः इस दृष्टि से प्रकृति के प्ररेक के रूप में ईश्वर की मान्यता युक्तियुक्त नहीं है, यह क्यों न स्वीकार किया जाए ? इस आशङ्का का उत्तर यह है कि जिस प्रकार जीव पुरुष का चित्त से स्व-स्वामिभाव सम्बन्ध अविद्या प्रयुक्त है, वैसे सर्वज्ञ ईश्वर का स्वचित्त से स्वस्वामिभाव सम्बन्ध अविद्या प्रयुक्त नहीं है। किन्तु वह पुरुष विशेष को निर्भ्रान्त रूप से जानता हुआ ही वेदोपदेश के द्वारा नानाविध क्लेशों के जाल में फंसे हुए जीवों का उद्धार करने के लिए और प्रकृति को प्रेरित कर संसार की रचना करने के लिए विशुद्धतम सत्त्वरूप चित्त को धारण करता है। अतः उस ईश्वर में परिणामित्व आदि दोष तथा ज्ञान क्रिया आदि की संभावना नहीं हो सकती। स्मरणीय है कि परिणामित्व का प्रयोजक अज्ञानजन्य चित्त और पुरुष का सम्बन्ध है। उसके विपरीत ईश्वर और चित्त का सम्बन्ध आहार्यरूप ज्ञानपूर्वक है, अतएव जीव (पुरुष) में चित्त को धारण करने में जो दोष उत्पन्न होते हैं, वे सर्वज्ञ परमात्मा में नहीं होते, अतः ईश्वर तथा चित्त का सम्बन्ध अविद्या प्रयुक्त नहीं है और न ही ईश्वर स्वचेतना के संवेग से चेतन से बने हुए अपने विशुद्ध सत्त्व को जीव की भाँति अविवेकवश अपना स्वरूप समझता है; क्योंकि उसमें सर्वज्ञता का बीज अतिशय से रहित है।[2] अविद्या सम्पर्क का दोष वहाँ पर आता है, जहाँ संयोग अविद्याजन्य हो, किन्तु परमात्मा जीव की भांति अविद्या के स्वरूप को न जानता हुआ, अविद्या का सेवन नहीं करता। न उसे कभी भ्रान्ति या अविवेक ही छू सकता है। जैसे

---

१. श्वेताश्वतर ६.८।   २. योगसूत्र १.२५।।

अभिनेताजन ज्ञानपूर्वक रामकृष्णादि के भावों का आरोप कर अनेकविध अभिनय करके भी भ्रान्त नहीं होते वैसे ही ईश्वर का प्रेरकत्व भी जानना चाहिए।

जब एक देहधारी सिद्ध योगी क्लेश कर्मादि के विवेकख्याति से दग्ध हो जाने पर समस्त कार्यो को करता हुआ भी अविद्यादि क्लेशों से निर्लिप्त तथा जीवन्मुक्त रह सकता है, तो नित्य सिद्ध परम योगी परमात्मा के चित्त के साथ सम्बद्ध होने को अविद्याप्रयुक्त मानना अज्ञानमूलक ही है। विवेकख्याति को प्राप्त योगी का ज्ञान निरतिशय सर्वज्ञ ईश्वर के ज्ञान के समक्ष महासागर के समक्ष बिन्दुमात्र ही होता है, यही ईश्वर की सर्वज्ञता की निरतिशयता है। इस निरतिशयता को भोज ने इस प्रकार स्फुट किया है–जैसे अणु परिमाणधर्म परमाणु में काष्ठा को प्राप्त होकर रहता है, तथा महत्परिमाण धर्म द्व्यणुक, त्र्यणुकादि में भी विद्यमान रहता है, किन्तु परममहत् आकाश में वह निरतिशयता को प्राप्त होता है, इसी प्रकार चित्त के ज्ञानादिक धर्म बढ़ते हुए जहाँ सर्वज्ञता को प्राप्त होते हैं, वह ईश्वर है।[1] तात्पर्य यह है कि ज्ञान का बीज योगियों के चित्त में भी वर्तमान रहता है और इसी कारण एक योगी का ज्ञान दूसरे से, दूसरे का तीसरे से न्यूनाधिक होता है तथा इसी कारण योगियों की सर्वज्ञता सातिशय कही जाती है, किन्तु जिस में निरतिशय सर्वज्ञता है, वह एकमात्र परमेश्वर ही है, अन्य कोई नहीं। अतः यद्यपि पूर्ण योगी भी अन्य जीवों की अपेक्षा ऐश्वर्यशाली तथा सर्वज्ञ कहे जाते हैं, किन्तु परमेश्वर की अपेक्षा वे भी अनीश्वर और अल्पज्ञ ही होते हैं। इसी लिए श्रुति ने कहा है कि ईश्वर और अनीश्वर (पुरुषविशेष और पुरुष) दोनों अजन्मा हैं, वे सर्वज्ञ तथा अल्पज्ञ हैं, निश्चय ही यह एक प्रकृति भी अनुत्पन्न है और भोक्ता पुरुष के भोग के प्रयोजन से युक्त है, और अनन्त परमेश्वर विश्वरूप है तथा (प्रेरणा करता हुआ भी) अकर्ता है। जब मनुष्य इन तीनों को पृथक् पृथक् जान लेता तब वह ब्रह्मपद को प्राप्त करता है।[2]

यहाँ यह आशंका हो सकती है कि जब परमात्मा आप्तकाम, सर्वज्ञ एवं पूर्ण ऐश्वर्यशाली है, तो वह सृष्टि रचना के लिए प्रेरणा कैसे करता है, क्योंकि प्रेरणा इच्छा के बिना नहीं होती और आप्तकाम में इच्छा का होना संभव नहीं है, और क्योंकि इच्छा किसी अप्राप्त वा उत्तम वस्तु के लिए होती है। आप्तकाम ईश्वर में प्रेरणा के मूल इच्छा का भी अभाव है, फिर सृष्टि रचना कैसे होगी ?

वस्तुतः यह शंका उचित नहीं है। क्योंकि प्रेरणा के लिए इच्छा की

१. भोजवृत्ति १.२५।।

२. श्वेताश्वतर १.६

आवश्यकता नहीं है, अपितु ईश्वर का जो ईक्षण अर्थात् सब प्रकार के ज्ञान से प्रयुक्त होकर विशुद्धतम चित्तसत्त्वरूप उपाधि को धारण करना है, वही सृष्टि रचना में प्रकृति को (परिणाम के उदय के द्वारा) समर्थ कर देता है। इसमें भी ईश्वर का अपना कोई प्रयोजन न होकर जीवों के उद्धार का संकल्प ही कारण होता है। जैसे लोक में कोई पुरुष यह इच्छा कर के निद्रित होता है कि मैं प्रातः अमुक समय उठकर अपने अमुक कार्य करूँगा तो उस संकल्प के अनुसार ही उसकी निद्रा भंग होकर स्वतः जागरण हो जाता है। वैसे ही सृष्टि से पूर्व प्रलय और प्रलय से पूर्व सृष्टि—इस प्रकार सृष्टि प्रवाह के अनादि होने से जब सृष्टि काल अन्तिम चरण में होता है, तब ईश्वर इस संकल्प से कि जब प्रलय की अवधि समाप्त होगी तो मैं विशुद्ध सत्त्वमय चित्त को धारण करूँगा, ऐसा संकल्प करके स्वरूपावस्थित हो जाता है, और उसका विशुद्ध चित्त प्रकृति में लीन हो जाता है। जब प्रलय काल की अवधि समाप्त हो जाती है, तब उसी सत्यसंकल्प के प्रभाव से फिर विशुद्ध चित्त को धारण करता है। जैसे पूर्व पूर्व के बीज उत्तर उत्तर के अंकुर का तथा पूर्व पूर्व के अंकुर उत्तर उत्तर के बीज का कारण होते हैं, वैसे ही पूर्व पूर्व सृष्टि का ईश्वर का विशुद्ध चित्त सत्त्व को धारण करने का संकल्प, उत्तर-उत्तर के विशुद्ध चित्त धारण करने का तथा पूर्व पूर्व विशुद्ध चित्त को धारण करना उत्तर उत्तर के जीवोद्धार के संकल्प का कारण होता है।[1] इस प्रकार अन्योन्याश्रय दोष भी नहीं आता और सृष्टि के प्रवाह से अनादि होने से ईश्वर के सत्त्व तथा शास्त्रज्ञान की अनादिता भी सिद्ध हो जाती है।[2]

सर्वस्वामित्व :—(ईश्वर समस्त ब्रह्माण्ड का स्वामी है) जिस प्रकार शरीर में चेतन पुरुषतत्त्व से संयुक्त चित्त के होने से धातु-निर्माण आदि समस्त क्रियाओं का सद्भाव होता है, उसी प्रकार चेतन परमेश्वर तत्त्व के द्वारा संसार की रचना, स्थिति और प्रलय तथा जीवों के कर्मों के अनुसार उन्हें विभिन्न शरीरों में भेजना आदि समस्त कार्य अधिष्ठित होते हैं, अतः ब्रह्माण्ड के स्वामी परमेश्वर ही हैं, यह स्वीकार किया जाता है। यदि पुरुषतत्त्व के संयोग से जड़ प्रकृति में चेतना का संचार होकर समस्त तत्त्वान्तर तथा विश्वभूतों की उत्पत्तिरूप कार्य की सिद्धि मानी जाए, तो वह इसलिए युक्त नहीं होगा कि पुरुषतत्त्व अनेक हैं, जिनमें किसी एक का सामर्थ्य इन उपर्युक्त कार्यों के करने का नहीं है। साथ ही जो पुरुष विवेकख्याति द्वारा अपने स्वरूप को जान लेते हैं, उनके प्रति यह प्रकृति विरतव्यापार होकर अन्यों की भी साझे की वस्तु होने के कारण केवल बद्ध जीवों के लिए ही भोगादि का सम्पादन करती है।

---

१. व्यास भाष्य १.२५।। २. वही १.२४।।

तथा तुल्य अनेक स्वामियों के होने से कार्य की सिद्धि भी नहीं होती–यह चर्चा पूर्व हो चुकी है। अतः अखिल ब्रह्माण्ड और समस्त जीवों का स्वामी तथा कर्माध्यक्ष एक मात्र पुरुष विशेष ईश्वर ही है, किन्तु कर्मों का फलादि सम्पादन करने का कार्य करने में ईश्वर कोई साक्षात् हेतु नहीं है, अपितु जिस प्रकार संसार में अपराधी जीवों के कर्म फल का निर्णय न्यायाधीश का आत्मा नहीं करता, अपितु न्यायाधीश के शरीरगत चेतन पुरुष से संयुक्त बुद्धितत्त्व ही करता है; इसी प्रकार जीवों के कर्मानुसार फल का सम्पादन भी ईश्वर तत्त्व से संयुक्त विशुद्धतम बुद्धिसत्त्व ही करता है, ईश्वरतत्त्व वस्तुगत्या नहीं करता। यद्यपि कर्मानुसार ही कर्मफल का निर्णय होता है, किन्तु कर्म जड़ होने से बिना चेतन के संयोग के फल प्रदान करने में असमर्थ हैं और न ही अविद्या प्रयुक्त चित्तोपाधि वाले जीव उनका निर्णय कर स्वेच्छा से दुःख योनियों में जाना पसन्द कर सकते हैं।

इसके अतिरिक्त भाष्यकार व्यास एवं राजमार्त्तण्ड वृत्तिकार भोज आदि ने समस्त कर्मों को परमेश्वर के अर्पण करना ही ईश्वर प्रणिधान माना है।[1] इस मान्यता में भी परमेश्वर का कर्माध्यक्ष तथा कर्मफल निर्णायक होना प्रतीत होता है। सृष्टि के आदि में वेदों का ज्ञान भी ईश्वर स्व विशुद्ध चित्त सत्त्व के विभु होने से ऋषियों के अन्तःकरण में प्रगट करता है, जो प्रेरणा के अतिरिक्त अन्य रूप में नहीं हो सकता; अतः ईश्वर निज भक्तों का कल्याण अपनी सात्त्विक प्रेरणाओं द्वारा ही करता है। इसीलिए सूत्रकार ने उसे पूर्वकाल में उत्पन्न हुए (ब्रह्मादि ऋषियों) का भी गुरु कहा है। श्वेताश्वतरोपनिषद में उसके प्रेरयिता तथा कर्माध्यक्ष होने का बड़ा सुन्दर वर्णन किया है। तदनुसार 'जन्म-जन्मातर में आने वाला जीवात्मा इस पूर्व वर्णित सर्वजीवनस्थान सर्वाश्रय महान् ब्रह्मचक्र में कर्मानुसार भ्रमण करता है। अपने आत्मा को और आत्मा के भी प्रेरक उस ईश्वर को पृथक् जान कर उसकी दया का पात्र होकर पुरुष मोक्ष प्राप्त कर लेता है। जो भगवान् सृष्टि के आदि में ब्रह्मा को रचता है और उसके लिए वेदों को प्रदान करता है। उस आत्मज्ञान के प्रकाशभूत, सब के आश्रय देव को मैं मोक्षाभिलाषी प्राप्त होता हूँ। एक ही देव सब भूतों में वसा हुआ, छिपा हुआ, सर्वत्र विद्यमान समस्त पुरुषों का अन्तरात्मा, कर्मों का फल दाता, सब पृथिव्यादि भूतों में रहने वाला, संसार का साक्षी, निर्द्वन्द्व और सत्त्व, रजस्, तमस् आदि गुणों से रहित है।'[2]

---

१. (क) व्यासभाष्य ३.३२।।   (ख) भोजवृत्ति २.१।

२. श्वेताश्वतर उ० १.६। ६.१८, २१।।

भोज ने परमेश्वर की इच्छा को ही पुरुष प्रकृति के संयोग का कारण माना है, तथा परमेश्वर को संकल्प मात्र से समस्त जगत् का उद्धार करने में सक्षम स्वीकार किया है।[१] किन्तु भाष्यकार ने ईश्वर के सृष्टि कर्तृत्व का सीधा वर्णन नहीं किया। हाँ, भाष्य में अणिमादि अष्ट सिद्धियों के वर्णन के प्रसंग में ईशित्व सिद्धि के व्याख्यान में योगी का भूत, भौतिकों की उत्पत्ति स्थिति और विनाश में समर्थ होना तथा यत्रकामावसायी योगी के संकल्प के अनुसार ही भूत प्रकृतियों के स्थित रहने के उल्लेख से यह स्पष्ट संकेत मिल जाता है कि भाष्यकार भी ईश्वर के संकल्प से ही जगत् की उत्पत्ति स्थिति और प्रलय का होना स्वीकार करते हैं।[२]

ईश्वर मोक्ष दाता है :–योगदर्शन में कैवल्य तथा असम्प्रज्ञात समाधि का वर्णन लगभग मिलता जुलता ही है, क्योंकि चित्तवृत्ति निरोधरूप असम्प्रज्ञात योग में द्रष्टा पुरुष का अपने चिन्मात्र स्वरूप में अवस्थान हो जाना सूत्रकार को अभिमत है।[३] तथा मोक्ष में भी चितिशक्ति की स्वरूप प्रतिष्ठा ही बतलाई गई है।[४] असम्प्रज्ञात समाधि का वर्णन करते हुए सूत्रकार ने उसकी प्राप्ति का सरल उपाय ईश्वर प्रणिधान को माना है।[५] जिसका वर्णन करते हुए व्यास ने कहा है कि भक्ति विशेषरूप ईश्वर-प्राणिधान से प्रसन्न हुआ ईश्वर साधक को अपनी कृपा से अनुगृहीत करता है, इस कृपा के प्रभाव से ही असम्प्रज्ञात समाधि और इसका (कैवल्यरूप) फल साधक के अति निकट आ जाता है। इस प्रकार भाष्यकार के अनुसार ईश्वर की मात्र कृपा भी योगी को असम्प्रज्ञात समाधि तथा मोक्ष तक अति शीघ्र पहुँचा देती है। वस्तुतः यही उस ऐश्वर्य और ज्ञान के भण्डार परमेश्वरतत्त्व का अनुग्रह है। इसीलिए क्रियायोग और अष्टांगयोग में भी सूत्रकार ने साभिप्राय ईश्वरप्रणिधान का विधान किया है और समाधि की सिद्धि का मुख्य हेतु ईश्वर-प्रणिधान को माना है।[६] मानों–किसी भी कोटि के अभ्यासी को ईश्वर प्रणिधान के बिना समाधि तथा उसके अमृतफल कैवल्य की प्राप्ति हो जाना सूत्रकार को स्वीकार नहीं है। इसी तथ्य को दूसरे शब्दों में हम इस प्रकार कह सकते हैं कि मोक्ष धाम के अन्दर पग रखने के लिए भक्ति विशेष से परमेश्वर को प्रसन्न कर उससे अनुमति लेनी परमावश्यक है। इसके बिना योग के अन्य समस्त अंगोपांग भी योगी को मोक्ष के एकमात्र द्वार समाधि तक नहीं पहुँचा सकेंगे। अतः योग परम्परा में ईश्वर ही मोक्ष

---

१. भोजवृत्ति १.२४।
२. व्यासभाष्य ३.४५।
३. योगसूत्र १.३।
४. वही ४.३४।
५. व्यासभाष्य १.२३।।
६. योगसूत्र २.४५।

प्रदाता है और मोक्ष का सबसे सरल तथा राजमार्ग सर्वतोभावेन उस परमात्म देव की शरणागति से अन्य और कोई उपाय नहीं है। गीता में भी यही भावना योगेश्वर कृष्ण द्वारा अर्जुन को दिए गए इस आश्वासन में पायी जाती है कि जो व्यक्ति सारे कार्यों को सर्वतोभावेन मेरा आश्रय लेकर करता है, वह मेरी प्रसन्नता से सनातन अविनाशी परमपद को प्राप्त हो जाता है, इसलिए सब धर्मों और सम्पूर्ण कर्मों को त्याग कर केवल एकमात्र मुझ सच्चिदानन्दघन वासुदेव परमात्मा की ही अनन्य शरण को प्राप्त हो जा, मैं तुझे सम्पूर्ण पापों से मुक्त कर दूँगा, तू शोक मत कर।[१] ईश्वर प्रणिधान के अतिरिक्त ईश्वर वेदज्ञान दाता के रूप में भी मोक्ष प्रदाता है। अतः भोज ने भी मुक्ति को प्राप्त समस्त आत्माओं के क्लेशादि की निवृत्ति को ईश्वरोपदिष्ट शास्त्र द्वारा बताए गए उपायों से ही वर्णित किया है।[२]

वाचस्पति मिश्र ने ईश्वर तत्त्व का वर्णन करते हुए वायु पुराण के दो श्लोकों को उद्धृत किया है, जिनके अनुसार सर्वज्ञता, तृप्ति, अनादिज्ञान, स्वतन्त्रता, अलुप्त चेतना तथा अनन्तशक्ति ये ईश्वर के छः अङ्ग है और ज्ञान वैराग्य, ऐश्वर्य तपस् सत्य क्षमा धृति सृष्टिकर्तृत्व आत्मज्ञान और अधिष्ठातृत्व ये दस गुण उसमें अव्यय भाव से सदा विद्यमान रहते हैं।[३]

वृत्तिकार और भाष्यकार ने कल्प प्रलय तथा महाप्रलय दोनों का वर्णन किया है। ज्ञातव्य है कि एक सौर मण्डल में जो एक सूर्य के चारों ओर परिभ्रमण करने वाले ग्रह उपग्रहादिक हैं, उनकी आयु एक कल्प अर्थात् एक हजार चतुर्युगी अथवा चार अरब बत्तीस करोड़ वर्ष मानी गयी हैं। यह समय ब्रह्मा का एक दिन भी कहा जाता है। ब्रह्मा के दिन के डूबने पर एक सौर मण्डल का प्रलय हो जाता है। इसी प्रकार अपनी-अपनी आयु की समाप्ति पर अनेकानेक सौर मण्डल बनते और नष्ट होते रहते हैं। ब्रह्मा की पूरी आयु अर्थात् छत्तीस हजार कल्पों अथवा इकत्तीस नील दस खरब चालीस अरब वर्ष व्यतीत होने पर ब्रह्मा समेत पृथिवी आदि साधारण लोकों से लेकर ब्रह्मलोक पर्यन्त महाप्रलय होती है, जिसमें समस्त प्रकृति पूर्ण साम्यावस्था को प्राप्त हो जाती है।

निरीश्वरवादी आचार्य महाप्रलय को नहीं मानते; महाप्रलय को स्वरूपतः स्वीकार करने पर महाप्रलय के अनन्तर सृष्टि रचना के लिये ईश्वर को मानना अनिवार्य हो जाएगा, क्योंकि सिवाय ईश्वर और जीवों के अन्य सब जड़ पदार्थ

---

१. गीता १८।५६, ६६।।   २. भोजवृत्ति १.२४।
३. वायु पुराण १२.३१.१.६०।

परिणामी हैं। परिणाम दो प्रकार के होते हैं सदृश परिणाम और विसदृश परिणाम। मृत्तिका का घटरूप धारण करने पर पाकादि समस्त क्रियाओं से विसदृश परिणाम हो जाता है, पुनः उस घट के टूटने पर जो उसका कपाल, चूर्ण आदि क्रम से मृत्तिका भाव को प्राप्त करना है वह सदृश परिणाम कहलाता है। हर पदार्थ में सदृश विसदृश दोनों परिणाम होते हैं, अथवा जिस पदार्थ का सदृश परिणाम होता है, उसका विसदृश परिणाम भी होता है। प्रकृति का महदादिरूप में परिणत होना उसका विसदृश परिणाम कहलाता है, अतः उसका सदृश परिणाम होना भी अवश्यभावी है, और जो महत्तत्वादि का पुनः प्रकृतिभाव को प्राप्त करना रूप सदृश परिणाम है, वही महाप्रलय है। इस प्रकार प्राकृतिक नियमों से महाप्रलय की सिद्धि होती है। महाप्रलय के बाद जब पुनः सृष्टि का आरम्भ होगा तो साम्यावस्था में वर्तमान त्रिगुणात्मक प्रकृति में विषम परिणाम आरम्भ करने के लिए एक सर्वगत चेतनतत्त्व की सन्निधि परमावश्यक होगी, और वह सर्वत्र व्यापी ईश्वर से अतिरिक्त कोई नहीं हो सकता। इस प्रकार भोजवृत्ति और व्यासभाष्य में प्रयुक्त महाप्रलय शब्द से भी ईश्वरतत्त्व की सिद्धि होती है।

विशुद्ध चित्तसत्त्व से जो परमेश्वर का विवेकप्रयुक्त तथा भूतोद्धाररूप करुणामय प्रयोजन होता है, वह दो ही कार्यों की सिद्धि के लिए है : सृष्टि रचना स्थिति आदि की व्यवस्था करना और तापत्रयपीड़ित जीवों के उद्धारार्थ वेद ज्ञान देना। किन्तु इन दोनों ही कार्यों की सिद्धि के लिए परमेश्वर को संकल्पमात्र करना पड़ता है, अन्य कुछ नहीं। वेद आदि के ज्ञान का प्रदान भी परमेश्वर सृष्टि के आरम्भ में ही नहीं, अपितु मध्य में भी यदि योगी में पात्रता हो तो कर देता है। सूत्रकार ने जो परमेश्वर को पूर्व के गुरुओं का भी गुरु बताते हुए 'अपि' शब्द का प्रयोग किया है।[1] वह इसी अभिप्राय से कि पूर्व के ब्रह्मादिक ऋषियों का तो गुरु है ही, परन्तु अब के योगाभ्यासनिरत अभ्यासियों का भी है। ईश्वर के इसी गुरुत्व का प्रतिपादन करते हुए महाभारत में कहा गया है—'वह एक ही गुरु है, उससे अन्य कोई गुरु नहीं है। वह हर प्राणी के हृदयगुहा में विराजमान हो रहा है। उस गुरु से शासित होकर हृदय में रहने वाले (काम, क्रोध, लोभ, मोहादि) सारे दानव परास्त हो जाते हैं। वह एक ही मित्र है, उससे अन्य कोई नहीं। उस हृदयस्थ देव का ही मैं व्याख्यान कर रहा हूँ। उस बन्धु से शासित होने पर पाँच सूक्ष्म ज्ञानेन्द्रियाँ मन और बुद्धि ये सातों ऋषि आलोक से प्रदीप्त हो उठते हैं।[2]

---

१. योगसूत्र १.२६।

१. महाभारत आश्वमेध० अनु गीता। ६.२.३।

तात्पर्य यह है कि परमगुरु परमात्मा हर व्यक्ति के हृदय में विराजमान है, वह जिससे प्रसन्न होता है, उसी पर उसका यह संकल्प कि 'मेरे इस भक्त का कल्याण हो' उद्भूत होता है, परिणामतः परमेश्वर के शुद्ध संकल्प से योगी का चित्तसत्त्व प्रभावित होता है और रजस् तमस् के परिणामरूप अन्तरायों की निवृत्ति होकर चित्त का स्वभाव सिद्ध ज्ञान प्रगट हो जाता है। अभिप्राय यह है कि चित्त में वेद ज्ञान स्वतः सिद्ध है, परन्तु रजस् और तमस् के आवरण के ढक जाने के कारण प्रगट नहीं होता है, वही परमेश्वर के विशुद्ध सत्त्वगत संकल्प के प्रभाव से उदित हो जाता है, जैसा श्रुति ने कहा है कि जिस मेरे मन में ऋग्वेद यजुर्वेद और सामवेद इस प्रकार प्रतिष्ठित है जैसे रथ के पहिए मे आरे लगे रहते हैं और जिसमें सर्वज्ञ सर्वव्यापक प्रजा का साक्षी चित्त चेतन विदित होता, है वह मेरा मन अच्छे संकल्पों वाला हो।[1] इस मन्त्र में चित्त के अन्दर ऋग्वेद यजुर्वेद और सामवेद को प्रतिष्ठित बताया गया है।

ईश्वर के विशुद्ध सत्त्वमय चित्त और वेदज्ञान के अनादि और नित्य सम्बन्ध की चर्चा पूर्व पृष्ठों में हो चुकी है। वहाँ यह कहा जा चुका है कि ईश्वर का सम्बन्ध विवेक प्रयुक्त होने के कारण ईश्वर के विशुद्धचित पर कभी अज्ञान का आवरण नहीं पड़ता है और जीव के दूषित आचार विचार तथा अविद्यादि क्लेशों के कारण जीव का चित्तसत्त्व अज्ञानावृत हो जाता है, किन्तु ईश्वर के प्रति सर्वतोभावेन आत्मसर्पण कर देने पर जब ईश्वर उस जीव के कल्याणार्थ संकल्प करता है, तो ईश्वर के विशुद्ध चित्त से प्रभावित होकर योगी के चित्तसत्त्व का अनावरण होता चला जाता है। इसे ही मन्त्रदर्शन, ईश्वर प्रेरणा या प्रज्ञालोक की प्राप्ति कहा जाता है[1]। ईश्वर और पुरुष में एक अन्तर यह भी है कि नित्य सिद्ध परमात्मा जो सृष्टि का रचने वाला है[2] वह तो नित्य ईश्वर या सदैवेश्वर या परमेश्वर कहलाता है और दूसरे जो अणिमादि सिद्धियों को प्राप्त योगी लोग ईशित्वादि अष्ट ऐश्वर्यो की प्राप्ति से ईश्वर भाव सम्पन्न होकर ईश्वर हैं, वे पुरुष कहे जाते हैं। परमेश्वर को पुरुषविशेष और उसके अतिरिक्त अन्य सब चेतन प्राणियों को पुरुष कहते हैं। योगी अणिमा आदि ऐश्वर्यों को प्राप्त कर ईश्वर तो बन सकता है, किन्तु वह परमेश्वर नहीं बन सकता। योगाभ्यास से सिद्ध हुए ईश्वर स्वरूपावस्थिति में पहुँच कर चित्त से समस्त प्रारव्ध कर्मों तथा निरोधज संस्कारों का नाश कर लेने पर भी जो योगी निष्काम भाव से सर्वभूतहित का संकल्प अपने चित्त में बनाए रखते हैं

---

१. यजुर्वेद ३४.५।

उनके चित्त असम्प्रज्ञात समाधि होने पर भी अपने उपादान कारणभूत गुणों को प्राप्त न होकर अपने सात्त्विक शुद्ध स्वरूप से ईश्वर के विशुद्धतम सत्त्वमय चित्त में लीन हो जाते है। वस्तुतः परमेश्वर के विशुद्ध सत्त्वमय चित्त में वेदों का ज्ञान तथा अखिल प्राणियों के उद्धार के अध्यवसायरूप अनन्त सत्य संकल्प भरे रहते हैं। योगी का चित्त भी वेदज्ञान से पूत और परोपकार भाव से परिपूर्ण होने से परमेश्वर के चित्त का सजातीय होने के कारण उन विशुद्ध चित्तें को अपनी और आकृष्ट कर लेता है। जिस प्रकार प्रकृतिलीन योगीजनों के चित्त प्रकृति में लीन रहकर मोक्ष की सी अवस्था में निमग्न रहते है, उसी प्रकार प्रकृति में लीन योगियों से अत्युच्च योग्यता वाले केवली योगियों के ये चित्त परमेश्वर के विशुद्ध सत्त्व में निमग्न रहते हैं तथा संसार में पापों की वृद्धि और धर्म का क्षय होने पर परमेश्वरीय संकल्प बल से प्रभावित होकर ये चित्त उन परोपकार विह्वल सत्य संकल्प आत्माओं से संयुक्त होकर ईश्वरीय व्यवस्था से मातृगर्भ शैशव आदि समस्त अवस्थाओं को प्राप्त करके धर्म की पुनः संस्थापना का कार्य करते हैं।

इसी प्रकार भाष्यकार ने जो आसुरि मुनि को सच्चा जिज्ञासु जानकर दया से प्रेरित हुए कपिल मुनि द्वारा संकल्प बल से निर्मित निर्माणचित के आश्रय से पच्चीस तत्त्वों के उपदेश देने का कथन किया है[1] उससे भी यह नहीं समझना चाहिए कि कपिल मुनि ने माता के गर्भ द्वारा शरीराभिव्यक्ति की ईश्वरीय व्यवस्था को तोड़कर योगबल से देह-निर्माण कर आसुरि मुनि को उपदेश दिया होगा, क्योंकि प्रथम तो हर जिज्ञासु के परिश्रम और संवेग से स्वतः ही ज्ञानरूप फलोत्पत्ति की व्यवस्था सृष्टि नियमों से हो ही जाती है। फिर भी यदि योगी को फल के प्रस्तुतीकरण में माध्यम माना जाए, तो योगी को जो विकरणभाव इन्द्रियजय के फलस्वरूप प्राप्त होता है,[2] उसको प्राप्त योगी परमसिद्ध ईश्वर की भाँति ही बिना इन्द्रियों के समस्त कार्यों के करने में समर्थ हो जाता है। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार श्रुति ईश्वर के विषय में कहती है कि 'वह परम पुरुष हाथ पैर से रहित है, फिर भी स्वसंकल्प से वेगवान् है, और ग्रहण करने वाला है। वह नेत्र रहित है, परन्तु सब को देखता है, बिना कानों वाला है, परन्तु सब कुछ सुनता है, वह सारे विश्व को जानता है, परन्तु उसका जानने वाला कोई नहीं है। उसी भगवान् को सन्त जन मुख्य और महान् पुरुष कहते हैं।[3] उसी प्रकार योगसिद्ध मुक्तात्मा भी संकल्प बल से ही जिज्ञासुओं को उपदेश देने का कार्य कर सकता है, तदर्थ उसे शरीर

---

१. व्यासभाष्य १.२।। २. भोजवृत्ति ३.४८।
३. श्वेताश्वर उ० ३.११।

धारण करने की आवश्यकता नहीं है। क्योंकि भाष्यकार ने जो देवों, ऋषियों और सिद्ध पुरुषों का स्वाध्यायशील व्यक्ति को दर्शन देना और उसके कार्य में सहयोगी होना लिखा है, वह भी कायनिरपेक्ष साङ्कल्पिक शरीर से ही है, पांचभौतिक स्थूल शरीर को धारण करके नहीं। पांचभौतिक स्थूल शरीर का निर्माण तो ईश्वरीय जन्मादि व्यवस्था को भंग करे योगी भी संकल्प के प्रयोग से नहीं करता है। यद्यपि परमेश्वर की अनुमति से कोई सिद्ध पुरुष यदि अवतार लेना भी चाहे तो कोई दोष नहीं आता।

सत्कार्यवाद–

जगत् की उत्पत्ति और विनाश के सम्बन्ध में योग दर्शन में विशेष विवेचन नहीं किया गया है। इस प्रसंग में समानतन्त्र सांख्य के सत्कार्यवाद को ही योग का भी पक्ष समझना चाहिए।

सांख्य दर्शन की मान्यता के अनुसार कारण और कार्य दोनों ही सत् होते हैं। इनके अनुसार कारण में कार्य अव्यक्त रूप से विद्यमान् रहता है। कारण व्यापार से उसकी अभिव्यक्ति होती है, ईश्वरकृष्ण ने सांख्य के इस पक्ष का साधन करते हुए कार्य की कारण में पूर्व-सत्ता सिद्ध करने के लिए निम्नलिखित पाँच युक्तियाँ दी हैं। (१) असत् अर्थात् अविद्यमान होने पर कार्य की उत्पत्ति हो ही नहीं सकती। (२) कार्य उत्पत्ति के लिए उनके उपादान कारण का ग्रहण अवश्य ही करना पड़ता है, अर्थात् कार्य अपने कारण से नियतरूप से सम्बद्ध होता है। (३) सभी कार्य सभी कारणों से उत्पन्न नहीं होते हैं। (४) जो कारण जिस कार्य को उत्पन्न करने में समर्थ है, उससे उसी कार्य की उत्पत्ति होती है। और (५) कार्य कारण से अभिन्न या उसी के स्वरूप का होता है।[१]

सांख्यकारिकाकार का उपर्युक्त युक्तियों से अभिप्राय यह रहा है कि यद्यपि बीज और मृत्तिकापिण्ड इत्यादि के नष्ट हो जाने पर ही उनसे क्रमशः अंकुर और घट आदि की उत्पत्ति पायी जाती है, तथापि अंकुर इत्यादि की उत्पत्ति का कारण बीज आदि का विनाश नहीं, अपितु उनके भावरूप अवयव ही हैं। अभाव से भाव की उत्पत्ति मानने पर अभाव के सर्वत्र सुलभ होने से सर्वत्र सभी कार्यों के उत्पन्न होने का दोष उपस्थित होगा। तात्पर्य यह है कि जो जिससे सम्बद्ध नहीं होता, वह उसका कार्य कदापि नहीं होता, फलतः जिस प्रकार तिलों के पेरे जाने पर उनमें पहले से ही अनभिव्यक्तरूप से विद्यमान

---

१. सांख्यकारिका ६।

तेल, धान के कूटे जाने पर उनमें पूर्वतः विद्यमान चावल एवं गौओं के दुहने पर उनमें पूर्वतः विद्यमान् दूध की अभिव्यक्ति होती है, उसी प्रकार प्रधान से उसमें पूर्वतः अव्यक्तरूप से विद्यमान् कार्य-विश्व की उत्पत्ति होती है।

कारणव्यापार से पूर्व ही कार्य के विद्यमान होने का एक यह भी हेतु है: कारण और कार्य के बीच परस्पर सम्बन्ध है, अर्थात् कार्य के साथ घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित कारण ही कार्य को उत्पन्न करता है, और कार्य पूर्वतः असत् है, तो उसका कारण के साथ सम्बन्ध भी असम्भव है। अतः वह कार्य कारण व्यापार के पूर्व भी अवश्य ही सत् होगा। यदि यह माना जायगा कि कारण से असम्बद्ध कार्य की ही उत्पत्ति होती है, तो सभी कारणों से सभी कार्यों की उत्पत्ति सम्भव माननी होगी, जब कि हम नियत कार्य की नियत कारण से ही उत्पत्ति देखते हैं, अतः यह मानना ही होगा कि असम्बद्ध कार्य की उत्पत्ति असम्बद्ध कारण से नहीं होती। जो कारण जिस कार्य की उत्पत्ति में समर्थ है, उस समर्थ कारण से उसी शक्य कार्य की उत्पत्ति होने से कारण और कार्य को असम्बद्ध नहीं कहा जा सकता; क्योंकि यदि यह मानें कि प्रत्येक कारण से प्रत्येक कार्य उत्पन्न नहीं हो सकता, अपितु कोई-कोई कार्य ही उत्पन्न होता है, तो प्रश्न होता है कि वह कार्य कारण से सम्बद्ध है, या असम्बद्ध मानने पर फिर वही अव्यवस्था हो जायेगी, एवं सम्बद्ध मानने पर सत्कार्यवाद ही सिद्ध होता है। इसलिए भी कार्य उत्पत्ति के पूर्व सत् सिद्ध होता है, क्योंकि वह कारणरूप ही होता है। कार्य कारण से भिन्न नहीं होता और कारण तो सत् है, तो उससे अभिन्न कार्य को भी सत् ही होना चाहिए, असत् नहीं।

सांख्ययोग परम्परा के अनुसार किसी भी वस्तु की उत्पत्ति अर्थात् प्रगट होने से पूर्व उसका अत्यन्ताभाव न था, वह अव्यक्त रूप से विद्यमान था। विनाश के अनन्तर भी वस्तु का अत्यन्ताभाव न होकर तिरोभावमात्र होता है। इस प्रकार जागतिक पदार्थों की तीन स्थितियाँ हैं :—वर्त्तमान व्यक्त अवस्था एवं अतीत तथा अनागत सूक्ष्म अवस्था।[१]

समस्त जागतिक पदार्थ संख्या में कुल पचीस हैं :— इनमें पुरुष कार्य कारण से भिन्न है, प्रकृति सबकी कारण है, तथा शेष कार्य कहाते हैं[१] ये तत्त्व हैं—महान् अहंकार पाँच तन्मात्राएँ एकादश इन्द्रियाँ एवं पाँच महाभूत और पुरुष।[२] इनमें चौबीस कार्य पदार्थों को चार वर्गों में विभाजित करते हुए छः को अविशेष नाम से स्मरण किया जाता है।[३] भाष्यकार द्वारा गिनाए गये पदार्थों

१. (क) योगसूत्र ४.३१। (ख) योगभाष्य ४.३१।
२. योगसूत्र २.१६। ३. भोजवृत्ति ४.१३।

के अन्तर्गत जो प्रधान महत्तत्त्व, अहंकार मन आदि ग्यारह इन्द्रियाँ पंचतन्मात्र और पाँच स्थूल भूत हैं, वे सब गुणस्वरूप ही हैं अथवा वृत्तिकार के शब्दों में ये सब बाह्य और आभ्यन्तर के भेद से भिन्न होकर भी सत्त्व् रजस् और तमस् के परिणाम होने से सत्त्व रजस् और तमस् स्वभाव वाले तथा सुख दुःख और मोहरूप ही हैं।[1]

समस्त पदार्थों के कारण सत्त्व रजस् तमस् आदि तीनों गुण ही हैं, तथापि पदार्थों को अलग-अलग धर्मीरूप कहा जा सकता है, क्योंकि परिणाम के एक होने से वस्तु की एकता होती है।[2]

तात्पर्य यह है कि तीनों गुण ही समस्त पदार्थों के कारण हैं, पर वे अपने प्रकाश, क्रिया और स्थिति स्वभाव से अंग-अंगीभाव से गति कर रहे हैं। कहीं सत्त्वगुण अंगी (प्रधान) है और रजस् और तमस् गौण हैं, कहीं रजस् अंगी है, सत्त्व और तमस् गौण है; तो कहीं तमस् प्रधान है, सत्त्व और रजस् गौण हैं। इस प्रधानता और गौणता के अनुपात के भी असंख्यात भेद हो सकते हैं, इस कारण उनके परिणाम भी भिन्न-भिन्न होते हैं। परिणाम की भिन्नता से वस्तु भिन्न भिन्न धर्मों वाली होती हैं और नामान्तर से व्यवहृत होती है, जैसे यह महत्तत्त्व है, यह अहंकार है, ये इन्द्रियाँ हैं, यह पृथिवी है आदि। अतः सत्त्वगुण रजोगुण और तमोगुण की पारस्परिक प्रधानता गौणता से ही भिन्न भिन्न धर्मों वाले असंख्यात धर्मी उत्पन्न (अभिव्यक्त) दृष्टिगोचर होते हैं, इसीलिए गौ वृक्ष मनुष्य पक्षी पर्वत नदी मेघ लता गुल्म आदि ये सभी त्रिगुणात्मक प्रकृति का विकार होने से वस्तुतः एक ही हैं। समस्त भूत पदार्थ पंच महाभूत स्वरूप हैं, पंच महाभूत पंचतन्मात्रस्वरूप हैं। पंचतन्मात्राएँ और एकादश इन्द्रियाँ अहंकार स्वरूप है। अहंकार महत्तत्त्व स्वरूप है। महत्तत्त्व प्रधान स्वरूप है। प्रधान त्रिगुणात्मक होने से सत्त्व रजस् तमस् स्वरूप है; किन्तु परिणाम भेद से भिन्न नामों वाली वस्तुओं ने संसार को भ्रान्त किया हुआ है। महाभारत में इसी तथ्य का वर्णन करते हुए कहा है 'सर्वव्यापक परमात्मा की प्रकृति ने सारे संसार को अन्धा किया हुआ है। यह व्यक्त और अव्यक्त जगत् मोहोत्पादक है।[3] जिस प्रकार दीप, तैल और बत्ती आदि नाना पदार्थों का प्रकाश रूप एक ही परिणाम होता है, उसी प्रकार इन तीनों गुणों का पुरुष के भोग और अपवर्ग के लिए सामान जुटाना रूप परिणाम एक ही होता है, भले ही इस प्रयोजन के लिए वे एकरूप में दीख पड़े अथवा अगणित परिणामों को धारण कर लें।

---

१. योगसूत्र ४.१४।
२. भोजवृत्ति ४.१४।
३. महाभारत शान्तिपर्व मोक्षधर्म ३०३.३५।

यहाँ प्रश्न हो सकता है कि 'जैसे स्वप्न में बाह्य पदार्थों की सत्ता नहीं होती, किन्तु विज्ञान ही पदार्थाकार होकर दिखाई पड़ता है, उसी प्रकार जागृत अवस्था में भी पदार्थ का अभाव ही रहता है, किन्तु चित्तगत विज्ञान ही पदार्थाकार होकर दिखाई पड़ता है।' यह क्यों न स्वीकार किया जाए ? इसका उत्तर यह है कि स्वप्नगत पदार्थों की यथार्थतः अपनी कोई सत्ता नहीं है, क्योंकि स्वप्नावस्था में जो पदार्थ दिखाई पड़ते हैं, वे सब चित्त में निहित संस्कारों की स्मृति से दीख पड़ते हैं। संस्कार जागृत अवस्था में प्राप्त किये गये अनुभवों की ही छाप का नाम है। बिना संस्कारों के स्वप्न नहीं आते हैं। अनुभव अथवा प्रत्यक्षज्ञान के बिना संस्कार नहीं बनते और बिना इन्द्रियों का अर्थ से सन्निकर्ष हुए प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होता है। जागृत अवस्था में किया हुआ प्रत्यक्षजन्य अनुभव ही परम्परया स्वप्नों का कारण होता है, किन्तु जागृत में जो भी वस्तुएँ प्रत्यक्ष होती हैं, वे सब चित्त या विज्ञान से भिन्न अपनी बाह्य सत्ता रखती हैं और तभी वे अनुभव और संस्कार का विषय बनती हैं।

वस्तु न एक चित्त से कल्पित है, न अनेक चित्तों से; अपितु अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित है। इस सिद्धान्त को वृत्तिकार भोजने एक उदाहरण की सहायता से इस प्रकार स्पष्ट किया है–

एक ही रूप और लावण्यवती सुन्दर स्त्री को देखकर कामुक को सुख होता है, सपत्नी को दुःख होता है तथा एक वीतराग संन्यासी को जुगुप्सा होती है। इस प्रकार एक ही वस्तु के प्रति विभिन्न चित्तों में विभिन्न प्रकार का विज्ञान उत्पन्न होता है, अतः स्त्री आदि चित्त के कार्य नहीं है। यदि इन्हें एक चित्त का ही कार्य माना जाये, तो उनसे एक ही रूप वाला ज्ञान उदय होना चाहिए।[1] अतः वस्तु की सत्ता चित्तवृत्ति से पृथक् होती है, किन्तु चित्त के त्रिगुणात्मक होने से उन धर्मादिकों के प्रकाश और तिरोभाव से वस्तु का तत्तरूप से प्रकाश होता है, जैसे कामेच्छु व्यक्ति के पास स्त्री हो, तो उसका चित्त सत्त्व प्रधान होकर सुख में परिणत होता है। अधर्म के सम्बन्ध से सपत्नी का चित्त रजः प्रधान होकर दुःख में परिणत होता है। अधर्म की बहुलता होने पर उसका चित्त तमः प्रधान होकर मोह या कोप में परिणत हो जाता है। विज्ञान और अर्थ का स्वरूप भेद होने से उनमें कार्यकारण भाव नहीं है। यदि कारण का भेद न होने पर भी अर्थ का भेद माना जाये तो अतिप्रसंग दोष होगा। इसलिए पदार्थ का ज्ञान से भिन्न होना सिद्ध होता है। इसके विपरीत यदि एक ही वस्तु को अनेक चित्तों से परिकल्पित मान लें, तो वस्तु की

---

१. भोजवृत्ति ४.१५।

उपस्थिति के अनुकूल ही उसका उत्पादक विज्ञान अनेक चित्तों में अभेदपूर्वक दिखलाई पड़ना चाहिए, अतः वस्तु बहुत चित्तों से परिकल्पित नहीं है। क्योंकि अन्य चित्त के द्वारा परिकल्पित विषय का उपराग अन्य चित्त को नहीं हो सकता। ऐसा होने पर वस्तु ग्राह्य और अनेक चित्त उससे सर्वथा भिन्न तथा उसके ग्राहकमात्र सिद्ध होते हैं, जिनमें अभिन्नता की गन्ध भी नहीं हैं।

यदि वस्तु को एक चित्त द्वारा कल्पित माना जाये तो चित्त के अन्य विषय में लग जाने पर, ठहर जाने पर या नष्ट हो जाने पर उस वस्तु का अभाव हो जाना चाहिए और वह किसी अन्य व्यक्ति को नहीं दीख पड़नी चाहिए। साथ ही जो उसके अनुपस्थित भाग हैं उनका भी अभाव हो जाना चाहिए। जब कोई व्यक्ति हमारे सम्मुख खड़ा हो तो उसकी पीठ दिखाई देती है या उदर ही दिखाई देता है। जिस क्षण पीठ दिखाई देती है उस क्षण उदर नहीं दीख पड़ता और जिस समय उदर दिखाई देता है, उस समय पीठ नहीं दीखती। हम उसके अगले और पिछले भाग को एक साथ नहीं देख सकते। चित्त के ज्ञान से ही वस्तु की सत्ता मानने पर तो चित्त में एक क्षण में उसके अगले या पिछले भाग का ही ज्ञान उत्पन्न होने से उस क्षण उसके अदृष्ट भाग का अभाव हो जाना चाहिए, किन्तु ऐसा नहीं होता।[1] इसके अतिरिक्त यदि बाह्य पदार्थ की सत्ता चित्त अर्थात् विज्ञान काल में ही स्वीकार की जायगी तो जिस काल में चित्त घट का चिन्तन या साक्षात्कार करके पट का साक्षात्कार या चिन्तन करने लगेगा, उस काल में घट का अभाव हो जाना चाहिए। इस स्थिति में साक्षात्कार या चिन्तन करके जब चित्त दूसरी बार घट का साक्षात्कार या चिन्तन करने लगेगा, यदि उस काल में घट का चित्त के विज्ञान से ही पुनः उत्पन्न होना माने तो क्षण क्षण में उस घट की उत्पत्ति और नाश को मानना पड़ेगा। यदि कहें कि विज्ञान ही उस घट की क्षण-क्षण में उत्पत्ति में कारण है, तो यह कथन आशामोदक के समान अकिंचित्कर होगा। अर्थात् जैसे आशा मोदक उदरपूर्ति या तृप्ति का कारण नहीं होते, किन्तु उपार्जित मोदक ही उदरपूर्ति या तृप्ति के हेतु होते हैं, वैसे ही चित्त अर्थात् विज्ञान को उस घट की उत्पत्ति या नाश का हेतु मानना उचित नहीं है, किन्तु मृत्तिका आदि को ही उसकी उत्पत्ति या नाश का हेतु मानना उचित है। अतः बाह्य पदार्थ की सत्ता विज्ञान काल में ही नहीं अपितु तीनों कालों में स्थिर है, यह मानना ही अधिक उचित होगा।[2]

---

१. व्यासभाष्य ४.१६।   २. योगसूत्र ४.१७।

सांख्य के अनुसार विश्व के पदार्थों के बोध की प्रक्रिया यह है कि विश्व के पदार्थ चित्त में प्रतिबिम्बित होते हैं, चित्त उनके संपर्क से उपरक्त हो जाता है, उस में प्रतिबिम्बित पुरुष को उसका बोध होता है, चित्त जिस विषय से उपरक्त हुआ हो, उस विषय को ही पुरुष जानता है अन्य को नहीं।[1] तात्पर्य यह है कि विषय जब चित्त के समक्ष आता है, तो इन्द्रिय सन्निकर्ष द्वारा उसका प्रतिबिम्ब चित्त पर पड़ता है। चित्त में उपरक्त विषय ही ज्ञात कहा जाता है। जिस प्रकार दर्पण के सामने आने पर वस्तु प्रतिबिम्बित हो जाती है और सामने न आने पर वस्तु प्रतिबिम्बित नहीं होती; उसी प्रकार चित्त के समक्ष आने से वस्तु ज्ञात होती है और सामने न आने तक अज्ञात रहती है। अथवा जो विषय इन्द्रियों की प्रणाली से चित्त को आकृष्ट कर अपने समान आकार वाला करते हुए चित्रित कर देता है, वह चित्त में चित्रित होने से ज्ञात और जो चित्त को चित्रित नहीं करता, वह अज्ञात रहता है। इसीलिए कभी विषयाकार और कभी अविषयाकार होने वाला चित्त परिणामी है--यह सिद्ध हुआ। किन्तु चित्त का स्वामी पुरुष परिणामी नहीं है, इसलिए चित्त की वृत्तियाँ उसे सदा ज्ञात ही रहती है।[2]यदि चित्त की भाँति चित्त का स्वामी पुरुष भी कभी चित्तवृत्तियों का द्रष्टा और कभी अद्रष्टा हो जावे, तो उसे भी परिणामी ही मानना पड़ेगा, लेकिन वह सदा सर्वदा ही वृत्तियों का द्रष्टा बना रहने से अपरिणामी और कूटस्थ नित्य है, पुरुष द्वारा वृत्तियों के ज्ञातत्व के विषय में विज्ञानभिक्षु का कहना है कि पुरुष के परिणामी मानने पर उसे कभी कभी चित्त की विद्यमान वृत्ति का ज्ञान नहीं होगा, तब तो उसे मैं सुखी हूँ या दुःखी, मैं चाहता हूँ या नहीं चाहता, इस प्रकार का संशय हो जाना चाहिए, किन्तु इस प्रकार का संशय नहीं दिखाई पड़ता, अतः वृत्ति कभी अज्ञात न होने से पुरुष अपरिणामी हैं यह सिद्ध हुआ।[3] पुरुष चित्त की मूढ़ अवस्था में वर्तमान वृत्ति को भी आनन्दानुभव के द्वारा जानता है, किन्तु निरुद्ध अवस्था में वर्तमान चित्त में वृत्तियों का उदय अस्त न होने से तथा उसको किसी भी विषय का उपराग न होने से, वह पुरुष के ज्ञान का विषय नहीं है। वाचस्पति मिश्र के अनुसार क्षिप्त मूढ़ विक्षिप्त और एकाग्र अवस्था में वर्तमान चित्त वृत्तियों वाला होने से वह सर्वदा ही पुरुष द्वारा जाना जाता है, जब तक कि निरुद्ध नहीं हो जाता।[4] यहाँ यह शंका करना उचित न होगा कि जैसे अग्नि वस्तु को तथा अपने स्वरूप को एक ही साथ प्रकाशित कर देती हैं, वैसे ही यदि चित्त भी विषय का तथा अपनी वृत्ति का प्रकाश कर सकता है, तो फिर पुरुष को मानने

---

१. व्यासभाष्य ४.१७।
२. योगसूत्र ४.१८।
३. योगवर्तिक ४.१८।
४. तत्त्ववैशारदी ४.१८।

की क्या आवश्यकता है, क्योंकि चित्त दृश्य होने से स्वप्रकाश अर्थात् अपने आप को जानने वाला नहीं है।[1] जिस प्रकार चित्त भी दृश्य होने से स्वप्रकाश नहीं है, किन्तु द्रष्टा द्वारा प्रकाश्य है। अग्नि को भी स्वप्रकाश कहना उचित नहीं है, क्योंकि अग्नि स्वयं को प्रकाशित नहीं करती, अपितु किसी चेतन व्यक्ति की अपेक्षा से प्रकाशित होती है। जिस प्रकार दर्शन क्रिया के सम्पादन के लिए दृश्य और दृष्टा की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार प्रकाशन क्रिया के सम्पादन के लिए भी प्रकाश्य और प्रकाशक की आवश्यकता होती है। जिसमें अग्नि प्रकाश्य है, उसमें जब तक उसका प्रकाशक कोई चेतन व्यक्ति न हो, वह प्रकाश में नहीं आ सकती। एक अग्नि पदार्थ में कर्तृत्व और कर्मत्व दोनों धर्म एक साथ नहीं घट सकते।

जिस प्रकार आकाश किसी अन्य पदार्थ के आश्रित नहीं है, उसी प्रकार चित्त अन्य किसी से ग्राह्य नहीं है, यह कहना भी उचित न होगा। चित्त के अग्राह्य मानने पर प्राणियों में मैं क्रोधयुक्त हूँ, मैं भय युक्त हूँ, इस विषय में मेरा मन रागयुक्त है, इस विषय में मेरे मन में क्रोध है—इत्यादि जो चित्त के ग्रहण के व्यापार हैं, वे नहीं होने चाहिए किन्तु यह प्रवृत्ति देखी जाती है, अतः चित्त अग्राह्य नहीं, अपितु दृष्टा पुरुष से ग्राह्य हैं। यहाँ यह शंका हो सकती है कि चित्त का प्रकाशक जो पुरुष है, वह परप्रकाश्य है, अथवा स्वप्रकाश्य। यदि परप्रकाश्य है, तो उसका प्रकाशक कोई अन्य मानना पड़ेगा; और यदि स्वप्रकाश्य है, तो वह चित्त का प्रकाशक कैसे हो सकता है ? जैसे चित्त को विषयों और स्वयं का प्रकाशक मानना अयुक्त है, वैसे ही पुरुष को एक ही काल में चित्त का तथा अपना प्रकाशक माना भी दोष युक्त ही है, इसका उत्तर यह है कि दीपक न तो परप्रकाश का विषय है और न स्वप्रकाश का; अपितु स्वयंप्रकाश युक्त है। ऐसे ही पुरुष न तो पर-प्रकाश का विषय है, और न स्वप्रकाश का, अपितु दोनों से असंग और स्वयं प्रकाशरूप है।

यदि यह मानें कि चित्त ही अपना ज्ञान भी करता है और विषय का ज्ञान भी करता है, तो भी युक्त नहीं है; क्योंकि एक ही समय में चित्त और विषय दोनों का ज्ञान नहीं हो सकता।[2]

बाह्य विषयों के ज्ञानार्थ चित्त को बहिर्मुख और स्वयं के ज्ञानार्थ अन्तर्मुख होना पड़ता है। इन दो विरुद्ध व्यापारों का एक ही क्षण में एक चित्त द्वारा होना संभव न मानकर ही भोज ने भी 'इन दोनों व्यापारों का अनुभवकर्ता

---

१. (क) योगसूत्र ४.१६। (ख) व्यासभाष्य ४.१६।
२. योगसूत्र ४.२०।

इन दोनों से पृथक् पुरुष है' यह स्वीकार किया है।[1]

इस प्रकार (स्वज्ञान और विषयज्ञानरूप) दो व्यापारों को करने के बाद भी दो प्रकार के फलों का ज्ञान चित्त को न होने से यह मानना होगा कि बहिर्मुखता से ही अपने में रहने वाले चित्तरूप पदार्थ को पुरुष जानता है। अतः वह फल पुरुष में ही है, चित्त में नहीं। यहाँ यह कहना उचित न होगा कि एक चित्त से विषय ग्रहण किया जाता है, फिर उस विषय सहित चित्त को दूसरा चित्त ग्रहण करता है, तो विषय और चित्त दोनों का ग्रहण चित्त द्वारा ही हो जाने से पुरुष का अस्तित्व मानने की आवश्यकता नहीं रह जाती। क्योंकि यदि पहले चित्त को दूसरे चित्त का दृश्य माना जाए तो भी बुद्धियों से बुद्धियों का ज्ञान मानने से अनवस्था दोष आ जाएगा और स्मृतियों का संकर भी हो जायगा।[2] चित्त को अपना प्रकाशक आप मानने पर जैसे आत्माश्रय दोष आ जाता है, उसी प्रकार पहले चित्त को दूसरे का और दूसरे चित्त को पहले का प्रकाशक मानने पर अन्योन्याश्रय दोष आ जाता है। अगर एक चित्त का प्रकाशक दूसरे को, दूसरे का तीसरे को, पुनः तीसरे का चौथे को मानते चले जाएँ तो अनवस्था दोष आ जाएगा। अगर अन्ततोगत्वा किसी पचासवें, साठवें या सौवें चित्त को अनवस्था दोष को दूर करने के लिए स्वप्रकाश मान लें, तो वहीं पर आत्माश्रय दोष आ जाएगा। इस प्रकार इन समस्त दोषों का परिहार अन्त में चित्त का प्रकाशक किसी स्वयं प्रकाश स्वरूप चेतन शक्ति को ही मानने से होगा। दूसरा दोष होगा स्मृतियों का परस्पर मेल हो जाना, वृत्तिकार भोज के अनुसार बुद्धियों की इस प्रकार अनन्तता होने पर रूप और रस में जो बुद्धि उत्पन्न हुई है, उस बुद्धि को ग्रहण करने के लिए अनन्त बुद्धियों के उत्पन्न होने से उन बुद्धियों से उत्पन्न संस्कार भी अनेक होंगे। अनेक संस्कार से एक ही समय अनेक प्रकार का ज्ञान कराने वाली बहुत सी स्मृतियाँ उत्पन्न होंगी, तो इस प्रकार एक ही साथ अनन्त प्रकार की नवीन बुद्धियों और अनेक प्रकार की स्मृतियों के उत्पन्न हो जाने से यह स्मृति किस बोध से सम्बन्धित है—यह ज्ञान न हो सकेगा, इस प्रकार स्मृतियों में परस्पर मेल होकर अव्यवस्था उत्पन्न हो जाएगी। यह ज्ञात न हो सकेगा कि यह रूप की स्मृति है, यह रस की स्मृति है।[3]

तात्पर्य यह है कि जितनी बुद्धियाँ अर्थात् ज्ञान हों उसी के अनुसार स्मृतियाँ होती हैं। अनुभवों के अनन्त होने से उनकी स्मृतियाँ भी अनन्त होंगी।

---

१. भोजवृत्ति ४.२०।
२. योगसूत्र ४.२१।
३. भोजवृत्ति ४.२१।

एक साथ उत्पन्न हुई बहुत सारी स्मृतियाँ काल के अभेद के कारण अभिज्ञात न हो सकेंगी अर्थात् यह पहचान न हो सकेगी कि कौन सी स्मृति किस ज्ञान की है। अतः चित्तों से भी पृथक् चेतनतत्त्व की सत्ता मानना आवश्यक है।

चित्त से भिन्न पुरुष को स्वीकार करना इसलिए भी आवश्यक है, क्योंकि चित्त में ग्रहीता ग्रहण और ग्राह्य इन तीनों की एक साथ ही प्रतीति होती है। यदि चित्त से पृथक् चेतन न माना जाये, तो उस अनुभव में द्रष्टा निर्भासित नहीं होना चाहिए; किन्तु दृष्टा की प्रतीति का होना ही पुरुष की सत्ता का सबसे बड़ा प्रमाण है। पुरुष की सत्ता की अनिवार्यता को बताते हुए भाष्यकार ने कहा है कि सविकल्प समाधि में जो ध्येय पदार्थ प्रतिबिम्बित हुआ–सा भासित होता है, वह चित्त से भिन्न अर्थ है, क्योंकि उस आत्मा के आलम्बनीभूत होने से समाधि काल में जो प्रज्ञा उत्पन्न होती है, उसमें तीन पदार्थ भारित होते हैं : ध्येय, ध्यान और ध्याता। उस प्रज्ञा में जो प्रतिबिम्बित होकर निर्भासित होता है, वह ध्येयरूप अर्थ ध्याता और ध्यान से भिन्न है। एवं चित्त में प्रतिबिम्बित हुई प्रज्ञा और प्रतिबिम्ब का जो मूलाधार है, वह ध्याता या दृष्टा आत्मा ध्येय और ध्यान से भिन्न वस्तु है। इस प्रकार विचार करने पर आत्मा की सत्ता चित्त से पृथक् सिद्ध होती है।

यद्यपि भोक्ता पुरुष निर्लेप और निर्विकार है, तथापि विषयाकार एवं परिणामी चित्त में प्रतिबिम्बित हुआ, वह तदाकार होकर उस बुद्धिवृत्ति के रूप वाला सा प्रतीति होता है।[1] इस प्रकार स्वचैतन्य से प्रतिबिम्बित होने के कारण चेतन सी बनी बुद्धिवृत्ति को अपने से अभिन्न मानकर ज्ञाता कहा जाता है। वृत्तिकार भोज के शब्दों में इसे इस प्रकार कह सकते हैं कि 'जिस समय चित्त इन्द्रियों की वृत्तियों के साथ विपयाकार रूप में परिणत होता है तो (पुरुष के भी चित्त में प्रतिबिम्बित होने के कारण) पुरुष भी उस चित्तवृत्ति के समान ही आकार वाला जान पड़ता है। जैसे गतियुक्त जल की तरंगों में प्रतिबिम्बित हुआ न चलता हुआ भी चन्द्रमा चलता हुआ सा दिखलाई पड़ता है, इसी प्रकार चित्त जब शब्द स्पर्श रूप रस गन्ध आदि विषयों को ग्रहण करने वाली इन्द्रियों के माध्यम से विषयाकार हो जाता है, तब चित्त के साथ सम्बन्ध से निर्विकार पुरुष भी चित्त के ही आकार वाला हो जाता है, उस अवस्था में वह स्वयं को उन विषयों का ज्ञाता भोक्ता आदि समझने लगता है, फलतः जैसे जल के अस्वच्छ होने से चन्द्रमा अस्वच्छ प्रतीत होता है और जल तरंगों के चंचल होने से चन्द्रमा चंचल दीख पड़ता है, वस्तुतः चन्द्रमा न अस्वच्छ है, न चंचल।

---

१. भोजवृत्ति १.४।

इसी प्रकार बुद्धिवृत्ति में ही भोक्तृत्व और ज्ञातृत्व के होने से पुरुष ज्ञाता और भोक्ता प्रतीत होता है, अपने स्वरूप से नहीं।

इस प्रकार चितिशक्ति से प्रतिबिम्बित चित्त ही तदाकार हुआ अपने को दृश्य और पुरुष को दृष्टा रूप से प्रकाशित कर देता है।

चित्त व्यापार–

पतंजलि के अनुसार दृष्टा और दृश्य से रंगा हुआ चित्त (ग्राह्य, ग्रहण और गृहीतारूप से) समस्त अर्थों का प्रकाशक है।[1] अर्थात् जिस प्रकार स्वच्छ तथा विमल स्फटिकमणि के पास रक्त और पीत वर्ण के दो पुष्प रख दिए जाएँ तो स्फटिक मणि जहाँ पर रक्तपुष्प का प्रतिबिम्ब पड़ रहा है, वहाँ रक्त वर्ण की, जहाँ पर पीतपुष्प का प्रतिबिम्ब पड़ रहा है, वहाँ से पीत वर्ण की और जो भाग प्रतिबिम्ब से खाली हैं, वहाँ अपने निर्मलरूप वाली दिखाई पड़ती है, इसी प्रकार चित्त जब विषय के साथ उपरक्त होता है, तब विषयरूप से भासित होता है; जब पुरुष के स्वरूप से उपरक्त होता है, तो पुरुष के स्वरूप को प्रकाशित करता है और जब दोनों को छोड़ के स्वरूपमात्र में स्थित होता है, तो अपने स्वरूप को दिखलाता है। इस प्रकार चित्त ही सब अर्थों का प्रकाशक है। यहां गृहीता ग्रहण और ग्राह्य इन तीनों के ग्रहण से तात्पर्य यह है कि चितिशक्तिरूप गृहीता का स्वरूप भी योगियों पर चित्त के द्वारा ही प्रकाशित होता है। चित्त को विषय का, स्वरूप का और आत्मा का प्रकाशक कहने का तात्पर्य यह है कि बाह्य विषयों के ज्ञान में भी इन तीनों की ही प्रतीति होती रहती है; 'घटमहं जानामि' इस प्रत्यक्ष में भी घट पद से विषय, अहम् पद से चित्तवृत्तियों का दृष्टा चेतन पुरुष और 'जानामि' पद से चित्तवृत्तिरूप अनुभवात्मक प्रत्यक्ष ज्ञान इन तीनों का ग्रहण है।[2] इन तीनों ही पदार्थों को ग्रहण करने में चित्त समर्थ है। यदि चित्त से पृथक् चेतन तत्त्व न माना जाये, तो उस अनुभव में द्रष्टा निर्भासित नहीं होना चाहिए; किन्तु दृष्टा की प्रतीति का होती है। यही पुरुष की सत्ता का सबसे बड़ा प्रमाण है। पुरुष की सत्ता की अनिवार्यता को बताते हुए भाष्यकार ने कहा है कि सविकल्प समाधि में जो ध्येय पदार्थ प्रतिबिम्बित हुआ सा भासित होता है, वह चित्त से भिन्न अर्थ है, क्योंकि उस आत्मा के आलम्बनीभूत होने से समाधि काल में जो प्रज्ञा उत्पन्न होती है, उसमें तीन पदार्थ भासित होते हैं

---

१. योगसूत्र ४.२३।   २. व्यासभाष्य ४.२३।

ध्येय, ध्यान और ध्याता। उस प्रज्ञा में जो प्रतिबिम्बित होकर निर्भासित होता है, वह ध्येयरूप अर्थ ध्याता और ध्यान से भिन्न है। एवं चित्त में प्रतिबिम्बित हुई प्रज्ञा और प्रतिबिम्ब का जो मूलाधार है, वह ध्याता या दृष्टा आत्मा ध्येय और ध्यान से भिन्न वस्तु है। इस प्रकार विचार करने पर आत्मा की सत्ता चित्त से पृथक् सिद्ध होती है।

ग्राह्य विषय ग्रहण चित्त और गृहीता आत्मा के सम्बन्ध को एक उदाहरण द्वारा इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है कि चित्त का अपना ग्रहणाकार स्वरूप सिनेमा के साधारण श्वेत रंग की चादर (पर्दा) के सदृश है। विद्युत से प्रकाशित चादर के समान उसका आत्मा से प्रकाशित द्रष्टा से उपरक्तरूप है और चित्रों से युक्त चादर जैसा विषय सहित चित्त का ग्राह्याकार दृश्य उपरक्तरूप है। इस प्रकार चित्त सर्वार्थ है।[1]

सांख्य परम्परा के अनुसार चेतन शक्तियों के दो प्रकार हैं—एक तो सदैव बनी रहने वाली चेतन शक्ति, वह पुरुष है और दूसरा चेतना पुरुष के निकट आने पर अचेतन चित्त में उद्भूत हुई चेतना शक्ति वाला चित्त। पुरुष के अति ही समीप में स्थित होने के कारण यह चित्त ही उसके भोक्तापन में मुख्य कारण हैं। यह चित्तसत्त्व ही शान्त ब्रह्मवादियों और सांख्याचार्यों के द्वारा परमात्मा के द्वारा अधिष्ठित पुरुष के शुक्ल, कृष्ण शुक्लकृष्ण कर्मों के अनुसार सुख दुःखादि फलों का भोक्ता कहा जाता है। सत्त्व रजस् तमस् तीनों गुणों वाले सुख दुःखादिरूप भोग्य पदार्थों में किसी गुण के प्रधान तथा अन्य गुणों के अप्रधान रहने से जो प्रतिक्षण परिणाम होते रहते हैं, वे कर्मानुसार ही त्रिगुणात्मक होने के कारण इस चित्त सत्त्व में अपने आकार को समर्पित कर प्रगट होते रहते हैं। चित्त में चेतन का प्रतिबिम्ब पड़ता है तथा विषयों को ग्रहण करने से नाना प्रकार के विशिष्ट आकारों वाला हो जाता है, वह वस्तुतः चेतन न होने पर भी चेतन के प्रतिबिम्ब के बल से चेतन सा प्रतीत होता है। वह पहला चित्तसत्त्व ही सुख-दुःख भोग का अनुभव करता है। वही भोग पुरुष के अत्यन्त निकट रहने के कारण भेद ज्ञान न होने से अभोक्ता पुरुष का भोग कहा जाता है। इस प्रसंग में भोजने बिन्ध्यवासी नामक किसी आचार्य को उद्धृत करते हुए कहा है कि 'चित्त सत्त्व का दुःखादि' ही पुरुष का दुःखादि है' उनके अनुसार किसी अन्य आचार्य की भी मान्यता है कि बिम्बके रहते हुए दर्पणादि में पड़ी हुई बिम्ब की छाया के सदृश ही छाया का प्रकट होना प्रतिबिम्ब कहा जाता है। यही सत्त्वगुण विशिष्ट चित्त में पुरुष के प्रतिसंक्रान्ति

१. पातंजलयोगप्रदीप ४.२ ३ पृ० ५३३।

शब्द का अर्थ है।[1]

तात्पर्य यह है कि पुरुष वास्तव में अभोक्ता है। भोक्ता और कर्ता तो पुरुष के प्रतिबिम्ब पड़ने पर पुरुष के समान ही चेतन सा बना हुआ चित्त ही है। किन्तु उस चेतन से बने हुए चित्त को अविवेकवश अपने से भिन्न न जानने के कारण पुरुष स्वयं को ही कर्ता और भोक्ता समझकर सुखी और दुःखी होता है। इसीलिए सूत्रकार ने 'अगणित वासनाओं से चित्रित हुआ चित्त भी दूसरे के लिए है', कहते हुए चित्त को संहत्यकारी कहा है।[2] संहत्यकारी उस वस्तु को कहते हैं, जो दूसरों के साथ मिलकर कार्य करती हैं।

आत्मभावभावना विनिवृत्ति–

आत्मभावभावना की निवृत्ति का तात्पर्य है 'चित्त के स्वरूप का ज्ञान होने पर' चित्त में जो आत्मभाव करके मनुष्य उसे ही कर्त्ता ज्ञाता और भोक्ता समझता है–उस अभिमान का दूर होना'।[3]

अभिप्राय यह है कि जब मनुष्य चित्त को त्रिगुणात्मक परिणामी और पुरुष से सर्वथा भिन्न देख लेता है, तो वह चित्त को ही कर्ता और ज्ञाता न मानकर, उससे भिन्न पुरुष के प्रयोजनार्थ ही उसे जानकर पुरुष को ही कर्त्ता भोक्ता और ज्ञाता समझ लेता है। पुरुष के स्वरूप का ज्ञान होने पर उसकी आत्मविषयक जिज्ञासा समाप्त हो जाती है।

भाष्यकार के अनुसार आत्मभावभावना का तात्पर्य यह है कि–मैं पूर्व जन्म में कैसा था किस प्रकार से स्थित था, यह मेरा वर्त्तमान जन्म, शरीर आदि क्या है, यह जन्म किस कारण से हुआ, हम भविष्य में क्या होंगे तथा किस प्रकार के होंगे इत्यादि का ज्ञान[4]। अर्थात् योगी जब तक अपनी आत्मा का साक्षात्कार नहीं करता तब तक ही उसे इस प्रकार की आत्मभाव की भावना अशान्त बनाए रखती हैं, सत्त्व और पुरुष दोनों के भेद का साक्षात्कार कर लेने पर उसे अपने पूर्व के जन्मों का, उस जन्म में किए सुख दुःखादि के उपभोगों का अपने वर्तमान जन्म के कारण भूतपूर्व जन्मों में किए शुक्लकृष्ण, कृष्ण, शुक्ल आदि कर्मों का शरीर इन्द्रियादि की उत्पत्ति प्रयोजनादि का तथा आगे होने वाले कैवल्य लाभ तथा उसकी स्थिति का ज्ञान होने से आत्मविषयक

---

१. भोजवृत्ति ४.२३।
२. (क) योगसूत्र ४.२४। (ख) भोजवृत्ति ४.२४।
३. (क) योगसूत्र ४.२५। (ख) भोजवृत्ति ४.२५।
४. व्यासभाष्य ४.२५।

जिज्ञासाओं का पूर्ण समाधान हो जाता है, योगी चिरतृप्त शान्त, आत्माराम और आप्तकाम हो जाता है।

इस भावना का उदय जिसके चित्त में हो गया है, उसके बाह्य चिह्नों का वर्णन करते हुए भाष्यकार व्यास बतलाते हैं कि जैसे वर्षा ऋतु में तृणों के अंकुरों को उगा हुआ देखकर उन तृणों के बीजों के भूमि में पूर्वतः निहित होने का अनुमान होता है, वैसे ही जिस पुरुष को मोक्ष मार्ग के श्रवण से रोमांच, हर्ष और अश्रुपात हो जाता है, उस पुरुष में विवेकज्ञान के बीजभूत तथा अपवर्ग का भागी बनाने वाले, जो यम नियम आदि कर्म हैं, उनका पूर्व जन्म में अनुष्ठान कर लेने से इस जन्म में आत्मभाव की भावना का उदय हो जाना समझना चाहिये। इन लक्षणों का जिसमें अभाव हो उनमें पूर्वजन्म के शुभकर्मों के अभाव से अविद्या आदि दोषों के कारण सांसारिक भोगों में ही रुचि होती है, मोक्षविधायक छब्बीस तत्त्वों के निर्णय में नहीं।[1]

अभिप्राय यह है कि चित्त में पूर्वजन्म के योगाभ्यास के सात्त्विक संस्कार रहने पर योगी का चित्त ईश्वर भक्ति से आर्द्र हो जाता है। ऐसे योगी के समक्ष ईश्वर सम्बन्धी चर्चाएँ उसको विह्वल कर देती हैं। विह्वलतावश उसे सत्त्वोद्रेक हो जाने से रोमांच, अश्रुपात आदि सच्चे प्रेम के सूचक चिह्न प्रकट हो जाते हैं। कामुक पुरुष की भी प्रेयसी की उपस्थिति में यही अवस्था होती है।

विशेष दर्शन या विवेकख्याति का उदय होने से चित्त स्थूल शरीर और स्थूल जगत् से छूट कर आत्मतत्त्व से जा जुड़ता है, तब चित्त के बाह्य विषयों से बेसुध हो जाने के कारण वह आत्मदर्शनरूप विवेक ज्ञान के मार्ग से कैवल्य की ओर अभिमुख हो जाता है। इसी अभिप्राय से सूत्रकार ने प्राग्भार पद का प्रयोग किया है। स्वामी ओमानन्द के अनुसार प्राग्भाव का अर्थ है 'उठी हुई भूमि, जहाँ जल का प्रवाह रुक जाता है'। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार स्वभावतः निम्न मार्ग की ओर बह रही जल की धारा सामने भूमि का ऊँचा भाग आ जाने से रुक जाति है, इसी प्रकार त्रिगुणात्मक होने के कारण स्वभावतः त्रिगुणात्मक ऐन्द्रिक विषयों की ओर बह रही चित्तरूपी जलधारा के समक्ष तीन गुणों में दोषदर्शनरूप उच्च धरातल के आ जाने से वह वहीं रुक जाती है। किन्तु जिस प्रकार रुका हुआ जल प्रवाह मार्गान्तर में बहने लगता है, उसी प्रकार चित्त भी विवेकरूप मार्गान्तर से बह निकलता है, तभी वह पुरुष के स्वरूप का दर्शन कर निवृत्त हो सकता है।

---

१. योगसूत्र ४.२६।

चित्त की इस अन्तर्मुख स्थिति की ओर संकेत करते हुए ही कठोपनिषद् में कहा गया है कि 'स्वयंभू परमात्मा ने इन्द्रियों को बहुर्मुख करके प्रवृत्त कर दिया है। इसी से जीव बाह्य विषयों को देखता है, अन्तरात्मा को नहीं। जिसने मोक्ष की इच्छा करते हुए अपनी इन्द्रियों को रोक लिया है, ऐसा कोई धीर पुरुष ही प्रत्यगात्मा को देखता है'।[1]

तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार बहिर्मुख अवस्था में चित्तसत्त्व बाह्य विषयों में आकृष्ट हुआ उनके उपभोग में प्रवृत्त रहता है, उसी प्रकार इस विवेकज्ञानबहुला अन्तर्मुखावस्था में चित्तसत्त्व आत्मारूप विषय को ग्रहण कर निरुद्ध सा हो जाता है। रजस् के भी नाममात्र शेष रह जाने के कारण चांचल्य और विक्षेप का नितान्त अभाव हो जाता है। जिस प्रकार एक संसारी मनुष्य को बाह्य विषयों के ग्रहण में कोई विशेष प्रयत्न नहीं करना पड़ता, अभ्यासवश स्वतः ही उसकी इन्द्रियाँ और तत्संयुक्त चित्त बिना किसी प्रयत्न विशेष के बाह्य विषयों का अनुभव कर लेते हैं, इसी प्रकार कृताभ्यास योगी के चित्त में निरोध का संस्कार प्रबल हो जाने से समाधि अवस्था सहज स्वाभाविक सी हो जाती है। वह सांसारिक विषयों पर सो जाता है और आत्मविषय में जाग उठता है। गीता के शब्दों में इसे इस प्रकार कहा जा सकता है कि 'सम्पूर्ण भूत प्राणियों के लिए जो रात्रि है, उसमें नित्य शुद्ध बोधस्वरूप आत्मानन्द में विवेक ज्ञान को प्राप्त हुआ योगी पुरुष जागता है और जिस नाशवान् क्षणभंगुर सांसारिक सुख में सब भूत प्राणी जागते हैं, तत्त्व को जानने वाले मुनि के लिए वह रात्रि है।'[2]

विवेकख्याति

त्रिगुणात्मक चित्त और गुणातीत पुरुष का भेद सुव्यक्त होने पर जब पुरुष का सम्यग्भान होने से योगी के चित्त में पुरुष का ही विशुद्धतम भान होता है, तो उसे ही विवेकख्याति कहते हैं। जो योगी इस प्रसंख्यान ज्ञान से भी विरक्त हो जाता है, उसको निरन्तर विवेकख्याति के उदय होने से धर्ममेध समाधि होती है।[3]

प्रसंख्यात का अर्थ है प्रकृष्टरूप से संख्यान। अर्थात् एक-एक करके ध्यानपूर्वक निरीक्षण तथा निराकरण करना। अतः यहाँ विवेकख्याति के प्रसंग में इसका अर्थ हुआ पृथिवी से लेकर महत्तत्त्व तक समस्त त्रिगुणात्मक तत्त्वों

---

१. कठोपनिषद् २।१।१।
२. गीता २.६६।
३. योगसूत्र ४.२६।

में पुरुषतत्त्व को क्रमशः खोजना तथा उनका पुरुष से भेद ज्ञात होने पर उनमें पुरुष की भावना का निराकरण करते जाना। आचार्य ईश्वर कृष्ण के अनुसार आत्मतत्त्व विषयक ज्ञान का अभ्यास करते करते सुदीर्घ काल के अनन्तर प्रकृति और पुरुष की भिन्नता का साक्षात्कार करा देने वाला ज्ञान उत्पन्न होता है, जिसका स्वरूप है 'मैं यह नहीं हूँ, मुझ में कोई गुण नहीं है, मैं बुद्धि से भिन्न और अहंता के भाव से भी रहित हूँ' इत्यादि[1] इस प्रकार के बोध को विवेकख्याति कहते हैं।

योगोपनिषद् में विवेकख्यातिजन्य इस अनुभव का वर्णन निम्नलिखित प्रकार से किया है—

मैं चिन्मात्र स्वरूप हूँ, मैं न मैं हूँ, न वह हूँ, न किसी स्वरूप वाला हूँ, और न बन्ध मोक्ष व्यापार वाला हूँ, न अंशों में बंट सकता हूँ, न किसी प्रकार अवभासित हो सकता हूँ। न मन हूँ, न वाणी, न हाथ, न पैर, न गुदा, न उपस्थ, न कान, न त्वचा, न आँख और न जीभ नाक आदि कोई इन्द्रिय हूँ। मैं न बुद्धि हूँ, न विचार हूँ, न स्थूल देह हूँ, न सूक्ष्म देह या लिंग देह हूँ, न जागृत अवस्था वाला हूँ, न स्वप्न या सुषुप्ति में वर्तमान, न आधिभौतिक दुःख हूँ, न आधिदैविक या आध्यात्मिक दुःख, न वित्तैषणा हूँ, न लोकैषणा या पुत्रैषणा हूँ, श्रवण मनन निदिध्यासन अथवा साक्षात्कार भी मैं नहीं हूँ। मेरे लिए न ध्यान है, न ध्याता है, न ध्येय है, न शीत है, न उष्णता है, न क्षुधा है, न पिपासा है। न मित्र है, न शत्रु है, न मोह है, न जय है, न पूर्व है न पश्चात्, न ऊपर है, न नीचे। न भोक्तव्य है, न स्मर्तव्य है, न भोग है, न राग है, न योग है, न लय है, न दुःख है, न लोभ है, न मुख्य है, न गौण है, न भ्रान्ति है, न स्थिरता है, न गोपनीय है, न कुल है, न त्याज्य है, न ग्राह्य है, न हास्य है, न नय है, न व्रत है, न ग्लानि है, न हेय है, न सुख है, न ज्ञाता है, न ज्ञान है, न ज्ञेय है, मैं तो मात्र चैतन्य स्वरूप हूँ इत्यादि।[2]

इस प्रकार प्रसंख्यान ज्ञान की प्राप्ति से भी मानों विरक्त सा होकर योगी जब **विवेकख्याति** के संस्कारों को परवैराग्य के द्वारा, रोक देता है, तो **धर्ममेघ समाधि** का उदय होता है। वस्तुतः धर्ममेघ समाधि भी विवेक ख्याति का ही एक उत्कृष्टतम रूप है। विवेकख्याति से इसमें यही अन्तर है कि विवेकख्याति में भी चित्त कैवल्य की ओर तो बढ़ रहा था, किन्तु व्युत्थानजन्य संस्कार कभी कभी उदित होकर विवेकज्ञान प्रवाह को रोक देते थे, किन्तु उन संस्कारों

---

१. सांख्यकारिका ६४।

२. योगोपनिषद् ३.४२.४६, ४.१८, १६, २१, २६.२८।

को भस्मसात् कर देने पर जब धर्ममेघ समाधि का उदय हुआ, तो चित्त से व्युत्थान संस्कारों के सर्वथा उन्मूलित हो जाने के कारण योगी के अन्तःकरण में आत्मज्ञान की यह गंगा अविरलरूप से बह निकलती है। उस समय रजोगुण और तमोगुण के शान्त हो जाने से विरोधी संस्कारों से रिक्त हुआ चित्त इसी ज्ञानामृत से लबालब भरकर निस्तरंग समुद्र की भाँति प्रशान्त हो जाता है। विवेकख्याति की अवस्था तक पहुँचने से पूर्व योगी को चित्तसत्त्व तथा पुरुष के स्वरूप में संयम करने के लिए यत्न करना पड़ता था, तथा यदा कदा उत्पन्न होने वाले संस्कारों को वैराग्य और विवेक के संस्कारों से दबाना पड़ता था, किन्तु इस समय उन सब झंझटों के मूलभूत संस्कारों के नाश से विशुद्ध हुए चित्त वाले योगी पर बिना प्रयत्न के ज्ञान की अविरल मूसलाधार वर्षा हो रही होती है। इसीलिए सूत्रकार ने इसे धर्ममेघ संज्ञा दी है। वृत्तिकार भोज के अनुसार जो पाप-पुण्य से रहित अति उत्तम तथा मोक्ष के साधक धर्म की वर्षा से (चित्त को) सींचती है, वह समाधि धर्ममेघ कहलाती है।[१] इसे **परप्रसंख्यान, अविप्लवा विवेकख्याति** या **सर्वथा विवेकख्याति** भी कहते हैं। सप्तधा प्रान्तभूमि प्रज्ञा का उदय भी इसी अवस्था में होता है।[२] विज्ञान भिक्षु ने भी योगविघ्नों का अभाव और अविरल विवेकख्याति के उदय होने के कारण इस अवस्था को सम्प्रज्ञात समाधि की उच्चतम अवस्था स्वीकार किया है।[३] इस अवस्था में प्राप्त सप्तधा प्रान्तभूमि प्रज्ञा में से अन्तिम भूमि के अनुसार भी गुणों के सम्बन्ध से अतीत होकर निज स्वरूपगत ज्योति में प्रतिष्ठित हो जाने के कारण पुरुष को **केवली पुरुष** कहते हैं।[४] केवली पुरुष का अर्थ है, कैवल्य को प्राप्त पुरुष। केवली शब्द से भाष्यकार का अभिप्राय जीवन्मुक्त पुरुष से है, जिसे क्लेशों के क्षीण होने से कुशल या चरम देह भी कहा जाता है।[५] आचार्य ईश्वरकृष्ण इसी अवस्था का वर्णन करते हुए कहते हैं कि इस समय पुरुष सम्यक् ज्ञान को प्राप्त करने से धर्मों के अकारणभाव को प्राप्त होने के कारण केवल संस्कारवश चक्र के भ्रमण के तुल्य देह को धारण किए हुए रहता है।[६]

तात्पर्य यह है कि कर्मों का नाश भोग से नहीं हो सकता, क्योंकि भोग का कोई समय नियत नहीं है और कर्मों की इयत्ता या विश्रान्ति भी नहीं है, अतः तत्त्व साक्षात्कार से अनादि कर्माशय दग्ध हो जाता है, यह मानना ही

---

१. भोजवृत्ति ४.२६।
२. योगसूत्र २.२६, २७।
३. योगवार्त्तिक ४.२६।
४. व्यासभाष्य २.२६।
५. वही २।४।।
६. सांख्यकारिका ६७।।

उचित है। इसे दूसरे शब्दों में इस भाँति कह सकते हैं कि जिस प्रकार भुने हुए बीजों से अंकुर उत्पन्न नहीं होते, उसी प्रकार भुने हुए (दग्ध) कर्मों से जन्मादि अंकुर उत्पन्न नहीं होते। कर्मरूपी बीज चित्तरूपी भूमि में क्लेशरूपी जल से सिक्त होकर ही जन्मादि अंकुरों को उत्पन्न करने में समर्थ होते हैं, किन्तु तत्त्वज्ञानरूपी ग्रीष्म के प्रचण्ड दाहकत्व से चित्तभूमि में पड़े हुए बीजों के दग्ध हो जाने से जहाँ योगी की हृदयस्थली क्लेशों की उत्पत्ति के प्रयोजनार्थ ऊसर हो जाती है, वहाँ क्लेशरूपी सलिल भी स्व प्रतिप्रसव (वाष्प) बन कर उड़ जाता है। अतः चित्तरूपी भूमि में भोगोत्पादनार्थ न बीज रह जाते हैं न जल। यद्यपि तत्त्वज्ञान से कर्म नाश और कर्मनाश से देहनाश की परम्परा से देह का भी नाश हो जाना चाहिए, किन्तु जिसप्रकार कुम्हार का चाक दण्ड के हटा लेने पर वेग के संस्कार से घूमता रहता है, किन्तु कालान्तर में संस्कार के क्षीण हो जाने पर स्वयं रुक जाता है, इसी प्रकार तत्त्वज्ञान से प्रारब्ध कर्मों के फल देने वाले धर्म और अधर्म के संस्कारों के कालवश भोग के द्वारा नष्ट हो जाने पर योगी का देहपात होता है, इससे पूर्व नहीं। अतः सांख्यदर्शन के अनुसार तत्त्वज्ञान से क्लेश, कर्मादि की निवृत्ति होने पर तत्क्षण ही योगी का देहपात नहीं होता, प्रत्युत प्रारब्ध कर्मों के उपभोग पर्यन्त वह जीवित ही रहता है।

पतंजलि के अनुसार इस अवस्था में योगी के कर्म पाप पुण्य की वासना से रहित होते हैं, अन्य जनों के समान शुक्ल कृष्ण एवं शुक्लकृष्ण नहीं।[१] इससे यह भी विदित होता है कि सूत्रकार क्लेश कर्मादि की निवृत्ति होने के बाद भी योगी का जीवित रहना स्वीकार करते हैं। सूत्रकार की यह मान्यता इस बात की ओर भी संकेत करती है कि जीवन्मुक्त होने के बाद भी योगी कर्मयोगमय जीवन बिताता हुआ निष्काम भाव से कर्म करता हुआ जीवित रहता है, अकर्मण्य नहीं हो जाता या शरीर को त्याग नहीं देता।

अनासक्तियोग अथवा निष्काम कर्मयोग की यह शिक्षा सूक्ष्म अवलोकन करने पर योगदर्शन में सर्वत्र परिव्याप्त हुई दिखाई पड़ती है। सूत्रकार और भाष्यकार ने इसी को परम गुरु ईश्वर में सब कर्मों का अर्पणरूप ईश्वरप्रणिधान कह कर समाधि की सिद्धि का मुख्य हेतु माना है। इसी निष्काम कर्म को करने का उपदेश गीता में भी मिलता है। 'हे अर्जुन ! तू अनासक्त भाव से निरन्तर कर्तव्य का अच्छी प्रकार आचरण कर, क्योंकि अनासक्तिपूर्वक कर्म करता हुआ पुरुष परमात्मा को प्राप्त होता है। इसी प्रकार जनकादि विवेकी

---

१. योगसूत्र ४.६,७।

जन आसक्ति रहित कर्म द्वारा ही परमसिद्धि को प्राप्त हुए हैं, इसलिए तथा लोक व्यवहार को देखता हुआ भी तू कर्म कर[1]। इसी कारण सूत्रकार ने धर्ममेध समाधि के फल को क्लेशों और कर्मों की निवृत्ति कहा है।[2] उनके अनुसार योगी के क्लेश दग्धबीज अवस्था को प्राप्त हो जाते हैं, और कर्म भी निवृत्त प्रसव भाव को प्राप्त हो जाते हैं।

तैत्तिरीय उपनिषद् के अनुसार उस समय योगी को एक ऐसी विलक्षण शान्ति प्राप्त हो जाती है, जो अकथनीय होने के साथ अकल्पनीय भी है। इसकी व्याख्या करते हुए उपनिषत्कार का कहना है कि 'एक युवा, सुपठित सुदृढ़ और बलवान् व्यक्ति को यदि धन से भरी हुई सारी भूमि दे दी जाए और इसके समस्त आनन्दों का यथेच्छ उपभोग करने दिया जाए, तो उसको जो आनन्द प्राप्त होता है, वह एक मानुष आनन्द कहलाता है। मनुष्य के आनन्द का सौगुना आनन्द मनुष्य-गन्धर्व-लोक वालों को मिलता है। मनुष्य- गन्धर्व-लोकवालों से सौ गुणा आनन्द देव-गन्धर्वलोकवालों को मिलता है। देवगन्धर्वलोक वालों का सौ गुणा आनन्द पितरलोक वालों को, पितरलोक वालों का सौ गुणा आनन्द आजानज देवलोकवालों को, आजानज देवलोकवालों का सौ गुणा आनन्द कर्मदेवलोक वालों को, कर्मदेवलोकवालों का सौ गुणा आनन्द देवलोक वालों को, देवलोक वालों का सौ गुणा आनन्द इन्द्रलोकवालों को, इन्द्रलोक वालों का सौ गुणा आनन्द बृहस्पतिलोक वालों को, बृहस्पति लोक' वालों का सौ गुणा आनन्द प्रजापति लोक वालों को और प्रजापति लोक वालों का सौ गुणा आनन्द ब्रह्मलोक वालों को मिलता है। इसी को ब्रह्मानन्द कहते हैं, जो धर्ममेघसमाधिजन्य कैवल्य की स्थिति में योगी को अनुभूत होता है।[3]

धर्ममेघ समाधि से अविद्या अस्मिता राग द्वेष अभिनिवेश पुण्य-अपुण्य सुख दुःख आदि की निवृत्ति होने पर चित्त के सब आवरण हट जानने से उद्भूत हुए अनन्त ज्ञान के समक्ष समस्त ज्ञेय पदार्थ अल्प हो जाते हैं।[4] यहाँ आवरण का तात्पर्य उन क्लेशों से है, जो चित्त के आलोक को ढकते हैं, उन क्लेशों से रहित हो जाने पर योगी का चित्त शरदृऋतु के आकाश मण्डल की भाँति अनन्त तथा कभी क्षति को प्राप्त न होने से ज्ञेय पदार्थों को बिना किसी क्लेश के जानने योग्य तथा गणना में उन्हें अति कम समझता है। दूसरे शब्दों में जैसे आकाश के सर्वगत और अनन्त होने के कारण कोई भी तत्त्व उससे बाहर

---

१. गीता ३.११, २०। २. योगसूत्र ४.३०।
३. तैत्तिरीयोपनिषद् ब्रह्मवल्ली ८। ४. योगसूत्र ४.३१।

नहीं है. इसी प्रकार योगी का ज्ञान भी सर्वविषयगत और अनन्त हो जाने से उससे बाहर जानने योग्य कुछ शेष नहीं रहता। इतना ही नहीं. जैसे अनन्त आकाश के समक्ष सब भूतपदार्थ सान्त होने के कारण एकत्र मिलकर भी अल्प हैं, वैसे ही योगी के ज्ञान के समक्ष अखिल ब्रह्माण्ड के सारे ज्ञेय पदार्थ थोड़े दीख पड़ते हैं।[1]

'जैसे अनन्त आकाश के सामने एक जुगनू का विस्तार अकिंचन ही होता है, वैसे योगी के अनन्त ज्ञान के समक्ष संसार के समस्त ज्ञेय पदार्थ उन्हें अकिंचन दीख पड़ते हैं'।[2]

धर्ममेघ समाधि के लाभ से कर्मक्लेशादि के क्षय होने पर भी गुण तो विद्यमान रहते हैं, फिर वे योगी के लिए नवीन शरीर का आरम्भ क्यों नहीं करते—इस आशंका का उत्तर देते हुए सूत्रकार ने यह हेतु दिया है 'तब कृतार्थ हुए गुणों के परिणाम के क्रम की समाप्ति हो जाती है'।[3]

गुणों का प्रयोजन पुरुष के लिए भोग और अपवर्ग का सम्पादन करना है। उस द्विविध धर्म से निवृत्त होने पर उस धर्ममेघ समाधि को प्राप्त पुरुष के लिए गुणों का जो अनुलोम या प्रतिलोमरूप में अंगांगिभाव से परिणाम को प्राप्त होना है, वह समाप्त हो जाता है। परन्तु यह गुणपरिणाम क्रम उन्हीं के लिए समाप्त होता है, जो पुरुष धर्ममेघ समाधि को प्राप्त कर कृतार्थ हो चुके हैं, अन्य के प्रति नहीं, क्योंकि यह त्रिगुणात्मक प्रकृति सब पुरुषों की सम्मिलित वस्तु है।[4] प्रस्तुत सन्दर्भ में 'क्रम' गुणों की उस अवस्था विशेष का नाम है, जो क्षण से सम्बन्ध रखने वाला होने से परिणाम के अन्त में प्रतीत होता है।[5] क्षण समय के सूक्ष्मतम भाग का नाम है। उन क्षणों से व्यवहित न होने वाली जो परिणाम की अविरल धारा है उसका नाम क्रम है। यह क्रम परिणाम के अन्त में जाना जाता है। अर्थात् जैसे सुरक्षित और यत्नपूर्वक रखे गये वस्त्रों में भी अनेक वर्षों बाद जो जीर्णता दिखाई देती है, जो उन वस्त्रों के अवयव शिथिल हुए प्रतीत होते हैं, वह जीर्णता किसी एक क्षण में, दिन अथवा मास में नहीं होती, अपितु धीरे धीरे सूक्ष्म रूप में होती रहती है अर्थात्

---

१. भोजवृत्ति ४.३१।
२. व्यासभाष्य ४.३१।
३. योगसूत्र ४.३२।
४. वही २.२२।
५. वही ४.३३।

यह जीर्णता पहले सूक्ष्मतम, फिर सूक्ष्म फिर किंचित् स्थूल फिर स्थूलतर और अन्ततः स्थूलतम होती है। परन्तु दिखाई अन्त में पड़ती है, यही क्रम क्षणों की अविरल धारा से सम्बद्ध है। यह क्रम केवल अनित्य पदार्थों में नहीं अपितु नित्य पदार्थों में भी देखा जाता है।

नित्यता दो प्रकार की होती है : एक कूटस्थ नित्यता और दूसरी परिणाम नित्यता। पुरुष में कूटस्थ नित्यता है, किन्तु गुणों में परिणाम होने के कारण कूटस्थ नित्यता नहीं, अपितु परिणाम नित्यता है। यद्यपि गुण भी पुरुष की भाँति ही स्वरूप से सदा एक से बने रहने से नित्य ही हैं, तथापि धर्म लक्षण अवस्था आदि परिणामों को प्राप्त होने से वे पुरुष से भिन्न जाति वाले हैं। गुणों के भी स्वरूप का बाध न होने से वे नित्य हैं। बुद्धि इन्द्रिय तन्मात्र एवं शरीरादि के स्वरूप का बाध होने से वे अनित्य कहलाते हैं। नित्य अनित्य पदार्थों के भेद से ही यह क्रम भी दो प्रकार का है लब्धपर्यवसान तथा अलब्धपर्यवसान। नित्य पदार्थों में मुक्त पुरुषों आदि में अतीत भाव को कभी भी प्राप्त न होने के कारण यह क्रम अलब्धपर्यवसान कहा जाता है, तथा बुद्धि आदि गुणधर्मियों में अतीत अवस्था को प्राप्त हो जाने के कारण इसे लब्धपर्यवसान कहा जाता है।[1] यद्यपि पुरुष में क्रम का होना असम्भव है, तो भी तीनों कालो में वर्तमान पुरुष के अस्तित्व के भाव से ऐसा कहा जाता है कि उसमें भी क्रम है।

इस सन्दर्भ में यह प्रश्न हो सकता है कि सृष्टि एवं प्रलय के प्रवाह रूप से गुणों में जो संसारक्रम वर्तमान है, उस क्रम की समाप्ति होती है, या नहीं ? इस शंका का समाधान यह है कि इस प्रश्न का समाधान हाँ या न में नहीं दिया जा सकता। क्योंकि सामान्यतः प्रश्न तीन प्रकार के होते हैं, एकान्तवचनीय जिसका समाधान एक ही हां या नहीं से हो जाए। जैसे—क्या जो भी उत्पन्न हुआ है, वह मरेगा ? तो इसका उत्तर है—हां ! अवश्य मरेगा। दूसरे प्रकार के प्रश्न जो विभागपूर्वक हाँ या नहीं में उत्तर देने योग्य हों, उन्हें विभज्यवचनीय कहते हैं, जैसे मनुष्य जाति उत्तम है या नहीं ? तो मनुष्य जाति पशुओं से उत्तम है, देवताओं से उत्तम नहीं है। अतः इसका उत्तर दो विभागों में देना पड़ा। तीसरे प्रश्न जिनका उत्तर हाँ या न में कहने योग्य नहीं होता ये प्रश्न अवचनीय कहलाते हैं, जैसे यह संसार अन्तवान है या अनन्त ? इसका उत्तर यह है कि ज्ञानियों के लिए संसार क्रम की समाप्ति होने के कारण उनके लिए तो संसार अन्तवान् है, किन्तु अज्ञानियों

---

१. व्यासभाष्य पृ० ४.३४ पृ० ४५१।

के लिए नहीं। फलितार्थ यह हुआ कि संसार कर्म की समाप्ति कुशल के लिए है, अकुशल के लिए नही।[१] क्योंकि संसार क्रम की समाप्ति होने से पुरुष को जो कैवल्य प्राप्त होता है, उसका स्वरूप बताते हुए सूत्रकार ने कहा है कि पुरुष के भोग और अपवर्ग का सम्पादन करने रूप पुरुषार्थ को कर चुकने पर जो गुणों का अपने कारण में लीन होना है, वह कैवल्य है, अथवा चित्‌शक्ति का वृत्तिसारूप्य की निवृत्ति होने पर अपने चिन्मात्र स्वरूप में अवस्थित होना है, वह कैवल्य है।[२] कैवल्य का वर्णन आचार्य ईश्वर कृष्ण ने भी इसी प्रकार किया है।

प्रारब्ध कर्म के नाश होने से शरीर का नाश होने पर एवं भोग अपवर्गरूपी कार्य का सम्पादन करने से प्रकृति के भी चरितार्थ हो जाने पर पुरुष दुःखों से सदा के लिए निवृत्तिरूप कैवल्य को प्राप्त हो जाता है।[३] इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि धर्ममेघ समाधिरूप चित्त की सर्वोत्कृष्ट अवस्था को प्राप्त होने के अनन्तर साधक को मोक्ष का लाभ हो जाता है।

मोक्ष से पुनरावृत्ति नहीं है—योग और सांख्य मत में कैवल्य से आत्मा का पुनः लौटना नहीं माना गया। क्योंकि आचार्य ईश्वर कृष्ण ने मुक्ति में दुःखत्रय का ऐकान्तिक और आत्यन्तिक अभाव होना स्वीकार किया है।[४] भाष्यकार व्यास भी ईश्वर को नित्य मुक्त सिद्ध करते हुए मुक्त पुरुषों की पूर्वा बन्धकोटि तथा प्रकृतिलीनों की उत्तरा बन्धकोटि की चर्चा करते हैं।[५] यदि भाष्यकार को मुक्ति से पुनरावृत्ति अभिमत होती, तो उन्हें प्रकृतिलीनों का ग्रहण करने की आवश्यकता न थी, क्योंकि मुक्ति से पूर्व और अनन्तर बन्धनमुक्त जीव में ही वर्तमान होने से पूर्वा बन्धकोटि तथा उत्तराबन्ध कोटि का उदाहरण उसी में ही मिल जाता। अतः सांख्य और योग मत में स्वरूपावस्थितिरूप कैवल्य को प्राप्त होकर जीव का पुनरावर्त्तन नहीं होता। हाँ, विदेह और प्रकृतिलीनों की पुनरावृत्ति अवश्यम्भावी है। उनके समय की गणना भाष्य या वृत्ति में नहीं दी गई किन्तु वायुपुराण के अनुसार, जिसे विज्ञानभिक्षु और वाचस्पति मिश्र ने स्वीकार किया है,[६] व्यवस्था निम्नलिखित है

(क) जो उपासक इन्द्रियों को ही आत्मा समझकर निर्वितर्क समाधि में उनके साक्षात् से ही कृतार्थ हो जाते हैं, उनका भी मोक्ष हो जाता है और दश मन्वन्तर तक समस्तभूतों या इन्द्रियों में लीन रह कर सुख भोग कर वापस

---

१. योगवार्त्तिक पृ० ४५४।
२. क) योगसूत्र ४.३४। (ख) भोजवृत्ति ४.३४।
३. सांख्यकारिका ६८। ४. सांख्यकारिका १।
५. व्यास भाष्य १.२४। ६. तत्त्व वैशारदी १.१६, योग वार्त्तिक १.१६।

लौटते हैं। एक मन्वन्तर का समय तीस करोड़ सड़सठ लाख बीस हजार वर्ष का होता है, अतः इनका मोक्ष तीन अरब छह करोड़ बहत्तर लाख वर्ष तक रहता है।

(ख) सूक्ष्म पंच भूतों को आत्मा मानकर उपासना करने वालों का मोक्ष सूक्ष्म भूतों की कारणावस्था में होता है। ये सौ मन्वन्तर तक (तीस अरब सड़सठ करोड़ बीस लाख वर्ष तक आनन्द भोगकर वापस लौटते हैं)।

(ग) अहंकार को आत्मा समझकर उसकी उपासना करने वाले योगी अहंकार को साक्षात् कर मुक्त हो जाते हैं तथा समष्टि अहंकार में स्थित होकर एक हजार मन्वन्तर अर्थात् तीन खरब छह अरब बहत्तर करोड़ वर्षों तक आनन्दोपभोग कर लौट आते हैं।

(घ) बुद्धि (महत्तत्त्व) का साक्षात्कार करके उसे ही आत्मा मानकर उपासना करने वाले का मोक्ष समष्टि बुद्धि में होता है और ये हजार मन्वन्तर अर्थात् तीस खरब सड़सठ अरब बीस करोड़ वर्ष तक आनन्दोपभोग करके लौट आते हैं। इन्हें ही सूत्रकार विदेह योगी कहते हैं।

(ङ) अव्यक्त प्रकृति के साक्षात्कार से उसे ही आत्मा मानकर कृतार्थ हुए उपासकों का भी मोक्ष हो जाता है और वे एक लाख मन्वन्तर तक अर्थात् तीन नील छह खरब बहत्तर अरब वर्षों तक अव्यक्त प्रकृति में कैवल्य की सी अवस्था को भोग कर लौट आते हैं। ये ही प्रकृतिलय योगी कहलाते हैं।

(च) निर्गुण पुरुष को स्वरूपावस्थिति की प्राप्ति होने पर पुनः बन्धन होने के लिए काल की कोई निश्चित संख्या नहीं बताई है, तथापि मोक्ष से पुनरावृत्ति का सर्वथा निषेध नहीं किया है, किन्तु सांख्यशास्त्र के ज्ञान अथवा योगसाधना से तत्त्वाभ्यास हो जाने पर होने वाला कैवल्य सदा के लिए होता है।

अन्यदर्शनकारों के मत के भी मोक्ष का स्वरूप योग से पर्याप्त मिलता जुलता है, किन्तु मोक्ष के स्वरूप अथवा समय की मान्यता में कहीं कहीं भेद है। बौद्धों के मतानुसार आर्य सत्यों के अनुशीलन से जब एक बार अखण्ड समाधि की प्राप्ति हो जाती है, उसके बाद निर्वाण हो ही जाता है। निर्वाण होने के बाद न तो निरन्तर समाधि में मग्न रहने की आवश्यता होती है और न ही कर्मों से विरत रहने की। साधारण ढंग से बोने पर बीज उग आता है, पर भूना हुआ बीज नहीं उगता; इसी प्रकार निर्वाण के बाद बन्धन नहीं होता है।[1]

●●●

---

१. अंगुत्तर निकाय ३.३३।

पातञ्जल योग पर बौद्ध दर्शन का प्रभाव

पातञ्जल योग की उपलब्ध परम्परा के विकास में बौद्धदर्शन और उसकी परम्पराओं का पर्याप्त प्रभाव रहा है। यों तो चिन्तन की प्रत्येक धारा अपने परिवेश से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकती। विशेषतः उन विचारधाराओं में, जहाँ प्रतिद्वन्द्विता की भावना विद्यामान हो, एक दूसरे की चिन्तनधारा का प्रभाव पड़ना अनिवार्य हुआ करता है। इसलिए जहाँ बौद्ध दर्शन के चार आर्य-सत्य दुःख, दुःख के हेतु, दुःखनिरोध और दुःख निरोध के उपाय का होना उसके चार स्तम्भ हैं,[1] वहीं त्रिविध दुःखों की आत्यन्तिक एवं ऐकान्तिक निवृत्ति सांख्यदर्शन के अनुसार भी परम पुरुषार्थ है।[2] न्यायदर्शन में भी तत्त्वज्ञान को निःश्रेयस् की प्राप्ति के लिए अपेक्षित समझा गया है।[3] यही स्थिति वैशेषिक दर्शन की है, वहाँ भी अभ्युदय और निश्रेयस् की प्राप्ति के साधन को ही धर्म कहा है।[4] तथा यह निःश्रेयस् सांसारिक दुःखों से निवृत्ति के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। वेदान्त दर्शन में तो उसके अध्ययन का अधिकारी ही उसे माना गया है जो संसाररूपी अनल से संतप्त होकर शान्ति प्राप्त करने का अभिलाषी है। इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रायः सभी दर्शन एक ही केन्द्र से अपनी यात्रा प्रारम्भ करते हैं, सभी संसार को दुःख रूप स्वीकार करते हैं, दुःख को अनित्य मानते हैं, दुःख के निरोध के उपायों का अनुसन्धान करते हैं, एवं दुःखों की निवृत्ति को ही चरम पुरुषार्थ स्वीकार करते हैं। उनमें यदि कहीं अन्तर है तो दुःख निरोध के उपायों के सम्बन्ध में अथवा उन दुःख निरोधके उपायों को प्राप्त करने के साधनों के सन्दर्भ में।

अन्य भारतीय दर्शनों के समान ही योगदर्शन भी बौद्धों के चार आर्य सत्यों के द्वारा अभीष्ट दुःखनिवृत्ति (मोक्ष) को स्वीकार करता हुआ ही आगे बढ़ता है। यहाँ भी चित्त की वृत्तियों को निरुद्ध करना इसीलिए आवश्यक

---

१. थेरीगाथा १६३, धम्मपद १६०.१६१।
२. (क) सांख्यकारिका १। (ख) सांख्य दर्शन १-१।
३. न्यायदर्शन १.१.१। ४. वैशेषिक दर्शन १.१.१।

समझा गया है कि बौद्धों के अनुसार योग में भी इसके बिना दुःखों की निवृत्ति संभव नहीं है।[1] इसी प्रकार बौद्ध परम्परा में एक अन्य स्थल पर भी मनोवृत्तियों के समूल उच्छेद को समाधि कहा गया है,[2] जो योगदर्शनगत योग की परिभाषा से पूर्णतः समानन्तर है। योगदर्शन में योग के आठ अंगों में से समाधि चरम अंग है समाधि में भी तारतम्य के क्रम से धर्ममेघसमाधि अभीष्ट अन्तिम है, क्योंकि उसके प्राप्त होते ही क्लेशकर्म की पूर्ण निवृत्ति हो जाती है।[3]

योगदर्शन में समस्त दुःखों का मूल कारण अविद्या को स्वीकार किया गया है[4] और अविद्या की निवृत्ति को दुःख निवृत्ति का उपाय। बौद्ध परम्परा में भी अविद्या, जिसे वहाँ मिथ्यादृष्टि कहा गया है, को समस्त संस्कारों का मूल मानते हुए[5] उसके नाश को सम्मादिट्ठि (सम्यक् दृष्टि) नाम देते हुए दुःख नाश के उपायों में प्रथम स्थान दिया गया है। बौद्धपरम्परा में मिथ्यादृष्टि (अविद्या) की निम्नलिखित परिभाषा की गयी हैं–

'जिसके कारण मनुष्य अप्राप्तव्य को प्राप्त करता है, प्राप्तव्य सुचरित्र आदि को नहीं प्राप्त करता, सत्य ज्ञान को नहीं जान पाता। परमार्थता से रहित स्त्री पुरुष पुत्र आदि पदार्थों की ओर दौड़ता है, विद्यमान स्कन्ध आदि को नहीं जानता, वह अविद्या है'।[6] इसी को योगसूत्र में दूसरे शब्दों में अनित्य अशुचि दुःख एवं अनात्म पदार्थों को नित्य शुचि सुख और आत्मायुक्त अथवा आत्मारूप समझना अविद्या कहा गया है। दोनों ही स्थलों पर अभीष्ट एक है, अन्तर केवल शब्दों का है। बौद्ध परम्परा में जिसे अप्राप्तव्य (अविन्दिय) कहा गया है, वह यहाँ सुख शब्द से अभिहित हुआ है। अनित्य को बौद्ध परम्परा में अविद्यमान (अविज्जमान) शब्द से अभिहित किया गया है। इस प्रकार अन्तर केवल शब्दों का है विषय का नहीं।

योगसूत्रगत दुःखों की मूल अविद्या की परिभाषा में अनित्य अशुचि दुःख और अनात्म के विषय में नित्यादिज्ञान को अविद्या कहते हुए इन्हें दुःख कहा है। यही बात प्रकारान्तर से बौद्ध साहित्य में सर्वत्र मिलती है। उदाहरणार्थ सुत्तपिटक में जो अनित्य है, वह दुःख है। जो अनात्म है, वह दुःख है' इत्यादि कहते हुए[7] अनित्य ओर अनात्म को दुःख माना है। इतना ही नहीं अविद्या की

---

१. (क) धम्मपद ३२६ (२३-५) (ख) योगसूत्र १.१।
२. धम्मपद ११.१०। विनोवाभावे सम्पादित १९७२।
३. (क) योगसूत्र योगसूत्र ४.२९.३०। (ख) धम्मपद ६.१३।
४. अविद्याक्षेत्रमुत्तरेषाम्। २.३, ४। ५. संयुक्तनिकाय १२.३।
६. विसुद्धिमग्ग १७.४३ पृ० ४४८। ७. सुत्तपिटक ३.२२।

परिभाषा भी उनकी मान्यता से भिन्न नहीं है। उदाहरणार्थ बुद्धघोष द्वारा चतुर्थ शताब्दी में विपर्यास का लक्षण किया गया है, वह अविद्या के लक्षण से अभिन्न है। उनके अनुसार अनित्य दुःख अनात्म और अशुभ वस्तुओं में नित्य सुख आत्मा और शुभ ज्ञान को, जो कि विपरीत ज्ञान है, विपर्यास कहा जाता है।[1] बौद्ध दर्शन का यह विपर्यास ही योगदर्शन में अविद्या के नाम से अभिहित किया गया है।

योगदर्शन में वितर्क विचार आनन्द और अस्मिता भेद से सम्प्रज्ञात समाधि के चार भेद एवं पंचम असम्प्रज्ञातसमाधि इसप्रकार कुल पंचविध समाधि की स्थूल रूप से चर्चा की गयी है।[2] बौद्ध दर्शन में भी ध्यानाङ्गयोग के पाँच भेद माने गये हैं, एवं उसके आधार पर ही रूपावचर ध्यान के पाँच भेद किये गये हैं।[3]

चित्तवृत्तिनिरोधात्मक योग की सिद्धि के अनेक उपाय बताते हुए पतंजलि ने अधिकारी भेद से कुछ साधकों के लिए श्रद्धा वीर्य स्मृति समाधि एवं विवेक ज्ञानपूर्वक असम्प्रज्ञात समाधि की सिद्धि स्वीकार की है। पतंजलि को श्रद्धा आदि को साधना के उपाय के रूप में प्रेरणा निश्चय ही बौद्ध परम्परा से प्राप्त हुई होगी। श्रद्धा आदि का बौद्ध ग्रन्थों में अत्यधिक महत्व है। बुद्धघोषकृत विसुद्धि मग्ग, जिसे प्राचीन बौद्धग्रन्थों का सार कहा जा सकता है, में श्रद्धा आदि के परम्परागत महत्त्व को न केवल उन्मीलित किया गया है, अपितु उनकी समुचित व्याख्या भी की गयी है। बुद्धघोष के अनुसार श्रद्धा वह है जिसके कारण लोग विश्वास (श्रद्धा) करते हैं। व्यक्ति स्वयं भी श्रद्धा (विश्वास) करता है, अथवा श्रद्धा (विश्वास) करना ही श्रद्धा है, यह मुक्ति का मार्ग है, सद्धर्म श्रवण आदि श्रद्धा के ही अंग हैं।[4]

बुद्धघोष के अनुसार वीरभाव ही वीर्य है, वह उत्साह को बढ़ाने वाला है, अपने साथ उत्पन्न हुए कार्यों का संचालन उसका कृत्य है, पतन से संभालना उसका प्रत्युपस्थान है, इसीलिए संवेगापन्न व्यक्ति ही उत्साहित होता है, भली प्रकार आरम्भ किया गया यह वीर्य (उत्साह) समस्त (लौकिक एवं अलौकिक) सम्पदाओं का मूल होता है।[5] बुद्धघोष के इस वाक्य में वीर्य (उत्साह) को समस्त सम्पदाओं का मूल कहते हुए समाधि का साधन तो माना ही गया है, साथ

---

१. विसुद्धिमग्ग २२.५३ पृ० ५८७।
२. योगसूत्र १.१७।
३. (क) विभ्रम १२.२, पृ० ३। (ख) विसुद्धिमग्ग १२.८६ पृ० ३८४।
४. वही १२–१४० पृ० ३६३। (विसुद्धिमग्ग हार्वर्ड यूनीवर्सिटी प्रेस लन्दन (१६५०)
५. विसुद्धिमग्ग १२.१३६ पृ० ३६२।

ही संवेग के द्वारा उसकी उत्पत्ति को स्वीकार किया गया है, इसे ही व्यास ने 'श्रद्दधानस्य विवेकार्थिनो वीर्यमुपजायते' अर्थात् विवेकज्ञान की इच्छा के साथ श्रद्धा करने पर ही वीर्य (उत्साह) होता है, कहते हुए स्वीकार किया है।[1] श्रद्धाजन्य वीर्य के प्रभाव को ही अभिधम्मपिटक में 'संविग्गो योनिमोपदहति'[2] द्वारा स्वीकार किया गया है। इस प्रकार अभिधम्म पिटक ने पतंजलि एवं बुद्धघोष दोनों के समक्ष एतद्विषयक मार्ग प्रशस्त किया है।

स्मृति :—स्मृति को पतंजलि ने चित्त की वृत्तियों में अन्यतम माना है उनके अनुसार अनुभूत विषयों का असम्प्रमोष अर्थात् उसी रूप में (किंचित् मात्र भी अधिकता का संयोग किये बिना) उनकी उपस्थिति स्मृति कहाती है। स्मृति जहाँ एक ओर चित्त की वृत्ति है, वहीं योगी के चित्त में उपस्थित होकर उसको अनालम्बन होते हुए भी अनाकुल रखकर समाधि की ओर अग्रसर करती है।[3] बुद्धघोष ने भी स्मरण की परिभाषा करने के अनन्तर इसे आलम्बन के प्रति दृढ़ता का हेतु माना है, और स्वीकार किया है कि वह आस्था के प्रति इन्द्रकील के समान दृढ़ बना देता है।[4]

योगदर्शन में समाधि की स्थिति में समस्त वृत्तियों का निरोध स्वीकार किया जाता है।[5] धम्मपद में इसे ही उपसन्ति नाम से स्वीकार करते हुए उसे प्राप्त करने वाले को उपसन्त कहा गया है।[6] इसे ही विसुद्धिमग्ग में आलम्बन में चित्त की स्थिरता, चित्त का समाधान आदि के रूप में परिभाषित करते हुए समाधि नाम से स्मरण किया है। इस स्थिति में चित्त उस प्रकार स्थिर रहता है, जिस प्रकार वायु रहित स्थान में दीपक की ज्योति।[7]

बौद्धपरम्परा के अष्टांगिक मार्ग के अनुकरण पर पातंजल योग में भी योग के अथवा समाधि के आठ अंग स्वीकार किये गये है। यम नियम आदि योग के आठों अंगों का एकत्र निर्देश बौद्ध परम्परा में भले ही न हो, किन्तु यम नियम आदि का यथावसर पृथक् पृथक् अत्यन्त महत्त्व के साथ वर्णन वहाँ मिलता है। धम्मपद में एक स्थल पर हिंसा असत्य स्तेय अब्रह्मचर्य एवं मद्यमान, जो प्रकारान्तर से अपरिग्रह भी कहा जा सकता है, को निर्वाण का अत्यन्त विरोधी मानते हुए इनके आचार को अपना मूलच्छेद स्वीकार करते

---

१. योगभाष्य पृ० ६०।
२. अभिधम्म पिटक २.११५।
३. व्यासभाष्य पृ० ६०।
४. विसुद्धिमग्ग १२.१४१ पृ० ३६३।
५. (क) योगसूत्र १.५१ पृ० १३५। (ख) योगभाष्य पृ० ४४।
६. धम्मपद ३७८। १६.५.
७. विसुद्धिमग्ग १२.३६ पृ० ३६२-६३।

हुए[1] इनके त्याग करने वाले को ही निर्वाण मार्ग का पथिक स्वीकार किया गया है। योगदर्शन में उपर्युक्त संयम को यम कहते हुए इन्हें योग का प्रथम अंग स्वीकार किया गया है।[2] एक अन्य स्थल पर धर्म संयम दम और शौच के साथ अहिंसा और सत्य का पालन भिक्खु के लिए अत्यन्त आवश्यक माना गया है।[3]

अहिंसा आदि यमों में से प्रत्येक के पालन के लिए बौद्ध परम्परा में अत्यधिक बल दिया गया है। उदाहरणार्थ हिंसा के त्याग को वहाँ प्रथम शिक्षापद कहा गया है।[4] एक अन्य स्थल पर अपने समान सभी प्राणियों को समझते हुए हिंसा के निषेध का निर्देश किया गया है।[5] इसी प्रकरण में यह भी कहा गया है कि जो दूसरों की हिंसा करता है, उसे सुख नहीं मिलता।[6] एक अन्य प्रकरण में अहिंसक को ही आर्य तथा ब्राह्मण माना गया है।[7] एक प्रसंग में वहीं कहा गया है कि अहिंसा व्रत का पालन करने वाला मुनि ही शोकादि से रहित अच्युत पद को प्राप्त करता है।[8]

बौद्ध धर्म में हिंसा के प्रबल विरोध के कारण ही भाष्यकार व्यास ने न केवल सत्य आदि की अपेक्षा अहिंसा को अधिक महत्व दिया है, अपितु सत्य आदि को अहिंसा सापेक्ष्य स्वीकार किया है।[9]

असत्य भाषण को बौद्ध धर्म में पाराजिक धर्म्म मानते हुए सत्य को पंचशीलों में महत्वपूर्ण स्थान प्रदान किया गया है।[10] धम्मपद में असत्य को सभी पापों का मूल स्वीकार करते हुए कहा गया है कि जिसने सत्य को छोड़ दिया है, उसने मानो परलोक का ही त्याग कर दिया है एवं उसके लिए कोई भी कार्य अकार्य नहीं है।[11] सूत्रकार पतंजलि को 'सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम्' सूत्र की रचना की भूमिका भी भगवान बुद्ध के जीवन से मिली हो, तो कोई आश्चर्य नहीं है।

योग में वर्णित तृतीय यम अस्तेय को बौद्ध ग्रन्थों में साधना के लिए अत्यन्त आवश्यक माना गया है। इसे भी वहाँ पंचशीलों में अन्यतम स्वीकार करते हुए आवश्यक आचरण माना गया है।[1] धम्मपद में अस्तेय के महत्व को

---

१. धम्मपद ५.२४–२५।
२. योगसूत्र २.३०।
३. यम्हि सच्चं च धम्मो च अहिंसा संयमो दमो।
४. पातिमोक्ख।
५. धम्मपद १.२०।
६. धम्मपद १३१-३२।
७. वही १.१६ वही १८.६।
८. वही १.१८।
९. योगभाष्य पृ० २४६।
१०. खुद्दक पाठ
११. धम्मपद २.२२।

स्वीकार करते हुए कहा गया है कि जो सर्वथा अकिंचन होते हुए भी बिना दिये हुए छोटी बड़ी शुभ अशुभ किसी भी प्रकार की वस्तुओं को नहीं लेता वही ब्राह्मण है।[२] एक अन्य स्थल पर भगवान् बुद्ध ने दुःखशील व्यक्ति के सौ वर्ष के जीवन की अपेक्षा भी सुशील ध्यानी व्यक्ति के एक दिन के जीवन को श्रेष्ठतर कहा है।[३] भगवान् बुद्ध के उपयुक्त वचन में दुःशील (दुस्सील) पद का अर्थ करते हुए अट्ठकथाकार बुद्धघोष ने स्तेय सम्पन्न कहा है। इस प्रकार बुद्ध के अनुसार स्तेय सम्पन्न व्यक्ति के सम्पूर्ण (सौ वर्षों के) जीवन की अपेक्षा भी अस्तेय का पालन करने वाले योगी का एक दिन का जीवन अधिक सफल है, ऐसा कहा जा सकता है। अस्तेय की इस महिमा के कारण ही महर्षि पतंजलि ने अस्तेय को यमों में स्वीकार किया है।

बुद्ध भगवान् ने ब्रह्मचर्य को योगी के लिए भी आवश्यक माना है, उनका कहना है जो भिक्खु ब्रह्मचर्य का पालन नहीं करते उन्हें चार हानियाँ होती है, अपुण्य की प्राप्ति, अनिद्रा, निन्दा और नरक।[४] इसीलिए पतंजलि ने ब्रह्मचर्य को योगी के लिए आवश्यक कर्म के रूप में पाँच यमों में अन्यतम स्थान दिया है। योगदर्शन में ब्रह्मचर्य साधना के फल के रूप में वीर्यलाभ की चर्चा की गयी है।[५] तथा धम्मपद में तथा उसके उत्तरकालीन बौद्ध साहित्य में वीर्यलाभ की अत्यधिक महिमा गायी गयी है। धम्मपद के अनुसार हीनवीर्य व्यक्ति के सौ वर्ष के जीवन से दृढ़वीर्य का एक दिन का जीवन अधिक श्रेष्ठ है।[६] विसुद्धिमग्ग में वीर्यवत्व को समस्त सम्पत्तियों का मूल कहा गया है।[७] इसीलिए ब्रह्मचर्य को पंचशीलों में गणना करते हुए अनिवार्य आचरण विकार किया है।

सूत्रकार पतंजलि को शौच सन्तोष आदि नियमों को निर्धारित करने में बौद्ध साहित्य से प्रेरणा मिली है, इस सम्बन्ध में अन्तिम रूप से कुछ कहना भले ही संभव न हो, किन्तु इतना तो निश्चित ही है कि शौच सन्तोष दम संयम (तप) आदि की अनिवार्यता के सम्बन्ध में पृथक् पृथक् बौद्ध साहित्य में अनेक स्थानों पर चर्चा मिलती है। बहुत संभव है सूत्रकार को इस सम्बन्ध में बौद्ध परम्परा से ही प्रेरणा प्राप्त हुई हो। उदाहरणार्थ नियमों में प्रथम शौच को धर्म पद में अनेक स्थानों पर अनिवार्य कर्म बताया गया है। यह शौच मानसिक वाचिक एवं कायिक भाव से तीन प्रकार का हो सकता है। धम्मपद

---

१. खुद्दक पाठ
२. धम्मपद १८.१६, १८.१८।
३. धम्मपद २.१।
४. धम्मपद ५.२८।
५. योगसूत्र २.३८।
६. धम्मपद। २.३।
७. विसुद्धिमग्ग १२.१३७ पृ० ३६२।

में त्रिविध शौच से युक्त लोगों को ही सुसंवृत कहते हुए उन्हें आवश्यक कर्त्तव्य बताया है।[१] इसी प्रकरण में भगवान् बुद्ध ने पृथक्-पृथक् प्रत्येक शौच के लिए भी विधान किया है।[२] वहीं एक अन्य स्थल पर कहा गया है कि जो भी मलों को दूर कर निर्मल हो गया है, उसे कोई पार नहीं पा सकता।[३] इसी प्रकरण में यह भी कहा गया है जो मलों को सर्वथा दूर करके "अनासव" (निर्मल) हो गया है, देवता भी उसकी स्पृहा करते हैं। इतना ही नहीं अपितु मन वचन कर्म से अनासव व्यक्ति, पृथिवी के समान सदा अक्षुब्ध एवं इन्द्रकील के समान अकम्प होता है, तथा उसे बार-बार जन्म नहीं लेना पड़ता।[४]

वहीं एक अन्य स्थल पर मानसिक शौच पर विशेष बल देते हुए कहा गया है कि मन की निर्मलता न होने पर समस्त गुण नष्ट हो जाते हैं, अतः पाप से अपने मन को सर्वथा दूर रखना चाहिए।[५]

नियमों में द्वितीय सन्तोष पर बुद्ध साहित्य में अत्यधिक बल दिया गया है, भगवान् बुद्ध का कहना है कि जो व्यक्ति कामनाओं से तृप्त नहीं होता अर्थात् सदा असंतुष्ट रहता है उसे यम वश में कर लेते हैं।[६] इसके विपरीत जो इन्द्रियजयी और संतुष्ट रहने वाला है तथा सदाचार युक्त है, वही दुःखों पर विजय प्राप्त कर पाता है।[७] एक्र अन्य स्थल पर सन्तुष्टि को परम धन स्वीकार किया है।[८] सन्तोष का मुख्य तात्पर्य है तृष्णा का त्याग। बौद्ध धर्म में तृष्णा को महान् आसव तथा समस्त दुःखों का मूल कहा गया है। भगवान् बुद्ध का कहना है कि जो व्यक्ति तृष्णाओं के चक्र में पड़ जाता है, उसकी तृष्णा मालुवालता के समान निरन्तर बढ़ती रहती है और उसके चक्र में पड़ा व्यक्ति वन में वानर की तरह इधर उधर भटकता रहता है।[९] यह तृष्णा विष के समान है, जिसके अभिवृद्ध होते ही उसके शोक उसी प्रकार बढ़ते हैं, जिस प्रकार वर्षा ऋतु में वीरण नामक घास।[१०] तथा जिसने तृष्णा को जीत लिया है, उस व्यक्ति पर पड़ने वाले शोक आदि उसी प्रकार उससे दूर जा पड़ते हैं, जैसे कमल पत्र पर जल बिन्दु नहीं टिक पाते।[११] अतः शान्ति चाहने वाले भिक्षुओं को चाहिए कि वे तृष्णा को जड़ से उखाड़ने में उसी प्रकार तत्पर

---

१. धम्मपद १०.१०।
२. धम्मपद १०.७-६।
३. वही १७.४।
४. वही १७.५-६।
५. धम्मपद ४.२।
६. धम्मपद ८.३।
७. वही १६.२-३।
८. वही २.१२।
६. वही १२.८।
१०. वही १२.६।
११. वही १२.१०।

रहें, जिस प्रकार खश को प्राप्त करने के लिए लोग वीरण घास को खोदते हैं। क्योंकि उसका समूल उन्मूलन न होने पर स्रोत में उत्पन्न नरकुल के समान मार बारम्बार उत्पन्न हो कर कष्ट देता रहेगा।[१] वहीं पुनः कहा गया है कि जो लोग तृष्णा के पीछे पड़े रहते हैं, वे रस्सी में बँधे हुए खरगोश की तरह निरन्तर दौड़ने में अपनी समस्त शक्ति का प्रयोग करते हुए भी दुःख के केन्द्र से दूर नहीं हो पाते, अपितु वे चिरकाल तक दुःख पाते रहते हैं।[२]

तृष्णा क्षय अर्थात् सन्तोष की इस अपार महिमा को देखकर ही सूत्रकार पतंजलि ने 'सन्तोषादनुत्तमसुखलाभः'[३] कहते हुए सन्तोष को उत्कृष्टतम सुख का मूल स्वीकार किया है।

बौद्ध परम्परा में दम अथवा इन्द्रियनिग्रह को भी अत्यन्त आवश्यक माना गया है। भगवान् बुद्ध के अनुसार आँख, कान नाक-जिह्वा-शरीर-वाणी और मन सभी का संयम आवश्यक है, इन इन्द्रियों के संयम से मनुष्य के सभी दुःख नष्ट हो जाते हैं।[४] इतना ही नहीं उनका कहना है, कि हाथ पैर आदि इन्द्रियों का संयम करने वाला ही भिक्खु हो सकता है।[५] एक अन्य प्रसंग में उनका कहना है कि जो व्यक्ति अपना भली प्रकार दमन कर लेता है, वही दुर्लभ स्वामी अर्थात् ईश्वर को प्राप्त कर पाता है।[६] इसीलिए उनकी मान्यता है कि जिस प्रकार नहर वाले पानी को ले जाते हैं, वाण बनाने वाले बाण को ठीक करते हैं, बढ़ई लकड़ी को ठीक करते हैं, इसी प्रकार सुव्रत अर्थात् योगी या भिक्षु लोग अपना दमन करते हैं।[७] इस प्रकार हम देखते हैं बौद्ध परम्परा में दम और इन्द्रिय निग्रह को प्रत्येक साधक के लिए अत्यन्त आवश्यक माना गया है। सूत्रकार पतंजलि ने भी इसी दम और इन्द्रिय निग्रह को तप नाम से नियमों में परिगणित करते हुए इसे समाधि की योग्यता प्राप्ति के लिए अत्यन्त आवश्यक स्वीकार किया है।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि पातंजल योगदर्शन में नैतिक शिक्षा एवं वैराग्य के सन्दर्भ में यम नियम आदि के रूप में जो अनिवार्यता स्वीकार की गयी है वह बौद्ध परम्परा में स्वीकृत नैतिक शिक्षा एवं वैराग्य के प्रभाव के स्वरूप ही आयी दिखाई पड़ती है, अन्यथा भारतीय दर्शन की अन्य शाखाओं सांख्य न्याय वैशेषिक आदि में इस की प्रायः उपेक्षा ही की गयी है, अतः यह

---

१. धम्मपद १२.११।
२. धम्मपद १२.७।
३. योगसूत्र २.४२।
४. धम्मपद १०.११-१२।
५. वही १६.४।
६. धम्मपद। ७.५।
७. वही ७.८।

स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए कि वैराग्य नैतिक दर्शन सम्बन्धी पूर्व निर्दिष्ट अनेक तत्त्व बौद्ध धर्म-दर्शन के प्रभावस्वरूप ही योग-दर्शन में आ सके हैं।

इतना ही नहीं योगदर्शन की कई अन्य मान्यताएँ भी निश्चित रूप से बौद्ध दर्शन की परम्परा से ही उसमें आ सकी हैं। उदाहरणार्थ चित्त परिकर्मों को देखा जा सकता है। सूत्रकार पतंजलि व्याधि स्त्यान आदि चित्त विक्षेपों का वर्णन करने के अनन्तर उनके निवारण के लिए पहले (विक्षेप के निवारण हेतु) एक तत्त्व को आलम्बन बनाकर उसमें चित्त एकाग्र करने का अभ्यास करे ऐसा निर्देश करते हैं, तदनन्दर उन्होंने चित्त परिकर्मों का वर्णन किया है कि वे चित्त का प्रसादन कर देते हैं, वे चित्त के परिकर्म हैंः—मैत्री करुणा मुदिता और उपेक्षा वृत्तियों की क्रमशः सुखी दुःखी पुण्यात्मा और अपुण्यात्मा जनों के साथ भावना करना। पतंजलि का कथन है कि इनके द्वारा चित्त का प्रसादन होता है।[1]

बौद्ध परम्परा में इसी मैत्री आदि की भावना को ब्रह्मविहार कहा गया है। अभिधमत्थसंगहो में बहुत स्पष्ट शब्दों में कहा गया है कि—मेत्ता-करुणा मुदिता-उपेक्खा चेति इमा चतस्सो अप्पमज्जायो नाम ब्रह्मविहारा ति बुच्चन्ति।[2] अर्थात् मैत्री करुणा मुदिता और उपेक्षा इन चार वृत्तियों को ब्रह्मविहार कहते हैं। इसी बात को लगभग इन्हीं शब्दों में विशुद्धि मग्ग में भी स्वीकार किया गया है।[3]

पातंजल योगसूत्र में प्रयुक्त होने वाले ऐसे शब्दों की एक लम्बी सूची प्रस्तुत की जा सकती है, जिनका प्रयोग योगदर्शन के अतिरिक्त अन्य आस्तिक दर्शनों में प्रायः नहीं हुआ है, किन्तु बौद्ध दर्शन अथवा बौद्ध परम्परा में उनका व्यापक रूप से प्रयोग होता आया है, जिसके आधार पर यह अनुमान करना अनुचित न होगा कि दोनों ही दर्शनों का विकास समानन्तर और सौहार्द पूर्ण वातावरण में हुआ है और अति निकट सम्बन्ध होने के कारण ही बौद्ध परम्परा में प्रयुक्त अनेक शब्दों का प्रयोग योगदर्शन में बिना किसी संकोच के हुआ है। निदर्शन के लिए कुछ शब्दों को देखा जा सकता हैः—

विपर्यय—विपर्यय शब्द का प्रयोग न्याय वैशेषिक वेदान्त अथवा मीमांसा में कहीं नहीं मिलता है। योग में इसे मिथ्या ज्ञान के अर्थ में प्रयुक्त किया

---

१. योगसूत्र १.३३।
२. अभिधम्मत्थ संगहो पृ० १५६ (६-६)।
३. विशुद्धि मग्ग नवम परिच्छेद।

गया है। न्याय वैशेषिक परम्परा में एतदर्थ अयथार्थ ज्ञान अथवा अप्रमा शब्द का प्रयोग मिलता है। वेदान्त परम्परा में अविद्या शब्द प्रयुक्त है। किन्तु स्मरणीय है कि अविद्या शब्द बौद्ध परम्परा में भी समान रूप से प्रयुक्त हो रहा है। बौद्ध परम्परा में विपर्यय शब्द उसी अर्थ में विपर्यास के रूप मे प्रयुक्त हो रहा है, पाली में इसका रूप विपल्लास है। विशुद्धिमग्ग के अनुसार अनित्य दुःख अनात्म और अशुभ वस्तुओं में नित्य सुख आत्म और शुभ बुद्धि को विपर्यय या विपल्लास कहते हैं।[1] किसी वस्तु के स्वरूप से सर्वथा भिन्न (विपरीत) प्रतीति के कारण इसे ही मिथ्याज्ञान कहा जा सकता है। इसीलिए सूत्रकार ने मिथ्याज्ञान शब्द से ही विपर्यय को परिभाषित किया है।[2]

विकल्प–विकल्प शब्द विभाषा अर्थ में व्याकरण शास्त्र में प्रयुक्त है, किन्तु पाणिनीय अष्टाध्यायी में इस शब्द का प्रयोग नहीं है, उत्तरकालीन व्याकरण ग्रन्थों में ही यह कथमपि व्यवहार परम्परा में आ गया है। न्याय वैशेषिक आदि योग से इतर आस्तिक दर्शनों में भी इसका प्रयोग नहीं मिलता है। योगदर्शन में इस शब्द का प्रयोग पतंजलि ने स्वयं किया है। उनके अनुसार विकल्प वह चित्तवृत्ति विशेष (ज्ञान विशेष) है, जो केवल शब्दों के आधार पर बना करती है, किन्तु वस्तुत्वेन उसका साक्षात्कार किया जाना सम्भव नहीं होता। साथ ही यह प्रमाण एवं विपर्यय से भिन्न होता है।[3] विकल्प शब्द का लगभग इसी अर्थ में प्रयोग बौद्ध परम्परा में लंकावतार सूत्र में मिलता है। लंकावतार सूत्र के अनुसार हमारा ज्ञान दो तत्त्वों के सम्मिश्रण से बनता है (१) प्रविचय बुद्धि एवं (२) विकल्प बुद्धि। वहाँ विकल्प बुद्धि का अर्थ ग्रहाभिनिवेश प्रतिष्ठापिका कहा गया है।[4] जो शंकर वेदान्त के व्यवहार बुद्धि के समानान्तर है। यहाँ भी विकल्प न तो तो विपर्यय है और न यथार्थ ज्ञान (प्रमाण), अपितु उभयभिन्न ज्ञान-विशेष है, जो योग के विकल्प से बहुत कुछ अभिन्न कहा जा सकता है।

प्रत्यय–योगसूत्रकार पतंजलि ने असम्प्रज्ञात समाधि के उपाय और स्वरूप का निर्देश करते हुए प्रत्यय शब्द का अनेक बार प्रयोग किया है। इस सन्दर्भ में उन्होंने प्रत्यय का प्रयोग विराम और भव शब्दों के साथ किया है।[5] भाष्यकार व्यास ने इसी प्रसंग में उपाय प्रत्यय शब्द का भी प्रयोग किया है।[6] इन स्थलों में प्रत्यय शब्द का अर्थ है, हेतु या कारण। इस प्रकार विरामप्रत्यय

---

१. विशुद्धिमग्ग २२.५३ पृ० ५८७।
२. योगसूत्र १.८।
३. वही १.६।
४. लंकावतार सूत्र पृ० ८७।
५. योगसूत्र १.१८-१६।
६. व्यासभाष्य पृ० ५६।

भवप्रत्यय एवं उपायप्रत्यय शब्दों का अर्थ क्रमशः निरोधहेतुक जन्महेतुक एवं उपायहेतुक होगा।[1] प्रत्यय शब्द का कारण अर्थ में प्रयोग योग दर्शन के अतिरिक्त अन्य आस्तिक दर्शनों में हमें अब तक न मिल सका है। किन्तु बौद्ध ग्रन्थों में यह शब्द (प्रत्यय शब्द) अत्यन्त सामान्य रूप में इसी अर्थ में प्रयुक्त होता है। उदाहरणार्थ मज्झिमनिकाय में हम अविद्याप्रत्यय, संस्कारप्रत्यय-नामरूपप्रत्यय षडायतनप्रत्यय स्पर्शप्रत्यय इत्यादि शब्दों के प्रयोगों को देख सकते हैं।[2] इन स्थानों में भी प्रत्यय शब्द का प्रयोग हेतु अर्थात् कारण अर्थ में ही है।[3]

कर्माशय और कर्मविपाक—पातंजल योगसूत्र में संचित कर्म के लिए प्रायः कर्माशय शब्द का प्रयोग हुआ है।[4] तथा उनके परिणाम के लिए भाष्यकार ने प्रायः विपाक शब्द का प्रयोग किया है।[5] इन दोनों शब्दों का प्रयोग भी आस्तिक दर्शनों में योग के अतिरिक्त प्रायः नहीं हुआ है, जब कि बौद्ध परम्परा में इन शब्दों का प्रयोग अत्यन्त सामान्य है। उदाहरणार्थ विभ्रम विभङ्ग में हम रूपावचर और अरूपावचर कर्मों का कर्त्तृत्त्व उपचय और विपाक पर विस्तृत विवेचन प्राप्त करते हैं।[6] इसीप्रकार मिलिन्द प्रश्नों में भी कर्म विपाक शब्द का प्रयोग करते हुए उसे अचिन्तनीय स्वीकार किया है।[7]

सम्प्रयोग—आस्तिक दर्शन की परम्परा में सम्पर्क के अर्थ में सम्प्रयोग शब्द का प्रयोग नहीं मिलता, जब कि योगसूत्रकार ने प्रत्याहार की परिभाषा करते हुए स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्य स्वरूपानुकार इव इन्द्रियाणां प्रत्याहारः,[8] सूत्र में सम्प्रयोग शब्द का प्रयोग सम्पर्क अर्थ में किया है। सम्पर्क को दुःख बताते हुए महावग्ग में सम्प्रयोग शब्द का ही प्रयोग किया गया है।[9]

इस प्रकार हम देखते हैं कि बौद्ध परम्परा के अनेक ऐसे शब्दों का प्रयोग, जो आस्तिक दर्शन की परम्परा में सर्वथा अप्रयुक्त हैं, योगसूत्र और उसके भाष्य में हमें प्राप्त होता है, इस आधार पर यह अनुमान करना अनुचित न होगा कि पातंजलयोग एवं बौद्धपरम्परा का प्रारम्भिक दिनों में अत्यधिक

---

१. (क) तत्त्ववैशारदी पृ० ५५। (ख) भास्वती पृ० ५६।
(ग) तत्त्ववैशारदी पृ० ५७।
२. मज्झिमनिकाय ३८ ३-७।
३. प्रत्याय्यन्ते अनेनेति प्रत्ययाः।
४. योगसूत्र २.१२।
५. योगभाष्य १६५।
६. (क) विभ्रमविभङ्ग १२.२.१४३। (ख) वही १२.२.१४५।
(ग) वही १२.२.१५२।
७. मिलिन्दपञ्ओ पृ० १८८।
८. योगसूत्र २.५४।
९. महावग्ग १.७-१४।

सम्बन्ध रहा है, और इस सम्बन्ध ने योगपरम्परा के विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया है, जिसका प्रभाव योगसूत्र में यथास्थान उपलब्ध होता है।

पातंलयोगसूत्र में हमें बौद्ध दर्शन के सम्प्रदायों के खण्डन का प्रयास भी दृष्टिगोचर होता है, इससे भी यह अनुमान लगाना अनुचित न होगा कि योगसूत्र के निर्माण कर्त्ता की दृष्टि निरन्तर बौद्ध सम्प्रदाय अथवा बौद्ध दर्शन के सम्प्रदायों की ओर रही है। उदाहरणार्थ विभूतिपाद के 'एतेन भूतेन्द्रियेषु धर्मलक्षणावस्थापरिणामाः'[१] सूत्र में स्पष्ट रूप से बौद्ध दार्शनिक सम्प्रदाय का खण्डन किया गया प्रतीत होता है। बौद्धों के अनुसार धर्म और धर्मी पृथक् दो पदार्थ नहीं है, अपितु प्रतीयमान समस्त पदार्थ धर्मरूप ही हैं। इतना अवश्य है कि धर्म दो प्रकार का है–प्रत्ययधर्म प्रतीत्यधर्म। उनके अनुसार अन्य सम्प्रदायों में, जिसे धर्मी कहा जाता है, वह वस्तुतः प्रत्ययधर्म है, एवं जिसे धर्म (वस्तुधर्म) कहा जाता है, वह प्रतीत्य धर्म है। आचार्य पतंजलि इसे स्वीकार न कर धर्म और धर्मी दोनों की पृथक्-पृथक् सत्ता स्वीकार करते हैं। इसलिये उनका कहना है सिद्ध धर्मी में ही धर्मपरिणाम लक्षणपरिणाम और अवस्थापरिणाम हुआ करते हैं। इस सूत्र में पतंजलि का मुख्य अभीष्ट बौद्धमत का खण्डन करना है, इसे भाष्यकार व्यास ने भी स्वीकार किया है। वे कहते हैं कि अन्य लोगों अर्थात् बौद्धों का विचार है कि धर्म से धर्मी अन्यूनाधिक होता है, क्योंकि वह पूर्वतत्त्व का अतिक्रमण नहीं करता, यदि वह अन्वयी होता तो वह पूर्व आदि अवस्था भेद से अवश्य ही कूटस्थता से परिवर्तित होता।[२] भाष्यकार व्यास का उपर्युक्त वाक्य में 'दूसरे' (अपर) शब्द से तात्पर्य निश्चित ही बौद्ध से है, इसे वार्तिककार विज्ञानभिक्षु स्पष्ट शब्दों में स्वीकार भी किया करते हैं।[३] इसी सूत्र की व्याख्या में व्यास ने एक बार पुनः 'पर' शब्द से बौद्धों की ओर संकेत किया है और उनके मत की आलोचना की है।[४] बौद्धों के सिद्धान्तों के प्रति अरुचि होने के कारण ही इस प्रकरण में अग्रिम सूत्रों में क्रमशः धर्मोंकी स्थापना सहित उसके स्वरूप का परिचय एवं उसमें होने वाले विविध परिणामों की सिद्धि करना पतंजलि ने आवश्यक समझा है।[५]

इसीप्रकार उन्होंने कैवल्य पाद में भी परिणामैकत्वात् वस्तुतत्त्वम्'[६] सूत्र द्वारा वस्तु का तत्त्वभाव सिद्ध किया है, वह भी निस्सन्देह क्षणिक विज्ञानवादियों

१. योगसूत्र ३.१३।
२. योगभाष्य पृ० २६८।
३. योगवर्त्तिक पृ० २६८।
४. (क) योगभाष्य पृ० ३०५। (ख) योगवर्त्तिक पृ० ३०५।
५. योगसूत्र ३.१४.१५।
६. योगसूत्र ४ : १४।

का खण्डन करने के लिए ही किया है। यही भाष्यकार व्यास भी स्वीकार करते हैं। व्यास इस सूत्र के भाष्य में पूर्वपक्ष के रूप में बौद्धों के मत को उपस्थापित करते हुए कहते हैं कि 'नास्त्यर्थो विज्ञानविसहचरोऽस्ति तु ज्ञानमर्थविसहचरं स्वप्नादौ कल्पितम् इत्यनया दिशा ये वस्तुस्वरूपमपह्नुवते, ज्ञानपरिकल्पनामात्रं वस्तुस्वप्नविषयोपमं, न परमार्थतोस्ति इत्याहुः'[1] अर्थात् ज्ञान के बिना वस्तु नहीं हो सकती, किन्तु स्वप्न आदि में वस्तु के बिना भी कल्पित ज्ञान रहता है। अतः वस्तु स्वरूपतः कुछ नहीं है, अपितु स्वप्नगत विषय के समान ही है, वह परमार्थतः कुछ नहीं है इत्यादि। इस प्रकार भाष्यकार व्यास ने स्पष्ट रूप से बौद्धों के विज्ञानवाद की उत्थापना करके उसका खण्डन किया है, साथ ही अग्रिम सूत्र की संगति भी इस विज्ञानवाद के खण्डन में ही स्वीकार की है।[2] वार्तिककार विज्ञानभिक्षु का भी यही अभिमत है।[3] इसीप्रकार भाष्यकार पुनः अग्रिम सूत्र की अवतारणा करते हुए बौद्धों के मत को उद्धृत करते हुए कहते हैं कि–केचिदाहुः ज्ञानसहभूरेवार्थो भोग्यत्वात् सुखादिवत्, त एतया द्वारा साधारणत्वं बाधमानाः पूर्वापरेषु क्षणेषु वस्तुरूपमेवापह्नुवते।[4] अर्थात् कुछ लोग 'सुखादि के समान भोग्य होने के कारण समस्त वस्तुएँ ज्ञान के साथ ही उत्पन्न होती हैं, अर्थात् विज्ञानमात्र हैं, ऐसा तर्क देते हुए विज्ञान से पूर्व एवं उत्तर क्षण में वस्तु के स्वरूप का भी अपह्नव करते हैं। इत्यादि। व्यास ने यहाँ केचित् पद से बौद्धों की ओर ही संकेत किया है, इसे विज्ञानभिक्षु ने स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है।[5] इसीप्रकार 'एक समये चोभयानवधारणम्'[6] सूत्र के भाष्य में व्यास ने स्वयं क्षणिकवादी नाम से बौद्धों का उल्लेख करते हुए सूत्र का व्याख्यान किया है।[7] उनका कहना है कि यदि पतंजलि के अनुसार चित्त अर्थात् विज्ञान एवं प्रतीयमान होने वाली वस्तु परस्पर अभिन्न होते तो चित्त और वस्तु की प्रतीति साथ-साथ होनी चाहिए, किन्तु ऐसा नहीं होता, अतः चित्त (विज्ञान) एवं प्रतीयमान वस्तु परस्पर अभिन्न नहीं हो सकते। अग्रिम सूत्र 'चित्तान्तरदृश्ये बुद्धिबुद्धेरतिप्रसंगः स्मृतिसंकरश्च'[8] में सूत्रकार पुनः बौद्धों का खण्डन करते हुए कहते हैं कि 'यदि पहले चित्त को दूसरे चित्त का दृश्य माना जाए तो चित्त (विज्ञान) को मानने से चित्त (विज्ञान) का अनवस्था दोष होगा और स्मृतियों में भी सांकर्य दोष उपस्थित होगा। तात्पर्य यह है कि यदि बौद्धों का यह सिद्धान्त मान लिया जाए कि चित्त प्रतिक्षण बदलता रहता है अर्थात् एक चित्त

---

१. योगभाष्य पृ० ४१८.१९।
२. योगभाष्य पृ० ४१९-२१।
३. योगवर्त्तिक पृ० ४२१।
४. योगभाष्य पृ० ४२२।
५. योगवार्त्तिक पृ० ४२२।
६. योगसूत्र ४-२०।
७. योगभाष्य पृ० ४३०-४३१।
८. योगसूत्र ४-२१।

ने एक विषय को ग्रहण किया और उस विषय सहित चित्त को दूसरे चित्त ने, इसी प्रकार उसको तीसरे ने, तीसरे को चौथे ने तो यह क्रम कभी समाप्त न हो सकेगा, फलतः अनवस्था दोष उपस्थित हो जाएगा। इनके साथ ही दूसरा दोष स्मृति संकर का है, जितनी बुद्धियों का अनुभव होगा उतनी स्मृतियाँ होंगी, अनुभव अनन्त हैं, अतः स्मृतियों को भी अनन्त होना चाहिए तथा प्रत्येक उत्तरवर्त्ती अनुभव में पूर्व अनुभव का अनुभव होने से कौन स्मृति किस अनुभव की है, इसका निर्धारण न हो सकेगा इस प्रकार महती अव्यवस्था हो जाएगी। भाष्यकार व्यास ने इस सूत्र की व्याख्या करते हुए यहाँ बौद्धों का संकेत वैज्ञानिक शब्द से किया है।[1]

उपर्युक्त चर्चा का तात्पर्य यह है कि योगदर्शन में सन्दर्भ विशेष में प्रतिपक्षी के रूप में बौद्धों को स्वीकार करते हुए उनके सिद्धान्तों को निरन्तर दृष्टि पथ में रक्खा गया है और उनकी चर्चा भी यथास्थान की गयी है। जबकि सांख्यदर्शन सम्प्रदाय की उसमें चर्चा भी न हो सकी है, अतः यह अस्वाभाविक नहीं है कि प्रतिपक्ष के रूप में विद्यमान बौद्ध दर्शन के सिद्धान्तों ने योग के दार्शनिक पक्ष के विकास में प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दोनों ही रूप में योगदान किया हो।

इस प्रकार बौद्ध परम्परा के अनेक प्रसंगों की अविकल स्वीकृति अनेक पारिभाषिक शब्दों के ग्रहण एवं विविध प्रसंग में मतभेद होने पर उनके (बौद्ध सिद्धान्तों के) निरास के लिए की गयी अवधानता आदि के द्वारा योगदर्शन बौद्ध परम्परा से अत्यन्त उपकृत हुआ है। किन्तु इस सन्दर्भ में स्मरणीय है कि योगदर्शन और बौद्ध साधना परम्परा विशेषतः नैतिक या वैराग्य साधना के सन्दर्भ में एक दूसरे से अविरुद्ध हैं अथवा प्रायः समान मान्यता रखते हैं, किन्तु दार्शनिक पक्ष में दोनों के विचार पूर्णतः अविरोधी नहीं हैं।

●●●

---

१. योगभाष्य पृ० ४.२।

उपसंहार

यद्यपि योग शब्द लोक और शास्त्र दोनों में बहुधा प्रयुक्त होता है तथा इन विविध प्रयोगों में सामान्यतः यह सन्देह भी नहीं होता कि योग पद के अर्थ में कोई अन्तर हो सकता है, किन्तु श्रीमद्भगवद्गीता में सांख्ययोग कर्मयोग भक्तियोग आदि पदों का, तथा वहीं प्रत्येक अध्याय के अन्त में विषादयोग, ज्ञान-कर्म-संन्यास-योग, आत्मसंयमयोग, ज्ञानविज्ञानयोग, अक्षरब्रह्मयोग राजविद्यायोग आदि अठारह नामों को देखते हैं,[१] तो एक बार यह जिज्ञासा प्रबल हो उठती है कि योग शब्द का मुख्य अर्थ क्या है ? अथवा किन किन अर्थों में योग शब्द का प्रयोग होता है ? तथा पतञ्जलि का योग शब्द के प्रयोग में क्या तात्पर्य है ?

पतञ्जलि ने योग सूत्र में योग शब्द का तीन बार प्रयोग किया है। ग्रन्थारम्भ में 'अथयोगानुशासनम्' एवं योगश्चितवृत्तिनिरोधः इन दो सूत्रों में[२] योगपद स्वतन्त्र अर्थात् बिना विशेषण के प्रयुक्त है, जब कि 'तपः स्वाध्यायेश्वर-प्रणिधानानि क्रियायोगः'[३] सूत्र में योगपद सविशेषण अर्थात् क्रिया पूर्वपद के साथ प्रयुक्त है। योगदर्शन के प्रथम सूत्र में पतञ्जलि ने जहाँ योग के अनुशासन की प्रतिज्ञा की है, वहाँ योग कोई क्रिया अथवा साधना का प्रकार है, ऐसा प्रतीत होता है, किन्तु भाष्यकार ने इस सामान्य धारणा से परे योग को चित्त का धर्म विशेष स्वीकार किया है।[४] द्वितीय सूत्र में पतञ्जलि ने योग की परिभाषा प्रस्तुत की है, जिसके अनुसार चित्त की वृत्तियों के निरोध का नाम योग है। यहां निरोध पद से पतञ्जलि का तात्पर्य चित्त के व्यापारों का लय होना चाहिए। किन्तु पतञ्जलि ने एक अन्य स्थल पर यम नियम आसन प्राणायाम प्रत्याहार धारणा ध्यान और समाधि को योग का अंग कहा है।[५] योग के इन आठ अंगों में आसन प्राणायाम न तो चित्त के धर्म कहे जा सकते हैं, और न चित्त से सम्बद्ध निरोधाभिमुख क्रियाएँ ही, क्योंकि इनमें प्रथम शरीर

---

१. द्रष्टव्य भगवद्गीता के प्रत्येक अध्याय की पुष्पिका।
२. योगसूत्र १, १-२।
३. वही २, १।
४. योगभाष्य १, १, पृ० २-३।
५. योगसूत्र २.२३।

की स्थिति विशेष है और द्वितीय प्राणों की क्रिया। यमों में सत्य तथा नियमों में तपस् स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान एक प्रकार की क्रिया विशेष हैं, अतः व्यापार है, निरोध नहीं; फिर भी पतञ्जलि ने इन सब को योग के अंग में परिगणित करते हुए तथा तपस् स्वाध्याय एवं ईश्वरप्रणिधान को **क्रियायोग** (एक विशिष्ट प्रकार का योग) कहते हुए[१] निश्चित ही यह संकेत कर दिया है कि **योग** शब्द से उनका तात्पर्य चित्त के व्यापारों का निरोधमात्र न होकर उसके उपाय तथा चित्त निरोध के लिए प्रवृत्त साधक की साधना की विविध स्थितियां भी हैं। संभवतः यही कारण है कि भाष्यकार व्यास ने चित्त एकाग्र होने की उस स्थिति को 'जिसके द्वारा सद्भूत अर्थ का प्रकाशन होता है, क्लेश क्षीण होते हैं, बन्धन शिथिल होते हैं, तथा चित्त में निरोधाभिमुखता प्राप्त होती है,' **सम्प्रज्ञात योग** कहा है।[२] साथ ही इस स्थिति को **योग** कहने के सम्बन्ध में उनका तर्क है कि 'क्योंकि पतञ्जलि ने **निरोध** पद के साथ **सर्व** पद का प्रयोग नहीं किया है, अतः **सम्प्रज्ञातसमाधि** की स्थिति में चित्त का पूर्ण निरोध न होने पर भी उसे योग कहना पतञ्जलि की मान्यता के विरुद्ध नहीं है'।[३] इस आधार पर यह कहना अनुचित न होगा कि चित्त निरोध के अतिरिक्त उसकी निरोधाभिमुखता के लिए सम्पन्न होने वाली समस्त क्रियाएं भी योग की सीमा में परिगणित की जा सकती है।

पतञ्जलि ने चित्त व्यापारों के निरोध के लिए आठ उपायों की ओर संकेत किया है, इस आधार पर यह सोचा जा सकता है कि पतञ्जलि चित्त निरोध के उन सभी उपायों को जिनका वे साधन पाद में परिगणन करते हैं, सम्भवतः योग कहना चाहते हैं, किन्तु उन सभी को पतञ्जलि की दृष्टि में योग कहना उचित नहीं है। कारण यह कि उन्होंने चित्त निरोध के उन परिगणित सभी उपायों पर विचार नहीं किया है, इतना ही नहीं उन्होंने एक स्थान पर स्वप्न और निद्रा की शारीरिक स्थिति में ज्ञान के आलम्बन को चित्त निरोध के उपाय के रूप में उल्लिखित करके[४] भी अन्यत्र निद्रा को निरोद्धव्य वृत्तियों में अन्यतम माना है।[५] अतः यह निश्चित् रूप से स्वीकार करना उचित होगा कि प्रथम पाद में चित्तवृत्ति के निरोध के लिए निर्दिष्ट आठों उपाय पतञ्जलि की मान्यता में योग की सीमा में नहीं है।

पतञ्जलि ने चित्त निरोध के प्रसंग में जिन उपायों की चर्चा की है वे निम्नलिखित है। (१) अभ्यास और वैराग्य, (२) ईश्वरप्रणिधान (३) प्राणायाम

---

१. योगसूत्र २.१।
२. व्यासभाष्य पृ० ६।
३. वही पृ० १२।
४. योगसूत्र १-३८।
५. वही, १.५-६।

(४) विषयवती प्रवृत्ति (५) विशोकाज्योतिष्मती प्रवृत्ति (६) वीतरागविषयता (७) स्वप्न अथवा निद्रा की शारीरिक स्थिति में ज्ञान का आलम्बन एवं (८) अभिमत का ध्यान।

अब प्रश्न यह हो सकता है कि उपर्युक्त चित्त निरोध के सभी उपायों को पतञ्जलि की योग की सीमा में क्यों न रखा जाए ? इस प्रश्न के निर्णय के लिए हमें साधन पाद में वर्णित योगांगों से पर्याप्त सहायता मिलती है। पतञ्जलि के अनुसार योग के आठ अंग हैं यम नियम आसन प्राणायाम प्रत्याहार धारणा ध्यान और समाधि। अहिंसा सत्य अस्तेय ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इन पांचों ही यमों के पालन के लिए सतत सचेष्ट हो कर मनोनिग्रह की आवश्यकता होती है, जिसके लिए निरन्तर अभ्यास की अपेक्षा है। सतत अभ्यास पूर्वक यमों के सेवन से साधक जहाँ एक ओर काम क्रोध लोभ मोह आदि मनोविकारों पर विजय प्राप्त करता है, और वैराग्योन्मुख होकर सतत साधना में तत्पर होता है, वहीं इनमें प्रत्येक से प्राप्त सिद्धियों के कारण, जिनका पतञ्जलि ने स्वयं वर्णन किया है,[1] योग मार्ग में सम्भावित बाधाओं की निवृत्ति हो जाती है, जन्मान्तर के विवरणों का बोध होने से विविध दुःखों के कारणों की आत्यन्तिक निवृत्ति के उपायभूत योगसाधना में निष्ठा और विषयों से वैराग्य दृढ़ होता है। संक्षेप में कहें तो यमों के सेवन से योग साधना की योग्यता प्राप्त होती है। नियमों में शौच से स्वयं पतञ्जलि के अनुसार अपने अंगों के प्रति भी जुगुप्सा उत्पन्न हो जाती है, दूसरों के संसर्ग की कामना समाप्त हो जाती है।[2] जो निश्चय ही वैराग्य की पृष्ठभूमि है। इतना ही नहीं शौच अभ्यास के फलस्वरूप विक्षेप का अभाव अन्तर्निष्ठता एकाग्रता तथा इन्द्रियों पर विजय की प्राप्ति के साथ आत्मसाक्षात्कार की योग्यता प्राप्त होती है,[3] जिसके लिए साधक निरन्तर साधना रत रहता है। नियमों में द्वितीय सन्तोष तो वैराग्य का सोपान ही है, यह कहा जा सकता है, क्योंकि इसमें अप्राप्त की कामना का त्याग किया जाता है। तपस् स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान को पतञ्जलि ने स्वयं क्रियायोग अर्थात् योग के उद्देश्य से कर्माचरण स्वीकार किया है।[4] आसन प्राणायाम क्रमशः शरीर और प्राण (श्वास प्रश्वास) की अनायास होने वाली क्रियाओं के नियमन का प्रयास है। इसलिए ये अभ्यास के अन्तर्गत समाहित माने जा सकते हैं अर्थात् अभ्यास के ही विस्तार हैं। प्रत्याहार धारणा और ध्यान समाधि के पूर्व सोपान हैं, क्योंकि प्रत्याहार में इन्द्रियाँ विषयों में

---

१. योगसूत्र २.३५-३६।
२. वही २.४०।
३. (क) वही २.४१। (ख) योगभास्वती पृ० २६३।
४. (क) योगसूत्र २-१। (ख) भास्वती २.१ पृ० १४०।

न रम कर चित्त की स्थिरता के साथ बिना अन्य प्रयास के स्थिर होने लगती है।[1] धारणा जिसमें चित्त को देश विशेष में निबद्ध किया जाता है, ध्यान का पूर्व सोपान है, तथा ध्यान धारणा की उत्तर पीठिका। क्योंकि धारणा में चित्त का बन्ध देश विशेष में किया जाता है, जब कि ध्यान की स्थिति में उस देश विशेष में प्रत्यैकतानता प्राप्त होती है। ध्यान के अभ्यास की अन्तिम उपलब्धि, जिसमें अर्थमात्र का निर्भासन होता है, और लगभग स्वरूपशून्यता की स्थिति आ जाती है, तो उस स्थिति को ही समाधि कहते हैं।[2] ये सभी स्थितियाँ उत्तरोत्तर अभ्यास से प्राप्त होती है। वैराग्य विषयविमुखता का हेतु बन कर इसमें सहायक होता है। इस प्रकार यह समस्त योगांगविवेचन एक प्रकार से अभ्यास और वैराग्य की व्याख्यामात्र प्रतीत होता है। अतः इस निष्कर्ष पर पहुँचना अनुचित न होगा कि चित्त निरोधरूप योग की साधना पतञ्जलि के अनुसार अभ्यास और वैराग्य रूप है। यम नियम आसन प्राणायाम प्रत्याहार धारणा ध्यान और समाधि ये आठ योगांग उसका विस्तार है। इनकी साधना से राग द्वेष आदि चित्त के मलों की निवृत्ति होती है और साधक को क्रमशः चित्तनिरोध की योग्यता प्राप्त होती है, एक सामान्य व्यक्ति इस प्रक्रिया से योग के चरम लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है।

अब एक प्रश्न यह हो सकता है कि यदि पतञ्जलि अभ्यास और वैराग्य को ही योग मार्ग स्वीकार करते हुए उसके आठ अंगों की समष्टि को ही योग मानते हैं, तो वे अन्यत्र तप स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान इन तीन की समष्टि को क्रियायोग कह कर योग के रूप में प्रतिष्ठा क्यों देते हैं ? इसका उत्तर है कि पतञ्जलि इस समष्टि को क्रियायोग कहते हैं, योग नहीं। हरिहरानन्दारण्य स्वामी ने क्रियायोग शब्द की व्याख्या 'कर्म विरतये योगमुद्दिश्य कर्माचरणम्'[3] अर्थात् कर्मों से विरति के लिए योग की अभिलाषा से उसकी प्राप्ति के लिए किये जाने वाले कर्मों का आचरण कहा है। अर्थात् क्रियायोग का उद्देश्य योग है, स्वयं वह योग नहीं है। दोनों में उद्देश्य उद्देशिभाव सम्बन्ध है, कार्यकारणभाव सम्बन्ध है, तादात्म्य नहीं। यमों की साधना से मानसिक तैयारी पूर्ण हो जाने पर एवं नियमों में प्रथम दो अर्थात् शौच और सन्तोष से वैराग्य के पुष्ट हो जाने पर यह क्रियायोग योग का अभ्यास है, प्रत्याहार की तैयारी है, जहाँ से आगे समाधि के सोपान प्रारम्भ हो जाते हैं, पतञ्जलि ने स्वयं 'समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात्'[4] कहते हुए इसे स्पष्टतः स्वीकार किया है।

---

१. (क) योगसूत्र २.५४। (ख) भास्वती २.५४ पृ० २७६-२७७।
२. योगसूत्र ३.१-३।
३. भास्वती २.१, पृ० १४०।
४. योगसूत्र २.२५।

अब इस प्रसंग में एक प्रश्न यह उपस्थित हो जाता है कि यदि अभ्यास और वैराग्य के अतिरिक्त चित्तनिरोध के अन्य उपाय पतञ्जलि को अभीष्ट नहीं हैं, तो उन्होंने इनका उल्लेख विकल्प के रूप में क्यों किया है।[1] इसके उत्तर में यह कहना संभवतः अनुचित न होगा कि पतञ्जलि ने चित्त वृत्ति निरोध- साधना के क्षेत्र में अपने समय में प्रचलित समस्त मान्यताओं अथवा उपायों का संकलन मात्र कर दिया है, स्वीकृत सम्प्रदायों की सूचना मात्र दे दी है। प्राचीनकाल में (महाभारत काल में) आध्यात्मिक साधना के क्षेत्र में जितने भी उपाय प्रचलित थे, उन्हें योग के नाम से अभिहित किया जाता था, इसकी सूचना हमें श्रीमद्‌भगवद् गीता के प्रत्येक अध्याय के अन्त में निबद्ध पुष्पिकाओं से मिलती हैं। वहाँ विषादयोग, सांख्ययोग, कर्मयोग, ज्ञानकर्मसन्यासयोग, आत्मसंयमयोग, ज्ञान-विज्ञानयोग, अक्षरब्रह्मयोग, राजयोग, विभूतियोग, विश्वरूपदर्शनयोग, भक्तियोग आदि अठारह नाम गिनाये गये हैं। ये सभी किसी न किसी रूप में संसार से विरक्त कर अध्यात्म साधना के पथिक को चित्तनिरोध के मार्ग में आगे बढ़ाते हैं। इन सभी को स्वतन्त्र रूप से योग का मार्ग स्वीकार किया जाता रहा है, यद्यपि इसका कोई पुष्ट प्रमाण अभी मेरे पास नहीं है, तथापि महाभारत के युद्ध के प्रारम्भ में अर्जुन जिन परिस्थितियों में शस्त्र छोड़ने को उद्यत हो उठा था, जिसका गीता के प्रथम अध्याय में वर्णन है, लगभग उसी प्रकार की स्थिति भगवान् बुद्ध के सामने जब उपस्थित हुई अर्थात् उन्होंने रोगी वृद्ध और मृतक को देखा तो विरक्त हो कर घर से भाग चले। सम्राट् अशोक कलिंग की युद्ध भूमि में भीषण रक्तपात को देखकर राजसी वैराग्य ले बैठा अर्थात् युद्ध का सर्वथा परित्याग करने का संकल्प उसने ले लिया, स्वामी दयानन्द अपनी बहन और चचा की मृत्यु की घटना को देखकर अमरता की खोज में घर से निकल पड़े। इन ऐतिहासिक घटनाओं के आधार पर कहा जा सकता है कि विषाद भी योग के हेतुभूत वैराग्य का उद्‌बोधक होने से योग की सीमा में कहा जा सकता है और इसीलिए गीता की पुष्पिका में विषाद को भी योग कहा गया है।[2] सांख्य तो दुःख निवृत्ति के लिए की जाने वाली साधनाओं में आज अन्यतम स्वीकृत है, जिसमें ज्ञान को प्रधानता दी गई है। गीता के द्वितीय अध्याय की पुष्पिका में सांख्ययोग को एक पुष्ट उपाय के रूप में स्वीकार किया गया है। कर्मयोग जिसका संकेत गीता के तृतीय अध्याय में हुआ है पतञ्जलि द्वारा संकेतित क्रिया योग से अधिक भिन्न नहीं है। कहने का तात्पर्य यह है कि चित्तवृत्ति निरोध अथवा अध्यात्म साधना के क्षेत्र में महाभारतकाल में अनेक

---

१. योगसूत्र १.१२, २३, ३४-३६।

२. भगवद्‌गीता प्रथम अध्याय की पुष्पिका।

उपाय प्रचलित थे और उन्हें योग के नाम से अभिहित करने की परम्परा भी उस काल में अथवा उसके परवर्त्ती काल में रही है। बौद्ध साहित्य से भी पता चलता है बुद्धत्व प्राप्त करने से पूर्व भगवान् बुद्ध ने अनेक साधकों के साथ रहकर विविध प्रकार की साधनाएँ की थीं, जिन्हें उन्होंने अन्ततः समग्र दुःखों की निवृत्ति के उपाय के रूप में स्वीकार नहीं किया। पतञ्जलि के समय में भी इस प्रकार की निश्चय ही अनेक परम्पराएँ थीं, जिनका परिगणन उन्होंने प्रासंगिक रूप से प्रथम पाद में कर दिया है।

इस सन्दर्भ से यहाँ आशंका की जा सकती है कि पतञ्जलि ने चित्त निरोध के जिन-जिन उपायों की चर्चा समाधिपाद (प्रथमपाद) में की है, उन सब को पतञ्जलि के अनुसार ही योग के स्वरूप के रूप में क्यों न स्वीकार कर लिया जाए ? इस प्रसंग में मैं यह कहना चाहूँगा कि समाधिपाद में पतञ्जलि ने चित्त निरोध के जिन उपायों का परिगणन कर दिया है, यदि वे सभी स्वतन्त्र रूप से उन्हें उपाय के रूप में स्वीकार होते तो वे अन्यत्र अंग के रूप में उनका निर्देश न करते। उदाहरणार्थ वे एकत्र ईश्वरप्रणिधान को चित्तवृत्तियों के निरोध का उपाय स्वीकार करते हैं[१], अन्यत्र उसे वे नियमों में अन्यतम स्वीकार करते है[२]। स्मरणीय है कि नियम योग के आठ अंगों में अन्यतम हैं। इसके अतिरिक्त यथाभिमतध्यान में भी ईश्वर प्रणिधान में समाहित हो सकता है, जिसे साधनपाद के उन्नीसवें सूत्र में एक उपाय के रूप में निर्दिष्ट किया गया है।[३] समाधिपाद में पतञ्जलि प्राणों के प्रच्छर्दन और विधारण को चित्त निरोध के उपाय के रूप में निर्दिष्ट करते हैं,[४] जब कि अन्यत्र प्राणायाम के नाम से उसे योगांगों में अन्यतम स्वीकार करते हैं।[५] इसी प्रकार से तीसवें सूत्र में पतञ्जलि ने वीतराग-विषयता को चित्त निरोध के अन्यतम उपाय के रूप में निर्दिष्ट किया है,[६] जब कि वह वैराग्य से भिन्न नहीं है, जिसे अभ्यास के साथ सर्व प्रथम निर्दिष्ट किया गया है। इसी प्रकरण में उन्होंने विषयवती प्रवृत्ति को चित्तनिरोध का एक उपाय कहा है।[७] जब कि अन्यत्र योगागंभूत प्रत्याहार में चित्त की स्वरूपानुकारता के लिए इन्द्रियों की विषयों से निवृत्ति (विषय-असम्प्रमोष) को आवश्यक माना गया है, तथा प्रत्याहार को योगाङ्गों में अन्यतम स्वीकार किया गया है। यदि साधन पाद में निर्दिष्ट चित्त निरोध के ये सभी उपाय पतञ्जलि को योग के स्वरूप में अभिमत हैं, यह मान लिया जाए तो अतिशय अन्तर्विरोध उपस्थित होगा, जिसका निराकरण

---

१. योगसूत्र २.२३।
२. वही २.३२।
३. वही २.२६।
४. वही १.३४।
५. वही १.३७।
६. वही १.३५।

संभव नहीं है। अतः यह उचित होगा कि साधन पाद में चित्त निरोध के जो अनेक उपाय निर्दिष्ट है, उन्हें परम्परा में प्रचलित उपायों का संकलनमात्र माना जाए, जिनकी साधना में उस काल में एक वर्ग विशेष तत्पर था, यह संकलन भी केवल योग विवेचन की प्रस्तावना में प्रस्तुत हुआ है, विषय निर्देश के रूप में नहीं। यही कारण है कि इस संकलन में परिगणित ईश्वरप्रणिधान नियमों में प्रणव जपरुप स्वाध्याय के नाम से समाहित है, प्राणों का प्रच्छर्दन विधारण प्राणायाम के नाम से चतुर्थ योगाङ्ग के रूप में निर्दिष्ट है, अभ्यास के साथ वैराग्य के रहते हुए चित्त की वीतराग विषयता का निर्देश हुआ है। यही स्थिति अन्य उपायों की भी है।

इसके अतिरिक्त पतञ्जलि मन्त्र जप रूप ईश्वर प्रणिधान साधना का फल अन्तरायों की निवृत्ति और प्रत्यक्चेतना अर्थात् आत्मा का ज्ञान माना है[1] चित्तवृत्ति निरोध रूप असम्प्रज्ञात समाधि तक उसकी पहुंच नही है। इसी प्रकार प्रच्छर्दन विधारण रूप प्राणायाम से लेकर यथाभिमत ध्यान पर्यन्त साधना मार्गों से चित्त परमाणु अथवा परममहत् तक सूक्ष्म पदार्थों में एकाग्र हो सकता है।[2] चित्त की वृत्तियों का पूर्ण निरोध इनसे भी संभव नहीं है। इतः इन सबको पतंजलि स्वीकृत योग मार्ग मानना उचित नहीं है।

इस प्रकार हम कह सकते हैं पतञ्जलि के अनुसार चित्तवृत्ति के निरोध को योग कहा जाता है, यह निरोध ही असम्प्रज्ञात समाधि, एवं निर्बीज समाधि के नाम से भी अभिहित होता है। इस की सिद्धि के लिए की जाने वाली साधनाएं भी अपने समग्र रूप में योग के नाम से अभिहित होती हैं। यह साधना आठ भागों में विभाजित हो सकती है, जिसे यम से लेकर समाधि पर्यन्त आठ योगांगों के नाम से अभिहित किया जाता है। पतञ्जलि यद्यपि इस चित्तवृत्तिनिरोधरूप समाधि के आठ उपायों की चर्चा करते हैं, किन्तु उनकी दृष्टि से लौकिक और पारलौकिक (दृष्ट और आनुश्रविक) विषयों के प्रति तृष्णा रहित होकर सतत अभ्यास ही एक मात्र पूर्ण उपाय है। अन्य तथाकथित उपाय पूर्ण उपाय नहीं हैं, वे या तो अपूर्ण हैं, अथवा केवल अस्थायी चित्त स्थैर्य के उपाय हैं।

●●●

---

१. योगसूत्र १.२९.

२. योगसूत्र १.४०

परिशिष्ट १

पाद टिप्पणी में संकेतित ग्रन्थों का अपेक्षित मूल पाठ

पृष्ठ ५५

१. योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः। तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्। योगसूत्र १.१-२।

पृष्ठ ५६

१. सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः। भगवद्गीता ५.४।

२. प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः। योगसूत्र १.५

पृष्ठ ५७

२. सुखं योगासनं कृत्वा बभूव संपुटांजलिः।
इडां सुषुम्नां मेध्यां च पिङ्गलां नलिनीं धुराम्।
नाडीषट्कं च योगेन निरुध्य च प्रयत्नतः।
मूलाधारं स्वाधिष्ठानं मणिपूरमनाहतम्।
विशुद्धं परमाज्ञाख्यं षट्चक्रं च क्रमाद् विधिः।
ब्रह्मरन्ध्रं समानीय वायुबद्धं चकार ह।
—मुहूर्तं च जपं कृत्वा ध्यायं ध्यायं पदामबुजम्।
ददर्श हृदयामभोजे सर्वतेजोमयं मुने।
—दृष्ट्वा च परमाश्चर्यं तुष्टाव परमेश्वरम्।
—ब्रह्मवैवर्त्त श्रीकृष्ण खण्ड अ० २०।

३. समाराध्य जगन्नाथं क्रियायोगेन वाऽथवा।
अग्नौ मोक्षं परं जग्मुस्तस्मात्तन्मोक्षकारणम्। अग्निपुराण।

पृष्ठ ५८

१. विषयेभ्यः समाहृत्यं विज्ञानात्मा मनो मुने !
चिन्तयेन्मुक्तये तेन ब्रह्मभूय परेश्वरम्।।
आत्मभावं नयत्येवं—
आत्मप्रयत्नसापेक्षा विशिष्टा या मनोगतिः।
तस्याः ब्रह्मणि संयोगो योग इत्यभिधीयते।।
—विष्णुपुराण ६ अंश ३ अध्याय।

४. योगास्त्रयो मया प्रोक्ताः नृणां श्रेयो विधित्सया।
ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोपायोन्योऽस्ति कुत्रचित्। भागवत ११.२०-६।

५. (क) तां प्रेमदामनुचकार स योगयुक्तः। देवी भागवत् ३.१५-१३
(ख) 'योगयुक्तः प्रेमयुक्तः' इति टीका नीलकण्ठा कृता। देवी भा० ३.१५-१३।

७. मय्येकचित्तता योग इति पूर्वं निरूपितम्।
साधनान्यष्टधा तस्य प्रवक्ष्वाम्यधुना शृणु।
यमाश्च नियमास्तावदासनान्यपि षण्मुख !
प्राणायामस्ततः प्रोक्तः प्रत्याहारश्च धारणा।
ध्यानं तथा समाधिश्च योगाङ्गानि प्रचक्षते। ब्रह्म० पु० १२, १-२।

पृष्ठ ५६

४. युज संयमने। सिद्धान्तकौमुदी धातु संख्या १६४५।

६. इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्
विवस्वान् मनवे प्राह मनुरुक्ष्वाकवेऽब्रवीत्।
एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परन्तप।
स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः।
—भगवद्गीता ४.१-३।

१०. सांख्ययोगौ लोकायतं चेत्यान्वीक्षिकी। कौटिल्य अर्थशास्त्र १.२ पृ० १०।

पृष्ठ ६०

१. सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः। —गीता ५.४।

पृष्ठ ६१

१. वितर्काः हिसादयः कृतकारितानुमोदिताः लोभमोहक्रोधपूर्वकाः .... प्रतिपक्षभावनम्। योगसूत्र २.३४।

पृष्ठ ६२

१. सत्त्वपुरुषयोः शुद्धि साम्ये कैवल्यमिति। योगसूत्र ३.५५।

पृष्ठ ६३

२. सूत्राणि योगशास्त्रे वैद्यकशास्त्रे च वार्तिकानि ततः कृत्वा पतञ्जलिमुनिः .... नमस्कृत्य गोणिकां जननीं तस्यां त्रिदिवं गतायां तस्थौ शेषः स्वयं स मुनिः। पतञ्जलि चरितम् ५।२५-२६

३. पातञ्जलमहाभाष्यचरकप्रतिसंस्कृतैः।
मनोवाक्कायदोषाणां हन्त्रेऽहिपतये नमः।। चरक टीका पृ० १।

४. वाक्चेतोवपुषां मलः फणिभृतां भर्त्रेव येनोद्धृतः। भोजवृत्ति पृ० १।

७. पतञ्जलि कालीन भारत से उद्धृत पृ० ५३

पृ० ६४

३. अयुतसिद्धावयवभेदानुगतः समूहो द्रव्यमिति पतञ्जलिः। व्यासभाष्य पृ० ३६७।

४. (क) यदसौ द्रव्यं श्रितो भवति गुणः। महाभाष्य १।२-३४ पृष्ठ ६६।
(ख) असौ गुणः यद् द्रव्यं श्रितो भवति। महाभाष्य टिप्पणी पृ० ६६।

पृ० ६५

८. यदि भवद्विधः क्षत्रियं याजयेत्। ३-३-१४७ पृ० ३०२।

पृ० ६६

१. प्रवृत्तस्याविरामं.......इहाधीमहे, इहावगमः, इह पुष्यमित्रं याजयामः।
महाभाष्य ३, २.१२३ पृ० २५४।

२. पुष्यमित्रो यजते याजका याजयन्ति, तत्र भवितव्यं पुष्यमित्रो याजयते याजका यजन्ति। इति। याज्यादिषु चाविपर्यासो वक्तव्यः। .... नावश्यं यजिः हविः क्षेपणे एव वर्त्तते किं तर्हि त्यागेऽपि वर्त्तते। अहो यजते इत्युच्यते यः सुष्ठु इत्यधिकरोति, तं च पुष्यमित्रः करोति याजकाः प्रयोजयन्ति।
महाभाष्य ३-१-२६ पृ० ७४।

३. प्रवृत्तस्याविरामे शासितव्या—इह पुष्यमित्रं याजयामः।
वही, ३-२-१२३ पृ० २४५।

४. पुष्यमित्रस्तु सेनानीः उद्धृत्य स बृहद्रथान्। कारियिष्यति वैराज्यं षट्त्रिंशतिसमाः नृप। मत्स्यपुराण अ० २७१ श्लोक २६ पृष्ठ ७५४।

५. परोक्षे च लोकविज्ञाते प्रयोक्तुर्दर्शनविषये लङ् वक्तव्यः। अरुणद्यवनः साकेतम्, अरुणद्यवनो माध्यमिकाम्। महाभाष्य ३.२.१११ पृ० २४६-२४७।

पृ० ७०

२. अभ्रकं तव बीजं तु मम बीजं तु पारदः। रसार्णवतन्त्र शिवपार्वती संवाद।

३. संसारस्य परं पारं दत्तेऽसौ पारदः स्मृतः।
पारदो गदितो यस्मात्परार्थसाधकोत्तमैः। गोविन्दपादकारिका।

पृ० ७२

२. ईश्वरप्रणिधानं सर्वक्रियाणां परमगुरावर्पणं तत्फलसंन्यासो वा।
व्या० भा० २.१।

३. यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि।
वही २, २९।

४. अयुतसिद्धावयवभेदानुगतः द्रव्यमिति पतञ्जलिः। व्यासभाष्य पृ० ३६७।

पृ० ७३

१. (क) पुरा सरस्वतीतीरे व्यासः सत्यवती सुतः। देवीभागवत १.४.४।
(ख) नारदेनैवमुक्तस्तु व्यासः सत्यवती सुतः। पाराशर्य स्मृति १.४.३२।

२. द्वापरे प्रथमे व्यस्ताः स्वयं वेदाः स्वयंभुवा।
प्रजापतिः द्वितीये तु द्वापरे व्यासकार्यकृत्।
अष्टाविंशतिसंख्येयं कथिता या मया श्रुता। देवीभागवत १, ३।२६-१।

पृ० ७४

१. नत्वा पतञ्जलिमृषिं वेदव्यासेन भाषिते।
संक्षिप्तस्पष्टबह्वर्था भाष्ये व्याख्या विधास्यते। तत्त्ववैशारदी १-२।

२. श्रीपातञ्जलभाष्यदुग्धजलनिधिर्विज्ञानरत्नाकारो।
वेदव्यासमुनीन्द्रबुद्धिखनितो.....। योगवार्त्तिक १.२।

६. अत एव योगशास्त्रं व्युत्पादयता आह स्म भगवान् वार्षगण्यः 'गुणानां परमं रूपम् इत्यादि'। भामती वेदान्तसूत्र व्याख्या। २।१-२-३ निर्णयसागरसंस्करण पृ० ३५२।

पृ० ७६

४. पंक्तिविंशतित्रिंशच्चत्वारिंशत्पंचाशत्षष्ठिसप्ततिरशीतिनवतिशतम्।
अष्टाध्यायी ४-१-५६।

पृ० ७७

१. सर्वे यस्य वशाः प्रतापवसतेः पादान्तसेवानतिः,
प्रभ्रश्यन्मुकुटेषु मूर्धसु दधत्याज्ञां धरित्रीभृतः।
यद्वक्त्राम्बुजमाप्यगर्वमसमं वाग्देवतासंश्रिता,
स श्री भोजपतिः फणाधिपतिकृत्सूत्रेषुवृन्तिं व्यधात्।
इति श्री धारेश्वरभोजदेवविरचितायां राजमात्तण्डाभिधायां पातञ्लयोगसूत्रवृत्तौ...।
पुष्पिका पद्य अन्तिम पृष्ठ।

पृ० ७८

१. शब्दानामनुशासनं विदधता पातंञ्जले कुर्वता
वृत्तिं राजमृगांकसंज्ञकमपि व्यातन्वता वैद्यके।
वाक्चेतोवपुषां मलं फणिभृतां भर्त्रेव येनोद्धृतः
तस्य श्रीरणरङ्गमल्लनृपतेर्वाचो जयन्त्युज्वलाः। भोजवृत्ति मंगल श्लोक ५।

पृष्ठ ७६

१. (क) भोज़स्त्वाह सर्वशुक्लेव राजहंसीव.......मानससरसो महीं प्राप्ता।
विमलबोधकृत विराटपर्व की टीका १७-११।

पृ० ८०

१. पृथिव्यप्तेजोऽनिलखे समुत्थिते पंचात्मके योगगुणे प्रवृत्ते।
न तस्य रोगो न जरा न दुःखं प्राप्तस्य योगाग्निमयं शरीरम्।
श्वेताश्वतर अ० २ मं० १२।

२. लघुत्वमारोग्यमलोलुपत्वं वर्णप्रसादः स्वरसौष्ठवं च।
गन्धः शुभो मूत्रपुरीषमल्पं योगप्रवृत्तिं प्रथमां वदन्ति। वही २—१३।

३. तामाहुः परमां गतिम्। तां योगमितिमन्यन्ते......। कठोपनिषद् २.६.१०-११।

६. अन्यद्धि (शब्दानां) व्युत्पत्तिनिमित्तम्, अन्यत्प्रवृत्तिनिमित्तम्।
व्यक्तिविवेक पृ० २५।

पृ० ८१

१. योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः। योग सूत्र १. २।

२. योगः समाधिः स सार्वभौमश्चित्तधर्मः। व्यासभाष्य पृ० ६–७।

३. यस्त्वेकाग्रे चेतसि सद्भूतमर्थं प्रद्योतयति, क्षिणोति च क्लेशान् कर्मबन्धनानि। श्लथयति निरोधाभिमुखं करोति स सम्प्रज्ञातो योग इत्याख्यायते। योग भाष्य पृ० ६।

४. सर्वशब्दाग्रहणात् संप्रज्ञातोऽपि योग इत्याख्यायते। वही पृ० १२।

५. (क) सांख्ययागौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न मनीषिणः। गीता ५–४।
(ख) एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति।। गीता—५.५।

६. प्रकाश प्रवृत्तिनियमार्था :— सांख्यकारिका १२।

७. चित्तं प्रख्याप्रवृत्तिस्थितिशीलत्वात्त्रिगुणम्। योगभाष्य पृ० १२–१३।

पृष्ठ ८४

१. तत्र क्षिप्तं रजसः उद्रेकात्........तच्च सदैव दैत्यदानवादीनाम्। भोजवृत्ति १.२ पृ० ३।

२. मूढं तमस उद्रेकात्... तच्च सदैव रक्षःपिशाचादीनाम्। वही पृ० ३।

३. विक्षिप्तं तु सत्त्वोद्रेकात्.......तच्च सदैव देवानाम्। वही पृ० ३।

पृष्ठ ८५

१. सत्त्वादिक्रमव्युत्क्रमे तु अयमभिप्रायः (यत्) द्वयोरपि रजस्तमसोरत्यन्तहेयत्वेपि एतदर्थं रजसः प्रथमं उपादानम् यावताप्रवृत्तिर्दर्शिता तावन्निवृत्तिर्न शक्यते दर्शयितुम् इति द्वयोर्व्यत्ययेन प्रदर्शनम्। भोजवृत्ति पृ० ३।

२. सत्त्वस्य त्वेतदर्थं पश्चात्प्रदर्शनं यत्तयोरुत्कर्षेणोत्तरे द्वे भूमी योगोपयोगिन्याविति। वही पृ० ३।

पृष्ठ ८६

१. योगो हि प्रभवाप्ययौ। कठोपनिषद् २.३.११।

५. योगस्थः कुरु कर्माणि संगं त्यक्त्वा धनंजय !
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते। गीता २, ४८।

६. बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम्। गीता २.५०।

पृष्ठ ८७

१. तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्। योगसूत्र १.३।

२. स्वरूपप्रतिष्ठा तदानीं चितिशक्तिर्यथा कैवल्ये। व्युत्थानचित्ते तु सति तथापि भवन्ती न तथा। योगाभाष्य पृ० १८–१९।

३. वृत्तिसारूप्यमितरत्र। योग सूत्र १.४।

४. अयमर्थः—उत्पन्नविवेकख्यांतेश्चित्संक्रमाभावात् कर्त्तृत्वाभिमाननिवृत्तौ प्रोच्छन्नपरिणामायां बुद्धौ चात्मनः स्वरूपेऽवस्थानं स्थितिर्भवति। भोजवृत्ति १.३ पृ० ५।

पृष्ठ ८८

१. बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम्।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते।। गीता—५.२१।

८. प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते। गीता २.५५।

६. अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स सन्यासी च योगी च न निरग्निः नचाक्रियः। गीता ६.१।

१०. नहि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्। गीता ३.५।

११. गतसङ्गस्य मुक्तस्य......कर्म समग्रं प्रविलीयते। गीता ४—२३।

पृष्ठ ८६

१. योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः। योगसूत्र १.२।

२. तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्। योगसूत्र १.२।

३. यमनियमासन—प्राणायाम—प्रत्याहार—धारणा—ध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि। योगसूत्र १.३।

पृष्ठ ६०

१. एकाग्रभूमिजातत्वात्प्रज्ञाचित्ते प्रतिष्ठिता।
सम्प्रज्ञातो मतो योगः———।
संस्कारमात्ररूपस्तु सर्वप्रत्ययहीनतः।
निर्बीजयोगभेदो यः सोऽसम्प्रज्ञात उच्यते। योगकारिका १.४२, ४१।

२. देशबन्धश्चित्तस्य धारणा। योगसूत्र ३.१।

३. तत्र प्रत्यैकतानता ध्यानम्। वही ३.२।

४. तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः। वही ३.३।

५. वितर्कविचारानन्दानुगमात् सम्प्रज्ञातः। योगसूत्र १.१७।

६. वितर्कः चित्तस्य आलम्बने स्थूल आभोगः। योग भाष्य पृ० ५२।

७. चित्तस्य आलंबने ध्येयविषये यः स्थूलः आभोगः साक्षात्प्रज्ञया परिपूर्णता स वितर्कः। भास्वती पृ० ५१।

पृष्ठ ६१

१. समानानेकधर्मोपपत्तेः विप्रतिपत्तेरुपलब्ध्यनुपलब्ध्यव्यवस्थातः च विशेषापेक्षो विमर्शः संशयः। न्यायसूत्र १.१.२३।

२. विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम्। योगसूत्र १.८।

३. षोडशस्थूलविकारविषया समाधिजा प्रज्ञा यदा चेतसि सदैव प्रतितिष्ठति तदा वितर्कानुगतः सम्प्रज्ञातः। भास्वती पृ० ५२।
४. सूक्ष्मो—विचारः। योगभाष्य पृ० ५२।
५. स्थूलकारणभूतसूक्ष्मतन्मात्रलिङ्गालिङ्गविषयो विचारः।
भास्वती पृ० ५२।
६. आनन्दः आह्लादः। योग भाष्य पृ० ५२—५३।
७. कारणगुणपूर्वकः कार्यगुणो दृष्टः। वैशेषिकसूत्र। २.१.२४।

पृष्ठ ६२

१. इन्द्रिये आलम्बने चितस्याभोग आह्लादः, प्रकाशशीलतया खलु प्रधानाद् अहंकारादिन्द्रियाण्युत्पन्नानि। सत्त्वं सुखमिति तान्यपि सुखानि तस्मिन्नाभोग आह्लादः। तत्त्ववैशारदी पृ० ५२।
२. भगवदगीता ६—२१—२३।
३. एकात्मिका संविद् अस्मिता। योग भाष्य पृ० ५३।
४. एक शब्दोऽत्र केवलवाची। योगवर्त्तिक पृ० ५३।
५. तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्। योगसूत्र १.३।

पृष्ठ ६३

१. तस्य भावस्त्वतलौ। पाणिनीय अष्टाध्यायी ५.१.११६।
२. न चाहंकारास्मितयोरभेदः शंकनीयः, यतो यत्रान्तःकरणमहमिति उल्लेखेन विषयान्वेदयते सोऽहंकारः, यत्रान्तर्मुखतया प्रतिलोमपरिणामे प्रकृतिलीने चेतसि सत्तामात्रमवभाति साऽस्मिता। भोजवृत्ति पृ० २१।

पृष्ठ ६४

१. भवप्रत्ययो विदेहप्रकृतिलयानाम्। योगसूत्र १.१९।
२. शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते। गीता ६. ४१।
३. दशमन्वन्तराणीह तिष्ठन्तीन्द्रियचिन्तकाः।
भौतिकाश्च शतं पूर्णं सहस्रं त्वाभिमानिकाः।
बौद्धाः दश सहस्राणि तिष्ठन्ति विगतज्वराः।
पूर्णं शतसहस्रं तु तिष्ठन्त्यव्यक्तचिन्तकाः।
निर्गुणं पुरुषं प्राप्य कालसंख्या न विद्यते। वायुपुराण।

पृष्ठ ६५

१. ....अहंकारात्पंचतन्मात्राणीन्द्रियाणि, तन्मात्रेभ्यः स्थूलभूतानि पुरुषः इति पंचविंशतिः गणः। सांख्यसूत्र १.६१।

पृष्ठ ६६

१. शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो वितर्कः। योगसूत्र १.९।
२. ध्यानं निर्विषयं मनः। सांख्यसूत्र ६।२५।

३. तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः। योगसूत्र ३, ३।

पृष्ठ ६७

१. सात्त्विक एकादशकः प्रवर्त्तते वैकृतादहंकारात्।
भूतादेस्तन्मात्रः स तामस..................। सांख्यकारिका २५।

२. सत्त्वं लघु प्रकाशकमिष्टमुपलम्भकं चलं च रजः।
गुरुवरणकमेव तमः..............सांख्यकारिका १३।

३. (क) तत्रः प्रथमश्चतुष्टयानुगतः समाधिः सवितर्कः, द्वितीयो वितर्कविकलः सविचारः, तृतीयो विचारविकलः सानन्दः, चतुर्थस्तद्विकलोऽस्मिता मात्रः इति। योग भाष्य पृ० ५३—५४।
(ख) तत्रैकैकस्य त्यागे उत्तरोत्तरा इति चतुरवस्थोऽयं सम्प्रज्ञातः समाधिः। भोजवृत्ति पृ० २१।

४. तत्र शब्दार्थज्ञानविकल्पैः संकीर्णा सवितर्का समापत्तिः। स्मृतिपरिशुद्धौ स्वरूप शून्येवार्थमात्रनिर्भासा निर्वितर्का। योगसूत्र १.४२—४३।

पृष्ठ ६८

१. भूतसूक्ष्मेष्वभिव्यक्तिधर्मकेषु देशकालनिमित्तानुभवावच्छिन्नेषु या समापत्ति सा सविचारेत्युच्यते। योगभाष्य पृ० ११६।

२. या पुनः सर्वथा सर्वतः शान्तोदिताव्यपदेश्यधर्मानवच्छिन्नेषु सर्वधर्मानुपातिषु सर्वधर्मात्मकेषु समापतिः सा निर्विचारेत्युच्यते। योगभाष्य पृ० १२०।

३. या पुनः सर्वथा सम्यगनवच्छिन्ना, सर्वत इत्यादिभिस्त्रिभिः दलैः....... देशानुभवानवच्छिन्नत्वं शांतोदिताव्यपदेश्यधर्मानवच्छिन्नेष्विति विषयस्य कालानुभवानवच्छिन्नत्वं सर्वधर्मानुपातिषु, सर्वधर्मात्मकेष्विति निमित्तानु—भवानवच्छिन्नत्वं, एवं विधावच्छेदरहिता शब्दादिविकल्पहीना प्रज्ञासम्पन्नता निर्विचारा समापत्तिरिति। योग भास्वती पृ० १२०।

४. ताश्चतस्रः समापत्तयो बहिर्वस्तुबीजा इति समाधिरपि सबीजः। तत्र स्थूलेऽर्थे सवितर्कों निर्वितर्कः सूक्ष्मेऽर्थे सविचारो निर्विचार इति चतुर्धोपसंख्यातः समाधिरिति। योगभाष्य पृ० १२८।

५. (क) निर्विचारवैशारद्येऽध्यात्मप्रसादः। योगसूत्र १—४७।
(ख) अशुद्ध्यावरणमलापेतस्य प्रकाशात्मनो बुद्धिसत्त्वस्य रजस्तमोभ्यामनभिभूतः स्वच्छः स्थितिप्रवाहो वैशारद्यम्। यदा निर्विचारस्य समाधेर्वैशारद्यमिदं जायते तदा योगिनो भवत्याध्यात्मप्रसादः, भूतार्थविषयः, क्रमाननुरोधी स्फुटप्रज्ञालोकः। योगभाष्य पृ० १२५।

६. (क) ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा। योगसूत्र १.४८।
(ख) तस्मिन्समाहितचित्तस्य या प्रज्ञा जायते तस्या ऋतम्भरेति संज्ञा भवति। अन्वर्था च सा सत्यमेव बिभर्ति, तत्र विपर्यासगन्धोऽपि नास्ति। योगभाष्य पृ० १२६।

पृष्ठ ९६

१. श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्यविषया विशेषार्थत्वात्। योग सूत्र १.४६।

२. तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीजः समाधिः। योगसूत्र १.५१।

पृष्ठ १०४

१. त्रिगुणमविवेकिविषयः सामान्यमचेतनं प्रसवधर्मि।
व्यक्तं तथा प्रधानं तद्विपरीतस्तथा पुमान्। सांख्य कारिका ११।

२. सिद्धं साक्षित्वमस्य पुरुषस्य, कैवल्यं माध्यस्थ्यं द्रष्टृत्वमकर्त्तृभावश्च।
वही १६।

३. (क) तद (बुद्धि) वृत्त्यनुपाती विषयः सन्निधानमात्रात्पुरुषेण संचेतितो नास्यौ–दासीन्यं बाधितुमुत्सहते। युक्तिदीपिका ११७।
(ख) बुद्धि र्हि पुरुषसन्निधानात् तच्छायापत्त्या तद्रूपेव सर्वविषयोपभोगं पुरुषस्य साधयति। सुखदुःखानुभवो हि भोगः। स च बुद्धौ बुद्धिपुरुषरूप एवेति। सा च पुरुषमुपभोजयति। सांख्यतत्त्व कौमुदी पृ० ८०।

४. क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः। योगसूत्र १.२४।

५. तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्। वही १–२५।

६. (क) अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पंच क्लेशाः। वही २.३।
(ख) कर्माशुक्लाकृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेषाम्। वही ४–७।
(ग) पुरुषं क्लेशयन्ति दुःखाकुर्वन्ति इति क्लेशाः, ते पंच इत्यर्थः।
योगसुधाकर १.३ पृ० ६३।

पृष्ठ १०५

१. सुखदुःखाद्युपलब्धिसाधनमिन्द्रियं मनः। तर्कसंग्रह पृ० ४२।

२. (क) युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम्। न्यायसूत्र १–१–१६।
(ख) आत्मेन्द्रियार्थसन्निकर्षे ज्ञानस्य भावोऽभावश्च मनसो लिङ्गम्।
वैशेषिकसूत्र ३.२.१।

३. (क) तच्च प्रत्यात्मनियतत्वादनन्तम्। तर्क संग्रह पृ० ५२।
(ख) भारतीय न्याय शास्त्रः एक अध्ययन पृ० ७१।

४. ....तच्च.........परमाणुरूपं नित्यं च। तर्क संग्रह पृ० ५२।

५. सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः, प्रकृतेर्महान्, महतोऽहंकारः अहंकारात्–पंचतन्मात्राणि, उभयमिन्द्रियम्.........सांख्य सूत्र–१.६१।

६. (क) संकल्पकमिन्द्रियं च साधर्म्यात्। सांख्यकारिका २७।
(ख) इन्द्रियान्तरैः सात्त्विकाहंकारोपादानत्वं च साधर्म्यम्।
तत्त्वकौमुदी पृ० १४७।

७. सांख्ययोगौ पृथक् बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः।......
एकं साख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति। भगवद्गीता ५, ४–५।

पृष्ठ १०६

२. कोष्ठ्यस्य वायोर्नासिकापुटाभ्यां प्रयत्नविशेषाद् वमनं प्रच्छर्दनं, विधारणं प्राणायामः, ताभ्यां वा मनसः स्थितिं सम्पादयेत्। योगभाष्य पृ० ६८–६६।

३. धारणासु च योग्यता मनसः। योगसूत्र २.५३।

४. देशबन्धश्चित्तस्य धारणा। योगसूत्र ३.१।

५. (क) बुद्धि हिं पुरुषसन्निधानात् तच्छायापत्त्या तद्रूपेव सर्वविषयोपभोगं पुरुषस्य साधयति। सुखदुःखानुभवो हि भोगः स च बुद्धौ, बुद्धिश्च पुरुषरूपैवेति, सा च पुरुषमुपभोजयति। सांख्यतत्वकौमुदी पृ० १६५।

(ख) सान्तःकरणाबुद्धिः सर्वं विषयमवगाहते......। सांख्यकारिका ३५।

पृष्ठ १०७

१. द्रष्ट्दृश्योपरक्तं चित्तं सर्वार्थम्। योगसूत्र ४.२२।

२. तदुपरागापेक्षितत्वाच्चित्तस्य वस्तुज्ञाताज्ञातम्। वही ४.१६।

३. तच्च प्रत्यात्मनियतत्वादनन्तं परमाणुरूपं नित्यं च। तर्कसंग्रह पृ० ५२।

पृष्ठ १०८

२. योगमनोविज्ञान पृ० ३२६–२७।

३. जाग्रत्स्वप्नं सुषुतं च गुणतो बुद्धिवृत्तयः। भागवत पु० ११.१३.२७।

४. तिस्रो मात्रा मृत्युमत्यः....बाह्याभ्यन्तरमध्यमासु सम्यक्प्रयुक्तासु न कम्पते यः। प्रश्नोपनिषद् ५–६।

५. बाह्याभ्यन्तरमध्यमासु जाग्रत् स्वप्नसुषुप्तिस्थानपुरुषाभिध्यानलक्षणासु............।' शांकरभाष्य प्रश्नोपनिषद् ५.६।

६. अयं तु खलु त्रिषु गुणेषु.....चतुर्थे तत्क्रियासाक्षिणि....। योगभाष्य पृ० २००।

७. अत्र भाष्ये गुणत्रयापेक्षया पुरुषस्य चतुर्थत्त्ववचनादन्यान्यपि तुरीयवाक्यानि जाग्रदाद्यवस्थसत्त्वादिगुणत्रयापेक्षया साक्षित्वमेव पुरुषस्य तुरीयावस्थां वदन्ति। योगवर्तिक पृ० २००।

पृष्ठ १०६

२. .... ग्राह्याकारपूर्वास्मृतिः, सा च द्वयी भावितस्मर्तव्याचाभावितस्मर्त्तव्या च। स्वप्ने भावितस्मर्त्तव्या ....। व्यासभाष्य पृ० ४२–४३।

पृष्ठ ११०

२. (क) तत्राविद्या चतुर्विधा संशयविपर्ययानध्यवसायस्वप्नलक्षणा। प्रशस्तपाद–भाष्य पृ० ८५।

(ख) अथाविद्या सा च संशयविपर्ययस्वप्नानध्यवसायभेदाच्चतुर्धा। कणाद रहस्यम्। पृ० ११५।

३. प्रस्वापनं तु तमसा। भागवत् ११, २५–२०।

४. अभावप्रत्ययालम्बना वृत्ति र्निद्रा। योगसूत्र १.१०।

पृष्ठ १११

१. अथ यदा सुप्तो भवति, तदा न कस्यचन वेद। हिताः नाम नाड्यः द्वासप्ततिः सहस्राणि हृदयात्पुरीततमभिप्रतिष्ठन्ते। ताभिः प्रत्यवसृत्य पुरीतति शेते। बृहदारण्यकोपनिषद्। २।१।१६।

२. यथा गार्ग्य मरीचयोऽर्कस्यास्तं गच्छतः, सर्वास्तस्मिंस्तेज़ोमण्डले एकीभवन्ति। ताः पुनः पुनरुदयतः प्रचरन्त्येवं ह वै तत्सर्वं परे देवे मनस्येकीभवति। तेन तर्ह्येष पुरुषो न शृणोति न पश्यति न जिघ्रति, न रसयते, न स्पृशते, नाभिवदते, नादत्ते, नानन्दयते न विसृजते नेयासते स्वपतीत्याचक्षते।'
प्रश्नोपनिषद् ४.२।

३. स यथा शकुनिः सूत्रेण प्रबद्धो दिशं दिशं पतित्वान्यत्रायतनमलब्ध्वा बन्धनमेवोपश्रयते। एवमेव खलु सौम्य तन्मनो दिशं दिशं पतित्वान्यत्रायतनमलब्ध्वा प्राणमेवोपश्रयते। प्राणबन्धनं हि सोम्य मन इति। छान्दोग्योपनिषद् ६.८.२।

पृष्ठ ११२

२. कदा सुप्तो भवति? यदा यस्मिन्काले न कस्यचन न किंचनेत्यर्थः, वेद विजानति। कस्यचन वा शब्दादेः सम्बन्धिवस्त्वन्तरं किंचन न वेद। बृहदारण्यक शांकरभाष्य। पृ० ४४६। २.१.२६।

३. सर्वसंसारदुःखवियुक्ता इयमवस्था। वही पृ० ४५१।

४. (क) स्मृति परिशुद्धौ स्वरूपशून्येवार्थमात्रनिर्भासा निर्वितर्का।
योगसूत्र १.४३।
(ख) सा च स्वरूपशून्येव अर्थमात्रा यदा भवति तदा निर्विचारेत्युच्यते।......
निर्वितर्कया च विकल्पहानिः व्याख्याता। योगभाष्य १.४४ पृ० १२१।

पृष्ठ ११३

३. (क) यदाऽयं ब्राह्मणः प्रसंस्थानेप्यकुसीदः—ततोऽपि न किंचित्प्रार्थयते, तत्रापि विरक्तस्य सर्वथा विवेकख्यातिरेव भवति इति संस्कारबीजक्षयान्नास्य प्रत्ययान्तराणि उत्पद्यन्ते तदास्य धर्ममेघः नाम समाधिः भवति।
योगभाष्य पृ० ४४५–६।
(ख) प्रत्ययान्तराणामनुदये सर्वप्रकारविवेकख्यातेः परिशेषाद् धर्ममेघः समाधिः भवति। भोजवृत्ति ४.२६।

पृष्ठ ११४

१. धर्ममेघनाम्नी सम्प्रज्ञातस्य पराकाष्ठा भवति इत्यर्थः।
भावगणेशवृत्ति ४.२६ पृ० २०७।

२. तस्यापि निरोवे सर्वनिरोधान्निर्बीजः समाधि। योगसूत्र १.५१।

३. (क) स न केवलं समाधिप्रज्ञाविरोधी कृताकृतानां संस्काराणामपि प्रतिबन्धी भवति। .... चित्तं स्वस्याम्प्रकृतावववस्थितायां प्रविलीयते .... तस्मिन्निवृत्ते पुरुषः स्वरूपप्रतिष्ठोऽतः शुद्धमुक्त इत्युच्यते। योगभाष्य पृ० १३३–१३८।

(ख) तस्यापि सम्प्रज्ञातस्य निरोधे प्रविलये सति सर्वासां चित्तवृत्तीनां स्वकारणे प्रविलयाद्या या संस्कारमात्राद्वृत्तिरुदेति। तस्याः तस्याः नेति नेति केवलं पर्युदासान्निर्बीजः समाधिः भवति। यस्मिन्सति पुरुषः स्वरूपनिष्ठः शुद्धो भवति। भोजवृत्ति पृ० ५७।

४. निर्विकल्पकस्तु ज्ञातृज्ञानादिविकल्पलयापेक्षया द्वितीयवस्तुनि तदाकाराकारि–तायाश्चित्तवृत्तेरतितरामेकीभावेनावस्थानम्। तदा तु जलाकाराकारितलवणानवभासेन जलमात्रावभासवदद्वितीयवस्त्वाकारा–कारितचित्तवृत्त्यनवभासेनाद्वितीयवस्तुमात्रमवभासते। वेदान्तसार पृ० ६२।

५. ततश्चास्य सुषुप्तेश्चाभेदशंका न भवति। उभयत्र वृत्त्यभाने समानेऽपि तत्सद्भावासद्भावमात्रेणानयोर्भेदोपपत्तेः। वेदान्तसार पृ० ६२।

६. जागरितस्थानो बहिःप्रज्ञः........स्थूलभुक्वैश्वानरः। माण्डूक्य ३।
स्वप्नस्थानोऽन्तःप्रज्ञः....प्रविविक्तभुक्.....। माण्डूक्य ४।

७. यत्र सुप्तो न कंचन कामं कामयत न कंचन स्वप्नं पश्यति तत्सुषुप्तम् वही ५।

पृष्ठ ११५

१. नान्तःप्रज्ञं न बहिःप्रज्ञं नोभयतःप्रज्ञं न प्रज्ञानघनं, न प्रज्ञं, नाप्रज्ञम्। अदृष्टमव्यवहार्यमग्राह्यम्... प्रपंचोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते। वही ७।

३. (क) क्षिप्तं मूढं विक्षिप्तं एकाग्रं निरुद्धम् इति चित्तभूमयः। योगभाष्य पृ० ७।

(ख) क्षिप्तं मूढं विक्षिप्तं एकाग्रं निरुद्धं चित्तस्य भूमयः चित्तस्य अवस्था–विशेषाः। भोजवृत्ति १.२ पृ० ३।

४. तत्र विक्षिप्ते चेतसि विक्षेपोपसर्जनीभूतः समाधिर्न योगपक्षे वर्त्तते। यस्त्वेकाग्रे चेतसि सद्भूतमर्थं प्रद्योतयति......स सम्प्रज्ञातो योग इत्याख्यायते.......सर्ववृत्ति निरोधे त्वसम्प्रज्ञातः। वही पृ० ६–१०।

पृष्ठ ११६

१. तत्र क्षिप्तं रजस उद्रेकादस्थिरं बहिर्मुखतया सुखदुःखादिविषयेषु विकल्पितेषु व्यवहितेषु सन्निहितेषु वा रजसा प्रेरितम्। भोजवृत्ति १.२ पृ० ३।

२. यदा संस्कारप्रत्ययधर्मकं चित्तं तत्त्वसमाधानचिकीर्षाहीनं सदैवास्थिरं भ्रमति तदास्य क्षिप्ता भूमिः। तादृशस्यापि प्रबलरागादिमोहवशस्य या मूढ़ावस्था सा मूढ़ा भूमिः। क्षिप्ताद्विशिष्टं विक्षिप्तभूमिकं चित्तं, तत्र कादाचित्कं चित्तसमाधानं, समाधानचिकीर्षा च तत्त्वज्ञानसमाधानं च दृश्यते। अभीष्टविषये सदैव

स्थितिशीला चित्तावस्था एकाग्रभूमिः। सर्ववृत्तिनिरोधप्राया चित्तावस्था निरुद्धभूमिः। योगभास्वती—१.१ पृ० ८।

३. मूढं तमस उद्रेकात् कृत्याकृत्यविभागमन्तरेण क्रोधादिभिः विरुद्धकृत्येष्वेव नियमितम्। भोजवृत्ति १.२ पृ० ३।

४. विक्षिप्तं तु सत्त्वोद्रेकात् वैशिष्ट्येन परिहृत्य दुःखसाधनं सुखसाधनेष्वेव शब्दादिषु प्रवृत्तम्। वही पृ० ३।

५. एतास्तिस्रः चित्तावस्थाः समाधावनुपयोगिन्यः। वही पृ० ३।

६. एकाग्रनिरुद्धरूपे च सत्त्वोत्कर्षाद्यथोक्तमवस्थितत्वात्समाधावुपयोगं भजेते.... अनयोरेकाग्रनिरुद्धयोर्भूम्योर्यश्चित्तस्यैकाग्रता परिणामः स योग इत्युक्तं भवति। एकाग्रे बाह्यवृत्तिनिरोधः निरुद्धे च सर्वासां वृत्तीनां संस्काराणां च प्रविलयः। इत्यनयोरेव भूम्योर्योगस्य सम्भवः। वही पृ० ३।

पृष्ठ ११७

१. शब्दानुमानाभ्यां परोक्षत्वेन ज्ञातार्थः साक्षात्क्रियते। साक्षात्कारादविद्यादिक्लेशक्षयः, ततः पुण्यपापकर्मणां दाहः, ततो संप्रज्ञातो योगः, सात्त्विकवृत्तेरपि निरोधः संस्कारमात्रशेषे निरुद्धे चित्ते भवति। योगमणिप्रभा १ पृ० २।

पृष्ठ ११८

१. व्युत्थाननिरोधसंस्कारयोरभिभवप्रादुर्भावौ निरोधक्षणचित्तान्वयो निरोधपरिणामः। योगसूत्र ३—६।

२. व्युत्थानं क्षिप्तमूढविक्षिप्ताख्यं भूमित्रयम्। निरोधः प्रकृष्टसत्त्वस्यांगितया चेतसः परिणामः। भोजवृत्ति ३.६ पृ० १२१।

३. (क) असम्प्रज्ञातसमाधिमपेक्ष्य सम्प्रज्ञातोऽत्र व्युत्थानम्।
 तत्त्ववैशारदी ३.६। पृ० २६०।
 (ख) सम्प्रज्ञातो व्युत्थानम्। नागोजिवृत्ति ३.६। पृ० १२२।
 (ग) व्युत्थानं सम्प्रज्ञातः, स निरुध्यते येन तत्परं वैराग्यं निरोधः।
 मणिप्रभा ३.६। पृ० १२२।

पृष्ठ ११६

२. प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः। योगसूत्र १.६।

३. वृत्तयः पंचतय्यः क्लिष्टाः अक्लिष्टाश्च। योगसूत्र १.५।

४. तत्रानुभूतिः प्रत्यक्षात्मिकैवेति चार्वाकः, अनुमितिरपीति कणादसुगतौ, शब्दोऽपीति सांख्याः उपमितिरपीति केचिन्नैयायिकैकदेशिनः, अर्थापत्तिरपीति प्राभाकाराः, अनुपलब्धिरपीति भाट्टाः वेदान्तिनश्च, सम्भवैतिह्यरूपे अपीति पौराणिकाः। दिनकरी पृ० २३३।

पृष्ठ १२०

२. ज्ञानाकरणकं ज्ञानं प्रत्यक्षक्षम्। न्याय मुक्तावली पृ० २३५।
३. परिणामत्रयसंयमादतीतानागतज्ञानम्। योगसूत्र ३.१६।
४. प्रवृत्त्यालोकन्यासात्सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टज्ञानम्। वही ३.२५।
५. प्रत्ययस्य परचित्तज्ञानम्। वही ३–१६।
६. सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रस्य......सर्वज्ञातृत्वम्। तारकं सर्वविषयं सर्वथाविषयमक्रमं चेति विवेकज्ञं ज्ञानम्। वही ३.४६, ५४।
७. अनुमेयस्य तुल्यजातीयेष्वनुवृत्ते भिन्नजातीयेभ्यो व्यावृत्तः सम्बन्धो यस्तद्विषया सामान्यावधारणप्रधानावृत्तिरनुमानम्। योगभाष्य पृ० ३०–३१।
८. आप्तेन दृष्टोऽनुमितो वार्थः परत्र बोधसंक्रान्तये शब्देनोपदिश्यते शब्दात्तदर्थविषया वृत्तिः श्रोतुरागमः। योगभाष्य पृ० ३१–३२।

पृष्ठ १२१

१. विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम्। योगसूत्र १.८।
२. शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः। योगसूत्र १.९।
३. यथापुरुषस्य चैतन्यं स्वरूपमिति। अत्र देवदत्तस्य कम्बल इति शब्दजनिते ज्ञाने षष्ठ्या योऽध्वसितो भेदस्तमिहाविद्यमानमपि समारोप्य प्रवर्त्ततेऽध्यवसायः। वस्तुतस्तु चैतन्यमेव पुरुषः। भोजवृत्ति १.९ पृ० १३।
४. अभावप्रत्ययालम्बना वृत्ति र्निद्रा। योगसूत्र १.१०।

पृष्ठ १२२

१. संस्कारमात्रजन्यं ज्ञानं स्मृतिः, तद्भिन्नं ज्ञानमनुभवः। तर्कसंग्रह पृ० ६८।
३. सा च (स्मृतिश्च) द्वयी–भावितस्मर्तव्या चाभावितस्मर्त्तव्या च। स्वप्ने भावितस्मर्त्तव्या, जाग्रत्समये त्वभावितस्मर्त्तव्येति। व्यासभाष्य–पृ० ४२–४३।

पृष्ठ १२३

१. अधिष्ठानं तथा कर्त्ता करणं च पृथग्विधम्।
विविधाश्च पृथक्चेष्टाः दैवं चैवात्र पंचमम्। गीता १८.१४।
२. क्रियाज्ञानमन्यद्वा रागादिकं शक्त्यात्मना स्थितः संस्कारः। स च स्वसमान–विषयकक्रियास्मृत्यादिहेतुः। क्रियासंस्कारः क्रियात्मना, ज्ञानसंस्कारः स्मृत्यात्मना, अन्यः संस्कारोऽन्यात्मना परिणमते। मणिप्रभा। ४.९ पृ० १८–१।
३. ततस्तद्विपाकानुगुणानामेवाभिव्यक्तिर्वासनाम्। योगसूत्र ४.८।
४. इह हि द्विविधाः कर्मवासनाः, स्मृतिमात्रफलाः जात्यायुर्भोगफलाश्च।
भोज वृत्ति ४–८ पृ० १७६।
५. तत्र जात्यायुर्भोगफला एकानेकजन्मभवाः। वही ४.८ पृ० १७६।
६. येन कर्मणा पूर्वं देवतादिशरीरमारब्धं, जात्यन्तरशतव्यवधानेन पुनस्तथाविधस्यैव शरीरस्यारम्भे तदनुरूपा एव स्मृतिफलाः वासनाः प्रकटीभवन्ति। .... इतरास्तु

सत्योऽपि अव्यक्तसंज्ञास्तिष्ठन्ति न तस्यां दशायां नरकादिशरीरोद्‌भवा वासनाः व्यक्तिमायान्ति। वही ४.८ पृ० १७६।

७. तासामनादित्वं चाशिषो नित्यत्वात्। योगसूत्र ४.१०।

पृष्ठ १२४

१. हेतुफलाश्रयालम्बनैः संगृहीतत्वादेषामभावे तदभावः। वही ४.११।

२. राग आसंग तृष्णा काम सन्तोष असक्ति, अनिच्छा अभिष्वंग, अनभिष्वंग, हर्ष, क्रोध अमर्ष, क्षमा अक्रोध, शोक विषाद, भय उद्वेग, अभय, लोभ, स्पृहता, आशा, अलोलुपता, अहंकार, निर्ममता, अमर्ष मात्सर्य अपैशून्य, अद्वेष अवैर, ईश्वरभाव, तेजस्विता, अमानिता, निर्वेद, क्षमा, मोह, अहंकार, असम्मोह दान, मार्दव, पारुष्य, क्रूरता, अहिंसा, मुदिता, सौमनस्य, मनःप्रसाद, सत्त्वसंशुद्धि, भावसंशुद्धि, आत्मसंशुद्धि, धृति, तुष्टि, समता, शान्ति, मैत्री, विषय, स्मय, ह्री, अनुताप, निर्द्वन्द्वता, निस्त्रैगुण्य, उदासीनता एवं अनपेक्षिता।

पृष्ठ १२५

१. सुखाभिज्ञस्य सुखानुस्मृतिपूर्वः सुखे तत्साधने वा यो गर्धस्तृणा लोभः स रागः। योगभाष्य २.७ पृ० १५४–५५।

२. रागो विषयेषु रंजनात्मकश्चित्तवृत्तिविशेषोऽत्यन्ताभिनिवेशरूपः।
गीता मधुसूदनी टीका २.५८।

३. अनुभूताभिनिवेशे विषयेषु रंजनात्मकस्तृष्णाभेदविशेषः। गीता २.५६ आनन्द गिरि भाष्यविवेचन।

४. शब्दादिषु पंचसु दिव्यादिव्यतया दशविधेषु विषयेषु रागः आसक्तिः महामोहः। स च दशविधविषयत्वाद् दशविधः। सांख्यतत्त्वकौमुदी पृ० १८३।

५. आसंगः प्राप्ते विषये मानसः प्रीतिलक्षणः संश्लेषः। गीता शांकरभाष्य १४.७।

६. सन्तोषादनुत्तमसुखलाभः। योगसूत्र २.४२। (भाष्य) तथाचोक्तम्—
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम्। योगभाष्य २.४२ पृ० २६४।

७. काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्‌भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्। गीता ३.३७।

८. ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते। संगात्संजायते कामः। वही २.६३।

पृष्ठ १२६

१. कामसुखं काम्यविषयप्राप्तिजनितं सुखम्। भास्वती पृ० २६४।

२. (क) कामस्तृष्णा असन्निकृष्टेषु विषयेषु। गीता शांकरभाष्य २.११।
(ख) इच्छाकामः। तर्कसंग्रह।

३. कामः स्त्रीपुरुषयोः परस्परव्यतिकराभिलाषः। गीता—मधुसूदनी व्याख्या पृ० २४।

४. (क) विषयाणामर्जनरक्षणक्षयसंगहिंसादोषदर्शनादकरणमपरिग्रहः। योगभाष्य—पृ० २५०।
(ख) अपरिग्रहो भोगसाधनानामनङ्गीकारः। भोजवृत्ति पृ० ६२।

पृष्ठ १२७

१. योगी युंजीत सततं आत्मानं रहसि स्थितः।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः।। गीता—६.१०।
२. अभिष्वंगो नाम शक्तिविशेष एव अन्यस्यात्मभावना लक्षणः। गीता शांकरभाष्य १३—६।
३. स्नेह एवातिपक्वोऽभिष्वङ्गः। गीता माध्वभाष्य १३.१०।
५. (क) इष्टप्राप्तौ हर्षः। गीता शांकरभाष्य १८.२७।
(ख) इष्टप्राप्त्यादिजन्मा सुखविशेषो हर्षः। रसगंगाधर पृ० २७३।

पृष्ठ १२८

१. पुण्यवत्सु पुण्यानुमोदनेन हर्षमेव कुर्यात्—तदेवं चित्ते प्रसीदति सुखेन समाधिलाभो भवति। भोजवृत्ति १.३३ पृ० ३६।
२. एवमस्य भावयतः शुक्लो धर्म उपजायते, ततः चित्तं प्रसीदति प्रसन्नं एकाग्रं स्थितिपदं लभते। योगभाष्य १.३३ पृ० ६८।
३. क्रोधः कृत्याकृत्यविवेकोन्मूलकः प्रज्वलनात्मकश्चित्तधर्मः। भोजवृत्ति २.३४।
४. कामात्क्रोधोऽभिजायते। भगवद्गीता २.६१।
५. वीतरागभयक्रोधः स्थितधीः मुनिरुच्यते। २.६१।
६. वितर्काः हिंसादयः कृतकारितानुमोदिता लोभक्रोधमोहपूर्वका..........। इति प्रतिपक्ष भावनम्। योगसूत्र २.३४।

पृष्ठ १२६

१. अनिष्टप्राप्ताविष्टवियोगे च शोकः। गीताशांकरभाष्य १५.२७।
२. (क) सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति। वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते। ....नच शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः। गीता १।२६—३०।
(ख) यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम्। वही २.८।
३. अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः। योगसूत्र १.१२।
४. यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैताभूद् विजानतः।
तन्न को मोहः कः शोक एकत्व मनुपश्यतः। यजुर्वेद ४०.७
५. इष्टासिद्धि—राजगुर्वाद्यपराधादिजन्योऽनुतापो विषादः। रसगंगाधर पृ० ३१५।

पृष्ठ १३०

१. विषादोऽनुत्साहः। रामकण्ठकृत गीताभाष्य १३.३५।
२. पंचमीभयेन। पाणिनि सूत्र १.४.२५।
३. (क) अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः। योगसूत्र २.३५।
(ख) अहिंसाप्रतिष्ठायां वैरत्यागः सर्वप्राणिनां भवति। योगभाष्य २—३५ पृ० २६०।

(ग) तस्याहिंसां भावयतः सन्निधौ सहजविरोधिनामप्यहिनकुलादीनां वैरत्यागो निर्मत्सरतयावस्थानं भवति। हिंस्रा अपि हिंस्रत्वं त्यजन्ति। भोजवृत्ति २.३५ पृ० ६८।

पृष्ठ १३१

१. अभयं भयाभावो विश्वस्तचित्तता। शांकरभाष्यगीता १०.४।
२. वितर्काः हिंसादयः कृतकारितानुमोदिता लोभक्रोधमोहपूर्वकाः योगसूत्र २—३४।
३. तत्र हिंसा तावत् कृता कारितानुमोदितेति त्रिविधा, एकैका पुनस्त्रिविधा लोभेन मांसचर्मार्थेन।...... योगभाष्य २—३४ पृ० २५६।
४. मृदृमध्याधिमात्राः पुनस्त्रेधा............मृदुमृदुः मध्यमृदुः तीव्रमृदु, मृदुमध्यः, मध्यमध्यः तीव्रमध्यः, तथा मृदुतीव्रः, मध्यतीव्रो, अधिमात्रतीव्र इति। वही पृ० २४६—५०।
५. लोभःस्वकीयद्रव्यस्यात्यागशीलता। शांकरभाष्यगीता १४.१२।
६. लोभेन मांसचर्मार्थेन............। योगभाष्य २.३४ पृ० २५६।

पृष्ठ १३२

१. ध्यानं निर्विषयं मनः। सांख्यसूत्र ६.२५।
२. तद्रूपप्रत्ययैकाग्र्यसन्ततिश्चान्यनिस्पृहा।
तद्ध्यानं प्रथमैरङ्गैष्षड्भिर्निष्पाद्यत नृप। विष्णु पु० ६—७—६२।
३. आशा ह्यनिर्ज्ञाते प्राप्येष्टार्थप्रार्थना। शांकरभाष्य कठोपनिषद् १.१.८।
४. निराशः सुखी पिङ्गलावत्। सांख्यदर्शन ४.११।
५. अलोलुपत्वं इन्द्रियाणां विषयसन्निधौ अधिक्रिया। शांकरभाष्य गीता १५.२।

पृष्ठ १३३

१. (क) ते समाधावुपसर्गाः व्युत्थाने सिद्धयः। योगसूत्र ३.२७।
(ख) तत्र हर्षविस्मयादिकरणेन समाधिः शिथिलीभवति। भोजवृत्ति ३.३७।
२. उत्सेको मदो महदवधीरणे हेतुः, आत्मन्युत्कृष्टत्वाऽध्यारोपोऽभिमानः। आनन्दगिरिकृत गीताभाष्य १५.४।
३. दर्पो नाम हर्षान्तरभावी धर्मातिक्रमहेतुः। गीताशांकरभाष्य १५.५३।
४. निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति। गीता २.७१।

पृष्ठ १३४

१. अनहंकारः अनात्मनि देहे आत्माभिमानराहित्यम्। गीता रामानुजमाष्य १३.६१।
२. अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषाम् प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम्। योगसूत्र २.४।
३. एषा चतुष्पदा भवत्यविद्या मूलमस्य क्लेशसन्तानस्य कर्माशयस्य च सविपाकस्य। योगभाष्य २.५ पृ० १५०।
४. अविद्यया हातव्ये एवाहंकारममकारानुपातिनं—बाह्यात्मिकोभय—निमित्तास्तापा अनुप्लवन्ते। योगभाष्य २—१५ पृ० १८२।
५. (क) अमर्षोऽसहिष्णुता परकीयप्रकर्षस्य। आनन्दगिरि गीताभाष्य १२—१५।

(ख) अमर्षःपरस्य लाभेऽसहिष्णुता। श्रीधरभाष्यगीता १२.१५।
(ग) अमर्षः परोत्कर्षासहिष्णुता। अमृततरङ्गिणी १२—१५।

६. मैत्रीकरुणा आदि। योगसूत्र १.३३।
७. परोत्कर्षामर्षपूर्विका स्वस्योत्कर्षवांछा (मत्सरः)। गीता 'आनन्दगिरि भाष्य ४.२१।

पृष्ठ १३५

१. विमत्सरोनिर्वैरबुद्धिः। गीता शांकरभाष्य ४.२२।
२. गुणेषु दोषाविष्करणमसूया। गीता आ० गि० भाष्य ३.३६।
३. (क) अभ्यसूया सन्मार्गवर्त्तिनां गुणेषु दोषदर्शनम्। श्रीधरगीताभाष्य १६.१८।
(ख) अभ्यसूयकाः दोषरहितेषु दोषारोपकाः। अमृततरङ्गिणी १६.१८।
४. पैशुन्यं परोक्षे परदोषप्रकाशनम्, तद्वर्जनमपैशुन्यम्। श्रीधरगीताभाष्य १६.१८।
५. अपैशुनं पररन्ध्रप्रच्छादनम्। गीताभाष्य पैशाचभाष्य) हनुमानकृत १६.२।
६. दुःखमुक्तलक्षणं, तदभिज्ञस्य तदनुस्मृतिपूर्वकं तत्साधनेषु अनभिलषतो योऽयं निन्दात्मकः क्रोधः, स द्वेषलक्षणः क्लेशः। भोजवृत्ति २.८ पृ० ६८।
७. दुःखाभिज्ञस्य दुःखानुस्मृतिपूर्वकं दुःखे तत्साधने वा यः प्रतिघो मन्युः जिघांसा क्रोधो वा स द्वेषः। योगभाष्य १.८ पृ० १५५।
८. अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषाम्................। योगसूत्र २.४।

पृष्ठ १३६

१. तामिस्रो द्वेषः, अष्टादशधा। सांख्यतत्त्वकौमुदी पृ० १८३।
२. निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव। गीता ११.५५।
३. ....न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता। वही २.५७।
४. एषा (सत्या वाक) सर्वभूतोपकारार्थं प्रवृत्ता न भूतोपधाताय, यदि चैवमभिधीयमाना भूतोपघातपरैव स्यान्न सत्यं भवेत्, पापमेव भवेत्, तेन पुण्याभासेन पुण्यप्रतिरूपकेण कष्टतमं प्राप्नुयात्। योगभाष्य पृ० २४६।
५. हिंसायाः सर्वकालं परिहार्यत्वात्प्रथमं तदभावरूपायाः अहिंसायाः निर्देशः। भोजवृत्ति २.३० पृ० ६२।
६. नहि वेरेन वेरानि सम्मन्तीघ कुदाचन।
अवेरेन च सम्मन्ती एस धम्मो सनन्तनो। धम्म पद १.५।
७. अहिंसा प्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः। योगसूत्र २.३५।
८. (क) सर्वप्राणिनां भवति। योगभाष्य २.२५ पृ० २६०।
(ख) तस्य अहिंसां भावयतः सन्निधौ सहजविरोधिनामप्यहिनकुलादीनां वैरत्यागो निर्मत्सरतयाऽवस्थानं भवति। भोजवृत्ति। २.३५ पृ० ६८।

पृष्ठ १३७

१. ईश्वरभावो प्रभुत्वं पराधीनत्वासहिष्णुत्वम्। रामकण्ठकृता गीता व्याख्या १८.४५।
२. ईश्वरभावो लोकनियमनशक्तिः। ब्रह्मानन्दगिरि (गीताटीका) १८.४३।

३. ते समाधावुपसर्गाः व्युत्थाने सिद्धयः। योगसूत्र ३.३७।
४. तत्र प्रकर्षविस्मयादिकरणेन समाधिः शिथिलीभवति। भोजवृत्ति। ३.३७ पृ० १४६।
५. श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वकमितरेषाम्। योगसूत्र १.२०।

पृष्ठ १३८

२. दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्। योगसूत्र १.१५।
३. (क) दृष्टानुश्रविकविषयदोषदर्शी .विरक्तः पुरुषदर्शनाभ्यासात् शुद्धिप्रविवेकाप्यायितबुद्धिगुणेभ्यो विरक्त इति तद् द्वयं वैराग्यम्। योगभाष्य १.१६।
(ख) प्रथमं वैराग्यं विषयविषयम्। द्वितीयं गुणविषयम्। भोजवृत्ति १.१६ पृ० २०।
४. तत्र यदुत्तरं तज्ज्ञानप्रसादमात्रं यस्योदये प्रत्युदितख्यातिरेवम्मन्यते, प्राप्तं प्रापणीयं, क्षीणाः क्षेतव्याः क्लेशाः, छिन्नः श्लिष्टपर्वा भवसंक्रमो यस्याविच्छदाज्जनित्वा म्रियते, मृत्वा च जायते इति ज्ञानस्यैव पराकाष्ठा वैराग्यम्। एतस्यैव नान्तरीयकं कैवल्यम्। योगभाष्य १.१६ पृ० ५०–५१।
५. मोहो देहादिषु आत्मबुद्धिः। श्रीधरस्वामीकृत गीताभाष्य २.५२।

पृष्ठ १३६

१. मोहो विपरीतज्ञानम्। रामानुजभाष्य गीता १४.१७।
२. अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या। योग सू० २.५।
३. अविद्या न प्रमाणं, न प्रमाणाभावः, किन्तु विद्याविपरीतं ज्ञानान्तरमविद्या। योग भाष्य २.५ पृ० १५२।
४. अविद्याऽस्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः यथासंख्यं तमो मोहो महामोहो तामिस्रोन्धतामिस्रसंज्ञकाः पंचविपर्ययविशेषाः। सांख्यतत्त्वकौमुदी पृ० १८१।
५. सांख्यतत्त्वकौमुदी पृ० १८३–१८४।
६. नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव।। भगवद्गीता १८.७३।
७. सत्त्वपुरुषान्यताप्रत्ययो विवेकख्यातिः। योगभाष्य २.२६ पृ० २३६।

पृष्ठ १४०

१. रजस्तमोमलानभिभूतायाः बुद्धेरन्तर्मुखी या चितिच्छाया संक्रान्तिः सा विवेकख्यातिः। भोजवृत्ति २.२६ पृ० ८८।
२. क्षमागुणो ह्यशक्तानां शक्तानां भूषणं क्षमा।
क्षमावशीकृतिर्लोके क्षमया किं न साध्यते। महाभारत प्रजागरपर्व।
३. दया सर्वप्राणिषु क्लेशायन्तेषु तदुज्जिहीर्षा। गीता रामकण्ठव्याख्या १–५२।
४. दया भूतेषु रक्षितव्यबुद्धिः। अमृततरङ्गिणी १५.२ (गीताभाष्य)।
६. ततश्चित्तं प्रसीदति प्रसन्नमेकाग्रं स्थितिपदं लभते। यो० भा० १.३३ पृ० ६८।
७. मैत्र्यादिपरिकर्मणा चित्ते प्रसीदति सुखेन समाधेराविर्भावो भवति। भोजवृत्ति १.३३ पृ० ३६।

८. मैत्ताकरुणामुदिता–उपेक्खे चेति इमा चतस्सो अप्पमज्जायो नाम ब्रह्मविहारा। अभिघम्मसंगहो ६.६ पृ० १५६।

पृष्ठ १४१

१. दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं विदुः।।
यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः।
दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम्।।
अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते।
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम्।। गीता १७।२०–२२।

३. तत्राहिंसा सर्वथा सर्वदा सर्वभूतानभिद्रोहः। व्यास भाष्य २.३० पृ० २४७।

४. (क) कर्मणा मनसा वाचा सर्वभूतेषु सर्वदा।
अक्लेशजननं प्रोक्तमहिंसात्वेन योगिभिः। योग याज्ञवल्क्य १.५०–५१।
(ख) कायेन मनसा वाचा प्राणिपीडनवर्जनम्।
मूलं यत्सर्वधर्माणां साऽहिंसा योगिभिर्मता। योगकारिका २–६४।

पृष्ठ १४२

१. तत्र प्राणवियोगप्रयोजनव्यापारो हिंसा। भोजवृत्ति २.३० पृ० ६२।

२. (क) पुण्यवत्सु पुण्यानुमोदनेन हर्षमेव कुर्यात्, न तु किमेते पुण्यवन्त इति विद्वेषम्। भोजवृत्ति १.३३ पृ० ३६।
(ख) पुण्यशीलेषु प्राणिषु मुदितां हर्षं भावयतोऽसूयाकालुष्यं निवर्त्तते। तत्त्ववैशारदी १.३३ पृ० ६८।

४. मुदितां प्रीतिं..........भावयेत् इत्यन्वयः। योगवार्त्तिक १.३३ पृ० ८६।

५. पापिषूपेक्षां भावयन्स्वयमेव पापान्निवर्त्तते। योगसुधाकर १.३३ पृ० ४१।

६. प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव।
न द्वेष्टि सम्प्रवृत्तानि न निवृत्तानि कांक्षति।
उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते। भगवद्गीता १४।२२–२३।

पृष्ठ १४३

२. यदा तु सुखिषु प्राणिषु मैत्रीं भावयते सर्वेप्येते सुखिनो मदीया इति, तदा तत्सुखं स्वकीयमेव सम्पन्नमिति तत्र रागो निवर्त्तते। न केवलं रागः, किं तु परगुणासहन–दोषाविष्करणरूपाद्यऽसूयेर्ष्यादिकमपि निवर्त्तते। मणिप्रभा १.३३।

पृष्ठ १४४

१. गीताभाष्य २.५४, १७–१६।

२. गीता भाष्य विवेचन १८.५४।

३. क्लेशकर्मविपाकशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः। यो० सू० १.२४।

४. प्रसादः सर्वानर्थनिवृत्या परमानन्दाविर्भावः। गीताभाष्यविवेचन १८.५४।

५. (क) अधिकारी चात्र विमलप्रतिभानशालिहृदयः। अभिनवभारती पृ० ४७०।
(ख) निजसुखादिविवशीभूतश्च कथं वस्त्वन्तरे संविदं विश्रामयेत् इति तत्प्रत्यूहव्यपोहनाय·········येनाहृदयोऽपि हृदयनैर्मल्यप्राप्त्या सहृदयी .... क्रियते। वही पृ० ४७६।
(ग) तत्कालनिवर्त्तितानन्दांशावरणाज्ञानेन एवं स्वप्रकाशतया वास्तवेन स्वरूपानन्देन सह गोचरीक्रियमाणः रत्यादिरेव रसः।
रस गंगाधर पृ० ८०।

पृष्ठ १४५

१. प्रीत्यप्रीतिविषादात्मकाः प्रकाशप्रवृत्तिनियमार्थाः।
अन्योन्याभिभवाश्रयजननमिथुनवृत्तयश्च गुणाः। सांख्यकारिका १२।
२. ·············धर्मो ज्ञानं विराग ऐश्वर्यं, सात्त्विकमेतद्रूपं तामसमस्माद्विपर्यस्तम्। वही २३।

पृष्ठ १४६

१. अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनुविच्छन्नोदाराणाम्। योगसूत्र २.४।
२. तत्र का प्रसुप्तिः? चेतसि शक्तिमात्रप्रतिष्ठानां बीजभावोपगमः, तस्य प्रबोधः आलम्बने सम्मुखीभावः। योगभाष्य २.४ पृ० १४४।
३. प्रसंख्यानवतः दग्धक्लेशबीजस्य सम्मुखीभूतेऽप्यालम्बने नासौ पुनरस्ति। दग्धबीजस्य कुतः प्ररोहः।—विषयस्य सम्मुखीभावेऽपि सति न भवति एषां प्रबोध इत्युक्ता प्रसुप्तिः। योगभाष्य २.४ पृ० १४४–४५।
४. प्रतिपक्षभावनोपहताः क्लेशास्तनवो भवन्ति। वही २.४ पृ० १४५।
५. विच्छिद्य विच्छिद्य तेन तेनात्मना पुनः समुदाचरन्ति इति विच्छिन्नाः। कथम्? रागकाले क्रोधस्यादर्शनात्। नहि रागकाले क्रोधः समुदाचरति—स हि तदा प्रसुप्ततनुविच्छिन्नो भवति। वही १.४ पृ० १४५–४६।
६. विषये यो लब्धवृत्तिः स उदारः। वही १.४ पृ० १४६।
७. तत्र विदेहप्रकृतिलयानां योगिनां प्रसुप्ताः क्लेशाः,—क्रियायोगिनां तनवः, विषयसङ्गिनां विच्छिनाः उदाराश्च भवन्ति। मणिप्रभा २.४ पृ० ६४।

पृष्ठ १४७

१. ये क्लेशाश्चित्तभूमौ स्थिताः प्रबोधकाभावे स्वकार्यं नारभन्ते ते सुप्ता इत्युच्यन्तेऽन्यथा बाल्यावस्थायाम्, बालस्य हि वासनारूपेण, स्थिता अपि क्लेशाः प्रबोधसहकार्यभावे नाभिव्यज्यन्ते। भोजवृत्ति १.४ पृ० ६३।
२. ते तनवो ये स्वस्वप्रतिपक्षभावनया शिथिलीकृतकार्यसम्पादनशक्तयो वासनावशेषतया चेतस्यवस्थिताः प्रभूतां सामग्रीमन्तरेण स्वकार्यमारब्धुमक्षमाः, यथा अभ्यासवतो योगिनः। ते विच्छन्ना ये केनचिद्बलवता क्लेशेनाभिभूतशक्तयस्तिष्ठन्ति।—ते उदाराः ये प्राप्तसहकारिसन्निधयः स्वं स्वं

कार्यमभिनिर्वर्त्तयन्ति। वही १.४ पृ० ६३।

३. क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः, सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः। योगसूत्र २।१२—१३।

४. अत्र भोगो मुख्यं फलम्, तन्नान्तरीयके च जात्यायुषी। नागोजिवृत्ति २—१३ पृ० ७३।

५. क्लेशावनद्धः कर्माशयो विपाकारम्भी भवति नापनीतक्लेशो न प्रसङ्ख्यानदग्धक्लेशबीजभावो वेति। व्यासभाष्य २.१३ पृ० १६५।

पृष्ठ १४८

१. तस्माज्जन्मप्रायाणान्तरे (मरणान्तरे) कृतः पुण्यापुण्यकर्माशयप्रचयो विचित्रः प्रधानोपसर्जनभावेनावस्थितः प्रायणा (मरणा) भिव्यक्त एक प्रघट्टकेन मिलित्वा मरणं प्रसाध्य संमूर्च्छित एकमेव जन्म करोति। तच्च जन्म तेनैव कर्मणा लब्धायुष्कं भवति, तस्मिन्नायुषि तेनैव कर्मणा भोगः सम्पद्यते।
वही २.१३ पृ० १६७—१६८।

३. दृष्टजन्मवेदनीयस्त्वेकविपाकाराम्भी भोगहेतुत्वात्, द्विविपाकारम्भी वा आयुर्भोगहेतुत्वात् नन्दीश्वरवन्नहुषवद्वा इति। वही १.१३ पृ० १६६।

पृष्ठ १४६

१. यो ह्यदृष्टजन्मवेदनीयोऽनियतविपाकस्तस्य त्रयी गतिः—कृतस्याविपक्वस्य नाशः, प्रधानकर्मण्यावापगमनं वा, नियतविपाकप्रधानकर्मणाऽभिभूतस्य वा चिरमवस्थानम् इति। वही १.१३ पृ० १७१।

३. सः कर्माशयो द्विविधः आरब्धफलोऽनारब्धफलश्च। तत्रारब्धफल उक्त एकजन्मावच्छिन्नः। अनारब्धफलोऽपि त्रिविधः शुक्लः कृष्णः शुक्लकृष्णश्च। नागोजिवृत्ति २.१३ पृ० ७३।

पृष्ठ १५०

१. (क) भोगाभ्यासमनु विवर्धन्ते रागाः कौशलानि चेन्द्रियाणामिति तस्मादनुपायः सुखस्य भोगाभ्यास इति। वही २.१५ पृ० १८०।
(ख) विषयाणामुपभुज्यमानानां यथायथं गर्द्धाभिवृद्धेस्तदप्राप्तिकृतस्य दुःखस्यापरिहार्यतया दुःखान्तरसाधनत्वाच्चास्त्येव दुःखरूपता।
भोजवृत्ति २.१५ पृ० ७५।
(ग) न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषः कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्द्धते। विष्णुपुराण ३।१०।२३।

२. सुखभोगकाले सुखे रागस्तत्प्रतिघातके द्वेषः। विना प्राणिवधमुपभोगाभावेन हिंसादिकं च तन्नान्तरीयकं भवति, ताभ्यां चादृष्टादिद्वारोत्तरकाले दुःखमिति। नागोजिवृत्ति २.१५ पृ० ७६।

२. श्वोभावा मर्त्यस्य यदन्तकैतत्सर्वेन्द्रियाणां जरयन्ति तेजः।
अपि सर्वं जीवितं स्वल्पमेव तवैव वाहास्तव नृत्यगीते। कठोपनिषद् १.१.२६।

पृष्ठ १५१

१. यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि।
योग सूत्र २–२६।

२. योगांङ्गानुष्ठानदशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः।
विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः। वही २.२७,२८

३. अहिंसासत्यमस्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहाः यमाः। वही २.३०।

४. शौचसन्तोषतपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः। वही २.३२।

५. अहिंसा सत्यवचनं ब्रह्मचर्यमकल्कताः।
अस्तेयमिति पंचैते यमाः वै परिकीर्त्तिताः।।
अक्रोधोगुरुशुश्रूषा शौचमाहारलाघवम्।
अप्रमादश्च सततं पंचैते नियमाः स्मृताः। मन्वर्थ मुक्तावली पृ० १४३।

पृष्ठ १५२

१. सत्यं यथार्थे वाङ्मनसे। योगभाष्य पृ० २४८।

२. विषयाणामर्जनरक्षणक्षयसङ्गहिंसादोषदर्शनादस्वीकरणमपरिग्रहः।
वही पृ० २५०।

३. सन्तोषः सन्निहितसाधनादधिकस्यानुपादित्सा। वही पृ० २५२।

४. आनृशंस्यं क्षमा सत्यमहिंसा दममस्पृहा।
ध्यानं प्रसादो माधुर्यमार्जवं च यमाः दश।।
शौचमिज्या तपोदानं स्वाध्यायोपस्थनिग्रहौ।
व्रतोपवासौ मौनं च स्नानं च नियमाः दश।। मनुस्मृति पृ० १४२।

पृष्ठ १५३

१. ब्रह्मचर्यं दया क्षान्तिर्ध्यानं सत्यमकल्कता।
अंहिसास्तेयमाधुर्य्यदमाश्चेति यमाः स्मृता.।। याज्ञवल्क्य स्मृति ३.३१२।

२. स्नानमौनोपवासेज्यास्वाध्यायोपस्थनिग्रहाः।
नियमा गुरुशुश्रूषा शौचाक्रोधाप्रमत्तताः।। वही ३.३१३।

पृष्ठ १५४

१. यमान्सेवेत सततं न नियमान्केवलान्बुधः।
यमान्पतत्यकुर्वाणो नियमान्केवलान्भजन्। मनु० ४, २०४।

२. स्थिर सुखमासनम्। ....श्वासप्रश्वासयोः गतिविच्छेदः प्राणायामः।
स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्य स्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः।
देशबन्धश्चित्तस्य धारणा। तत्र प्रत्यैकतानता ध्यानम्।
तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः।
योगसूत्र २.४६, ४६, ५४। ३.१, २,३।

४. कायेन्द्रियशुद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः। योग सूत्र २.४३।

५. स्वाध्यायादिष्टदेवता सम्प्रमोषः। वही २.४४।

पृष्ठ १५५

१. समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात्। योगसूत्र २.४५।
२. अहिंसा प्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः। सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम्। अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम्। ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः। अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथन्तासंबोधः। योगसूत्र २।३५.३६।
३. वितर्कबाधने प्रतिपक्षबाधनम्। वितर्काःहिंसादयः कृतकारितानुमोदिताः लोभ–क्रोधमोहपूर्वकाः मृदुमध्याधिमात्राः दुःखज्ञानानन्तफलाः इति प्रतिपक्षभावनम्। वही २।३३–३४।
४. एते जातिदेशकालसमयानवच्छिनाः सार्वभौमाः महाव्रतम्। वही २।३१।

पृष्ठ १५६

१. यमान् सेवेत सततं न नियमान्केवलान्बुधः।
यमान्पतत्यकुर्वाणे नियमान्केवलान्भजन्। मनुस्मृति ४.२०४।
२. एते जातिदेशकालसमयानवच्छिन्ना सार्वभौमाः महाव्रतम्। योगसूत्र २.३१।
३. तथा हिंसा.................सर्वभूतानामपीडनम्। मणिप्रभा पृ० ६२।
४. (क) तत्राहिंसा सर्वथा सर्वभूतानभिद्रोहाः। योगभाष्य पृ०२४७।
(ख) तत्राहिंसा प्राणिनामद्रोहः। नागोजिवृत्तिः। पृ० ६२। भावगणेशवृत्तिः पृ० ६२।

पृष्ठ १५७

१. तत्राहिंसा नाम मनोवाक्कायैः सर्वथा सर्वभूतानामपीडनम्। मणिप्रभा पृ० ६२।
२. कर्मणा मनसा वाचा सर्वभूतेषु सर्वदा।
अक्लेशजननं प्रोक्तमहिंसात्वेन योगिभिः। योगियाज्ञवल्क्य १।५०–५१।

पृष्ठ १५८

२. अनुमन्ता विशसिता च निहन्ता.क्रयविक्रयी।
संस्कर्त्ता चोपहर्त्ता च खादकश्चेति घातकाः। —मनुस्मृति ५।५१।

पृष्ठ १५६

१. वितर्काः हिंसादयः कृतकारितानुमोदिताः लोभक्रोधमोहपूर्वकाः मृदुमध्याधिमात्राः दुःखाज्ञानानन्तफला इति प्रतिपक्षभावनम्। योगसूत्र २.३४।
२. दुःखाज्ञानानन्तफलाः। वही २.३४।

पृष्ठ १६२

१. तत्र हिंसा तावत्कृता कारितानुमोदितेति त्रिधा, एकैका पुनस्त्रिधा लोभेन मांसचर्मार्थेन, क्रोधेन–अपकृतमनेति, मोहेन–धर्मो मे भविष्यति इति। लोभक्रोधमोहाः पुनस्त्रिविधाः मृदुमध्याधिमात्रा इति एवं सप्तविंशतिभेदा भवन्ति हिंसादयः। मृदुमध्याधिमात्रा पुनः त्रेधा–मृदुमृदुः, मध्यमृदुः, तीव्रमृदुरिति, तथा

मृदुमध्यः, मध्यमध्यः तीव्रमध्य इति, तथा मृदुतीव्रः, मध्यतीव्रः, अधिमात्रतीव्र इति एवमेकाशीतिः भेदा हिंसा भवति। सा पुनर्नियमविकल्पसमुच्चयभेदादसंख्येया प्राणभृद्भेदस्यापरिसंख्येयत्वादिति। योगभाष्य पृ० २५६–२५७।

२. सर्वक्लेशानां मोहस्यानात्मनि आत्माभिमानलक्षणस्य निदानत्वात्तस्मिन्सति स्व परविभागपूर्वकत्वेन लोभक्रोधादीनामुद्भवात् मूलत्वमवसेयम्। मोहपूर्विका सर्वा दोषजातिरित्यर्थः। भोजवृत्ति २.३४ पृ० ६६।

३. अविद्याऽस्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पंच क्लेशाः। अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषाम्।
योगसूत्र २।३–४।

पृष्ठ १६३

१. उत्तरे च यमनियमास्तन्मूलाः तत्सिद्धिपरतया तत्प्रतिपादनाय प्रतिपाद्यन्ते, तदवदातरूपकरणायैवोपादीयन्ते। तथाचोक्तं—'स खल्वयं ब्राह्मणो यथा व्रतानि बहूनि समादित्सते तथा तथा प्रमादकृतेभ्यो हिंसानिदानेभ्यो निवर्त्तमानस्तामेवावदातरूपामहिंसा करोति।—योगभाष्य पृ० २४८।

२. (क) एषा सर्वभूतोपकारार्थं प्रवृत्ता न भूतोपघाताय, यदि चैवमभिधीयमाना भूतोपघातपरैव स्यान्न सत्यं भवेत्, पापमेव भवेत्। योगभाष्य पृ० २४६।

(ख) एषा यथार्थापि वाग् न परोपघाताय प्रयोक्तव्या। स्मर्यते चः—
सत्यं ब्रूयात्प्रियं ब्रूयात् न ब्रूयात्सत्यमप्रियम्।
प्रियं च नानृतं ब्रूयादेष धर्मः सनातनः।
हिंसादूषितं सत्यं पुण्याभासमेव। योग भास्वती पृ० २५०।

४. पाणातिपाता वेरमणी सिक्खापदं समादियामि।
खुद्दकपाठ सिक्खापद १ पृ० १।

पृष्ठ १६४

१. न हि वेरेन वेरानि सम्मन्तीघ कुदाचन।
अवेरेन च सम्मन्ति एस धम्मो सनन्तनो। धम्मपद १.५।

२. न हि वैरेण वैराणि शाम्यन्तीह कदाचन।
अवैरेण च शाम्यन्ति एष धर्मः सनातनः। महाभारत (विदुरनीति)

३. अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः। योग सूत्र २.३५
सर्वप्राणिनां भवति। योगभाष्य पृ० २६०।

४. (क) सत्यं यथार्थे वाङ्मनसी। यथादृष्टं यथाऽनुमितं यथाश्रुतं तथा वाङ्मनश्चेति। परत्र वा बोधसंक्रान्तये वागुक्ता यदि सा न वंचिता भ्रान्ता वा प्रतिपत्तिवन्ध्या वा भवेदिति। योगभाष्य पृ० २४८–४६।

(ख) सत्यं वाङ्मनसोर्यथार्थत्वम्। राजमृगांकवृत्ति पृ० ६२।

५. एषा सर्वभूतोपकाराय प्रवृत्ता न भूतोपघाताय। यदि चैवमप्यभिधीयमाना भूतोपघातपरैव स्यान्न सत्यं भवेत्, पापमेव भवेत्, तेन पुण्याभासेन

पुण्यप्रतिरूपकेन कष्टतमं प्राप्नुयात्। तस्मात्परीक्ष्य सर्वभूतहितं सत्यं ब्रूयात्। योगभाष्य पृ० २४६।

पृष्ठ १६५

१. सत्यं ब्रूयात्प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात्सत्यमप्रियम्।
प्रियं च नानृतं ब्रूयादेष धर्मः सनातनः।। मनुस्मृति ४.१३७।

२. सत्यं भूतहितं प्रोक्तं नियतार्थाभिभाषणम्। योगयाज्ञवल्क्य १.५२।

३. मुसावादा वेरमणी सिक्खापदं समादियामि। खुद्दकपाठ—१.४. पृ० १।

४. काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्धयेनमिह वैरिणम्।। गीता ३.३७।

५. (क) शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक् शरीरविमोक्षणात्।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः।। गीता ५.२३।

(ख) कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम्।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्त्तते विदितात्मनाम्।। वही ५.२६।

६. कामक्रोधौ तु संयम्य ततः सिद्धिं नियच्छति।। मनुः १२.११।

पृष्ठ १६६

१. सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम्। योगसूत्र २—३६।

२. धार्मिको भूया इति भवति धार्मिकः, स्वर्गं प्राप्नुहि इति स्वर्गं प्राप्नोति, अमोघा अस्य वाग्भवति। योगभाष्य पृ० २६०।

३. क्रियासाध्यौ धर्माधर्मौ क्रिया, तत्फलं च स्वर्गनरकादि। —तदस्य भगवते वाचतः भवतीति। तत्त्ववैशारदी पृ० २६०।

४. सर्वप्राणिनां भवतीत्यत्रापि शेषः। योगवार्तिक पृ० २६०।

५. क्रियाधर्मः, तस्य फलं स्वर्गादिः, तयोः आश्रयित्वं सर्वप्राणिनां सत्यप्रतिष्ठस्य वचनाद् भवतीति। योगवार्तिक पृ० २६०।

६. (क) क्रियमाणा हि क्रिया स्वर्गादिकं प्रयच्छति। तस्य तु सत्याभ्यासवतो योगिनः तथा सत्यं प्रकृष्यते यथा क्रियायामकृतायामपि योगीफलमाप्नोति। भोजवृत्ति २.३६ पृ० ६८।

(ख) सत्यप्रतिष्ठायां यागादिक्रियाफलाश्रयत्वं नाम अकृत्वापि यागादिक्रियाः तद्वचनात्। अन्यस्यापि स्वर्गादिदानसामर्थ्यमायाति किं पुनः स्वस्य वक्तव्यम्। चन्द्रिका २—३६ पृ० ६६।

७. इदमहमनृतात् सत्यमुपैमि।। यजु. १.५.

८. मुसावादा वेरमणी सिक्खापदं समादियामि।
खुद्दकपाठ सिक्खापद १।४ पृ० १

पृष्ठ १६७

१. सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा—मुण्डकोपनिषद् २.१.५।

२. सत्यमेव जयते नानृतं सत्येन पन्था विवतो देवयानः।
येनाक्रमन्त्यृषयो ह्याप्तकामाः यत्र तत्सत्यस्य परमं निधानम्। वही ३.१.६।

३. वेदमनूच्याचार्योऽन्तेवासिनमनुशास्ति .... सत्यान्न प्रमदितव्यम्।
तैत्तिरीयोपनिषद् २।११।१

४. सत्यस्य वचनं श्रेयः सत्यादपि हितं वदेत्।
यद्भूतहितमत्यन्तम् एतत्सत्यं मतं मम। महाभारत शान्ति पर्व।

५. श्रेयस्तत्रानृतं वक्तुं तत्सत्यमविचारितम्। महाभारत कर्णपर्व।

६. नास्ति सत्यात्परो धर्मो नानृतात्पातकं परम्। मनु. ८-८२ पृ० २४०।

७. सत्यं साक्ष्ये ब्रुवन्साक्षी लोकानाप्नोति पुष्कलान्।
इह चानुत्तमां कीर्त्तिं वागेषा ब्रह्मपूजिता। वही ८-८१।

८. सत्यां वाचमहिंसां च वदेदनपकारिणीम्। वही ८-४५।

९. (शिरो वा सर्वगात्राणाम्) धर्माणां सत्यमुत्तमम्। वही ८-८२ (६)।

१०. स्तेयं अशास्त्रपूर्वकं द्रव्याणां परतः स्वीकरणम्। योगभाष्य। पृ० २५१।

११. न हि चौर्यविरतिमात्रमस्तेयं किन्तु अग्रहणीयविषये अस्पृहा रूपं तत्।
योगभास्वती। पृ० २५०।

पृष्ठ १६८

१. कर्मणा मनसा वाचा परद्रव्येषु निस्पृहा।
अस्तेयमिति सा प्रोक्ता।। योगयाज्ञवल्क्य १, ५१—५२।

२. स्तेयं परस्वापहरणम्, तदभावोऽस्तेयम्। भोजवृत्ति २.३० पृ० ६२।

३. (क) अस्तेयं परस्वानादानम्। भावगणेशवृति पृ० ६२, नागोजिवृत्ति पृ० ६२।
(ख) परस्वापहरणाभावः। चन्द्रिका पृ० ६२।
(ग) अस्तेयं परस्वानपहारः। योग सुधाकर पृ० ६५।

४. बलाद्रहसि वा परवित्तहरणं स्तेयं, तदभावो अस्तेयम्। मणिप्रभा पृ० ६२।

५. अस्तेयो ह्यस्पृहारूपः स्तेयस्यापि प्रवर्जनम्।। योगकारिका २.६६।

६. आदिण्णादाना वेरमणि सिक्खापदं समादियामि। खुद्दकपाठ द्वितीय सिक्खापद पृ० १।

७. अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थनाम्। योग सूत्र २.३७।

८. सर्वासु दिक्षु भ्रमतः योगिनः सकाशे चेतनाचेतानि रत्नानि जातौ जातौ उत्कृष्टवस्तून्युपतिष्ठन्ते आस्थाप्यन्ते च। भास्वती पृ० २६०।

पृष्ठ १६६

१. (क) ब्रह्मचर्यं—गुप्तेन्द्रियस्योपस्थस्य संयमः। योगभाष्य पृ० २५०।
(ख) ब्रह्मचर्यमुपस्थसंयमः। भोजवृत्ति पृ० ६२, मणिप्रभा पृ० ६२।

२. (क) ब्रह्मचर्यमष्टविधमैथुननिवृत्तिः। भावगणेशवृत्ति पृ० ६२।
(ख) ब्रह्मचर्यमष्टविधमैथुनत्यागः। नागोजिवृत्ति पृ० ६२ योगसुधाकर पृ० ६२।

३. (क) सर्वत्र मैथुनत्यागः ब्रह्मचर्यं प्रचक्षते। योगयाज्ञवल्क्य १.५४।
(ख) सर्वेन्द्रियेषु गुप्तेषु चोपस्थेन्द्रियसंयमः।
ब्रह्मचर्यं समाख्यातमष्टाङ्गमपि तद् भवेत्। योगकारिका २।६७।
तच्चाष्टाङ्गं स्मृतम्। यथोक्तं
स्मरणं कीर्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम्।
संकल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिष्पत्तिरेव च।।
एतन्मैथुनमष्टाङ्गं प्रवदन्ति मनीषिणः।
विपरीतं ब्रह्मचर्यमनुष्ठेयं मुमुक्षुभिः।।इति।। योगकारिका भाष्य। पृ० २६।

४. प्रकर्षेणेक्षणं प्रेक्षणं रागपूर्वकं दर्शनमित्यर्थः। योगवार्तिक पृ० २५०।

५. स्मरणं कीर्तनं केलि प्रेक्षणं गुह्यभाषणम्।
संकल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिष्पत्तिरेव च।
एतन्मैथुनमटाङ्गं प्रवदन्ति मनीषिणः। दक्षस्मृति ७।३१–३२, भावगणेशवृत्ति पृ० ६२ नागोजिवृत्ति पृ० ६२, एव योगवार्तिक पृ० २५० में उद्धृत।

६. शुश्रूषा च गुरोर्नित्यं ब्रह्मचर्यमुदाहृतम्। योगयाज्ञवल्क्य १.५८।

७. गुरवः पंच सर्वेषां चतुर्णां श्रुतिचोदिताः।
माता पिता तथाचार्यो मातुलः श्वसुरस्तथा।।
एषु मुख्यास्त्रयः प्रोक्ताः आचार्यः पितरौ तथा।
एषु मुख्यतमस्त्वेकः आचार्यः परमार्थवित्। योगयाज्ञवल्क्य १।५८–६०।

८. (क) ब्रह्मचर्यमेव तद् यद् रात्रौ रत्या संयुज्यन्ते। प्रश्नोपनिषद् १.१३।
(ख) निन्द्यास्वष्टासु चान्यासु स्त्रियो रात्रिषु वर्जयन्।
ब्रह्मचार्येव भवति यत्र तत्राश्रमे वसन्। मनुस्मृति ३।५।

पृष्ठ १७०

१. वितर्काः हिंसादयः कृतकारितानुमोदिताः लोभक्रोधमोहपूर्वकाः मृदुमध्याधिमात्राः इत्यादि। योगसूत्र २.३४।

२. अस्य ब्राह्मणस्य हिंसादयो वितर्काः जायेरन् हनिष्याम्यपकारिणम्, अनृतं वक्ष्यामि, द्रव्यमप्यस्य स्वीकरिष्यामि, दारेषु चास्य व्यवायी भविष्यामि, परिग्रहेषु चास्य स्वामी भविष्यामि इत्यादि। योगभाष्य २.३३ पृ० २५५।

३. ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः। योगसूत्र २.३८।

४. यः किल ब्रह्मचर्यमभ्यस्यति, तस्य तत्प्रकर्षात् निरतिशयं वीर्यं सामर्थ्यमाविर्भवति, वीर्यनिरोधे हि ब्रह्मचर्यस्य प्रकर्षाच्छरीरेन्द्रियमनःसु वीर्यं प्रकर्षमागच्छति। भोजवृत्ति २.३८ पृ० ६६।

५. (क) यस्य (वीर्यस्य) लाभादप्रतिघान् गुणानुत्कर्षयति सिद्धश्च विनेयेषु ज्ञानमाधातुं समर्थो भवतीति। योगभाष्य पृ० २६१, २–३८।
(ख) ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभस्ततस्तु च।

शिष्येषु ज्ञानमाधातुं क्षमः सिद्धीश्च विन्दति। योगकारिका २–७६।

(ग) ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठाजातवीर्यलाभात्तद्वीर्यमप्रतिघान् गुणान् प्रतिघातरहिताः ज्ञानादिशक्तिरुत्कर्षयति, तथा ऊहाध्ययनादिभिर्ज्ञानसिद्धौ योगी विनेयेषु शिष्येषु ज्ञानमाधातुं–हृदयङ्गमं कारयितुं समर्थो भवतीति। भास्वती २।३८।

पृष्ठ १७१

१. ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं विरक्षति। आचार्यो ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिण–मिच्छति। अथर्वेद का० ११ सू० मं० १७।
२. ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्। वही ११.५.१८।
३. तानि कल्पद् ब्रह्मचारी सलिलस्य पृष्ठे......पृथिव्यां बहु रोचते। वही ११.५.२६।
४. छान्दोग्योपनिषद् ३।१६। १–६।
५. अब्रह्मचरिया वेरमणि सिक्खापदं समादियामि। सुत्त पिटक खुद्दक निकाय खुद्दकपाठ सिक्खा ४।
६. एवं चरति यो विप्रो ब्रह्मचर्यमविलुप्तः।
स गच्छत्युत्तमं स्थानं न चेहाजायते पुनः।। मनु २.२४६।
७. अपरिग्रहो भोगसाधनानामनङ्गीकारः। भोजवृत्ति २.३० पृ० ६२।
८. विषयाणामर्जनरक्षणमसत्यहिंसादोषदर्शनादस्वीकरणमपरिग्रहः।
योगभाष्य २.३०।
६. तत्र सङ्गदोष उक्तः भोगाभ्यासमनु विवर्द्धन्ते रागाः। तत्त्ववैशादी पृ० २५०।
१०. न जातुकामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषःकृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्द्धते। मनुस्मृति २.६४।

पृष्ठ १७२

१. (क) अपरिग्रहो नाम देहयात्रातिरिक्तभोगसाधनास्वीकारः। मणिप्रभा पृ० ६२।
(ख) अपरिग्रहः शरीरस्थितिमात्रव्यतिरिक्तभोगसाधनास्वीकारः। योगसुधाकर पृ० ६२।
२. न केवलं भोगसाधनपरिग्रह एव परिग्रहः तावदात्मनः शरीरपरिग्रहोपि परिग्रहः, भोगसाधनत्वाच्छरीरस्य। तस्मिन्सति रागानुबन्धाद् बहिर्मुखायामेव प्रवृत्तौ, न तात्त्विकज्ञानप्रादुर्भावः यदा पुनः शरीरादिपरिग्रहनैरपेक्ष्येण मध्यस्थस्य रागादित्यागात्मको ज्ञानहेतु र्भवत्येव। भोजवृत्ति २.३६ पृ० १००।
३. अस्य भवति कोऽहमासस्, किंस्विदिदम्, कथंस्विदिदम् के वा भविष्यामः, कथं वा भविष्यामः इति एवमस्य पूर्वान्तपरान्तमध्येष्वात्मभावजिज्ञासा स्वरूपेणावर्त्तते। योगभाष्य २.३६ पृ० २६१–२६२।
४. जन्मातरे कोऽहमासम्, कीदृशः किंकारीति जिज्ञासायां सर्वमेव सम्यग् जानाति इत्यर्थः। भोजवृत्ति २.३६ पृ० १००।

पृष्ठ १७३

१. यमान् सेवेत सततं..............यमान्पतत्यकुर्वाणो नियमान्केवलान्भजन्। मनुस्मृति २.२०४।
२. तपःस्वध्याय ईश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः। योगसूत्र २.१।
३. (क) शौचं द्विविधं बाह्यमाभ्यन्तरं च। बाह्यं मृज्जलादिभिः कायादिप्रक्षालनम्। आभ्यन्तरं मैत्र्यादिभिश्चित्तमलानां प्रक्षालनम्। भोजवृत्ति ६४।
(ख) तत्र शौचं मृज्जलादिजनितं मेध्याभ्यवहरणादि च बाह्यम्। आभ्यन्तरं चित्तमलानामाक्षालनम्। योगभाष्य २.३२ पृ० २५२।
४. मेध्यानां पवित्राणां पर्युषितपूतिवर्जितानामभ्यवहरणमाहारः। भास्वती पृ० २५२।
५. मेध्यं गोमूत्रयवाग्वादि तेषां भक्षणं मेध्याभ्यवहरणादि। योगवार्तिक पृ० २५२।
६. यातयामं गतरसं पूतिपर्युषितं च यत्।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम्। गीता १७.१०।
७. आदि पदादुपवासादयो ग्राह्याः। योगवार्तिक पृ० २५२।
८. आदिशब्देनामेध्यसंसर्गविवर्जनमपि ग्राह्यम्। भास्वती पृ० २५२।

पृष्ठ १७४

१. (क) शौचं मृज्जलादिना बाह्यं, पंचगव्यादिभोजनेन चाभ्यन्तरम्। एतदुभयं शारीरम्। मानसं तु रागद्वेषादिमलक्षालनम्। भावगणेशवृत्तिः २.३२।
(ख) शौचं मृज्जलादिना बाह्यं पंचगव्यादिभोजनेन च। आभ्यन्तरं रागद्वेषादिक्षालनम्। नागोजिवृत्ति पृ० ६४।
२. (क) शौचात्स्वाङ्गजुगुप्सा परैरसंसर्गः। योगसूत्र २.४०।
(ख) स्वाङ्गे जुगुप्सायां शौचमारभमाणः कायावद्यदर्शी कायानभिष्वङ्गी यतिर्भवति ...... कायस्वभावावलोकी स्वमपि कायं जिहासुः मृज्जलादिभिराक्षालयन्नपि कायशुद्धिमपश्यन्कथं परकायैः अत्यन्तमेवाप्रयतैः संसृज्येत। योगभाष्य २.४० पृ० २६२।
३. सत्त्वशुद्धिसौमनस्यैकाग्रतेन्द्रियजयात्मदर्शनयोग्यत्वानि च। योगसूत्र २.४१।
४. (क) सन्तोषस्तुष्टिः। भोजवृत्ति पृ० ६४।
(ख) सन्तोषः सन्निहितसाधनादधिकस्यानुपादित्सा। योगभाष्य पृ० २५२।

पृष्ठ १७५

१. तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम्। यजु० ४०.१ ईशावास्योपनिषद् १।
२. सन्तोषं परमास्थाय सुखार्थी संयतो भवेत्।
सन्तोषमूलं हि सुखं दुःखमूलं विपर्ययः। मनुस्मृति ४.१२।
३. सर्वतः सम्पदस्तस्य सन्तुष्टं यस्य मानसम्।
उपानद् गूढ़पादस्य ननु चर्मावृतेव भूः। पंचतन्त्र भास्वती में उद्धृत पृ० २५३।
४. सन्तोषादनुत्तमसुखलाभः। योग सूत्र २–४२।

५. सन्तोषप्रकर्षेण योगिनस्तथाविधमान्तरं सुखमाविर्भवति, यस्य बाह्यं सुखं लेशेनापि न समम्। भोजवृत्ति पृ० १०२।
६. योगभाष्य पृ० २६४, मोक्षधर्मस्मृति २७६–६।
७. विष्णुपुराण ४.१०–१२।

पृष्ठ १७६

१. (क) तपः स्वध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः। योगसूत्र २–१।
   (ख) उद्दिष्टः समाहितचितस्य योगः, कथं व्युत्थितचित्तोऽपि योगयुक्तः स्यादित्येतदारभ्यते तपस्वाध्यायेत्यादि—योगभाष्य पृ० १३७।
२. नातपस्विनो योगः सिध्यति। अनादिक्लेशकर्मवासनाचित्रा प्रत्युपस्थितविषयजाला चाशुद्धिर्नान्तरेण तपः सम्भेदमापद्यते इति तपस् उपादानम्। योगभाष्य २.१ पृ० १३८–१३६।
३. तच्च चित्तप्रसादनमबाधमानमनेनासेव्यमिति मन्यते। योगभाष्य पृ० १३६।
४. मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातः चित्तप्रसादनम्। योगसूत्र १.३३।
५. व्रतानि च यथायोगं कृच्छ्रचान्द्रायणसान्तापनादीनि। योगभाष्य पृ० २५३।
६. तपस्तु चित्तप्रसादकरणाभासनप्राणायामोपोषणादीनां क्लेशसहनं सुखत्यागश्च कायसंयमस्तपः। भास्वती पृ० १३८।
७. तपोऽत्र युक्ताहारता न तु कृच्छचान्द्रायणादिः तस्य धातुवैषम्यहेतुत्वात्। पातंजलरहस्यम्। पृ० १३८।
८. ननु ······ तपस्तु देहेन्द्रियशोषणात्मकं केन द्वारेण योगस्योपकारकं भवतु प्रत्युत चित्तक्षोभकत्वेन योगविरोधीत्याशंक्य तपसो द्वारमाह—नातपस्विन इति। योगवार्त्तिक पृ० १३८।
६. तपः शास्त्रान्तरोपदिष्टकृच्छ्रचान्द्रायणादि। भोजवृत्ति २.१। पृ० ६०।
१०. ब्रह्मचर्यगुरुसेवासत्यवचनकाष्ठमौनाकारमौनस्वाश्रमधर्मद्वन्द्वसहनमिताश–नादिकं तपः। मणिप्रभा–पृ० ६१ (२.१)।

पृष्ठ १७८

२. ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन। गीता ४.३७।

पृष्ठ १७६

१. देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्।
   ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते।। गीता १७.१४।
२. अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।
   स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते। वही १७.१५।
३. मनः प्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः।
   भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते।। गीता १७.१६।

४. श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरैः।
अफलाकांक्षिभि र्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते।। गीता १७.१७।

५. सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत्।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम्।। गीता १७.१८।

६. मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम्। वही १७.१९।

७. (क) स्वाध्यायः प्रणवादिपवित्राणां मन्त्राणां जपः मोक्षशास्त्राध्ययनं वा। योगभाष्य २.१।
(ख) स्वाध्यायः मोक्षशास्त्राणामध्ययनं प्रणवजपो वा। योगभाष्य २.३२।

८. स्वाध्यायः प्रणवपूर्वाणां मन्त्राणां जपः। भोजवृत्ति २.१ पृ० ६०।

९. स्वाध्यायो गायत्रीप्रभृतीनां मन्त्राणामध्ययनम्। ते च मन्त्राः द्विविधाः वैदिकाः तान्त्रिकाश्च। वैदिकाः प्रगीताप्रगीतभेदेन द्विविधाः। तान्त्रिकाश्च स्त्रीपुंनपुंसकभेदेन त्रिविधाः। योगसुधाकर २.३२ पृ० ६५।

१०. स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोगः। योगसूत्र २.४४।

पृष्ठ १८०

१. ईश्वरप्रणिधानं परमगुरौ सर्वकर्मार्पणम्। योगभाष्य पृ० २५३।

२. यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्वमदर्पणम्।
शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः। गीता ९।२७—२८।

३. नाहं कर्त्ता सर्वमेतत्ब्रह्मैव कुरुते तथा।
एतद् ब्रह्मार्पणं प्रोक्तं ऋषिभिस्तत्त्वदर्शिभिः।।
यद्वा फलानां संन्यासं प्रकुर्यात्परमेश्वरे।
कर्मणामेतदप्याहुः ब्रह्मार्पणमनुत्तमम्।। कूर्मपुराण। २।१६, १८।

४. करोति यद्यत्सकलं परस्मै नारायणयेति, समर्पयेत्तत्।। श्रीमद्भागवत ११—२—३६।

५. समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात्। योग सूत्र २.४५।

पृष्ठ १८१

१. यमानभीक्षणं सेवेत नियमान्मत्परः क्वचित्। श्रीमद्भागवत ११.१०.५।

२. स्थिरसुखमासनम्। योगसूत्र २.४६।

३. तद्यदा स्थिरं निष्कम्पं सुखमनुद्वेजनीयम् च भवति तदा योगाङ्गम्। भोजवृत्ति २.४६।

पृष्ठ १८२

१. प्रयत्नशैथिल्यानन्तसमापत्तिभ्याम्। योगसूत्र २.४७।

२. सांसिद्धिको हि प्रयत्नः शरीरधारको न योगांगस्योपदेष्टव्यस्य कारणम्। तस्य

तत्कारणत्वे उपदेशवैयर्थ्यात्, स्वरसत एव तत्सिद्धे, तस्मादुपदेष्टव्यस्यासनस्यायमसाधको विरोधी च स्वाभाविकः प्रयत्नः तस्य च यादृच्छिकासनहेतुतयाऽऽसननियमोपहन्तृत्वात्, तस्मादुपदिष्टनियमासनमभ्यस्यता स्वाभाविकप्रयत्नशैथिल्यात्मा प्रयत्न आस्थेयो नान्यथोपदिष्टमासनं सिद्ध्यति। स्वाभाविकप्रयत्नशैथिल्यमासनसिद्धिहेतुः। तत्त्ववैशारदी पृ० २६७।

३. (क) अनन्ते वा नागनायके स्थिरतरफणासहस्रविधृतविश्वम्भरामंडले समापन्नं चित्तमासनं निर्वर्त्तयति। तत्त्ववैशारदी पृ० २६७–६८।
   (ख) पृथिवीधारिणि स्थिरतरशेषनागे समापन्नं तद्धारणतया तदात्मतापादकं चित्तमासनं निष्पादयतीत्यर्थः। योगवार्त्तिक पृ० २६७।

पृष्ठ १८३

१. (क) ततो द्वन्द्वानभिघातः। योगसूत्र २–४८।
   (ख) शीतोष्णादिभिर्द्वन्द्वैरासनजयान्नाभिभूयते। योगभाष्य २.४८ पृ० २६८।

३. यथा यमनियमयोरन्यकालकृतयोगांङ्गत्वं नैवमासनस्य, किन्तु प्राणायामाद्यङ्ग पंचकसाहित्येन ·········· यमनियमयोः कालान्तरीयतयात्यन्तबहिरङ्गत्वादिति। योगवार्त्तिक पृ० २६६।

पृष्ठ १८४

१. प्राणायामस्तु विज्ञेयो रेचकपूरककुम्भकैः। योगयाज्ञवल्क्य ६.२।

पृष्ठ १८५

१. (सतु) बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिर्देशकालसंख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः। योगसूत्र २.५०।

२. यत्र प्रश्वासपूर्वको गत्यभावः सः बाह्यः, यत्र श्वासपूर्वको गत्यभावः सः आभ्यन्तरः, तृतीयः स्तम्भवृत्तिर्यत्रोभयाभावः सकृत्प्रयत्नाद् भवति। यथा तप्ते न्यस्तमुपले जलं सर्वतः संकोचमापद्यते तथा द्वयोर्युगपद् गत्यभावः इति। योगभाष्य पृ० २६६–७०।

३. निष्क्राम्य नासाविवरादशेषं प्राणं बहिः शून्यमिवानिलेन। निरुद्ध्य सन्तिष्ठति रुद्धवायुः स रेचको नाम महानिरोधः।। भास्वती पृ० २६६।

४. बाह्यस्थितं घ्राणपुटेन वायुमाकृष्य तेनैव शनैः समन्तात्। नाडीश्च सर्वाः परिपूरयेद् यःस पूरको नाम महानिरोधः। वही पृ० २७०।

५. न रेचको नैव च पूरकोऽत्र नासापुटे संस्थितमेव वायुम्। सुनिश्चलं धारयति क्रमेण कुम्भाख्यमेतत् प्रवदन्ति तज्ज्ञाः। वही पृ० ७०।

पृष्ठ १८६

१. (क) त्रयोऽप्येते देशेन परिदृष्टाः इयानस्य विषयो देशः इति। योगभाष्य पृ० २७०।
   (ख) इयानस्य देशो विषयः प्रादेशवितस्तिहस्तादिदेशपरिमितो निवाते

इसीकातूलादिक्रियानुमितो बाह्यः, एवमान्तरोऽपि। तत्त्ववैशारदी पृ० २७१।

२. (क) कालपरिदृष्टिर्यथा इयतः क्षणान् यावत् धारयितव्यम्।
—भास्वती पृ० २७१।

(ख) एतावत्कालो रेचकः, एतावत्क्षणव्यापी पूरकः, एतावत्कालव्यापी कुम्भकः इत्यङ्गीकृतकालैरवधृतः।—तत्त्ववैशारदी पृ० १०८।

३. (क) एतावद्भिः श्वासप्रश्वासैः प्रथमः उद्धातः तद्वन्निग्रहीतस्य तावद्भिः द्वितीय उद्धातः एवं तृतीयः एवं मृदुः, एवं मध्यः, एवं तीव्रः इति संख्यापरिदृष्टाः। स खल्वयमेवाभ्यस्तो दीर्घसूक्ष्मः। योगभाष्य पृ० २७१-२७२।

(ख) अस्मिन्मासे प्रतिदिनं दश रेचकाः, आगामिमासे विंशतिरुत्तरमासे त्रिंशदित्यादिभिः संख्यापरीक्षा। योग सुधाकर पृ० १०६।

४. नीचो द्वादशमात्रस्तु सकृदुद्धात ईरितः।
मध्यमस्तु द्विरुद्धातः चतुर्विंशतिमात्रकः।
मुख्यस्तु यस्त्रिरुद्धातः षट्त्रिशन्मात्र उच्यते। भास्वती पृ० २७१।

५. मात्रा निमेषोन्मेषपरिच्छिन्नः कालः। स्वजानुमण्डलं त्रिः परामृश्य छोटिकावच्छिन्नकालो मात्रेत्यन्ये। नागोजिवृत्ति पृ० १०८।

६. श्वासप्रश्वासावच्छिन्नकालो मात्रा। भास्वती पृ० २७१।

७. बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी चतुर्थः। योगसूत्र २-५१

पृष्ठ १८७

१. तृतीयस्ते विषयानालोचितो गत्यभावः सकृदारभ्य स्वदेशकालसंख्याभिः परि दृष्टो दीर्घसूक्ष्मः, चतुर्थस्तु श्वासप्रश्वासयोर्विषयावधारणात्क्रमेण भूमिजया—दुभयाक्षेपपूर्वको गत्यभावश्चतुर्थः प्राणायामः इत्ययं विशेषः।
योगभाष्य पृ० २७४।

२. निश्वासोच्छ्वासकौ देहे स्वाभाविकगुणावुभौ।
तयोर्नाशे समर्थः स्यात्कर्त्तुं केवलकुम्भकम्।
रेचकं पूरकं कृत्वा मुख्यं यद् वायुधारणम्।
प्राणायामोऽयमित्युक्तः स वै केवलकुम्भकः।
सहितं केवलं वापि कुम्भकं नित्यमभयेत्।
यावत्केवलसिद्धिः स्यात् तावत्सहितमभ्यसेत्।।
केवले कुम्भके सिद्धे रेचपूरकवर्जिते।
न तस्य दुर्लभं किंचित्त्रिषु लोकेषु विद्यते। वसिष्ठसंहिता। योगवार्त्तिक पृ० २७३ से उद्धृत।

३. प्रस्वेदं जनयेद्यस्तु प्राणायामो हि सोऽधमः।
मध्यमः कम्पनात्प्रोक्तः उत्थानं चोत्तमे भवेत्।
पूर्वं-पूर्वं प्रकुर्वीत यावदुत्तमसंभवः वही पृ० २७३।

४. आकाशगमनादिशक्त्याविर्भावेन कामगत्वादिकं स्यात्। योगवातिक पृ० २७३।

पृष्ठ १८६

१. ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्। योगसूत्र २.५२।

२. सत्त्वं लघु प्रकाशमिष्टमुपष्टम्भकं चलं च रजः।
गुरुवरणकमेव तमः प्रदीपवच्चार्थतो वृतिः। सांख्यकारिका १३।

पृष्ठ १६०

१. धारणासु च योग्यता मनसः। योगसूत्र २.५३।

२. (क) प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य। योगसूत्र १.३४।
(ख) प्राणायामश्चित्तस्य स्थितिमेकाग्रतया निबध्नाति सर्वासामिन्द्रियवृत्तीनां प्राणावृत्तिपूर्वकत्वात्। –क्षीयमाणः प्राणः समस्तेन्द्रियवृत्तिनिरोधद्वारेण चित्तस्यैकाग्रतायां प्रभवति। समस्तदोषक्षयकारित्वं चास्यागमे श्रूयते। दोषकृताश्च सर्वाः विक्षेपवृत्तयः, अतः दोषनिर्हरणद्वारेणाप्यस्यैकाग्रतायां सामर्थ्यम्। भोजवृत्ति १.३४ पृ० ४१।

५. दह्यन्ते ध्मायमानानां धातूनां हि यथा मलाः।
तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात्।।
प्राणायामैर्दहेद् दोषान् धारणाभिश्च किल्बिषान्। मनु० ६.७१–७२।।

६. तद्यथा मक्षिका मधुकरराजानमुत्क्रामन्तं सर्वा एवोत्क्रामन्ते तस्मिंश्च प्रतिष्ठमाने सर्वा एव प्रतिष्ठन्ते एवं वाङ्मनः चक्षुः श्रोत्रं च। प्राणस्येदं वशे सर्वं त्रिदिवे यत्प्रतिष्ठितम्। प्रश्नोपनिषद्। २.२०,२६।

७. प्राणो ब्रह्मेति व्यजानात्। तैत्तिरीयउपनिषद्। भृगुवल्ली ३.१।

८. स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्य स्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणाम् प्रत्याहारः।
योगसूत्र २.५४।

पृष्ठ १६०

१. चक्षुरादीनामिन्द्रियाणां स्वविषयो रूपादिः तेन सम्प्रयोगस्तदाभिमुख्येन वर्त्तनम्, तदभावस्तदाभिमुख्यं परित्यज्य स्वरूपभावेऽवस्थानं तस्मिन्सति चित्त–स्वरूपानुकारीणि इन्द्रियाणि भवन्ति। भोजवृत्ति २-५४ पृ० ११२।

२. चित्तनिरोधे चित्तवन्निरुद्धानीन्द्रियाणि नेतरेन्द्रियजयवदुपायान्तरमपेक्षन्ते। यथा मधुकराजम्मक्षिका उत्पतन्तमनूत्पतन्ति, निविशमानमनुनिविशन्ते, तथेन्द्रियाणि चित्तनिरोधे निरुद्धानि इत्येष प्रत्याहारः। योगभाष्य २.५४। पृ० २७७-७८।

३. तस्मिन्सति इन्द्रियाणि चित्तरूपमात्रानुकारीणि सन्ति।
योग चन्द्रिका पृ० ११३।

४. इन्द्रियाणां विषयशूराणां चित्तवत्तत्त्वाभिमुख्यं नास्तीति द्योतनार्थम् इव शब्दः।
मणिप्रभा पृ० ११३।

५. ततः परमा वश्यतेन्द्रियाणाम्। योगसूत्र २.५५।

पृष्ठ १६२

१. शब्दादिष्वव्यसनमिन्द्रियजय इति केचित्। योगभाष्य २.५५ पृ० २७८।
२. स्वेच्छयेत्यन्ये। वही पृ० २७८।
३. रागद्वेषाभावे सुखदुःखशून्यं शब्दादिज्ञानमिन्द्रियजय इति केचित्। वही पृ० २७८।
४. चित्तैकाग्र्यादप्रतिपत्तिरेवेति जैगीषव्यः। वही पृ० २७६।
५. परमावश्यता त्वियं यच्चित्तनिरोधे निरुद्धानीन्द्रियाणि, नेन्द्रियवत्प्रयत्नकृत-मुपायान्तरमपेक्षन्ते इति। वही पृ० २७६।
६. उक्तानि पंच बहिरङ्गानि। योगभाष्य ३-१ अवतरणिका पृ० २८१।
७. त्रयमन्तरंगं पूर्वेभ्यः, तदपि बहिरंगं निर्बीजस्य। योगसूत्र ३.७,८।

पृष्ठ १६३

१. तदयं योगो यमनियमादिभिः प्राप्तबीजभावः आसनप्राणायामैरङ्कुरितः, प्रत्याहारेण पुष्पितः, ध्यानधारणसमाधिभिः फलिष्यतीति। भोजवृति पृ० ११३।
२. देशबन्धश्चित्तस्य धारणा। योगसूत्र ३.१।
३. प्राणायामेन पवनं प्रत्याहारेण चेन्द्रियम्।
वशीकृत्य ततः कुर्यात् चित्तस्थानं शुभादपि।।
मूर्त्तं भगवतो रूपं सर्वोपाश्रयनिस्पृहम्।
एषा वै धारणा ज्ञेया यच्चित्तं तत्र धार्यते। विष्णुपुराण ६.७.४५, ७८।
४. तच्च मूर्त्तं हरे रूपं यादृक् चिन्त्यं नराधिप।
तच्छूयतामनाधारे धारणा नोपपद्यते।। विष्णुपुराण ६.७.७१।
५. प्रसन्नवदनं चारु पद्मपत्रनिभेक्षणम्।
सुकपोलं सुविस्तीर्णं ललाटफलकोज्ज्वलम्।।
समकर्णान्तविन्यस्तचारुकुण्डलभूषणम्।
कम्बुग्रीवं सुविस्तीर्णं श्रीवत्साङ्कितवक्षसम्।
वलीत्रिभङ्गिना भग्ननाभिना चोदरेण वै।
प्रलम्बाष्टभुजं विष्णुमथवापि चतुर्भुजम्।।
समस्थितोरुजंघं च सुस्थिरांघ्रिकराम्बुजम्।
चिन्तयेद् ब्रह्मभूतं तं पीतनिर्मलवाससम्।। विष्णुपुराण ६.७.८०-८३।
६. (क) नाभिचक्रे, हृदयपुण्डरीके, मूर्ध्नि ज्योतिषि, नासिकाग्रे, जिह्वाग्र इत्येव-मादिषु देशेषु, चित्तस्य वृत्तिमात्रेण बन्धः इति धारणा। योगभाष्य पृ० २८१-८२।
(ख) देशे नाभिचक्रनासादौ चित्तस्य बन्धो विषयान्तरपरिहारेण यत्स्थिरीकरणं सा

चित्तस्य धारणोच्यते। भोजवृत्ति ३-१ पृ० ११४-११५।

७. नाभिचक्रे कायव्यूहज्ञानम्। कण्ठकूपे क्षुत्पिपासा निवृत्तिः। कूर्मनाड्यां स्थैर्यम्। मूर्धज्योतिषि सिद्धदर्शनम्। हृदये चित्तसंवित्। योगसूत्र ३.२६-३२, ३४।

पृष्ठ १६४

१. भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात्। चन्द्रे ताराव्यूहज्ञानम्। ध्रुवे तद्गतिज्ञानम्। योगसूत्र ३.२६, २७, २८।

२. एतद् योगिना साक्षात्कर्त्तव्यं सूर्यद्वारे संयमं कृत्वा। योगभाष्य पृ० ३४६।

३. सूर्यद्वारे सुषुम्णाद्वारे। चन्द्रे चन्द्रद्वारे। उक्तं चः–
तालुमूले च चन्द्रमाः। भास्वती पृ० ३४६–४७।

४. हृत्पुण्डरीके नाभ्यां वा मूर्ध्नि पर्वतमस्तके।
एवमादिषु देशेषु धारणा चित्तबन्धनम्। कूर्मपुराण (उ) ११, ३६।

५. (क) तत्र प्रत्यैकतानता ध्यानम्। योगसूत्र ३.२।
(ख) तस्मिन्देशे ध्येयालम्बनस्य प्रत्ययस्य एकतानता सदृशः प्रवाहः प्रत्ययान्तरेण अपरामृष्टः ध्यानम्। योगभाष्य ३.२ पृ० २८३।

६. तद्रूपप्रत्ययैकाग्रसन्ततिश्चान्यनिस्पृहा। विष्णु पु० ६.७, ६१।

७. तस्यैव ब्रह्मणि प्रोक्तं ध्यानं द्वादशधारणे। गरुड़पुराण—योगवार्त्तिक से उद्धृत पृ० २८२।

पृष्ठ १६५

१. तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः। योगसूत्र ३.३।

२. (क) ध्यानमेव ध्येयाकारनिर्भासं प्रत्ययात्मकत्वेन स्वरूपेण शून्यमिव यदा भवति ध्येयस्वभावावेशात्तदा समाधिरित्युच्यते। योगभाष्य पृ० २८३-२८४।
(ख) तदेव ध्यानं यदा ध्येयवशात् ध्यानध्यातृदृष्टिशून्यं ध्येयमात्राकारं भवति ध्येयमात्रं गृह्णाति तदा समाधिः। नागोजिवृत्ति पृ० ११७।

३. स एव दीर्घकालव्यापी सन्सम्प्रज्ञाताख्यो योग इत्युच्यते। मणिप्रभा पृ० ११७।

४. तस्यैव कल्पनाहीनं स्वरूपग्रहणं हि यत्।
मनसा ध्याननिष्पाद्यं समाधिः सोऽभिधीयते। विष्णु पुराण तत्त्ववैशारदी से उद्धृत पृ० १८४।

५. प्राणायामैर्द्वादशभिर्यावत्कालः कृतो भवेत्।
स तावत्कालपर्यन्तं मनो ब्रह्मणि धारयेत्।
तस्यैव ब्रह्मणि प्रोक्तं ध्यानं द्वादश धारणाः।
ध्यानं द्वादशपर्यन्तं मनो ब्रह्मणि योजयेत्।
तिष्ठेत्तत्तुल्यतो युक्तः समाधिः सोऽभिधीवते। गरुड़पुराण। योगवार्त्तिक पृ० २८३–८४ से उद्धृत

पृष्ठ १६६

१. त्रयमन्तरङ्गं पूर्वेभ्यः। योग सूत्र ३-७।

पृष्ठ १६७

१. तदपि बहिरङ्गं निर्बीजस्य। योगसूत्र ३-८।

२. त्रयमेकत्र संयमः। वही ३-४।

३. (क) एकविषयाणि त्रीणि साधनानि संयम इत्युच्यते। योगभाष्य पृ० २८५।
(ख) एकस्मिन् विषये धाराणा—ध्यान समाधि—त्रयं प्रवर्त्तमानं संयमसंज्ञया शास्त्रे व्यवह्रियते। भोजवृत्ति पृ० ११८।
(ग) एकविषयं धारणादित्रयं संयमसंज्ञं भवति। योगसुधाकर पृ० ११८।

पृष्ठ १६८

१. योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः। योगसूत्र २.२८।

२. विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः। वही २.२६।

३. तदभावात्संयोगाभावो हानं तद्दृशेः कैवल्यम्।। वही २.२५।

४. निर्विचारवैशारद्येऽध्यात्मप्रसादः। ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा। श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्या—मन्यविषया विशेषार्थत्वात्। तज्जः संस्कारोऽन्यसंस्कारप्रतिबन्धी। तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीजः समाधिः। योगसूत्र १.४७-५१।

५. परिणामत्रयसंयमादतीतानागतज्ञानम्। वही ३-१६।

पृष्ठ १६६

१. योगाङ्गांनुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः। योगसूत्र २.२८।

पृष्ठ २००

१. नानन्दाभिव्यक्तिमुक्तिः निर्धर्मत्वात्। सांख्य सूत्र ५.७४।

२. न कारणलयात् कृतकृत्यता मग्नवदुत्थानात्। वही ३.५४।

पृष्ठ २०१

१. तथा प्रकृतिलयाः साधिकारे चेतसि प्रकृतिलीने कैवल्यपदमिवानुभवन्ति यावन्न पुनरावर्ततेऽधिकारवशाच्चित्तम्। योगभाष्य १। १६। पृ० ६०।

२. पातंजलदर्शन प्रकाश १।१६।।

३. स हि चेतसः सम्प्रसादोऽभिरुचिरतीच्छा। तत्त्ववैशारदी पृ० ६०।

४. तदेवं श्रद्धामूलकाद्धारणाद्यन्तरङ्गत्रयात्संप्रज्ञातयोगे जायमाने प्रज्ञा जीवब्रह्मान्यतरात्मतत्त्वसाक्षात्काररूपो विवेक उपावर्त्तते। योगवर्त्तिक पृ० ६०।

पृष्ठ २०२

१. तद्भेदेन नवयोगिनो भवन्ति। मृदुपायो-मृदुसंवेगो मध्यसंवेगस्तीव्रसंवेगश्च। मध्योपायोमृदुसंवेगो मध्यसंवेगस्तीव्रसंवेगश्च। अधिमात्रोपायो-मृदुसंवेगो मध्यसंवेगस्तीव्रसंवेगश्च। भोजवृत्ति १०२२।

२. संवेगः क्रियाहेतुः दृढ़तरः संस्कारः। वही १.२१।

३. संवेगः वैराग्यम्। तत्त्ववैशारदी २.२१।
४. योगाधिकारिणस्त्रिविधा मन्दमध्यमोत्तमाः क्रमेणारुरुक्षुयुंजानयोगारूढ़रूपाः। नागोजिवृत्ति २.१।
५. समाहितचित्तस्योत्तमाधिकारिणो योगारोहयोग्यस्याभ्यासवैराग्याभ्यामेव क्रियायोगनिरपेक्षाभ्याम् योगनिष्पत्तिः पूर्वपादे प्रतिपादिता।--यद्यपि वक्ष्यमाणा यमनियमादयः सर्वेऽपि क्रियायोगास्तथापि तेभ्यः समाहृत्य प्रकृष्टसाधनत्रयं मध्यमाधिकारिणं प्रत्युपदिष्टम्। भावगणेशवृत्ति २०१।

पृष्ठ २०३

१. पूर्वपादे ह्युत्तमाधिकारिणाम् अभ्यासवैराग्ये एव योगयोः साधनमुक्तं, ततश्च मध्यमाधिकारिणाम् तपःध्यायेश्वरप्रणिधानान्यपि केवलानि साधनान्येतत्पाद स्यादावुक्तानि। अतः परं मन्दाधिकारिणां यमादीन्यपि योगसाधनानि वक्तव्यानि ज्ञानसाधनप्रसंगेन। योगवर्तिक २। २८।।
२. एते विक्षेपसहभुवो विक्षिप्तचित्तस्यैव भवन्ति। समाहितचित्तस्यैते न भवन्ति। योगभाष्य १। ३१।
३. उद्दिष्टः समाहितचित्तस्य योगः। कथं व्युत्थित्तचित्तोऽपि योगयुक्तः स्यादित्येतदारभ्यते–। वही पृ० १३७।
४. तत्र क्षिप्तमूढ़े चित्तभूमी व्युत्थानम्। भोजवृत्ति १। १८।

पृष्ठ २०४

१. किमेतस्मादेवाऽऽसन्नतमः समाधि र्भवति। अथास्य लाभे भवत्यन्योऽपि कश्चिदुपायो न वेति। अवतरणिका योगभाष्य १.२३।
२. ईश्वरप्रणिधानाद्वा। योग सूत्र १.२३।।
३. परमाणुपरममहत्वन्तोऽस्य वशीकारः। यो. सू. २.४०

पृष्ठ २०५

१. निर्विचारवैशारद्येऽध्यात्मप्रसादः। ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा। श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्य–विषया विशेषार्थत्वात्। वही १.४८.४६.५०
२. तज्जःसंस्कारोऽन्यसंस्कारप्रतिबन्धी। तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीजः समाधिः। वही. १.५१, ५२।
३. ततःक्षीयते प्रकाशावरणम्। धारणासु च योग्यता मनसः। वही २.५३।
४. देशबन्धश्चित्तस्य धारणा। तत्र प्रत्यैकतानताध्यानम्।
तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः। वही ३.१.२.३।
५. स्वाध्यायो मोक्षशास्त्राध्ययनं प्रणवजपो वा। योगभाष्य २.३२।
६. क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः। यो.सू. १.२४।
७. तस्य वाचकः प्रणवः। तज्जपस्तदर्थभावनम्। वही १.२७, २८।

पृष्ठ २०६

१. ततः प्रत्यक् चेतना ऽधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च। वही १.२६।

२. ईश्वरप्रणिधानं तस्मिन् परमगुरौ सर्वकर्मार्पणम्। यो.भा.२.३२।

३. (क) समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात्। यो. सू. २.४५।
(ख) ईश्वरार्पितसर्वभावस्य समाधिसिद्धिः। यो.भा. २.४५।

४. अथैते विक्षेपाः समाधिप्रतिपक्षास्ताभ्यामेव अभ्यासवैराग्याभ्यां निरोद्धव्याः। यो.भा. १.३२।

पृष्ठ २०८

१. असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते।
असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः।
वश्यात्मना तु यतता शक्यो वाप्तुमुपायतः।। गीता ६.३५, ३६।

पृष्ठ २०६

१. चित्तनदी नामोभयतो वाहिनी। वहति कल्याणाय वहति पापाय च। या तु कैवल्यप्राग्भारविवेकविषयनिम्ना सा कल्याणवहा, संसारप्राग्भारा विवेकविषयनिम्ना पापवहा। तत्र वैराग्येण विषयस्रोत उद्घाट्यत इत्युभयाधीनश्चित्तनिरोधः।। योगभाष्यः १.१२।

३. चित्तस्य वृत्तिकस्य प्रशान्तवाहिता स्थितिः। तदर्थं प्रयत्नो वीर्यमुत्साहः। योगभाष्यः १.१३। पृ० ४५।

४. वृत्तिरहितस्य चित्तस्य स्वरूपनिष्ठः परिणामः स्थितः। भोजवृत्ति पृ० १७।

पृष्ठ २१०

१. प्रजहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थ मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते।।
यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यः तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।। गीता २.५५, ५८।।

२. स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढ़भूमिः। योगसूत्र १.१०।।

पृष्ठ २११

१. दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्। योगसूत्र १.१५।।

२. यस्योदये योगी प्रत्युदितख्यातिरेवं मन्यते प्राप्तं प्रापणीयं, क्षीणा क्षेतव्याः क्लेशाः, छिन्नाः श्लिष्टपर्वा भवसंक्रमो यस्याविच्छेदाज्जनित्वा म्रियते, म्रित्वा च जायते इति।। व्यास भाष्य १.१६। पृ० ५०-५१।

पृष्ठ २१२

१. (क) तत्र प्रणिधानं भक्तिविशेषो विशिष्टमुपासनं सर्वक्रियाणां तत्रार्पणं विषयम्सुखादिकं फलमनिच्छन् सर्वाः क्रियास्तस्मिन्परमगुरावर्पयति, तत्

प्रणिधानं समाधेस्तत्फललाभस्य च प्रकृष्ट उपायः।। भोजवृत्ति १.२३।।

(ख) प्रणिधानाद् भक्तिविशेषादावर्जित ईश्वरस्तमनुगृह्णात्यभिध्यानमात्रेण। तदभिध्यानमात्रादपि योगिन आसन्नतरः समाधिलाभः तत्फलं च भवतीति। व्यास भाष्य १.२३।

२. ईश्वरः भक्त्या वशीकृतो वृणुते 'मां जानात्विति' तेनाधिकारिणा लभ्यः, किंच स्वां तनुं स्वस्वरूपं वृणुते च प्रकाशयतीत्यर्थः, तन्मात्रेण संकल्पेनेत्यर्थः। पातंजलरहस्यम् १.२३।

३. नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्। कठ० १।२।२३।

५. सा त्वस्मिन् परप्रेमरूपा। अमृतस्वरूपा च। यज्ज्ञात्वा मत्तो भवति, स्तब्धो भवति आत्मारामो भवति। यल्लब्ध्वा पुमान् सिद्धो भवति, अमृतो भवति, तृप्तो भवति। नारदभक्तिसूत्र १।२,३,६,४।

६. ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च। योगसूत्र १.२६।

७. विषयप्रातिकूल्येन स्वान्तःकरणमभिमुखमंचति या चेतना दृक्शक्तिः सा प्रत्यक्चेतना। भोजवृत्ति १.२६ पृ० ३६।

पृष्ठ २१३

१. स्वरूपदर्शनमप्यस्य भवति। व्यास भाष्य पृ० ८७।

२. यथैवेश्वरः पुरुषः शुद्धः प्रसन्नः केवलोऽनुपसर्गस्तथायमपि बुद्धेः प्रतिसंवेदी पुरुष इत्येवमधिगच्छति। व्यासभाष्य पृ० ८७।

३. एकशास्त्राभ्यास इव तत्सदृशार्थशास्त्रान्तरोपयोगिताम्। तत्त्ववैशारदी १।२६।

४. वैशेषिक शास्त्राभ्यासो यथा न्यायशास्त्राभ्यासे। पातंजलरहस्यम् १।२६।

५. स्वाध्यायाद्योगमासीत योगात्स्वाध्यायमामनेत्।
स्वाध्याययोगसम्पत्त्या परमात्मा प्रकाशते। व्या० भा० १।२८।।

६. प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते।
अप्रमतेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत्। मुण्डक उ० २।४।।

७. स्वदेहमरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम्।
ध्याननिर्मथनाभ्यासात् देवं पश्येन्निगूढवत्। श्वेत० १।१४।

पृष्ठ २१४

१. व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरतिभ्रान्तिदर्शनालब्धभूमिकत्वानवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः। योग सूत्र १.३०।

२. दुःखदौर्मनस्याङ्गमेजयत्वश्वासप्रश्वासाः विक्षेपसहभुवः।। योगसूत्र १.३१।

३. ह्रस्वो दहति पापानि, दीर्घः संपत्प्रदोऽव्ययः।
अर्धमात्रासमायुक्तः प्रणवो मोक्षदायकः। ध्यानबिन्दू० १।१७।।

४. ततो रहस्युपाविष्टः प्रणवं प्लुतमात्रया।
जपेत् पूर्वर्जितानां तु पापानां नाशहेतवे।
सर्वविघ्नहरो मन्त्रः प्रणवः सर्वदोषहा।
एवमभ्यासयोगेन सिद्धिरारम्भसम्भवाः। योगतत्त्व० १।६३,६४।।

५. (क) तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः। योग सूत्र १।३२।४।
(ख) तत्राभ्यासस्य विषयमुपसंहरन्नाह। व्यास भाष्य १।३२। अवतरणिका।

६. सोपद्रवविक्षेपप्रतिषेधार्थमुपायान्तरमाह। भोजवृत्ति १।३२ अवतराणिका।

पृष्ठ २१५

१. मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्त–प्रसादनम्। योग सूत्र १.३३।।

२. रागद्वेषावेव मुख्यतया विक्षेपमुत्पादयतः। तौ चेत्समूलमुन्मूलितौ स्यातां तदा प्रसन्नत्वान्मनसो भवत्येकाग्रता। भोजवृत्ति १.३३।

३. रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति।
प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते।। गीता २.६४, ६५।।

पृष्ठ २१६

१. सुखितेषु मैत्रीं सौहार्दं भावयत ईर्ष्याकालुष्यं निवर्तते चित्तस्य, दुःखितेषु च करुणाम् आत्मनीव परस्मिन् दुःखप्रहाणेच्छां भावयतः परापकारचिकर्षा–कालुष्यं चेतसो निवर्तते, पुण्यशीलेषु प्राणिषु मुदितां हर्षं भावयतोऽसूयाकालुष्यं निवर्तते चेतसः, अपुण्यशीलेषु चोपेक्षां माध्यस्थ्यं भावयतोऽमर्षकालुष्यं निवर्तते। तत्त्व वै० १.३३।

२. प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य।। योग सूत्र १.३४।

३. कोष्ठस्य वायोर्नासिकापुटाभ्यां प्रयत्नविशेषाद्वमनं प्रच्छर्दनम् विधारणं प्राणायामस्ताभ्यां वा मनसः स्थितिं सम्पादयेत्।। व्यासभाष्य १.३४।

पृष्ठ २१७

१. विधारणं कुम्भकं तच्चार्थात्पूरणानतरमिति बोध्यम्, पूरणं विना रेचनोत्तरं विधारणासंभवात्।। योग वार्त्तिक १.३४।

२. यत्र श्वासपूर्वको गत्याभावः सः बाह्यः।। व्यास भाष्य २.५०।।

३. प्राणायामश्चित्तस्य स्थितिमेकाग्रतया निबध्नाति, सर्वासामिन्द्रियवृत्तीनां प्राणवृत्तिपूर्वकत्वात्। मनःप्राणयोश्च स्वव्यापारे परस्परमेकयोगक्षेमत्वात्क्षी–यमाणः प्राणः समस्तेन्द्रियवृत्तिनिरोधद्वारेण चित्तस्यैकाग्रतायां प्रभवति।। भोजवृत्ति १.३४।

पृष्ठ २१८

१. ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्। योगसूत्र २.५२।

२. धारणासु च योग्यता मनसः। योगसूत्र २.५२।

३. विषयवती वा प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसः स्थितिनिबन्धनी। योग सूत्र १.३५।

पृष्ठ २१६

१. एतेन चन्द्रादित्यग्रहमणिप्रदीपरश्म्यादिषु प्रवृत्तिरुत्पन्ना विषयवत्येव वेदितव्या। व्यासभाष्य १.३५।

२. इदानीमुपायान्तरप्रदर्शनोपक्षेपेण संप्रज्ञातस्य समाधेः पूर्वाङ्गं कथयति।। भोजवृत्ति। १३४।

३. ततः प्रातिभश्रावणवेदनादर्शस्वादवार्ताः जायन्ते। योगसूत्र ३.३६।

४. भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात्। चन्द्रे ताराव्यूहज्ञानम्। ध्रुवे तद्गतिज्ञानम्। वही २।२६–२८।

५. विशोका वा ज्योतिष्मती।। योगसूत्र १।३६।।

६. ज्योतिःशब्देन सात्त्विकः प्रकाश उच्यते, स प्रशस्तो भूयानतिशयवांश्च विद्यते यस्याः सा ज्योतिष्मती प्रवृत्तिः। विशोका विगतःसुखमयत्वाभ्यासवशाच्छोको रजः परिणामो यस्याः सा विशोका।। भोजवृत्ति १.३६।

पृष्ठ २२०

१. नीहारधूमार्कानिलानलानां खद्योतविद्युत्स्फटिकशशीनाम्। एतानि रूपाणि पुरःसराणि ब्रह्मण्यभिव्यक्तिकराणि योगे। श्वेताश्वतर २।११।

२. प्रवृत्त्यालोकन्यासात्सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टज्ञानम्। हृदये चित्तसंवित्। योगसूत्र ३.२५, ३४।

३. यावान्वाऽयमाकाशस्तावानेषोऽन्तर्हृदय आकाशः उभे अस्मिन् द्यावापृथिवी अन्तरेव समाहिते, उभावग्निश्च वायुश्च, सूर्याचन्द्रमसावुभौ, विद्युन्नक्षत्रणि। यच्चास्येहास्ति यच्च नास्ति सर्वं तदस्मिन्समाहितमिति। नास्य जरयैतज्जीर्यति। न बधेनास्य हन्यते। एतत्सत्यं ब्रह्मपुरम् अस्मिन् कामाः समाहिताः। एष आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमुत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पः।। छान्दोग्य ८।१३, ५।

४. एषाद्वयी विशोका विषयवती, अस्मितामात्रा च प्रवृत्तिर्ज्योतिष्मतीत्युच्यते। व्यास भाष्य १.३६।

पृष्ठ २२१

१. वीतरागविषयं वा चित्तम्।। योगसूत्र १.३७।

२. वीतरागसनकादिचित्तं तद्विषयध्यानात् ध्यातृचित्तमपि तद्वत् स्थितस्वभावं भवति। यथा कामुकचिन्तया चित्तं कामुकं भवतीत्यर्थः। नागोजि वृत्ति १।३७।

३. न च तत्सालम्बनं तस्याविषयीभूतत्वात्।। योगसूत्र ३.२०।
४. रक्तं प्रत्ययं जानात्यमुष्मिन् आलम्बने रक्तमिति न जानाति।
व्यास भाष्य ३.२०।

पृष्ठ २२२

१. परित्यक्तविषयाभिलाषं चित्तं मनसः स्थितिनिबन्धनं भवतीति। चन्द्रिका १.३७।
२. स्वप्ननिद्राज्ञानावलम्बनं वा। योगसूत्र १.३८।
३. प्रत्यस्तमितबाह्येन्द्रियवृत्तेर्मनोमात्रेण यत्र भोक्तृत्वमात्मनः स स्वप्नः।
भोजवृत्ति १.३८।
४. या सन्ततमुद्रिक्तत्त्वात्तमसः समस्तविषयपरित्यागेन प्रवर्त्तते वृत्तिः सा निद्रा।
वही १.१०।

पृष्ठ २२३

१. यदा खल्वयं स्वप्ने विविक्तवनसन्निवेशवर्तिनीम् उत्कीर्णाम्भिव चन्द्रमण्डलात् कोमलमृणालशकलानुकारिभिरङ्गप्रत्यङ्गैरुपेताम्, अभिजातचन्द्रकान्त–मणिमयीम् अति सुरभिमालतीमल्लिकामालाहारिर्णी मनोहरां भगवतो महेश्वरस्य प्रतिमामाराधयन्नेव प्रबुद्धः प्रसन्नमनास्तदा तामेव स्वप्नज्ञानावलम्बनीभूतामनुचिन्तयतस्तस्य तदेकाकारमनसस्तत्रैव चित्तं स्थितिपदं लभते।। तत्त्ववैशारदी १.३८।

पृष्ठ २२४

१. यथाभिमतध्यानाद्वा। योगसूत्र १.३६।
२. यदेवाभिमतं तदेव ध्यायेत्, तत्र लब्धस्थितिकमन्यत्रापि स्थितिपदं लभते। व्यासभाष्य १.३६।
३. अभिमतं शास्त्राविरुद्धं नग्नस्त्र्यादिवारणार्थम्।। पातञ्जल रहस्यम् १.३।।
४. परमाणुपरममहत्त्वान्तोऽस्य वशीकारः।। योगसूत्र १.४०।।
५. क्षीणवृत्तेरभिजातस्येव मणेर्ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु तत्स्थतदंजनता समापत्तिः।
वही १.४१।

पृष्ठ २२५

१. यद्यपि ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु इत्युक्तं तथापि भूमिका क्रमवशाद्ग्राह्यग्रहणग्रहीतृषु इति बोध्यम्।। भोजवृत्ति १.४१।।
२. तथा ग्रहीतृपुरुषालम्बनोपरक्तं ग्रहीतृपुरुषसमापन्नं ग्रहीतृपुरुषस्वरूपाकारेण निर्भासते। तथा मुक्तपुरुषालम्बनोपरक्तं मुक्तपुरुषसमापन्नं मुक्तपुरुषस्वरूपा–कारेण निर्भासते।। व्यासभाष्य १.४१।।
३. ततोऽस्मितामात्ररूपो ग्रहीतृनिष्ठः केवलस्य पुरुषस्य ग्रहीतुर्भाव्यत्वासंभवात्।
भोजवृत्ति १.४१।

पृष्ठ २२६

१. तप स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः।। योगसूत्र २.१।

२. समाधिभावनार्थः क्लेशतनूकरणार्थश्च। यो. सू. २.२

३. विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः। योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्ति–राविवेकख्यातेः। वही २.२६, २८

पृष्ठ २२७

१. नातपस्विनो योगः सिध्यति। अनादिकर्मक्लेशवासना चित्रा प्रत्युपस्थित–विषयजाला चाशुद्धिर्नान्तरेण तपःसंभेदमापद्यत इति तपसः उपादानम्। तच्च चित्तप्रसादनमबाधमानेनासेव्यमिति मन्यते।। व्यासभाष्य २.१ पृ० १३८-१३६।

पृष्ठ २२८

१. तपो द्वन्द्वसहनम्। द्वन्द्वं च जिघत्सापिपासे शीतोष्णे, स्थानासने काष्ठमौना–कारमौने च। व्रतानि चैषां यथायोग्यकृच्छ्रचान्द्रायणसंतापनादीनि।। व्यासभाष्य २.२।

२. तपः शास्त्रान्तरोपदिष्टकृच्छ्रचान्द्रायणादि। भोजवृत्ति २.२।

पृष्ठ २२६

१. गोमूत्रं गोमयं क्षीरं दधि सर्पिः कुशोदकम्।
एकरात्रोपवासश्च कृच्छ्रसन्तापनं स्मृतम्।
यतमानो प्रमत्तश्च द्वादशाहमभोजनम्।
पराको नाम कृच्छो ऽयं सर्वपापापनोदनः।।
एकैकं ह्रासयेत्पिण्डं कृष्णे शुक्ले च वर्धयेत्।
उपस्पृशंस्त्रिषवणमेतच्चन्द्रायणं स्मृतम्।। मनु० ११।२-१२, १५, १६।
ग्रीष्मे पंचतपास्तु स्याद्वर्षास्वभावकालिकाः।
आर्द्रवासा तु हेमन्ते क्रमशो वर्धयेत्तपः।
तपश्चरंश्चोग्रतरं शोषयेद्देहमात्मनः। मनु० ६।२३, २४।।

२. नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः।
न चातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन।। गीता ६.१६।।

पृष्ठ २३०

१. यो न हृष्यति न द्वेष्टि, न शोचति न काङ्क्षति।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः।
समःशत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः। गीता १२।१७, १८, १६।

पृष्ठ २३१

१. तपोमूलमिदं सर्वं यन्माम् विप्रानुपृच्छसि।

इन्द्रियाण्येव संयम्य तपो भवति नान्यथा। महाभारत वन पर्व० २११।१८।।

पृष्ठ २३२

१. सम्मानाद् ब्राह्मणो नित्यमुद्विजेत विषादिव।
अमृतस्येव चाकांक्षेदवमानस्य सर्वदा।। मनु० २।।

२. को वा मोक्षः कथं केन संसारं प्रतिपत्तिवान्।
इत्यालोचनमर्थज्ञास्तपः शंसन्ति पण्डिताः।। जावाल दर्शनोपनिषद २.३।।

पृष्ठ २३३

१. नासौ मरणमाप्नोति पुनर्योगबलेन तु।
हठेन मृत एवासौ मृतस्य मरणं कुतः।
मरणं यत्र सर्वेषाम् तत्रासौ परिजीवति।
यत्र जीवन्ति मूढ़ास्तु तत्रासौ मृत एव हि। योगशिखोपनिषद् १.४५, ४६।

२. स्वाध्यायः प्रणवादिपवित्राणां जपो मोक्षशास्त्राध्ययनं वा। व्यासभाष्य २.१।

३. स्वाध्यायः प्रणवपूर्वाणां पवित्राणां जपः। भोजवृत्ति ३.३२।

पृष्ठ २३४

१. स्वाध्यायो मोक्षशास्त्राणामध्यनं प्रणवजपो वा। व्यासभाष्य २.३२।

२. स्वाध्यायः प्रणवश्रीरुद्रपुरुषसूक्तादीनां पवित्राणां जपो मोक्षशास्त्राध्ययनं वा मणिप्रभा २.१।

३. वाक्संयमः स्वाध्यायः। भास्वती २.१।

पृष्ठ २३५

१. (क) ईश्वरप्रणिधानं सर्वक्रियाणां परमगुरावर्पणम्, तत्फलसंन्यासो वा।
योगभाष्य २.१।
(ख) ईश्वरप्रणिधानं तस्मिन्परमगुरौ सर्वकर्मार्पणंम्। वही २.३२।

२. अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव।
मदर्थमपि कर्मणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि।।
अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्त्तुं मद्योगमाश्रितः।
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान्।। गीता. १२.१०–११।

३. ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः।
तेषामहं समुद्धर्त्ता मृत्युसंसारसागरात्। वही. १२.६-७

४. यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्।
शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।। वही. ९.२७-२८।

५. मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मतेजसा।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः।। वही. ३.३०

६. ब्रह्मण्याधाय कर्माणि संगं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेभ्यः पद्मपत्रमिवाम्भसा।। वही ५.१०

७. समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात्। योगसूत्र २.४५

८. ईश्वरार्पितसर्वभावस्य समाधिसिद्धिः। यया सर्वमीप्सितम् अवितथं जानाति देशान्तरे, देहान्तरे कालान्तरे च ततोऽस्य प्रज्ञा यथाभूतं प्रजानाति।। योगभाष्य २.४५।

पृष्ठ २३७

१. रजस्तमोबलात्प्रवर्त्तमानाः चित्तस्य विक्षेपाः भवन्ति।..........एते समाधेरेकाग्रतायाः यथायोगं प्रतिपक्षत्वादन्तराया इत्युच्यन्ते। भोजवृत्ति १.३० पृ० ३६।

२. ते समाधावुपसर्गाः व्युत्थाने सिद्धयः। योगसूत्र ३.३७।

३. व्युत्थितचित्तो हि ताः सिद्धीरभिमन्यते जन्मदुर्गत इव द्रविणकणिकामपि द्रविण–सम्भारम्। तत्त्ववैशारदी ३.३७ पृ० ३५५।

४. योगिना तु समाहितचित्तेनोपनताभ्योऽपि ताभ्यो विरन्तव्यम्, अभिसंहिततापत्रयात्यन्तिकोपशमरूपः परमपुरुषार्थः। स खल्वयं कथं तत्प्रत्यनीकासु सिद्धिषु रज्येत। तत्त्ववैशारदी ३.३७ पृ० ३५५।

५. यथेष्टस्य साधनं सिद्धिः। युक्तिदीपिका पृ० १२७।

६. कायचित्तेन्द्रियाणामभीष्ट उत्कर्षसिद्धिः। योगभास्वती ४.१ पृ० ३६२।

पृष्ठ २३८

१. अणिमा महिमा चैव लघिमा गरिमा तथा।
प्राप्तिः प्रकाम्यमीशित्वं वशित्वं चाष्टसिद्धयः। अमरकोष।

२. ऊहः शब्दोध्ययनं दुःखविधातास्त्रयः सुहृत्प्राप्तिः।
दानं च सिद्धयोऽष्टौ सिद्धेःपूर्वोऽकुशस्त्रिविधः। सांख्यकारिका ५१।

३. ततः प्रातिभश्रावणवेदनादर्शास्वादवार्त्ताः जायन्ते। ते समाधावुपसर्गाः व्युत्थाने सिद्धयः। योगसूत्र ३.३६, ३७।

४. (क) मन्त्रैराकाशगमनाणिमादिलाभः, तपसा संकल्पसिद्धिः, कामरूपी यत्र तत्र कामग इत्येवमादिसमाधिजा सिद्धयः। योगभाष्य ४-१ पृ० ३६३।
(ख) देवनिकाये जातमात्रस्यैव दिव्यदेहान्तरिता सिद्धिरणिमाद्या भवतीति। तत्त्ववैशारदी ४.१ पृ० ३६३।

५. बन्धकारणशैथिल्यात् प्रचारसंवेदनाच्च चित्तस्य परशरीरावेशः। उदानजयाज्जलपङ्ककण्टकादिष्वसङ्ग उत्क्रान्तिश्च। समानजयाज्ज्वलनम्। श्रोत्राकाशयोः सम्बन्धसंयमाद्दिव्यं श्रोत्रम्। योगसूत्र ३.३८-४१।

पृष्ठ २३६

२. समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात्। वही २.४५।

३. ततः परमावश्यता इन्द्रियाणाम्। वही २.५५।

४. (क) योगाङ्गानुष्ठानुष्ठानाद् .... ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः। वही २.२८।
(ख) तज्जयात्प्रज्ञालोकः। वही ३.५।
(ग) परिणामत्रयसंयमादतीतानागतज्ञानम्। ३.१६।
५. ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा। वही १.४८।
६. अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः। वही २.३५।
७. ततो द्वन्द्वानभिघातः। वही २.४८।
८. ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्। वही २-५२।

पृष्ठ २४०

१. कायाकाशयोः सम्बन्धसंयमाल्लघुतूलसमापत्तेश्चाकाशगमनम्। वही ३.४२।
२. अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम्। वही २.३७।
३. वन्धकारणशैथिल्यात्प्रचारसंवेदनाच्च चित्तस्य परशरीरावेशः। वही ३.३८।
४. इदानीं श्रद्धावीर्यादिरूपाभ्यासे स्थितिसाधने वशीकारद्वारेणाप्रतिबन्धहेतूनाह मैत्री करुणामुदितोपेक्षाणामित्यादि। नागोजिवृत्ति १.३३ पृ० ४०।
५. मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातः चित्तप्रसादनम्। प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य। योग सूत्र १.३३, ३४।
६. (क) समाधिभावनार्थः क्लेशतनूकरणार्थश्च। योगसूत्र २.२।
(ख) एते तपः प्रभृतयोऽभ्यस्यमानाः चित्तगतानविद्यादीन् क्लेशांश्शिथिली–कुर्वन्तः समाधेरुपकारकतां भजन्ते। भोजवृत्ति २.२ पृ० ६१।

पृष्ठ २४१

१. अहिंसा प्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः। भोजवृत्ति २.३५।
२. उत्तरे च यमनियमास्तन्मूलाः तत्सिद्धिपरतया तत्प्रतिपादनाय प्रतिपाद्यन्ते। -एषा सर्वभूतोपकारार्थं प्रवृत्ता न भूतोपघाताय, यदि चैवमभिधीयमाना भूतोपघातपरैव स्यान्न सत्यं भवेत्, पापमेव भवेत्। तेन पुण्याभासेन पुण्यप्रतिरूपकेण कष्टतमं प्राप्नुयात्। तस्मात्परीक्ष्य सत्यं ब्रूयात्। योगभाष्य १.३० पृ० २४७-२४६।
३. (क) शौचात्स्वाङ्गजुगुप्सा परैरसंसर्गः। योगसूत्र २.४०।
(ख) यः किल स्वमेव कायं जुगुप्सते तत्तदवद्यदर्शनात्सः कथं परकीयैः तथाभूतैः कायैः संसर्गमनुभवति। भोजवृत्ति २.४० पृ० १०१।
४. (क) सन्तोषादनुत्तमसुखलाभः। योगसूत्र २.४२।
(ख) सन्तुष्टस्य योगिनः सत्त्वोत्कर्षादन्तर्निरतिशयं सुखमाविर्भवति। न केवलमेवम्, प्रत्युत वैषयिकं सुखं विषमिव प्रतिकूलं भवति। तदुक्तम्-सन्तोषामृतपानेन ये शान्ता तृप्तिमागताः। भोगश्रीरतुला तेषामेषा प्रति विधीयते। योगसुधाकर २.४२ पृ० १०३।
५. ये ये कामाःदुर्लभाः मर्त्यलोके सर्वान्कामाञ्छन्दतः प्रार्थयस्व।
इमा रामाः सरथाः सतूर्याः नहीदृशाः लम्भनीया मनुष्यैः।

आभिर्मत्प्रत्ताभिः परिचारयस्व नचिकेतो मरणं माऽनुप्राक्षीः।
श्वोभावामर्त्यस्य यदन्तकैत्सर्वेन्द्रियाणां जरयन्ति तेजः।
अपि सर्वं जीवितमल्पमेव तवैव वाहास्तव नृत्यगीते। कठोनिषद् १.१.२५-२६।

६. (क) ततो द्वन्द्वानभिघातः। योगसूत्र २.३?४८।
(ख) तस्मिन्नासनजये सति द्वन्द्वैः शीतोष्णादिभिः योगी नाभिहन्यते। भोजवृत्ति २.४८ पृ० १०६।

पृष्ठ २४२

१. (क) सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम्। योगसूत्र २.३६।
(ख) तस्य तु सत्याभ्यासवतो योगिनस्तथा सत्यं प्रकृष्यते यथा क्रियायामकृतायामपि योगी फलमाप्नोति। तद्वचनाद्यस्य कस्यचित्क्रियाम–कुर्वतोऽपि क्रियाफलं भवति। भोजवृत्ति। पृ० ६८।

२. अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम्। योगसूत्र २.३७।

३. ब्रह्मचर्य प्रतिष्ठायां वीर्यलाभः। वही २.३८।

४. (क) अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथन्तासम्बोधः। वही २.३६।
(ख) जन्मान्तरे कोऽहमासं कीदृशः किं कर्मकारीति जिज्ञासायां सर्वमेव सम्यग्जानाति। भोजवृत्ति २.३६ पृ० १००।

५. परिणामत्रयसंयमादतीतानागतज्ञानम्। योगसूत्र ३.१६।

पृष्ठ २४३

१. शब्दार्थप्रत्ययानामितरेतराध्यासात्संकरस्तत्प्रविभागसंयमात्सर्वभूतरुतज्ञानम्। योगसूत्र ३.१७।

२. संस्कारसाक्षात्करणात्पूर्वजातिज्ञानम्। योगसूत्र ३.१८।

३. प्रत्ययस्य परिचत्तज्ञानम्। योगसूत्र ३.१६।

४. कायरूपसंयमात्तद्ग्राह्यशक्तिस्तम्भे चक्षुःप्रकाशासंप्रयोगेऽन्तर्ध्यानम्। योगसूत्र ३.२१।

५. सोपक्रमं निरुपक्रमं च कर्म तत्संयमादपरान्तज्ञानमरिष्टेभ्यो वा। वही ३.२२।

६. मैत्र्यादिषु बलानि। बलेषु हस्तिबलादीनि। योगसूत्र ३.२३, २४।

७. प्रवृत्त्यालोकन्यासात् सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टज्ञानम्। वही ३.२५।

पृष्ठ २४४

१. भुवज्ञानं सूर्ये संयमात्, चन्द्रे ताराव्यूहज्ञानम्, ध्रुवे तद्गतिज्ञानम्, नाभिचक्रे कायव्यूहज्ञानम्। वही ३.२६-२६।

२. कण्ठकूपे क्षुत्पिपासानिवृत्तिः। वही ३.३०।

३. कूर्मनाड्यां स्थैर्यम्। योगसूत्र ३.३१।

४. (क) मूर्धज्योतिषि सिद्धदर्शनम्। वही ३.३२।
(ख) शिरःकपालयोश्छिद्रं ब्रह्मरन्ध्राख्यं सुषुम्नायोगादभास्वरं मूर्धज्योतिः।

योगसुधाकर पृ० १४५।

५. हृदये चित्तसंवित्। योगसूत्र ३.३४।

६. उदानजयाज्जलपंककंटकादिष्वसंग उत्क्रान्तिश्च। योगसूत्र ३.३६।

७. (क) समानजयाज्ज्वलनम्। वही ३.४०।

(ख) नाभि निकटस्थाग्निव्यापिनः समानस्य वशीकारादग्नेर्ज्वलनं भवति, येन योगीज्वलन्निव दृश्यते। मणिप्रभा ३.४२ पृ० १५३।

पृष्ठ २४५

१. श्रोत्राकाशयोः सम्बन्धसंयमाद् दिव्यं श्रोत्रम्। योगसूत्र ३.४१।

२. कायाकाशयोः सम्बन्धसंयमाल्लघुतूलमापत्तेश्चाकाशगमनम्। योगसूत्र ३.४२।

३. स्थूलस्वरूपसूक्ष्मान्वयार्थवत्त्वसंयमाद् भूतजयः। वही २.४४।।

४. ततोऽणिमादिप्रादुर्भावः कायसम्पत्तद्धर्मानभिघातश्च। रूपलावण्यवज्रसंहनन-नवानि कायसम्पत्। वही ३.४५-४६।

पृष्ठ २४६

१. (क) तस्मिन्सतिश्वासप्रश्वासयोः गतिविच्छेदः प्राणायामः। वही २.४९।

(ख) तस्मिन्नासनस्थैर्ये सति प्राणायामः प्रतिष्ठतो भवति। योगसुधाकर २.४९ पृ० १०७।

२. (क) ततःक्षीयते प्रकाशावरणम्। योगसूत्र २.५२।

(ख) ततः तस्मात्प्राणायामात्प्रकाशस्य चित्तसत्त्वगतस्य यदावरणं क्लेशरूपं तत्क्षीयते। भोजवृत्ति २.५२ पृ० १११।

(ग) अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पंचक्लेशाः। योगसूत्र २.३।

३. ततः परमा वश्यता इन्द्रियाणाम्। योगसूत्र २.५५।

४. सत्त्वशुद्धिसौमनस्यैकाग्रतेन्द्रियजयात्मदर्शनयोग्यत्वानि च। वही २.४१।

५. ग्रहणस्वरूपास्मितान्वयार्थवत्त्वसंयमादिन्द्रियजयः। योगसूत्र ३.४७।

६. विषयवती वा प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसः स्थितिनिबन्धिनी। वही १.३५।

७. एताः संविदो गन्धादिविषयवत्यः प्रवृत्तयः शीघ्रमुत्पन्नाः सत्यो-सूक्ष्मेश्वरादौ मनसः स्थितिं निबध्नन्ति। मणिप्रभा १.३५। पृ० ४३।

८. विशोका वा ज्योतिष्मती। योगसूत्र १.३६।

९. वीतरागविषयं वा चित्तम्, स्वप्ननिद्राज्ञानालम्बनं वा, यथाभिमतध्यानाद्वा। वही १.३७ ३९।

१०. समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात्। वही २.४५।

पृष्ठ २४७

१. (क) ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा। वही १.४८।

(ख) ऋतं सत्यं बिभर्त्ति, कदाचिदपि न विपर्ययेणाच्छाद्यते सा ऋतम्भरा प्रज्ञा तस्मिन्सति भवति। भोजवृत्ति १.४८ पृ० ५६।

२. श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्यविषया विशेषार्थत्वात्। योगसूत्र १.४६।
३. तत्राध्यात्मप्रसादे जायमाना आत्मसाक्षात्काररूपा प्रज्ञा ऋतम्भरा। भावगणेशवृति पृ० ५६।
४. सत्त्वपुरुषान्यताप्रत्ययो विवेकख्यातिः। योगभाष्य पृ० २३६।
५. सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रस्य सर्वभावाधिष्ठातृत्वं सर्वज्ञातृत्वं च। योगसूत्र ३.४६।
६. योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकाख्यातेः। वही २.२८।
७. सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रस्य सर्वभावाधिष्ठातृत्वं सर्वज्ञातृत्वं च। योगसूत्र ३.४६।
८. क्षणतत्क्रमयोः संयमाद्विवेकजं ज्ञानम्। वही ३.५२।
९. ततःक्षीयते प्रकाशावरणम्। तज्जयात्प्रज्ञालोकः। वही २.५२, ३.५।

पृष्ठ २४८

१. तारकं सर्वविषयं सर्वथा विषयमक्रमं चेति विवेकजं ज्ञानम्। वही ३.५८।
२. (क) सत्त्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यम्। वही ३.५५।
   (ख) .... सत्त्वस्य सर्वकर्तृत्वाभिमाननिवृत्त्या स्वकारणेऽनुप्रवेशः शुद्धिः; पुरुषस्य शुद्धिरुपचरितभोगाभाव इति द्वयोःसमानायां शुद्धौ पुरुषस्य कैवल्यमुत्पद्यते मोक्षो भवति। भोजवृत्ति पृ० १७०।
३. ते समाधावुपसर्गाः व्युत्थाने सिद्धयः। योगसूत्र ३.३६।
४. जन्मौषधिमन्त्रतपः समाधिजाः सिद्धयः। योगसूत्र ४.१।
५. (क) भवप्रत्ययो विदेहप्रकृतिलयानाम्। वही १.१६।
   (ख) विदेहानां प्रकृतिलयानां च असम्प्रज्ञातो भवप्रत्ययसंज्ञको भवति। भवो–जन्मैव प्रत्ययः कारणं यस्येति व्युत्पत्तेः। भावगणेशवृत्ति १.१६ पृ० २५।
६. देहनैरपेक्ष्येणैव बुद्धिवृत्तिमन्तः सिद्धाः विदेहाः। योगवार्त्तिक १.१६ पृ० ५८।
७. ...... चेतसि स्वकारणे लयमुपागते प्रकृतिलया इत्युच्यन्ते। भोजवृत्ति पृ० २१।
८. भूतेन्द्रियाणामन्यतमस्मिन्विकारेऽनात्मनि आत्मत्वभावनया देहपातानन्तरं भूतेन्द्रियेषु लीनाः षाट्कौशिकदेहशून्याः विदेहाः। मणिप्रभा १.२० पृ० २५।

पृष्ठ २४९

१. श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वकमितरेषाम्। योगसूत्र १.२०।
२. तीव्रसंवेगानामासन्नः। मृदुमध्याधिमात्रत्वात्ततोऽपि विशेषः। वही १.२१-२२।
३. ईश्वरप्रणिधानाद्वा। वही १.२३।
४. क्लेशकर्मविपाकशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः, तज्जपस्तदर्थभावनम्, ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च। वही १.२४, २७-२९।
५. (क) व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरतिभ्रान्तिदर्शन–अलब्धभूमिकत्वान–वस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्ते अन्तरायाः। योगसूत्र १.३०।

(ख) नवान्तरायाश्चित्तविक्षेपाः, सहैतैः चित्तवृत्तिभिर्भवन्ति, एतेषामभावे न भवन्ति पूर्वोक्ताश्चित्तवृत्तयः। योगभाष्य पृ० ८८-८६।

पृष्ठ २५०

१. व्याधिः-धातु-रस-करणवैषम्यम्, स्त्यानम्-अकर्मण्यता चित्तस्य, संशयः— उभयकोटिस्पृग् विज्ञानम् स्यादिदमेवं नैवं स्यात्, प्रमादः— समाधिसाधनानामभावः, आलस्यं—कायस्य चित्तस्य च गुरुत्वादप्रवृत्तिः, अविरतिः—चित्तस्य विषयसंप्रयोगात्मा गर्द्धः, भ्रान्तिदर्शनम् विपर्ययज्ञानम्, अलब्धभूमिकत्वम् समाधिभूमेरलाभः, अनवस्थितत्वं-यल्लब्धायां भूमौ चित्तस्याप्रतिष्ठा। योगभाष्य पृ० ८८-८६।

२. दुःखदौर्मनस्याङ्गमेजयत्वश्वासप्रश्वासा विक्षेपसहभुवः। योगसूत्र १.३१।

३. यथोक्तं व्याधिजं दुःखम् तच्च आध्यात्मिकादिभेदात्त्रिविधम्। विषयाभिलाष-विघातान्मनसि दौर्मनस्यम्, सर्वाङ्गमेजयत्वम्, तच्च योगाङ्गासनविरोधि। योग सुधाकर पृ० ३८।

४. अपानः श्वासः, स च रेचकविरोधी, प्राणः प्रश्वासः, सतु पूरक विरोधी। अथवा श्वासो बाह्यकुम्भकविरोधी, प्रश्वासः आन्तरकुम्भकविरोधी, अङ्गमेजयत्वं कुम्भकद्वयविरोधीत्यर्थः। योगसुधाकर पृ० ३८।

५. एते दुःखादयो विक्षेपैः सह भवन्ति, विक्षिप्तचित्तस्य भवन्तीत्यर्थः। वही पृ० ३८।

६. तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः। योगसूत्र १.३२।

७. ते समाधावुपसर्गाः व्युत्थाने सिद्धयः। वही ३.३७।

पृष्ठ २५१

१. पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तेरिति। विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः। योगसूत्र ४.३४, ३.२६।

२. स्तुता मया वरदा वेदमाता प्रचोदयन्ताम् पावमानी द्विजानाम्। आयुः प्राणं प्रजां पशुं कीर्तिं द्रविणं ब्रह्मवर्चसम्। मह्यं दत्वा व्रजत ब्रह्मलोकम्। अथर्ववेद। १६.७१, १।

३. विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह। अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते। यजुर्वेद ४०.१४।

पृष्ठ २५२

१. प्रमाणप्रमेयसंशयप्रयोजनदृष्टान्तसिद्धान्तावयवतर्कनिर्णयवादजल्पविण्डाहेत्वा—भासच्छलजातिनिग्रहस्थानानां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः। दुःखजन्मप्रवृत्ति—दोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः। न्यायसूत्र. १.१.१-२।

२. तस्य हेतुः अविद्या। तदभावात्संयोगाभावो हानं तद् दृशेः कैवल्यम्। योगसूत्र २.२४,२५।

३. धर्मविशेषप्रसूताद्द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमावायानां पदार्थानां साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसम्।। पृथिव्यापस्तेजोवायुराकाशं कालोदिगात्मा मन इति द्रव्याणि। वैशेषिक दर्शन १।१४–५।
४. पंचविंशति तत्त्वज्ञो यत्र तत्राश्रमे भवेत्। जटी मुण्डी शिखी वापि मुच्यते नात्र संशयः। सां० का० १ गौड़पादभाष्य।
५. तदभिध्यानमात्रादपि योगिन आसन्नतरः समाधिलाभः फलं च भवतीति। व्यासभाष्य १, २३।
६. साधनान्यत्र चत्वारि कथितानि मनीषिभिः। येषु सत्स्वेव सन्निष्ठा यदभावे न सिद्ध्यति। आदौ नित्यानित्यवस्तुविवेकः परिगण्यते। इहामुत्रफलभोग–विरागस्तदनन्तरम्।। शमादिषट्कसम्पत्तिमुमुक्षुत्वमितिस्फुटम्।। विवेक चूड़ामणि १।१८,१६।

पृष्ठ २५३

२. ततःक्लेशकर्मनिवृत्तिः। तदा सर्वावरणमलापेतस्य ज्ञानस्यानन्त्याज्ज्ञेयमल्पम्। योगसूत्र ४.२६–३०।

पृष्ठ २५४

१. तदानीं यदस्य चित्तं विषयप्राग्भारमज्ञाननिम्नमासीत्तदस्यान्यथा भवति कैवल्यप्राग्भारं विवेकज्ञाननिम्नमिति। व्यासभाष्य ४.२६।
२. तत्र वैराग्येन विषयस्रोतः खिलीक्रियते। विवेकदर्शनाभ्यासेन विवेकस्रोत उद्घाट्यते। इत्युभयाधीनश्चित्तवृत्तिनिरोधः। वही १.१२।
३. तच्छिद्रेषु प्रत्ययान्तराणि संस्कारेभ्यः। योगसूत्र ४.२७।

पृष्ठ २५५

१. उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते।
गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेङ्गते।।
समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्ठाश्मकांचनः।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः।।
मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः सः उच्यते।। गीता १४,२३, २५।।
२. एतस्यामेवावस्थायां गुणसंबन्धातीतः स्वरूपमात्रज्योतिरमलः केवली पुरुष इति। एतां सप्तविधां प्रान्तभूमिप्रज्ञामनुपश्यन्पुरुषःकुशल इत्याख्यायते। प्रतिप्रसवेऽपि चित्तस्य मुक्तः कुशल इत्येव भवति गुणातीत्वात्।
व्यासभाष्य २.२७।

पृष्ठ २५६

१. तत्राध्यात्मिकं द्विविधं शारीरं मानसं चेति, शारीरं वातपित्तश्लेष्मविपर्य्ययकृतं ज्वरातीसारादि, मानसं प्रियवियोगाप्रियसंयोगादि। सांख्यकारिका गौडपाद भाष्य १।

पृष्ठ २५७

१. परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः।।
योगसूत्र २.१५।

२. न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते।। मनु० २ ६४।

पृष्ठ २५८

१. को नु हासः क आनन्दो नित्यं प्रज्वलिते सति।। धम्मपद गाथा १४६।।

२. कारणाभावात्कार्याभावः। वैशेषिक दर्शन १.२।

पृष्ठ २५६

१. दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवास्मिता। योगसूत्र २.६।

२. मिथ्याज्ञानं वै मोहः। न खलु तत्त्वज्ञानस्यानुत्पत्तिमात्रम्। तच्च मिथ्याज्ञानं यत्र विषये प्रवर्त्तमानं संसारबीजं भवति।......अनात्मनि आत्मग्रहः अहमस्मि इति मोहोऽहंकार इति।। न्यायदर्शन भाष्य ४.२।१।।

३. प्रकाशक्रियास्थितिशीलं भूतेन्द्रियात्मकं भोगापवगार्थं दृश्यम्। योगसूत्र २१८।

पृष्ठ २६१

१. प्रकाशशीलं सत्त्वम् क्रियाशीलं रजः स्थितिशीलंन्तमः। व्यासभाष्य २.१८।

पृष्ठ २६३

१. मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्या प्रकृतिविकृतयः सप्त।
षोडशकस्तु विकारो न प्रकृति र्न विकृतिः पुरुषः।।
हेतुमदनित्यमव्यापि सक्रियमनेकाश्रितं लिङ्गम्।
सावयवं परतन्त्रं तद् विपरीतमव्यक्तम्। सांख्यकारिका।।३, १०।।

२. अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः। श्वेताश्वर ४ ५।

३. द्रष्टा दृशिमात्रः शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्यः। योगसूत्र २.२।

पृष्ठ २६४

१. ननु निरोधकाले बुद्धिर्न गृहीता भवति, व्युत्थाने च भवतिः; अतो भवत्वात्मा ज्ञाता चाज्ञाता चेति शङ्का निस्सारा। कस्माद् ? निरोधकाले बुद्धेरप्यभावाद् नास्ति तस्या। ग्रहणम्।। भास्वती २.२०। पृ० २१६।

२. यद्यपि सामान्येन परार्थमात्रत्वेन व्याप्तिर्गृहीता तथाऽपि सत्त्वादिविलक्षणधर्मि-पर्यालोचनया तद्विलक्षण एव भोक्ता परः सिध्यति। भोजवृत्ति ४.२४।

पृष्ठ २६५

१. येनेदं सर्वं विज्ञानाति तं केन विज्ञानीयाद्विज्ञातारमरे केन विज्ञानीयादिति।। बृहद् आरण्य २.४.१४।।

पृष्ठ २६६

१. तस्मान्न बध्यते नापि मुच्यते नापि संसरति कश्चित्।

संसरति बध्यते मुच्यते च नानाश्रया प्रकृतिः। सांख्य कारिका ६२।

२. बुद्धिर्विनष्टा गलिता प्रवृत्तिः ब्रह्मात्मनोरेकतयाधिगत्या।
इदं न जानेऽप्यनिदं न जाने किं वा कियद्वा सुखमस्त्यपारम्।।
विवेक चूड़ामणि ४८२।।

३. इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखज्ञानान्यात्मनो लिङ्गम्। न्यायसूत्र १.१.१०।

पृष्ठ २६७

१. प्रदेशसंहारविसर्पाभ्यां प्रदीपवत्।। तत्त्वाधिगमसूत्र ५।१६।।

पृष्ठ २६८

१. तदर्थ एव दृश्यस्यात्मा। योगसूत्र २.२१।

पृष्ठ २६६

१. कृतार्थं प्रति नष्टमप्यनष्टं तदन्यसाधारणत्वात्। योगसूत्र २.२२।

पृष्ठ २७०

१. न हि रूपमन्धेन न दृश्यत इति चक्षुष्मतापि दृश्यमानमभावप्राप्तं भवति। न च प्रधानवदेक एव पुरुषः, तन्नानात्वस्य जन्ममरणसुखदुःखोपभोगमुक्तिसंसार–व्यवस्थया सिद्धेः एकत्वश्रुतीनां च प्रमाणान्तरविरोधात्कथंचिद्देशकालविभागा–भावेन भक्त्याप्युपपत्तेः। तत्त्ववैशारदी २.२२।

२. जन्ममरणकरणानां प्रतिनियमादयुगपत्प्रवृत्तेश्च।
पुरुष बहुत्वं सिद्धं त्रैगुण्यविपर्ययाच्चैव। सांख्य कारिका १८।

३. अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः।
अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः।।
श्वेताश्वर उपनिषद् ४.५।।

४. (क) कैवल्यं प्राप्तास्तर्हि सन्ति च बहवः केवलिनः। व्यासभाष्य १.२४।
(ख) कूटस्थनित्येषु स्वरूपमात्रप्रतिष्ठेषु मुक्तपुरुषेषु स्वरूपास्तिता क्रमेणैवानुभूयत इति तत्राप्यलब्धपर्यवसानः शब्दपृष्ठेनास्तिक्रियामुपादाय कल्पित इति।
व्यास भाष्य ४.३३।

५. अविभागेन दृष्टत्वात्। वेदान्तसूत्र ४.४.४।

६. वृत्तिरेवास्य विभुनश्चित्तस्य संकोचविकासिनीत्याचार्यः। व्यास भाष्य ४.१०।

७. तस्मात्स्वतन्त्रोऽर्थः सर्वपुरुषसाधारणः स्वतन्त्राणि च चित्तानि प्रतिपुरुषं प्रवर्तन्ते।
योगभाष्य ४.१६।

पृष्ठ २७१

१. चित्तं न दिगधिकरणं वस्तु, कालमात्रव्यापि क्रियारूपत्वाद्, न ह्यमूर्त्तं चित्तं हस्तादिभिः परिमेयम्, तस्मात्तस्य दीर्घत्वहस्वत्वादीनि न कल्पनीयानि, दिगवयवरहितत्वाच्चित्तं विभु सर्वभावैस्सह सम्बन्धवत्, न च विभुत्वं सर्वदेशव्यापित्वं व्यवसायरूपत्वाच्चेतसः। भास्वती ४.१०।

२. स्वस्वामिशक्त्योः स्वरूपोपलब्धिहेतुः संयोगः। योगसूत्र २.२३।

पृष्ठ २७२

१. तस्य हेतुरविद्या। योगसूत्र २.२४।

२. तदभावात्संयोगाभावो हानं तद् दृशेः कैवल्यम्। योगसूत्र २.२५।

३. सेयं पंचपर्वा भवत्यविद्या, अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः क्लेशा इति, एत एव स्वसंज्ञाभिस्तमो मोहो महामोहस्तामिस्रोऽन्धतामिस्र इति। एते चित्तमल-प्रसंगेनाभिधास्यन्ते। व्यास भाष्य १.८।

पृष्ठ २७३

१. कर्माशुक्लाकृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेषाम्। योगसूत्र ४.७।

२. विपर्य्ययभेदाः पंच। सांख्यसूत्र ३.३७।

३. अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या। योगसूत्र २.५।

४. अतस्मिंस्तदिति प्रतिभासोऽविद्येत्यविद्यायाः सामान्यलक्षणम्। तस्या एव भेदप्रतिपादनम्, अनित्येषु नित्यत्वाभिमानोऽविद्येत्युच्यते। भोजवृत्ति २.५।

५. अनित्ये कार्ये नित्यख्यातिः। तद्यथा—ध्रुवा पृथिवी, ध्रुवा सचन्द्रतारका द्यौः, अमृताः दिवौकस इति। व्यासभाष्य २.५।

६. नवेव शशांकलेखाकमनीयेयं कन्या मध्वमृतावयवनिर्मितेव चन्द्रं भित्वा निस्सृतेव .... चैवमशुचौ शुचि विपयसि प्रत्यय इति। व्यास भाष्य २.५।

पृष्ठ २७४

१. अनात्मनि शरीरे आत्मत्वाभिमानः। भोजवृत्ति २.५।

२. तथानात्मन्यात्मख्यातिर्बाह्योपकरणेषु चेतनाचेतनेषु भोगाधिष्ठाने वा शरीरे पुरुषोपकरणे वा मनस्यनात्मन्यात्मख्यातिरिति। व्यासभाष्य २.५।

३. अयं खलु शरीराद्यर्थजातमहमस्मीति व्यवसितः तदुच्छेदेनात्मोच्छेदं मन्यमानो-ऽनुच्छेदतृष्णापरिप्लुतः पुनःपुनस्तदुपादत्ते, तदुपाददानो जन्ममरणाय यतते तेनावियोगान्नात्यन्तं दुःखाद्विमुच्यते इति। यस्तु दुःखं दुःखायतनं दुःखानुषक्तं सुखं च सर्वमिदं दुःखमिति पश्यति, स दुःखं परिजानाति, परिज्ञातं च दुःखं प्रहीणं भवत्यनुपादानात् सविषान्नवत्। एवं दोषान् कर्म च दुःखहेतुरिति पश्यति। न चाप्रहीणेषु दोषेषु दुःखप्रबन्धोच्छेदेन शक्यं भवितुमिति दोषान् जहाति, प्रहीणेषु च दोषेषु न प्रवृत्तिः प्रतिसन्धानायेत्युक्तम्। प्रेत्यभावाफल दुःखानि च ज्ञेयानि व्यवस्थापयति, कर्म च दोषांश्च प्रहेयान्, अपवर्गोऽधिगन्तव्यस्तदधिगमोपायस्तत्त्वज्ञानम्। न्यायदर्शन वात्स्यायन भाष्य ४.२.१।

पृष्ठ २७५

१. दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवास्मिता। योगसूत्र २.६।

२. भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे। मुण्डक उ० २.२.८।

३. सुखमनुशेत इति सुखानुशयी सुखज्ञस्य सुखानुस्मृतिपूर्वकः सुखसाधनेषु तृष्णारूपो गर्धो रागसंज्ञकः क्लेशः। भेजवृत्ति २.७।
४. दुखाभिज्ञस्य दुःखानुस्मृतिपूर्वो दुःखे तत्साधने वा यः प्रतिघो मन्युर्जिघांसा स द्वेषः। व्यासभाष्य २.८।
५. इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयो र्न वशमागच्छेत् तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ। गीता ३.३४।
६. स्वरसवाही विदुषोऽपि तथारूढोऽभिनिवेशः। योगसूत्र २.६।

पृष्ठ २७६

१. न चाननुभूतमरणधर्मकस्यैषा भवत्यात्माशीः। एतया च पूर्वजन्मानुभवः प्रतीयते। स चायमभिनिवेशः क्लेशःस्वरसवाही कृमेरपि जातमात्रस्य प्रत्यक्षानुमा नागमैरसंभावितो मरणत्रास उच्छेददृष्ट्यात्मकः पूर्वजन्मानुभूतं मरणदुःखमनुमापयति। व्यासभाष्य २.६।
२. समाना हि तयोः कुशलाकुशलयोर्मरणदुःखानुभवादियं वासनेति। वही २.६।
३. एतां सप्तविधां प्रान्तभूमिप्रज्ञामनुपश्यन्पुरुषः कुशल इत्याख्यायते। प्रतिप्रसवेऽपि चित्तस्य मुक्तः कुशल इत्येव भवति गुणसम्बन्धातीतत्वादिति। वही २.२७।
४. प्रसंख्यानवतो दग्धक्लेशबीजस्य संमुखीभूतेऽप्यालम्बने नासौ पुनरस्ति। दग्धबीजस्य कुतः प्ररोह इति। अतः क्षीणक्लेशःकुशलश्चरमदेह इत्युच्यते। वही २.४।
५. वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्।
तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्थाः विद्यतेऽयनाय।। यजुर्वेद ३१, १८। श्वेताश्वर उपनिषद् ३.८।
६. देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति। गीता २।१३।

पृष्ठ २७७

१. पूर्वजन्मानुभूतमरणदुःखानुभववासनाबलाद् भयरूपः समुपजायमानः शरीरविषयादिभिः मम वियोगो मा भूदिति अन्वहमनुबन्धरूपः सर्वस्यैव कृमे ब्र्ह्मपर्यन्तं निमित्तमात्रेण प्रवर्तमानोऽभिनिवेशाख्यः क्लेशः। भोजवृत्ति २.१।
३. अविद्याक्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम्। योगसूत्र २.४।
४. क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः। योगसूत्र २.१२।
५. तथाहि-फलं प्रयच्छन्ति। भोजवृत्ति २.१२।

पृष्ठ २७८

१. तत्र तीव्रसंवेगेन मन्त्रतपःसमाधिभि र्निर्वर्तितः ईश्वरदेवतामहर्षिमहानुभावा–नामाराधनाद्वा यः परिनिष्पन्नः स सद्यः परिपच्यते पुण्यकर्माशय इति। तथा तीव्रक्लेशेन भीतव्याधितकृपणेषु विश्वासोपगतेषु वा महानुभावेषु तपस्विषु वा

कृतः पुनः पुनरपकारः सः चापि कर्माशयः सद्य एव परिपच्यते।
व्यासभाष्य २.१२।

२. तत्र नारकाणां नास्ति दृष्टजन्मवेदनीयः कर्माशयः। क्षीणक्लेशानामपि नास्त्यदृष्टजन्मवेदनीयः कर्माशयः इति। व्यासभाष्य २.१२

३. नारकिपुरुषाणां धर्माधर्मानुत्पत्तेः। ननु स्वर्गिणामपि कर्म नोत्पद्यत इति कथं नारकिवचनमात्रमिति चेद् न स्वर्गिणां भारतवर्षमागत्य लीलामानुषविग्रहेण प्रयागादौ कर्मानुष्ठानस्य तत्फलस्य च श्रवणादिति। योगवार्तिक २.१२।।

पृष्ठ २७६

१. यथा नन्दीश्वरो बाल एव मनुष्यदेहेन तीव्रसंवेगेन मन्त्रतपःसमाधिभिः ईश्वराराधनं कृत्वा सद्य एव देवत्वजातिं, दीर्घमायुः, दिव्यान्भोगांश्च लब्धवान्। मणिप्रभा २.१२।

२. तथा नहुषोऽपि देवानामिन्द्रः स्वकं परिणामं हित्वा तिर्यग्भावेन परिणमत इति। व्यासभाष्य २.१२।

३. तथाहि कानिचित्पुण्यानि कर्माणि देवताराधनादीनि तीव्रसंवेगेन कृतानीहैव जन्मनि जात्यायुर्भोगलक्षणं फलं प्रयच्छन्ति-यथा नन्दीश्वरस्य भगवन्महेश्वरा राधनबलादिहैव जन्मनि जात्यादयो विशिष्टाः प्रादुर्भूताः। एवमन्येषां विश्वामित्रादीनां तपः प्रभावाज्जात्यायुषी। केषांचिज्जातिरेव-यथा तीव्रसंवेगेन दुष्ट-कर्मकृतां नहुषादीनां जात्यन्तरादिपरिणामः। उर्वश्याश्च कार्तिकेयवने लतारूपतया, एवं व्यस्तसमस्तरूपत्वेन यथायोग्यं योज्यम्। भोजवृत्ति २.१२।

४. सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः। योगसूत्र २.१३।

५. जातिर्मनुष्यत्वादिः आयुश्चिरकालमेकशरीरसम्बन्धः। भोगा विषया इन्द्रियाणि सुखसंविद् दुःखसंविच्च, कर्मकरणभावसाधनव्युत्पत्त्या भोगशब्दस्य। भोजवृत्ति। २.१३।

पृष्ठ २८१

१. ततस्तद्विपाकानुगुणानामेवाभिव्यक्तिर्वासनानाम्।। योगसूत्र। ४.८।

पृष्ठ २८२

१. यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते क्लेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः। गीता ८.६।

२. कामान् यः कामयते मन्यमानः स कामभिर्जायते यत्र तत्र।
पर्याप्तकामस्य कृतात्मनस्तु इहैव सर्वे प्रविलयन्ति कामाः। मुण्डक ३.२.२।

पृष्ठ २८४

१. न तद् दृढं बन्धनमाहुः धीरा यदायसं दारुजं बर्वजं च।
संरक्तरक्ता मणिकुण्डलेषु पुत्रेषु दारेषु च या पेथा।
धम्मपद {संस्कृत छाया} ३४५।

२. यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः।
त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित्करोति सः। गीता ४.११.२०।

पृष्ठ २८५

१. इह हि द्विविधाः कर्मवासनाः स्मृतिमात्रफलाः जात्यायुर्भोगफलाश्च। तत्र जात्यायुर्भोगफला एकानेकजन्मभवा इत्यनेन पूर्वमेव कृतनिर्णयाः। यास्तु स्मृति–मात्रफलास्तासु ततः कर्मणो येन कर्मणा यादृक्शरीरमारब्धं देवमनुष्यतिर्य–गादिभेदेन तस्य विपाकस्य या अनुगुणा अनुरूपा वासनास्तासामेव तस्माद–भिव्यक्तिः वासनानां भवति। अयमर्थः-येन कर्मणा पूर्वदेवतादिशरीरमारब्धं जात्यन्तरशतव्यवधानेन पुनस्तथाविधस्यैव शरीरस्यारम्भे तदनुरूपा एव स्मृतिफला वासनाः प्रकटीभवन्ति। लोकोत्तरेष्वेवार्थेषु तस्य स्मृत्यादयो जायन्ते। इतरास्तु सत्योऽपि अव्यक्तसंज्ञास्तिष्ठन्ति न तस्यां दशायां नारकादि शरीरोद्भवा वासना व्यक्तिमायान्ति। भोजवृत्ति ४.८।

२. जातिदेशकालव्यवहितानामप्यानन्तर्यं स्मृतिसंस्कारयोरेकरूपत्वात्।। योगसूत्र ४.६।

३. वृषदंशविपाकोदयः स्वव्यंजकांजनाभिव्यक्तः। स यदि जातिशतेन वा दूरदेशतया वा कल्पशतेन वा व्यवहितः पुनश्च स्वव्यंजकांजन एवोदियाद्-द्रागित्येवं पूर्वानुभूतवृषदंशविपाकाभिसंस्कृता वासना उपादाय व्यज्यते। व्यासभाष्य ४.६।

पृष्ठ २८६

१. तत्र क्रियासंस्कारः क्रियात्मना परिणतः ज्ञानसंस्कारः स्मृत्यात्मना अन्य संस्कारो ऽन्यात्मना परिणत इत्येवं स्मृतिसंस्कारयोरभेदेनैकविषयत्वेन चैक–रूपत्वादानन्तर्यशब्दितः कार्यकारणभावः सजातीययोः सम्भवति, न विजातीययोः। योग सुधाकर ४.६।

२. तासामनादित्वं चाशिषो नित्यत्वात्। योगसूत्र ४.१०।

३. येयमाशीर्महामोहरूपा सदैव सुखसाधनानि मे भूयासु र्मा कदाचन तै र्मे वियोगो भूदिति संकल्पविशेषो वासनानां कारणम्। भोजवृत्ति ४१०।

पृष्ठ २८७

१. तासां वासनानामाशिषो नित्यत्वादनादित्वम्। येयमात्माशी र्मा न भूवं भूयासमिति सर्वस्य दृश्यते सा न स्वाभाविकी। कस्मात्। जातमात्रस्य जन्तोरननुभूतमरणधर्मकस्य द्वेषदुःखानुस्मृतिनिमित्तो मरणत्रासः कथं भवेत्। न च स्वाभाविकं वस्तु निमित्तमुपादत्ते। तस्मादनादिवासनानुविद्धमिदं चित्तं निमित्तवशात्काश्चिदेव वासनाः प्रतिलभ्य पुरुषस्य भोगायोपावर्तत इति। व्यासभाष्य। ४.१०।

२. (क) तदभावादणु मनः। वैशेषिक सूत्र । ७.१.२३।
(ख) यथोक्तहेतुत्वाच्चाणु। न्यायसूत्र ३.२.६३।
३. घटप्रसादप्रदीपकल्पं संकोचविकासि चित्तं शरीरपरिमाणाकारमात्रमित्यपरे प्रतिपन्नाः। तथाचान्तरभावः संसारश्च युक्त इति। व्यासभाष्य ४.१०।

पृष्ठ २८८
१. चित्तं न दिगधिकरणं वस्तु कालमात्रव्यापी क्रियारूपत्वाद्, न ह्यमूर्तं चित्तं हस्तादिभिः परिमेयम्, तस्मात्तस्य दीर्घह्रस्वादीनि न कल्पनीयानि, दिगवयव–रहितत्वाच्चित्तं विभु सर्वभावैः सह सम्बन्धवत्, न च विभुत्वं सर्वदेशव्यापित्वं व्यवसायरूपत्वाच्चेतसः। भास्वती ४.१०।
२. हेतुमदनित्यमव्यापि सक्रियमनेकाश्रितं लिङ्गम्।
सावयवं परतन्त्रं व्यक्तं विपरीतमव्यक्तम्। सांख्य कारिका १०।

पृष्ठ २८६
२. बन्धकारणशैथिल्यात् प्रचारसंवेदनाच्च चित्तस्य परशरीरावेशः।
योगसूत्र ३.३८।
३. कर्मबन्धक्षयात्स्वचित्तस्य प्रचारसंवेदनाच्च योगी चित्तं स्वशरीरान्निष्कृष्य शरीरान्तरेषु निक्षिपति। व्यासभाष्य ३.८।
४. चित्तस्य योऽसौ प्रचारो हृदयप्रदेशादिन्द्रियद्वारेण विषयाभिमुख्येन प्रसरस्तस्य संवेदनं ज्ञानमियं चित्तवहा नाडी अनया चित्तं वहति, इयं च रसप्राणादिवहाभ्यो नाडीभ्यो विलक्षणेति। भोजवृत्ति ३.३८।
५. तस्मात्स्वतन्त्रोऽर्थः सर्वपुरुषसाधारणः स्वतन्त्राणि च चित्तानि प्रतिपुरुषं प्रवर्तन्ते। व्यासभाष्य ४.१६।

पृष्ठ २६०
२. (क) ते पंच क्लेशाः दग्धबीजकल्पा योगिनश्चरिताधिकारे चेतसि प्रलीने सह तेनैवास्तं गच्छन्ति। व्यासभाष्य २.१०।
(ख) ते सूक्ष्माः क्लेशा ये वासनारूपेणैव स्थिता न वृत्तिरूपं परिणाममारभन्ते ते प्रतिप्रसवेन प्रतिलोमपरिणामेन हेयास्त्यक्तव्याः। स्वकारणास्मितायां कृतार्थं सवासनं चित्तं यदा प्रविष्टं भवति तदा कुतस्तेषां निर्मूलानां संभवः। भोजवृत्ति २.१०।
४. वृत्तिरेव विभुनश्चित्तस्य संकोचविकासिनीत्याचार्यः। तच्च धर्मादिनिमित्ता–पेक्षम्। निमित्तं च द्विविधम् बाह्यमाध्यात्मिकं च। शरीरादिसाधनापेक्षं बाह्यं स्तुतिदानाभिवादनादि, चित्तमात्राधीनं श्रद्धाद्याध्यात्मिकम्। तथा चोक्तम्-ये चैते मैत्र्यादयो ध्यायिनां विहारास्ते बाह्यसाधननिरनुग्रहात्मनः प्रकृष्टं धर्ममभिनिर्वर्तयन्ति। तयोर्मानसं बलीयः। कथं ज्ञान-वैराग्ये केनातिशय्येते दण्डाकारण्यं च चितबलव्यतिरेकेण शरीरेण कर्मणा शून्यं कः कर्तुमुत्सहते

समुद्रमगस्त्यवद्वा पिबेत्। व्यासभाष्य ४.१०।

पृष्ठ २६१

१. हेतुःधर्मात्सुखमधर्माद् दुःखं सुखाद्रागो दुःखाद् द्वेषस्ततश्च प्रयत्नस्तेन मनसा वाचा कायेन वा परिस्पन्दमानः परमनुगृह्णात्युपहन्ति वा ततः पुनर्धर्माधर्मौ सुखदुःखे रागद्वेषाविति प्रवृत्तमिदं षडरं संसारचक्रम्। अस्य च प्रतिक्षण–मावर्तमानस्याविद्या नेत्री मूलं सर्वक्लेशानामित्येष हेतुः। व्यासभाष्य ४.११।

२. तासामनादित्वं चाशिषो नित्यत्वात्। हेतुफलाश्रयालम्बनैः संगृहीतत्वादेषाम–भावे तदभावः। योगसूत्र ४.१०-११।

पृष्ठ २६२

१. अतीतानागतं स्वरूपतोऽस्त्यध्वभेदाद्धर्माणाम्। योगसूत्र ४.१२।

२. भविष्यद्व्यक्तिकमनागतमनुभूतव्यक्तिकमतीतं स्वव्यापारोपारूढं वर्तमानं, त्रयं चैतद्वस्तु ज्ञानस्य ज्ञेयम्। यदि चैतत्स्वरूपतो नाभविष्यन्नेदं निर्विषयं ज्ञानमुदपत्स्यत। तस्मादतीतानागतं स्वरूपतोऽस्तीति। व्यासभाष्य ४.१२।

३. तस्माद्धर्माणामेवातीतानागताद्यध्वभेदस्तेनैवरूपेण कार्यकारणभावोऽस्मिन्दर्शने प्रतिपाद्यते। तस्मादपवर्गपर्यन्तमेकमेव चित्तं धर्मितयाऽनुवर्तमानं न निह्नोतुं पार्यते। भोजवृत्ति ४.१२।

पृष्ठ २६३

१. क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः। योगसूत्र १.२४।

२. यथा मुक्तस्य पूर्वाबन्धकोटिः प्रज्ञायते नैवमीश्वरस्य। योगभाष्य १.२४।

पृष्ठ २६४

१. यथा वा प्रकृतिलीनस्योत्तराबन्धकोटिः संभाव्यते नैवमीश्वरस्य। वही १.२४।

२. स तु सदैव मुक्तः सदैवेश्वर इति। वही १.२४।

३. तच्च तस्यैश्वर्यं साम्यातिशयविर्निमुक्तम्। न तावदैश्वर्येण तदतिशय्यते। यदेवातिशयि स्यात् तदेव तत्स्यात्। तस्माद्यत्र काष्ठाप्राप्तिरैश्वर्यस्य स ईश्वरः। न च तत्समानमैश्वर्यमस्ति। कस्मात् द्वयोस्तुल्ययोरेकस्मिन्युगपत्कामितेऽर्थे नवमिदमस्तु पुराणमिदमस्तु इत्येकस्य सिद्धावितरस्य प्रकाम्य विघातादूनत्वं प्रसक्तम्। द्वयोश्च तुल्योर्युगपत्कामितार्थप्राप्तिर्नास्ति अर्थस्य विरुद्धत्वात्। तस्माद्यस्य साम्यातिशयविर्निमुक्तमैश्वर्यं स एवेश्वरः। स च पुरुषविशेष इंति। वही १.२४।

पृष्ठ २६५

१. न तस्य कार्यं करणं च विद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते।
परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च। श्वेताश्वतर ६.८।

२. तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्। योगसूत्र १.२५।।

पृष्ठ २६६

१. यथा परमाणावल्पत्वस्य आकाशे परमहत्त्वस्य एवं ज्ञानादयोऽपि चित्तधर्मा तारतम्येन परिदृश्यमानाः क्वचिन्निरतिशयतामासादयन्ति। यत्र चैते निरतिशयाः स ईश्वरः। भोजवृत्ति १.२५।।

२. ज्ञाज्ञौ द्वावजवीशानीशावजा ह्येका भोक्तृभोगार्थयुक्ता।
अनंन्तश्चात्मा विश्वरूपो ह्यकर्ता, त्रयं यदा विदन्ते ब्रह्ममेतत्।
श्वेताश्वतर १.६।

पृष्ठ २६७

१. तस्यात्मानुग्रहाभावेऽपि भूतानामनुग्रहः प्रयोजनम्। ज्ञानधर्मोपदेशेन कल्प-प्रलयमहाप्रलयेषु संसारिणः पुरुषानुद्धरिष्यामीति।। व्यास भाष्य १.२५।।

२. एतयोः शास्त्रोत्कर्षयोरीश्वरत्वे वर्तमानयोरनादिः सम्बन्धः।। वही १.२४।।

पृष्ठ २६८

१. (क) ईश्वरप्रणिधानं तस्मिन्परमगुरौ सर्वकर्मार्पणम्।। वही ३.३२।।
(ख) ईश्वरप्रणिधानं सर्वक्रियाणां तस्मिन्परमगुरौ फलनिरपेक्षतया समर्पणम्।
भोजवृत्ति २.१।

२. सर्वाजीवे सर्वसंस्थे बृहन्ते, अस्मिन् हंसो भ्राम्यते ब्रह्मचक्रे।
पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा जुष्टस्ततस्तेनामृतत्वमेति।
यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै।
तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये।।
एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च।।
श्वेताश्वतर उ० १.६। ६.१८, २१।।

पृष्ठ २६६

१. ते द्वे ज्ञानैश्वर्ये ईश्वरसत्त्वे वर्तमानेऽनादिभूते। तेन च तथाविधेन सत्त्वेन तस्यानादिरेव सम्बन्धः प्रकृतिपुरुषसंयोगवियोगयोरीश्वरेच्छाव्यतिरेकेणानु-पपत्तेः। भोजवृत्ति १.२४।

२. ईशितृत्वं तेषां (भूतभौतिकानां) प्रभवाप्ययव्यूहानामीष्टे। यत्रकामावसायित्वं सत्यसंकल्पता यथा संकल्पस्तथा भूतप्रकृतीनामवस्थानम्। व्यासभाष्य ३.४५।

३. तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्।। योगसूत्र १.३।

४. पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तेरिति।। वही ४.३४।

५. प्रणिधानाद् भक्तिविशेषादावर्जित ईश्वरस्तमनुगृह्णात्यभिध्यानमात्रेण।
तदभिध्यानमात्रादपि योगिन आसन्नतमः समाधिलाभः तत्फलं च भवति।।
व्यासभाष्य १.२३।।

६. समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात्।। योगसूत्र २.४५।

पृष्ठ ३००

१. सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद् व्यपाश्रयः।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्।।
सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।। गीता १८।५६, ६६।।

२. मुक्तानां तु पुनः क्लेशादियोगैस्तैस्तैः शास्त्रोक्तोपायैर्निवर्तितः।।
भोजवृत्ति १.२४।

३. सर्वज्ञता तृप्तिरनादिबोधः स्वतन्त्रता नित्यमलुप्तशक्तिः।
अनन्यशक्तिश्च विभोर्विधिज्ञाः षडाहुरङ्गानि महेश्वरस्य।
ज्ञानं वैराग्यमैश्वर्यं तपः सत्यं क्षमा धृतिः।
स्रष्टृत्वमात्मसम्बोधो ह्यधिष्ठातृत्वमेव च।
अव्ययानि दशैतानि सदा तिष्ठन्ति शङ्करे। वायु पुराण १२.३१.१.६०।

पृष्ठ ३०१

१. स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्। योगसूत्र १.२६।

२. एको गुरुर्नास्ति ततो द्वितीयो यो हृच्छयस्तमहमनुब्रवीमि।
तेनानुशिष्टा गुरुणा सदैव पराभूता दानवाः सर्व एव।।
एको बन्धुर्नास्ति ततो द्वितीयो यो हृच्छयस्तमहमनुब्रवीमि।
तेनानुशिष्टा बान्धवाबन्धुमन्तः सप्तर्षयश्चैव दिवि प्रयान्ति।
महाभारत आश्वमेध० अनु गीता। ६.२.३।

पृष्ठ ३०२

१. यस्मिन्नृचः साम यजुंषि यस्मिन् प्रतिष्ठिता रथनाभाविवाराः।
यस्मिंश्चित्तं सर्वमोतं प्रजानां तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु। यजुर्वेद ३४.५।

पृष्ठ ३०३

१. तथा चोक्तम्। आदिविद्वान्निर्माणचित्तमधिष्ठाय कारुण्याद् भगवान् परमर्षिरासुरये जिज्ञासमानाय तन्त्रं प्रोवाचेति। व्यासभाष्य १.२।।

२. कार्यनिरपेक्षाणामिन्द्रियाणां वृत्तिलाभो विकरणभावः। भोजवृत्ति ३.४८।

३. अपाणिपादो जवनो गृहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः।
स वेत्ति विश्वं न च तस्यास्ति वेत्ता तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम्।
श्वेताश्वर उ० ३.११।

पृष्ठ ३०४

१. असदकरणादुपादानग्रहणात् सर्वसम्भवाभावात्।
शक्तस्य शक्यकरणात् कारणभावाच्च सत्कार्यम्। सांख्यकारिका ९।

पृष्ठ ३०५

१. (क) ते व्यक्तसूक्ष्माः गुणात्मानः। योगसूत्र ४.३१।
(ख) ते खल्वमी त्र्यध्वानो धर्मा वर्त्तमाना; व्यक्तात्मानोऽतीतागता सूक्ष्माणः षड्विशेषाः। योगभाष्य ४.३१।

२. विशेषाविशेषलिङ्गमात्रालिङ्गानि गुणपर्वाणि। योगसूत्र २.१६।

३. य एते धर्मधर्मिणः प्रोक्तास्ते व्यक्तसूक्ष्मभेदेन व्यवस्थिता गुणाः सत्त्वरजस्तमोरूपास्तदात्मानस्तत्स्वभावास्तत्परिणामरूपा इत्यर्थः। यतः सत्त्वरजस्तमोभिः सुखदुःखमोहरूपैः सर्वासां बाह्यान्तरभेदभिन्नानां भावव्यक्तीनामन्वयानुगमो दृश्यते। भोजवृत्ति ४.१३।

पृष्ठ ३०६

१. परिणामैकत्वाद्वस्तुतत्त्वम्। योगसूत्र ४.१४।

२. यद्यपि त्रयो गुणास्तथाऽपि तेषामङ्गाङ्गिभावगमनलक्षणो यः परिणामः क्वचित्सत्त्वमङ्गि क्वचिद्रजःक्वचिच्च तम इत्येवं रूपस्तस्यैकत्वाद्वस्तुनस्तत्त्वमेकत्वमुच्यते। यथेयं पृथिवी अयं वायुरित्यादि। भोजवृत्ति ४.१४।

३. प्रकृत्या सर्वमेवेदं जगदन्धीकृतं विभोः।
जगन्मोहात्मकं विद्धि सुव्यक्ताव्यक्तसंज्ञकम्।
महाभारत शान्तिपर्व मोक्षधर्म ३०३.३५।

पृष्ठ ३०७

१. एकस्यां रूपलावण्यवत्यां योषिति उपलभ्यमानायां सरागस्य सुखमुत्पद्यते सपत्न्यास्तु द्वेषः परिव्राजकादेर्घृणेत्येकस्मिन्वस्तुनि नानाविधचित्तोदयात्कथं चित्तकार्यत्वं वस्तुनः, एकचित्तकार्यत्वे वस्त्वेकरूपतयैवावभासेत।
भोजवृत्ति ४.१५।

पृष्ठ ३०८

१. एकचित्ततन्त्रं चेद्वस्तु स्यात्तदा चित्ते व्यग्रे निरुद्धे वा स्वरूपमेव तेनापरामृष्टमन्यविषयीभूतमप्रमाणकमगृहीतस्वभावकं केनचित्तदानीं किं तत्स्यात्। संबध्यमानं च पुनश्चित्तेन कुत उत्पद्येत। ये चास्यानुपस्थिता भागास्ते चास्य न स्युरेवं नास्ति पृष्ठमित्युदरमपि न गृह्यते। तस्मात्स्वतन्त्रोऽर्थः सर्वपुरुष साधारणः स्वतन्त्राणि च चित्तानि प्रतिपुरुषं प्रवर्तन्ते। तयोः सम्बन्धादुपलब्धिः पुरुषस्य भोग इति। व्यासभाष्य ४.१६।

२. तदुपरागापेक्षितत्वाच्चित्तस्य वस्तु ज्ञाताज्ञातम्। योगसूत्र ४.१७।

पृष्ठ ३०९

१. अयस्कान्तमणिकल्पा विषया अयःसधर्मकं चित्तमभिसंबन्ध्योपरंजयन्ति।
येन च उपरक्तं चित्तं स विषयो ज्ञातस्ततोऽन्यः पुनरज्ञातः। व्यासभाष्य ४.१७।

२. सदा ज्ञाताश्चित्तवृत्तयः तत्प्रभो पुरुषस्यापरिणामित्वात्। योगसूत्रं ४.१८।

३. परिणामित्वे हि कदाचित्पुरुषस्यान्ध्यापत्त्या विद्यमानापि चित्तवृत्ति र्न ज्ञायेत। तदा च तस्यापि ज्ञाताज्ञातोभयरूपत्वे अहं सुखी न वा, दुःखी न वेच्छामि न वेत्यादि संशयः स्याद्। एतादृशश्च संशयो न दृश्यते, अतः वृत्तेरज्ञातसत्ता नास्ति ततश्च पुरुषोऽपरिणामीत्यायातम्। योगवर्तिक ४.१८।

४. क्षिप्तमूढविक्षिप्तैकाग्रतावस्थितचित्तमानिरोधात्सर्वदा पुरुषेणानुभूयते। तत्त्ववैशारदी ४.१८।

पृष्ठ ३१०

१. (क) न तत्स्वाभासं दृश्यत्वात्। योगसूत्र ४.१९।

(ख) स्वबुद्धेः प्रचारप्रतिसंवेनात् सत्त्वानां प्रवृत्तिर्दृश्यते-क्रुद्धोऽहं भीतोऽहममुत्र मे रागोऽमुत्र मे क्रोध इति। एतत्स्वबुद्धेरग्रहणे न युक्तमिति। व्यासभाष्य ४.१९।

२. एकसमये चोभयानवधारणम्। योगसूत्र ४.२०।

पृष्ठ ३११

१. एवंविधं च व्यापारद्वयमर्थप्रत्यक्षताकाले न युगपत्कर्त्तु शक्यं विरोधात्, न हि विरुद्धयोर्व्यापारयोर्युगपत्संभवोऽस्ति। अतः एकस्मिन्नेव काल उभयस्वरूप–स्यार्थस्य चावधारयितुमशक्यत्वान्न चित्तं स्वप्रकाशमित्युक्तं भवति। किं च एवंविधव्यापारद्वयनिष्पाद्यस्य फलद्वयस्यासंवेदनाद् बहिर्मुखतयैवार्थनिष्ठत्वेन चित्तस्य संवेदनादर्थनिष्ठमेव फलं न स्वनिष्ठमित्यर्थः। भोजवृत्ति ४.२०।

२. चित्तान्तरदृश्ये बुद्धिबुद्धेरतिप्रसङ्गः स्मृतिसंकरश्च। योगसूत्र ४.२१।

३. स्मृतिसंकरश्च प्राप्नोति–रूपे रसे वा समुत्पन्नायां बुद्धौ तद्ग्राहिकानामनन्तानां बुद्धीनां समुत्पत्तेर्बुद्धिजनितैः संस्कारैर्यदा युगपद्बह्व्यः स्मृतयः क्रियन्ते तदा बुद्धेरपर्यवसानाद् बुद्धिस्मृतीनां च बह्वीनां युगपदुत्पत्तेः कस्मिन्नर्थे स्मृतिरियमुत्पन्नेति ज्ञातुमशक्यत्वात्स्मृतीनां संकरः स्यात्। इयं रूपास्मृतिरियं रसस्मृतिरिति न ज्ञायेत। भोजवृत्ति ४.२१।

पृष्ठ ३१२

१. यस्मिंश्चेन्द्रियवृत्तिद्वारेण विषयाकारेण परिणमते पुरुषस्तद्रूपाकार एव परिभाव्यते, यथा जलतङ्गेषु चलत्सु चन्द्रश्चलन्निव प्रतिभासते तद्वच्चित्तम्। भोजवृत्ति १.४।

पृष्ठ ३१३

१. द्रष्टृदृश्योपरक्तं चित्तं सर्वार्थम्। योगसूत्र ४.२३।

२. मनो हि मन्तव्येनार्थेनोपरक्तं ततः स्वयं च विषयत्वाद्विषयिणा पुरुषेणात्मीयया वृत्त्याऽभिसंबद्धं, तदेतच्चित्तमेव द्रष्टृदृश्योपरक्तं विषयविषयिनिर्भासं चेतनाचेतनस्वरूपापन्नं विषयात्मकमप्यविषयात्मकमिवाचेतनं चेतनमिव स्फटिकमणिकल्पं सर्वार्थमित्युच्यते। व्यासभाष्य ४.२३।

पृष्ठ ३१५

१. यथाऽयस्कान्तमणिसंनिधाने लोहस्य चलनमाविर्भवति; एवं चिद्रूपपुरुषसंनिधाने सत्त्वस्याभिव्यङ्ग्यमभिव्यज्यते चैतन्यम्। अतएव अस्मिन्दर्शने द्वे चिच्छक्ती नित्योदिताऽभिव्यङ्ग्या च। नित्योदिता चिच्छक्तिः पुरुषस्तत्संनिधानाद–भिव्यक्तमभिव्यंग्यचैतन्यं सत्त्वमभिव्यंग्या चिच्छक्तिः। तदत्यन्तसंनिहित–त्वादन्तरंगं पुरुषस्य भोग्यतां प्रतिपद्यते। तदेव शान्तब्रह्मवादिभिः सांख्यैः पुरुषस्य परमात्मानोऽधिष्ठेयं कर्मानुरूपं सुखदुःखभोक्तृतया व्यपदिश्यते। यत्त्वनुद्रिक्तत्वादेकस्यापि गुणस्य कदाचित्कस्यचिदङ्गित्वात् त्रिगुणं प्रतिक्षणे परिणममानं सुःखदुःखमोहात्मकमनिर्मलं तत्तस्मिन्कर्मानुरूपे शुद्धे सत्त्वे स्वाकारसमर्पणद्वारेण संवेद्यतामापादयति तच्छुद्धमाद्यं चित्तसत्त्वमेकतः–प्रतिसंक्रान्तचिच्छायमन्यतोगृहीतविषयाकारेण चित्तेनोपढौकितस्वाकारं चित्तसंक्रान्तिबलाच्चेतनायमानं वास्तवचैतन्याभावेऽपि सुखदुःखभोगमनुभवति। स एव भोगोऽत्यन्तसंनिधानेन विवेकाग्रहणाद्– भोक्तुरपि पुरुषस्य भोग इति व्यपदिश्यते। अनेनैवाभिप्रायेण विन्ध्यवासिनोक्तं 'सत्त्वतप्यत्वमेव पुरुषतप्यत्वमिति'। अन्यत्रापि प्रतिबिम्बे प्रतिबिम्बमानच्छाया सदृशछायोद्भवः प्रतिबिम्बशब्देनोच्यते। एवं सत्त्वेऽपि पौरुषेयचिच्छायासदृशचिदभिव्यक्तिः प्रतिसंक्रान्तिशब्दार्थः। भोजवृत्ति ४.२३।

२. (क) तदसंख्येयवासनाभिश्चित्तमपि परार्थम् संहत्यकारित्वात्। योगसूत्र ४.२४।

(ख) संहत्यकारित्वात् संहत्य सम्भूय मिलित्वाऽर्थक्रियाकारित्वात्। भोजवृत्ति ४.२४।

३. (क) विशेषदर्शिनः आत्मभावभावनानिवृत्तिः। योगसूत्र ४.२५।

(ख) तस्य विज्ञातचित्तस्वरूपस्य चित्ते याऽऽत्मभावभावना सा निवर्तते, चित्तमेव कर्तृभोक्तृज्ञातृ इत्यभिमानो निवर्त्तते। भोजवृत्ति ४.२५।

४. तत्रात्मभावभावना कोऽहमासम्? कथमहमासम्? किंस्विदिदम्? कथंस्विदिदम्? के भविष्यामः? कथं वा भविष्यामः इति। व्यासभाष्य ४.२५।

पृष्ठ ३१६

१. तदा विवेकनिम्नं कैवल्यप्राग्भारं चित्तम्।। योगसूत्र ४.२६।

पृष्ठ ३१७

१. पराचि खानि व्यतृणत्स्वयंभूस्तस्मात्पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्। कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्।। कठोपनिषद् २।१।१।।

२. या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः।। गीता २.६६।।

३. प्रसंख्यानेऽप्यकुसीदस्य सर्वथा विवेकख्याते धर्ममेघः समाधिः। योगसूत्र ४.२६।

पृष्ठ ३१८

१. एवं तत्त्वाभ्यासान्नास्मि न मे नाहमित्यपरिशेषम्।
अविपर्य्याद्विशुद्धं केवलमुत्पद्यते ज्ञानम्। सांख्यकारिका ६४।

२. चिदाकारस्वरूपोऽस्मि नाहमस्मि न सोऽस्म्यहम्।
न हि किंचित्स्वरूपोऽस्मि निर्व्यापारस्वरूपवान्।
निरंशोऽस्मि निराभासो न मनो नेन्द्रियोऽस्म्यहम्।
न बुद्धि र्न विकल्पोऽहं न देहादित्रयोऽस्म्यहम्।
न जाग्रत्स्वप्नरूपोऽहं न सुषुप्तिस्वरूपवान्।
न तापत्रयरूपोऽहम् नैषणात्रयवानहम्।
श्रवणं नास्ति मे सिद्धं मननं च चिदात्मनि ।
न मे ध्याता न मे ध्येयं न मे ध्यानं न मे मनः।
न मे शीतं न मे चोष्णं न मे तृष्णा न मे क्षुधा।
न मे मित्रं न मे शत्रु र्न मे मोहो न मे जयः।
न मे पूर्वं न मे पश्चान्न मे चोर्ध्वं न मे दिशः।
न मे भोक्तव्यमीषद्वा न स्मर्तव्यमथापि मे।
न मे भोगो न मे रागो न मे योगो न मे लयः।
न मे तापो न मे लोभो मुख्यं गौणं न मे क्वचित्।
न मे भ्रान्ति र्न मे स्थैर्यं न मे गुह्यं न मे कुलम्।
न मे त्याज्यं न मे ग्राह्यं न मे हास्यं न मे नयः।
न मे व्रतं न मे ग्लानि र्न मे शोष्यं न मे सुखम्।
न मे ज्ञाता न मे ज्ञानं न मे ज्ञेयं न मे स्वयम्।
योगोपनिषद् ३.४२.४६, ४.१८, १६, २१, २६, २८।

पृष्ठ ३१६

१. प्रकृष्टमशुक्लाकृष्णं धर्मं परमपुरुषार्थसाधकं मेहति सिंचति धर्ममेघः। भोजवृत्ति ४.२६।

२. विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः। तस्य सप्तधा प्रान्तभूमिः प्रज्ञा। योगसूत्र २.२६, २७।

३. तस्य योगविघ्नाभावेन सर्वथा निरन्तरं विवेकख्यात्युदयाद् धर्ममेघनाम्नी सम्प्रज्ञातयोगस्य पराकाष्ठा भवतीत्यर्थः। योगवार्त्तिक ४.२६।

४. एतस्यामवस्थायां गुणसम्बन्धातीतः स्वरूपमात्रज्योतिरमलः केवली पुरुष इति। व्यासभाष्य २.२६।

५. अतः क्षीणक्लेशः कुशलश्चरमदेह इत्युच्यते।। वही २।४।।

६. सम्यग्ज्ञानाधिगमाद् धर्मादीनामकारणप्राप्तौ।
तिष्ठति संस्कारवशाच्चक्रभ्रमिवत् धृतशरीरः।। सांख्यकारिका ६७।।

पृष्ठ ३२०

१. तत्र ध्यानजमनाशयम्। कर्माशुक्लाकृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेषाम्।
योगसूत्र ४.६,७।

पृष्ठ ३२१

१. तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः।।
कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।
लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन्कर्तुमर्हसि। गीता ३.११, २०।

२. ततः क्लेशकर्मनिवृत्तिः। योगसूत्र ४.३०।

३. तैत्तिरीयोपनिषद् ब्रह्मवल्ली ८।

४. तदा सर्वावरणमलापेतस्य ज्ञानस्यानन्त्याज्ज्ञेयमल्पम्। योगसूत्र ४.३१।

पृष्ठ ३२२

१. आव्रियते चित्तमेभिरित्यावरणानि क्लेशाः, ते एव मलास्तेभ्योऽपेतस्य तद्विरहितस्य, ज्ञानस्य शरद्गगननिभस्यानन्त्यादनवच्छेदात् ज्ञेयमल्पं गणनास्पदं न भवत्यक्लेशेनैव सर्वं ज्ञेयं जानातीत्यर्थः। भोजवृत्ति ४.३१।

२. ज्ञानस्यानन्त्याज्ज्ञेयमल्पं संपद्यते। यथाऽऽकाशे खद्योतः। व्यासभाष्य ४.३१।

३. ततः कृतार्थानां परिणामक्रमसमाप्तिर्गुणानाम्। योगसूत्र ४.३२।

४. कृतार्थम्प्रति नष्टमप्यनष्टं तदन्यसाधारणत्वात्। वही २.२२।

५. क्षणप्रतियोगी परिणामापरान्तनिर्ग्राह्यः क्रमः। वही ४.३३।

पृष्ठ ३२३

१. द्वयी चेयं नित्यता—कूटस्थनित्यता परिणामिनित्यता च, तत्र कूटस्थनित्यता पुरुषस्य, परिणामिनित्यता गुणानाम्। यस्मिन् परिणम्यमाने तत्त्वं न विहन्यते तन्नित्यम्, उभयस्य च तत्त्वानभिघातान्नित्यत्वम्। तत्र गुणधर्मेषु बुद्ध्यादिषु परिणामापरान्तनिर्ग्राह्यः क्रमो लब्धपर्यवसानः, नित्येषु धर्मिषु गुणेषु अलब्धपर्यवसानः, कूटस्थनित्येषु स्वरूपमात्रप्रतिष्ठेषु मुक्तपुरुषेषु स्वरूपास्तिता क्रमेणैवानुभूयते इति। व्यासभाष्य पृ० ४.३४ पृ० ४५१।

पृष्ठ ३२४

१. यदि पुरुषस्य संसृतिच्छेदः पृच्छ्यते तदा कुशलस्यास्ति, नेतरस्य।
योगवार्त्तिक पृ० ४५४।

२. (क) पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्ति-रिति। योगसूत्र ४.३४।

(ख) समाप्तभोगापवर्गलक्षणपुरुषार्थानां गुणानां यः प्रतिप्रसवः प्रतिलोमस्य समाप्तौ विकारानुद्भवः, यदि वा चितिशक्तेः वृत्तिसारूप्यनिवृत्तौ स्वरूपमात्रेऽवस्थानं तत्कैवल्यमुच्यते। भोजवृत्ति ४.३४।

३. प्राप्ते शरीरभेदे तु चरितार्थत्वात् प्रधानविनिवृत्तौ।
ऐकान्तिकमात्यन्तिकमुभयं कैवल्यमाप्नोति। सांख्यकारिका ६८।

४. दुःखत्रयाभिघाताज्जिज्ञासा तदपघातके हेतौ।
दृष्टे साऽपार्था चेन्नैकान्तात्यन्ततोऽभावात्। सांख्यकारिका १।

५. ते हि त्रीणि ········ सदैव मुक्तः सदैवेश्वर इति। व्यास भाष्य १.२४।

६. तत्त्व वैशारदी १.१६, योग वार्त्तिक १.१६।

पृष्ठ ३२५

१. अंगुत्तर निकाय ३.३३।

पृष्ठ ३२६

१. चत्तारि अरियसच्चानि सम्मप्पंञ्ञय पस्सति।
दुक्खं दुक्खसमुप्पादं, दुक्खस्स च अतिक्कमं,
अरियं चाट्ठागिकं मग्गं दुक्खूपसमगामिनम्।
थेरीगाथा १६३, धम्मपद १६०.१६१।

२. (क) दुःखत्रयाभिघाताज्जिज्ञासा तदपघातके हेतौ········। सांख्यकारिका १।
(ख) त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः। सांख्य दर्शन १-१।

३. प्रमाणप्रमेय ········ निग्रहस्थानां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः। न्यायदर्शन १.१.१।

४. यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः सः धर्मः। वैशेषिक दर्शन १.१.१।

पृष्ठ ३२७

१. (क) इदं पुरे चित्तमचारिचारिकं, येनेच्छिकंमत्थकामं यथासुखम्।
तदज्जहं निग्गहे सामियोनिसो हत्थिप्पभिन्नं विय अंकुसग्गहो।
धम्मपद ३२६ (२३-५)
(ख) योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः। योगसूत्र १.१।

२. यस्य चेतं समच्छिन्नं मूलघच्चं समूहतं
स वे दिवा वा रत्तिं वा समाधिं अधिगच्छति। धम्मपद ११.१०।
विनोवाभावे सम्पादित १६७२।

३. (क) सर्वथाविवेकख्यातेः धर्ममेघः समाधिः, ततः क्लेशकर्मनिवृत्तिः।
योगसूत्र ४.२६.३०।
(ख) ························ सचित्तमनरक्खथा।
दुग्गा उद्धरथत्तानं पङ्के सन्नो व कुञ्जरो। धम्मपद ६.१३।

४. अविद्याऽस्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पंचक्लेशाः, अविद्याक्षेत्रमुत्तरेषाम्। २.३, ४।

५. संखारा अविज्जानिदाना ········ चे अविज्जा पभवाति। मज्झिमनिकाय १.४-८
अविज्जा उपनिसा संखारा ········। संयुत्तनिकाय १२.३।

६. कायदुच्चरितादि अविन्दियं नाम अलद्धब्बं। तं अविन्दियं विन्दति इति अविज्जा।
तब्बिपरीततो कायसुचरितादि विन्दियं न विन्दति इति अविज्जा। ········सच्चानं

तथाट्ठं अविदितं करोति इति अविज्जा। परमत्थतो अविज्जमानेसु इत्थिपुरिसादिसु जावति इति अविज्जा। विसुद्धिमग्ग १७.४३ पृ० ४४८।

७. यदनिच्चितं दुःखं ति·····तं दुक्खं यं अनत्ता इति। सुत्तपिटक ३.२२।

पृष्ठ ३२८

१. विपलयासं ति अनिच्च-दुक्ख अनत्त-असुभेसु येव वत्थुसु निच्चं सुखं अत्ता-सुभंति एवं पवत्ता संज्ञा। विसुद्धिमग्ग २२.५३ पृ० ५८७।

२. वितर्कविचारानन्दास्मितानुगमात्संप्रज्ञातः। योगसूत्र १.१७।

३. (क) तस्मिं समये पंच्चंगिकं झानं होति-वितको विचारो पीति सुखं चित्तस्ये कग्गताति। विभ्रम १२.५३ पृ० ५८७।

(ख) रूपावचरं पुन झानाङ्गयोगभेदतो पंचविधं होति। सेययिदंः–वितक्कं विचार–प्रीति–सुख–समाधियुत्तं····। विसुद्धिमग्ग १२.८६ पृ० ३८४।

४. सदहन्ति एताय सयं वा सद्दहति, सद्दहनमत्तं एव वा एसा ति सद्धा। सा सद्दहन लक्खणा ओकप्पन लक्खणा वा पसादना सा····अधिमुत्ति पच्चुपट्ठाना वा, सद्धेव वत्थु पच्चुपठ्ठाना वा सद्धम्म सवनादि सोतापत्ति अङ्गपदट्ठाना वा। वही १२–१४० पृ० ३६३। (विसुद्धिमग्ग हार्वर्ड यूनीवर्सिटी प्रेस लन्दन (१६५०)

५. वीरभावो वीरियं, तं उत्साहन लक्खणं, सह जातानं उपट्ठम्भनरसं, असंसीदन भावपच्चु पट्ठानं .... संवेगपदट्ठानं वीरियारम्भ वत्थुपदट्ठानं समारद्धं सब्ब संपत्तीनं मूलं होति ति दट्ठव्यं। विसुद्धिमग्ग १२.१३६ पृ० ३६२।

पृष्ठ ३२६

३. समुपजातवीर्यस्य स्मृतिरुपतिष्ठते, स्मृत्युपस्थाने च चित्तमनालम्बनं अनाकुलं च समाधीयते। व्यासभाष्य पृ० ६०।

४. सरन्ति ताय, सयं वा सरति, सरणमत्तं वा सति–आरमणेवेदं पतिट्ठित्ततोपन एसिका विय, चक्खुद्वारा दिक्खणतो दोवारिको विय दट्ठव्वा। विसुद्धिमग्ग १२. १४१ पृ० ३६३।

५. (क) तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीजः समाधिः। योगसूत्र १.५१

(ख) एताः सर्वाः वृत्तयो निरोद्धव्याः, आसां निरोधे सम्प्रज्ञातो वा समाधिर्भवत्यसम्प्रज्ञातो वेति। योगभाष्य पृ० ४४।

६. सन्तकायो सन्तवाचो सन्तमनो सुसमाहितो।
वसन्तलोकामिसो भिक्खु उपसन्तो ति वुच्चति। धम्मपद ३७८। १६.५.

७. आरमणे चित्तं समं आधियति सम्मा वा आधीयते समाधानमत्तं एव वा एतं चित्तस्स समाधि·····विसेसतो सुखपट्ठानो निवाते दीपच्चीनं थिति विय चेतसो थितीति दट्ठब्बा। विसुद्धिमग्ग १२.३६ पृ० ३६२-६३।

पृष्ठ ३३०

१. यो पाणमतिपातेति, मुसावादं च भासति।

लोके अदिन्नं आदियति परदारं च गच्छति।
सुरामैरेयपानं च यो नरो अनुयुज्जति।
इधेव मेसो लोकस्मिं मूलं खणति अत्तनो। धम्मपद ५.२४–२५।

२. अहिंसा सत्यमस्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहाः यमाः। योगसूत्र २.३०।

३. यम्हि सच्चं च धम्मो च अहिंसा संयमो दमो।
स वे वन्तमलो धीरो सो थेरी इति पवुच्चति। धम्मपद १५.१५।

४. पाणातिपाता वे रमणी सिक्खापदं समादियामि। पातिमोक्ख।

५. अत्तानं उपमं कत्वा न हनेय्य न घातये। धम्मपद १.२०।

७. न तेन अरियो होति येन पाणानि हिंसति,
अहिंसा सव्वापाणानं अरियोति पवुच्चति। वही १.१६
—यो न हन्ति न घातेति तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं। वही १८.६।

८. अहिंसका ये मनुयो निच्चं कायेन संवुता।
ते यन्ति अच्चुतं ठानं यत्थ गन्त्वा न सोचरे। वही १.१८।

६. सत्यं यथार्थे वाङ्मनसी—एषा सर्वभूतोपकारर्थं प्रवृत्ता न भूतोपघाताय, यदि चैवमभिधीयमाना, भूतोपघातपरैव स्यान्न तत्सत्यं भवेत्, पापमेव भवेत्—तस्मात्परीक्ष्य सत्यं ब्रूयात्। योगभाष्य पृ० २४६।

१०. मुसावादा वेरमणी सिक्खा पदं समादियामि। खुद्दक पाठ २.४।

११. एकं धम्ममतीतस्स मुसावादिस्स जन्तुनो।
वितिण्णपरलोकस्स नत्थि पापं अकारियं। धम्मपद २.२२।

पृष्ठ ३३१

१. अदिन्नादाना वेरमणी सिक्खापदं समादियामि। खुद्दक पाठ २.२।

२. योध दीघं व रस्सं व अणु थूलं सुभासुभं,
लोके अदिन्नं नादियति तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं। धम्मपद १८.१६।
यस्स पुरे च पच्छ च मज्झे च नत्थि किंचनं,
अकिंचनं अनादानं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं। धम्मपद १८.१८।

३. यो च वस्स सतं जीवे दुस्सीलो असमाहितो।
एकहा जीवितं सेय्यो सीलवन्तस्स झायिनो। धम्मपद २.१।

४. चत्तारि ठानानि नरो पमत्तो आपज्जति परदारूपसेवी।
अपुण्यलाभं न निकामसेय्यं निन्दं ततियं निरयं चतुत्थं। धम्मपद ५.२८।

५. ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः। योगसूत्र २.३८।

६. यो च वस्स सतं जीवे कुसीतो हीनवीरियो।
एकाहं जीवितं सेयो विरियमारभतो दल्हं। धम्मपद। २.३।

७. विरियारद्धम्म वत्थुपदट्ठानं वा सम्मा आरद्धं सव्व सम्मत्तीनं मूलं होति।
विसुद्धिमग्ग १२.१३७ पृ० ३६२।

पृष्ठ ३३२

१. कायेन संवुता धीरा अथो वाचाय संवुता।
मनसा संवुता धीरा ते वे सुपरिसंवुता। धम्मपद १०.१०।

२. कायप्पकोपं रक्खेय कायेन संवुतो सिया।
कायदुच्चरितं हित्वा कायेन सुचरितं चरे।।
वचीपकोपं रक्खेय वाचाय संवुतो सिया।
वचीदुच्चरितं हित्वा वाचाय सुचरितं चरे।।
मनोपकोपं रक्खेय्य मनसा संवुतो सिया।
मनोदुच्चरितं हित्वा मनसा सुचरितं चरे।। धम्मपद १०.७-६।

३. यस्सासवा परिक्खीणा........पदं तस्स दुरन्नयं। वही १७.४।

४. पहीयमानस्स अनासवस्स देवापि तस्स पिहयन्ति तादिनो।
पठवी समो न विरुज्झति इन्दखीलूपमो तादि सुब्बतो।
रहदो व अपेतकद्दमो संसारा न भवन्ति तादिनो। वही १७.५-६।

५. अभित्थरेत्थ कल्याणे-पापाचित्तं निवारये।
दन्धं हि करोतो पुञ्ञं-पापस्मिं रमती मनो। धम्मपद ४.२।

६. पुप्फानि हेव पचिनन्तं व्यासत्तमनसं नरं।
अतित्तं येव कामेसु अन्तको कुरुते वशम्। धम्मपद ८.३।

७. इन्द्रियगुत्ति सन्तुट्ठिपातिमोक्खे च संवारो।
.... आचारकुसलो सिया।
ततो पामोज्जबहुलो दुक्खस्सन्तं करिस्सति।। वही १६.२-३।

८. सन्तुट्ठी परमं धनम्। वही २.१२।

६. मनुजस्स पमत्तचारिनो तण्हा वड्ढति मालुवा विय।
सो प्लवति हुराहुरं फलमिच्छं व वनस्मिं वानरो। वही १२.८।

१०. यं एसा सहती जम्मा तण्हा लोके विसत्तिका।
सोका तस्स पवड्ढन्ति अभिवट्ठ व वीरणं।। वही १२.६।

११. यो चे तं सहती जस्मिं तण्हं लोके दुरच्चयं।
सोका तम्हा पपतन्ति उदविन्दू व पोक्खरा।। वही १२.१०।

पृष्ठ ३३३

१. तं वो वदामि भद्दं वो यावन्तेत्थ समागता।
तण्हाय मूलं खणथ उसीरत्थो व बीरणं।।
मा वो नकं व सोतो व मारो भजि पुनप्पुनं।। धम्मपद १२.११।

२. तसिणाय पुरक्खता पजा परिसप्पन्ति ससोव बाधितो।
तस्मा तसिणं विनोदये भिक्खू आकङ्खी विरागमत्तनो। धम्मपद १२.७।

४. चक्खुना संवरो साधु साधु सोतेन संवरो,
घाणेन संवरो साधु साधु जिह्वाय संवरो।

कायेन संवरो साधु साधु वाचाय संवरो,
मनसा संवरो साधु साधु सव्वत्थ संवरो।
सव्वत्थ संबुतो भिक्खु सव्वदुःखा पमुच्चति। धम्मपद १०.११-१२।

५. हत्थसंयतो पादसंयतो, वाचाय संयतो संयतुत्तमो।
अज्झत्तरतो समाहितो एको सन्तुसितो तमाहु भिक्खुं। वही १६.४।

६. अत्ता हि अत्तनो नाथो को हि नाथो परो सिया।
अत्तना व सुदन्तेन नाथं लभति दुल्लभं। धम्मपद। ७.५।

७. उदकं हि नयन्ति नेत्तिका उसुकारा नमयन्ति तेजनं।
दारुं नमयन्ति तच्छका अत्तानं दमयन्ति सुब्बता। वही ७.८।

पृष्ठ ३३४

१. मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातः चित्तप्रसादनम्। योगसूत्र १.३३।

पृष्ठ ३३५

१. विपल्लास ति अनित्त दुःख अनन्ता-असुभेसु येव वत्थु निच्चं, सुखं अत्ता सुभंति एवं पवत्तो संञा विपल्लासो-चित्त विपल्लासो दिट्ठि विपल्लासो ति इमे। विसुद्धिमग्ग २२.५३ पृ० ५८७।
२. विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम्। योगसूत्र १.८।
३. शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः। वही १.६।
४. विकल्पलक्षणग्राहाभिनिवेशप्रतिष्ठापिकाबुद्धिः। लंकावतार सूत्र पृ० ८७।
५. विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्कारशेषोऽन्यः। भवप्रत्ययो विदेहप्रकृतिलयानाम्। योगसूत्र १.१८-११६।
६. स खल्वयं द्विविधः, उपायप्रत्ययो भवप्रत्ययश्च। व्यासभाष्य पृ० ५६।

पृष्ठ ३३६

१. (क) विरामप्रत्ययः विरामः वृत्तीनामभावः कारणम्। तत्त्ववैशारदी पृ० ५५।
(ख) उपायप्रत्ययः श्रद्धादि-उपायहेतुकः। भास्वती पृ० ५६।
(ग) भवः प्रत्ययः कारणं यस्य स भवप्रत्ययः। तत्त्ववैशारदी पृ० ५७।
२. अविज्जापच्चया संखारा, संखारपच्चया विञ्ञाणं, विञ्ञाणपच्चया नामरूपं, नामरूपपच्चया तण्हा, तण्हापच्चया उपादानं उपादानपच्चया भवो, भवपच्चया जाति, जातिपच्चया जरामरणं। मज्झिमनिकाय ३८ ३-७।
३. प्रत्याय्यन्ते अनेनेति प्रत्ययाः।
४. क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः। योगसूत्र २.१२।
५. सत्सु कुशलेपु कर्माशयो विपाकारम्भी भवति।------कर्माशयो विपाकप्ररोही भवति। योगभाष्य पृ० १६५।
६. (क) तस्सेव रूपावचरस्स कुसलस्स कम्मस्स कत्ता, उपचितत्ता विपाकं विविच्चेव कामेहि। विभ्रमविभङ्ग १२.२.१४३।

(ख) तस्सेव अरूपावचरस्य कुसलस्स कम्मस्स कत्तता, उपचित्तता विपाकं सब्बसो। वही १२.२.१४५।

(ग) यस्मिं समये अरूपावचरं ज्ञानं भावेति किरियं नेव कुसलं न च कस्मे विपाकं। वही १२.२.१५२।

७. इद्धि विषयोपि कम्म विपाकोऽपि छे अचिन्तिया,—तेसं अचिन्तियानं कम्मविपाकं येव अधिमत्तं बलवत्तरं, कम्मविपाकं येव सव्वे अतिभविय आणं पवत्तेति। मिलिन्दपञ्ञो पृ० १८८।

६. अप्पिये हि सम्पयोगो दुक्खो। महावग्ग १.७-१४।

पृष्ठ ३३७

२. अपर आह-धर्मानभ्यधिको धर्मी पूर्वतत्त्वानतिक्रमात्, पूर्वापरावस्थाभेदमनु पतितः कौटस्थ्येन विपरिवर्त्तेत यद्यन्वयी स्यात्। योगभाष्य पृ० २६८।

३. बौद्धमतमुत्थाप्यति-'अपरआह इत्यादि'। योगवर्त्तिक पृ० २६८।

४. (क) इत्येवं धर्मधर्मिणो लक्षणानामवस्थानां च कौटस्थ्यं प्राप्नोतीति परैर्दोष उच्यते। योगभाष्य पृ० ३०५।

(ख) अवस्थापरिणामेऽपि बौद्धोक्तं दूषणमुदाहरति-अवस्थेति। योगवर्त्तिक पृ० ३०५।

५. शान्तोदिताव्यपदेश्यधर्मानुपाती धर्मी। क्रमान्यत्वं परिणामान्यत्वे हेतुः। योगसूत्र ३.१४.१५।

पृष्ठ ३३८

२. ते तथेति प्रत्युपस्थितमिदं स्वमाहात्म्येन वस्तु कथमप्रमाणात्मकेन विकल्पज्ञानबलेन वस्तुस्वरूपमुत्सृज्य तदेवापलपन्तः श्रद्धेयवचनाः स्युः। कुतश्चैतदन्याय्यम्? वस्तुसाम्ये चित्तभेदात्तयोर्विभक्तः पन्थाः। योगभाष्य पृ० ४१६-२१।

३. विज्ञानवादे दूषणान्तरतयोत्तरसूत्रमवतारयति। योगवर्त्तिक पृ० ४२१।

५. बौद्धवादान्तरनिरासकसूत्रान्तरमवतारयितुं तन्मतमुपन्यस्यति केचिदाहुरिति। योगवात्तिक पृ० ४२२।

७. क्षणिकवादिनो यद् भवनं सैव क्रिया तदेव च कारकमित्यभ्युपगमः। योगभाष्य पृ० ४३०-४३१।

पृष्ठ ३३६

१. इत्येवं बुद्धि प्रतिसंवेदनं पुरुषमपलपद्भिः वैनाशिकैः सर्वमेवाकुलीकृतम्। योगभाष्य पृ० ४.२।

पृष्ठ ३४०

४. योगः समाधिः, स च सार्वभौमश्चित्तस्य धर्मः। योगभाष्य १, १, पृ० २-३।

५. यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि। योगसूत्र २.२३।

पृष्ठ ३४१

१. तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः। योगसूत्र २.१।

२. यस्त्वेकाग्रे चेतसि सद्भूतमर्थं प्रद्योतयति क्षिणोति क्लेशान् कर्मबन्धनानि श्लथयति निरोधाभिमुखं करोति स सम्प्रज्ञातो योग इत्याख्यायते। व्यासभाष्य पृ० ६।

३. सर्वशब्दाग्रहणात् सम्प्रज्ञातोऽपि योग इत्याख्यायते। वही पृ० १२।

४. स्वप्ननिद्राज्ञानालम्बनं वा। योगसूत्र १-३८।

५. प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः। वृत्तयः पञ्चतय्यः क्लिष्टाः अक्लिष्टाश्च। वही, १.५-६।

पृष्ठ ३४२

१. अहिंसा प्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः। सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम्। अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम्, ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः, अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथन्तासम्बोधः। वही २.३५-३६।

२. शौचात्स्वाङ्गजुगुप्सा परैरसंसर्गः। वही २.४०।

३. (क) सत्त्वशुद्धिसौमनस्यैकाग्रतेन्द्रियजयात्मदर्शनयोग्यत्वानि च। वही २.४१।
   (ख) सत्त्वशुद्धिः विक्षेपकमलहीनता अन्तर्निष्ठता च ततः सौमनस्यं मनसः सौख्यमावि र्भवतीत्यर्थः। योगभास्वती पृ० २६३।

४. (क) तपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः। योगसूत्र २-१।
   (ख) कर्मविरतये योगमुद्दिश्य कर्माचरणं क्रियायोगः। भास्वती २.१ पृ० १४०।

पृष्ठ ३४३

१. (क) स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्य स्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः। योगसूत्र २.५४।
   (ख) चित्तनिरोधे चित्तवन्निरुद्धानीन्द्रियाणि नेन्द्रियजयवदुपायान्तरमपेक्षन्ते। भास्वती २.५४ पृ० २७६-२७७।

२. देशबन्धश्चितस्य धारणा, तत्र प्रत्यैकतानता ध्यानम्, तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः। योगसूत्र ३.१-३।

पृष्ठ ३४५

१. ईश्वरप्रणिधानाद्वा। योगसूत्र २.२३।

२. शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः। वही २.३२।

३. यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि। वही २.२९।

४. प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य। वही १.३४।

५. वीतरागविषयं वा चित्तम्। वही १.३७।

६. विषयवती वा प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसः स्थितिनिबन्धनी। वही १.३५।

परिशिष्ट २

योगसूत्रों में ऐतिहासिक सन्दर्भ

-स्वामी अनन्त भारती

ऐसा माना जाता है कि आयुर्वेद के आद्यग्रन्थ अथवा उपलब्ध प्राचीनतम ग्रन्थ चरक के प्रतिसंस्कर्त्ता महर्षि पतञ्जलि रहे हैं। व्याकरण शास्त्र के सर्वमान्य आचार्य पाणिनि की अष्टाध्यायी पर महाभाष्य के रचयिता भी महर्षि पतञ्जलि हैं यह सर्वविदित है और योग दर्शन तो पातञ्जल योग दर्शन के नाम से ही जाना जाता है। इसी मान्यता के आधार पर महर्षि पतञ्जलि से सम्बन्धित आदरसूचक यह पद्य भी प्रचलित है:–

'योगेन चित्तस्य पदेन वाचां मलं शरीरस्य च वैद्यकेन।
योऽपाकरोत्तं प्रवरं मुनीनां पतंजलिं प्राञ्जलिरानतोऽस्मि।'[1]

इसी प्रकार भर्तृहरि कृत वाक्यपदीयं में उपलब्धः–

'कायवाग्बुद्धिविषयाः ये मलाः समवस्थिताः
चिकित्सालक्षणाध्यात्मशास्त्रैस्तेषां विशुद्धयः।'[2]

इसी प्रकार रामभद्र दीक्षित कृत पतंजलि चरितम् में उपलब्धः–

'सूत्राणि योगशास्त्रे वैद्यकशास्त्रे च वार्त्तिकानि ततः कृत्वा पतञ्जलिः मुनिः ... .नमस्कृत्य गोणिकां जननी तस्यां त्रिदिवं गतायां तस्थौ शेषः स्वयं मुनिः।'[3] तथा चरक की टीका में उपलब्धः–

'पातंजलमहाभाष्य-चरकप्रतिसंस्कृतैः।
मनोवाक्कायदोषाणां हन्त्रेऽहिपतये नमः।'[4]

---

१. वासवदत्ता पर शिवरामकृत टीका पृ. २३६।

२. वाक्यपदीयम्। १.१४८

३. पतंजलिचरित्रम् पृ. २५–२६

४. चरक टीका पृ. १।

इत्यादि प्रमाणों से भी उपर्युक्त मान्यता की पुष्टि के संकेत मिलते हैं।

प्रायः कहा जाता है कि प्राचीन भारतीय लेखकों में ऐतिहासिक संकेतों के निबन्धन की प्रवृत्ति नहीं है, किन्तु पतञ्जलि में हम पाते हैं कि वे अपने ग्रन्थों में ऐतिहासिक संकेतों के निबन्धन में चूकते नहीं। अवसर मिलते ही वे इतिहास के चिह्न छोड़ देते हैं। उदाहरण के रूप में चरक में देखें:—

"दीर्घजीवितमन्विच्छन् भरद्वाजः उपागमत्।
इन्द्रमुग्रतपा बुद्ध्वा शरण्यममरेश्वरम्।।
ब्रह्मणा हि यथाप्रोक्तमायुर्वेदं प्रजापतिः।
जग्राह निखिलेनादावश्विनौ तु पुनस्ततः।
अश्विभ्यां भगवान् शक्रः प्रतिपेदे हि केवलम्
ऋषिप्रोक्तो भरद्वाजस्तस्माच्छक्रमुपागमत्।।"[1]

इन पद्यों में पतंजलि ने आयुर्वेद के प्रारम्भिक इतिहास का संकेत किया है। सूत्र स्थान के अन्त में उन्होंने संकेत किया है कि उस काल में भी कुछ अल्पज्ञ वावदूक चिकित्सक अहंकारपूर्वक चिकित्सा में प्रवृत्त थे और विद्वान् वैद्य प्रश्नोत्तर रूप शास्त्रार्थ के माध्यम से उनकी परीक्षा करके उन पर नियन्त्रण करने का प्रयत्न करते थे:—

'सन्ति पाल्लविकोत्पाताः संक्षोभं जनयन्ति ये।
वर्त्तकानामिवोत्पाताः सहसैवाभिभाविताः।
तस्मात्तान् पूर्वसंजल्पे सर्वत्राष्टकमाविशेत् (अष्टक ८ प्रश्न)
परावरपरीक्षार्थं तत्र शास्त्रविदां बलम्।
शब्दमात्रेण तन्त्रस्य केवलस्यैकदेशिकाः।
भ्रमन्त्यल्पबलास्तन्त्रे ज्याशब्दैनैव वर्त्तकाः।
पशुः पशुनां दौर्बल्यात् कश्चिन्मध्ये वृकायते
सः सत्यं वृकमासाद्य प्रकृतिं भजते नरः।
तद्वदज्ञोऽज्ञमध्यस्थः कश्चिन्मौखर्यसाधनः।
स्थापयत्यात्मनात्मानम् आप्तं त्वासाद्य भिद्यते।।[2]

व्याकरण महाभाष्य में भी महर्षि पतञ्जलि ने अनेक स्थलों में ऐतिहासिक सन्दर्भों का निबन्धन किया है जिनमें कुछ निम्नलिखित हैः—

---

१. चरक १.१३–५।
२. चरक सूत्र ७२–७६।

(क) वर्त्तमानेलट्सूत्रे–'प्रवृत्तस्याविरामः.....इहाधीमहे, इहावगमः, याजयामः'।[१]

(ख) वर्त्तमाने लट् सूत्रे–'प्रवृत्तस्याविरामे शासितव्याः इह पुष्यमित्रं याजयामः'।[२]

(ग) हेतुमति च सूत्रे–'पुष्यमित्रो यजते याजकाः याजयन्तिः तत्र भवितव्यम् पुष्यमित्रो याजयते याजकाः यजन्ति। याज्यादिषु चाविपर्यासो वक्तव्यः......तत्र पुष्यमित्रः करोति याजका प्रयोजयन्ति'।[३]

(घ) अनद्यतने लङ्.सूत्रे–'परोक्षे च लोकविज्ञाते प्रयोक्तुर्दर्शनविषये लङ्वक्तव्यः 'अरुणद्यवनः साकेतम्, अरुणद्यवनो माध्यमिकाम्।[४]

(ङ.) जातुयदोर्लिङ्.सूत्रे–यदि भवद्विधः क्षत्रियं याजयेत्।[५] (एक पुरोहित बने क्षत्रिय के प्रति कटाक्षपूर्ण टिप्पणी)

अपने इस उपर्युक्त स्वभाव के कारण महर्षि पतञ्जलि अत्यन्त संक्षिप्त केवल एक सौ पञ्चानवें सूत्रों वाले योग दर्शन में भी इतिहास के निबन्धन से नहीं बच सके। यह इतिहास सामाजिक या राजनैतिक न होकर योग साधना का इतिहास है। यह इतिहास समाधिपाद के मुख्यतः सात सूत्रों में और विभूतिपाद के सत्ताइस सूत्रों में देखा जा सकता है। यह संयोग की अथवा दुर्भाग्य की बात है कि इस ऐतिहासिक पक्ष पर व्याख्याकारों और विद्वानों का ध्यान नहीं गया है।

समाधिपाद में महर्षि पतंजलि ने चित्तवृत्ति निरोध के उपाय के रूप में अभ्यास और वैराग्य की समन्वित साधना का और उसके फल का संकेत करने के अनन्तर अपने समय में अथवा पूर्व समय में प्रचलित सात साधना मार्गों का उल्लेख किया है। ये साधना मार्ग हैः–ईश्वरप्रणिधान[६], प्रच्छर्दनविधारणरूप प्राणायाम विशेष[७], विषयवती प्रवत्ति[८], विशोका ज्योतिष्मती प्रवृत्ति[९], वीतरागविषयता (वैराग्य)[१०], शरीर का स्वप्न और निद्रा की स्थिति में पंहुचने पर भी ज्ञान का आलम्बन[११], और यथाभिमत

---

१. महाभाष्य ३.२.१२३
२. वही ३.२.१२३
३. वही ३.१.३६।
४. वही ३.२.१११
५. वही ३.३.१४७
६. ईश्वर प्रणिधानाद्वा। योगसूत्र १.२४
७. प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य। वही १.३५
८. विषयवती वा प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसः स्थितिनिबन्धनी। वही १.३५
९. विशोका वा ज्योतिष्मती। वही १.३६
१०. वीतरागविषयं वा चित्तम्। वही १.३७
११. स्वप्ननिद्राज्ञानालम्बनं वा। वही १.३८

ध्यान[1]। पतञजलि ने इनमें से केवल ईश्वर प्रणिधान साधना का परिचय दिया है; क्योंकि इस नाम की एक अन्य साधना उनके द्वारा प्रतिपादित अष्टांग साधना के अंग नियम और क्रियायोग साधनाओं में सम्मिलित है, किन्तु वह इससे सर्वथा भिन्न है। शेष साधनाओं की विधि का संकेत उन्होंने किञ्चित् मात्र भी नहीं किया है, नाम से भले ही उनके अनुमान का थोड़ा बहुत प्रयत्न किया जा सके। योगसूत्र के मुख्य व्याख्याकार व्यास ने और उनके परवर्ती सभी व्याख्याकारों ने इन सातों साधनाओं को पतञजलि द्वारा योगारूढ़ (उत्तम) साधकों के लिए बतलायी गयी साधना मान लिया है (उद्दिष्ट : समाहितचित्तस्य योगः कथं व्युत्थित चित्तोऽपि योगयुक्तः स्यादिति एतदारभ्यते)।[2]

मेरी बुद्धि व्यास के इस कथन को स्वीकार करने को प्रस्तुत नहीं है। इसका कारण यह है कि महर्षि पतञ्जलि चित्तवृत्ति के निरोध को योग मानते हैं। उनके अनुसार चित्त की एकाग्रभूमि योग (निरुद्धभूमि) की सोपान तो हो सकती है किन्तु अन्तिम गन्तव्य नहीं। अभ्यास वैराग्य की साधना से साधक एकाग्रभूमि के छ सोपान सवितर्क, निर्वितक, सविचार, निर्विचार, सानन्दा और अस्मितामात्र समापत्तियों (समाधियों) के सोपानों पर चढ़ता हुआ विराम प्रत्यय के अभ्यास के फलस्वरूप उस असम्प्रज्ञात समाधि के शिखर पर पहुँचता है, जहाँ चित्त की वृत्तियों का पूर्ण निरोध हो जाता है।[3] इसके विपरीत मन्त्रजपरूप ईश्वरप्रणिधान की साधना केवल आत्मतत्त्व पर एकाग्रता {एकाग्रभूमि} तक पहुंचाती है।[4] शेष छ साधनाएं आत्मतत्त्व पर भी एकाग्रता तक नहीं ले जाती। वे केवल प्रकृति के सूक्ष्मतत्त्व परमाणु एवं परममहत् (बुद्धि) तक एकाग्रता की सिद्धि देकर कृतकार्य हो जाती है।[5] अतः इन्हें महर्षि पतञ्जलि द्वारा उन दिनों साधक समाज में प्रचलित साधनाओं का संकेत अर्थात् इतिहास का निबन्धनमात्र मानना उचित होगा।

इसी प्रकार विभूतिपाद में सत्ताइस सूत्रों में पतञ्जलि ने लययोग अर्थात् यथा अभिमत ध्यान के आलम्बनों का संकेत करके उससे प्राप्त होने वाली सिद्धियों का उल्लेख किया है। जिस प्रकार जीवन में किये जाने वाले प्रत्येक कर्म का कुछ न कुछ फल अवश्य ही होता है, उसी प्रकार प्रत्येक की साधना के फल के रूप में कुछ सिद्धियां भी प्राप्त होती है। ये सिद्धियां वस्तुतः भविष्य में साधना की सोपान होती

---

१. यथाभिमतध्यानाद्वा। दही १.३९

२. योगभाष्य साधनपाद प्रथमसूत्र पर अवतरणिका।

३. विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्कारशेषोऽन्यः। यो.सू. १.१८

४. ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च। वही १.२९

५. परमाणुपरममहत्त्वन्तोऽस्यवशीकारः। वही १.४०

हैं, जिससे साधना मार्ग में आने वाली असुविधाएं दूर हों और साधना निर्विघ्न आगे बढ़ सके। कभी कभी सर्वोच्च साधना के क्रम में परीक्षा के रूप में (विघ्न के रूप में) भी तुच्छ सिद्धियां मार्ग में उपस्थित होती है। कठ उपनिषद् के नचिकेता के समक्ष समस्त लौकिक कामनाओं की पूर्ति के रूप में उपलब्धि आत्मज्ञान प्राप्ति के मार्ग में बाधा के रूप में ही उपस्थित हुई थीं,[१] नचिकेता ने जिनकी पूर्णतः उपेक्षा की थी।[२]

महर्षि पतंजलि ने भी योग साधना के मार्ग में आने वाली सिद्धियों को सर्वथा तिरस्करणीय माना है।[३] इसीलिए सत्त्वपुरुषान्यताख्याति जिसे विवेकख्याति भी कहते हैं, के प्राप्त होने पर जो सर्वभावाधिष्ठातृत्व और सर्वज्ञातृत्व की सिद्धि मिलती है, उसके प्रति भी वैराग्य आवश्यक माना है।[४] इतना ही नहीं इस स्थिति में साधक को जो सम्मान प्राप्त होता है उसे भी अनिष्टकारी ही स्वीकार किया है।[५] वे विवेकख्याति से प्राप्त सफलता को भी सफलता नहीं विघ्न मानते हैं, क्योंकि उसके प्रति राग भी धर्ममेघ समाधि में विघ्नकारी होता है।[६]

इस प्रकार विभूतियों (सिद्धियों) की प्राप्ति के लिए सत्ताईस अलग–अलग आलम्बन विशेषों पर संयम अर्थात् धारणा ध्यान समाधि का स्वयं अभ्यास करें अथवा उनका निर्देश साधकों के लिए करें यह सम्भव नहीं लगता। इस स्थिति में विभूतिपाद के सूत्र संख्या सत्रह से बावन के बीच संकेतित 'शब्दार्थ प्रत्यय' आदि आलम्बनों में संयम की साधना का संकेत[७] उनके समय में स्वार्थ साधना के लिए तत्पर योग साधकों द्वारा की जाने वाली साधनाओं का इतिहास के रूप में निबन्धन मानना ही उचित होगा।

---

१. ये ये कामाः दुर्लभा मर्त्यलोके सर्वान् कामान् छन्दतः प्रार्थयस्व। इमाः रामाः सरथाः सतूर्याः नहीदृशाः लम्भनीयाः मनुष्यैः आभिर्मत्प्रताभिः परिचारयस्व नचिकेतो मरणं मानुप्राक्षीः। कठ १.१.२५।
२. श्वोभावाः मर्त्यस्य यदन्तकैतत्..................तवैव वाहास्तव नृत्यगीते। कठ १.१.२६।
३. ते समाधावुपसर्गाः व्युत्थाने सिद्धयः। योगसूत्र ३.३७
४. सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रस्य सर्वभावाधिष्ठातृत्वं सर्वज्ञातृत्वं च। तद्वैराग्यादपि दोषबीजक्षये कैवल्यम्। वही ३.५८–५६।
५. स्थानिन्युपनिमन्त्रणे संगस्मयाकरणं पुनरनिष्टप्रसंगात्। वही ३.५१
६. प्रसंख्यानेऽप्यकुसीदस्य सर्वथा विवेकख्यातेः धर्ममेघः समाधिः। ४२६
४. योगसूत्र विभूतिपाद सूत्रसंख्या १७, १८, १६, २१, २२, २३–३२, ३४, ३५, ३८–४४, ४७, ४८, ५२।

महर्षि पतञ्जलि और क्रिया योग

–स्वामी अनन्त भारती

योग सूत्रकार महर्षि पतञ्जलि ने तपस् स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान इन तीनों की समन्वित साधना को क्रियायोग नाम दिया है (तपः स्वाध्यायेश्वर प्रणिधानानि क्रियायोगः। यो.सू.२.१) और इस साधना का परिणाम अविद्या आदि क्लेशों का तनूकरण और समाधि सिद्धि की योग्यता उत्पन्न करना बतलाया है (समाधि भावनार्थःक्लेशतनूकरणार्थश्च (यो.सू.२.२)।

योग दर्शन के विद्यार्थियों और महर्षि पतञ्जलि के निर्देशों के अनुसार योग साधना में प्रवृत्त होने वाले साधकों के मन में सहजभाव से एक प्रश्न उपस्थित होता है कि महर्षि पतञ्जलि ने एक ओर चित्तवृत्ति के निरोध के लिए अभ्यास और वैराग्य की समन्वित साधना का निर्देश किया है[१] और दूसरी ओर द्वितीय पाद के आरम्भ में क्रियायोग का प्रतिपादन किया है[२]। इसके अतिरिक्त साधना पाद में ही ईश्वर प्रणिधान से यथाभिमत ध्यान तक साधना के अन्य सात मार्गों का संकेत किया है[३] क्या ये सभी पतञ्जलि स्वीकृत साधना मार्ग हैं? यदि हां तो इनके अधिकारी क्या सभी जन हैं अथवा योग विशेष के अधिकारी अलग–अलग है?

योगसूत्र के व्याख्याकार व्यास आदि ने प्रथम पाद में वर्णित साधना विधियों को समाहित चित्त वाले अर्थात् उत्तम अधिकारियों के लिए, क्रियायोग को व्युत्थित चित्त अर्थात् मध्यम अधिकारियों के लिए और संभवतः अष्टांगयोग को तृतीय श्रेणी के

---

१. अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः। यो. सू. १.१२

२. तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः। यो. सू. २.१

३. ईश्वर प्रणिधानाद्वा। (१.२३) प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य। विषयवती वा प्रृत्तिरूत्पन्ना मनसः स्थिति निबन्धती। विशोका वा ज्योतिष्मती। वीतरागविषयं वा चितम्। स्वप्ननिद्राज्ञानालम्बनं वा। यथाभिमतध्यानाद्वा।
यो. सू. १.२३, ३४–३६।

अधिकारियों के लिए मानना चाहा है।[1] मैं इस मान्यता से सहमत नहीं हूं। पतंजलिकृत सूत्रों से ऐसा लगता है कि उनके द्वारा निर्दिष्ट मुख्य साधना अभ्यास वैराग्य की विस्तृत विधि है, जो क्रमशः समाधि के विविध सोपानों पर आगे बढ़ाती हुए असम्प्रज्ञात समाधि तक पहुंचाकर अन्त में चित्त के प्रतिप्रसव के अनन्तर कैवल्य के उच्च शिखर कर पहुंचाकर साधक की यात्रा को पूर्ण कराती है। क्रियायोग का विधान उन लोगों के लिए है, जो योग साधना के प्रतिरुचि रखते हैं, साधना में प्रवृत्त होना चाहते भी हैं, किन्तु किन्हीं कारणों से वर्त्तमान में अपेक्षित समय नहीं निकाल सकते, जिससे उनकी पूरी तैयारी हो जाए और समय मिलते ही वे यथाशीघ्र सिद्धि लाभ कर सकें।

समाधि पाद में वर्णित ईश्वर प्रणिधान (मन्त्रयोग) जो प्रपत्तिरूप नियम या क्रियायोग गत ईश्वर प्रणिधान से भिन्न है और उसके बाद की प्रच्छर्दन विधारण रूप प्राणायाम से यथाभिमत ध्यान तक की साधनाएं पतञ्जलि के समय पूर्वकाल से प्रचलित साधनाएं रही हैं, इतिहास निक्षेप के स्वभाव के कारण उन्होंने इनकी चर्चा कर दी है। उनके अनुसार ये चित्तवृत्ति निरोध तक पहुंचाती ही नहीं है। प्रणवजपरूप ईश्वर प्रणिधान आत्मसाक्षात्कार तक पहुंचाकर विराम ले लेता है (ततः प्रत्यक् चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च। यो.सू.१.२३) शेष सभी साधनाएं प्रकृति के सूक्ष्मतत्त्व परमाणु या परममहत् तक एकाग्रभूमि (सविचार समाधि) तक पहुंचाकर विराम ले लेती हैं (परमाणु परममहत्त्वन्तोस्य वशीकारः। यो.सू.१.४०) अभ्यास वैराग्य की समन्वित साधना और अन्य समाधिपाद में वर्णित सातों साधनाओं के फल में इतना बड़ा अन्तर देखते हुए सभी साधनाओं को पतंजलि निर्दिष्ट योगरूढ़ साधकों की साधनाएं मानना मानना कथमपि उचित नहीं हैं। क्रियायोग के रूप में वर्णित तपस् स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान की साधनाएं नियम साधना के अन्तर्गत साधनाएं हैं तथा इसमें तीन मार्गों का समन्वय स्पष्ट प्रकट होता है अतः इसे अष्टांगयोग का अंग और उसकी तैयारी मानना उचित होगा।

क्रियायोग :—जैसा कि ऊपर संकेत किया जा चुका है क्रियायोग तपस् स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान (प्रपत्ति) की समन्वित साधना है इन तीनों साधनाओं की शौच और सन्तोष के साथ अष्टांगयोग के द्वितीय अंग नियमों में भी संकलित किया गया है (तपः स्वाध्यायेश्वर प्रणिधानानि क्रियायोगः। यो.सू.२.१ 'शौचसन्तोषतपः स्वाध्यायेश्वर

---

१. (क) उक्तः समाहितचित्तस्य योगः, कथं व्युत्थितचित्तोऽपि योगयुक्त स्यादित्येतदारभ्यते। यो. सू. २.१ की अवतरणिका।
(ख) योगाधिकारिणस्त्रिविधाः मन्दमध्यमोत्तमाः, क्रमेण रूरुक्षु युञ्जान योगारूढरूपाः। ....योगारूढाः यथा जडभरतादयस्तेषामभ्यासवैराग्याभ्यामेव योगनिष्पत्तिः,.......... .व्युत्थित चित्तस्य मध्यमाधिकारिणो वानप्रस्थादेः क्रियायोगरूपं साधनमाह तपः स्वाध्यायेत्यादि। योग—नागोजिवृत्ति २.२ अवतरणिका।

प्रणिधानानि नियमाः।' यो.सू.२.३२)। क्रियायोग अष्टांगयोग का विकल्प नहीं है, इसे उसकी तैयारी भले ही कहा जा सकता है। अष्टांगयोग की साधना का परिणाम विवेकख्याति (सत्त्वपुरुषान्याख्याति) पूर्ण ज्ञान है, जहां अविद्या आदि क्लेशों के शेष रहने की सम्भावना ही नहीं है, जब कि क्रियायोग से अविद्या आदि क्लेशों को तनूकरण होता है अर्थात् ये क्लेश निर्बल हो जाते हैं, किन्तु विलीन नहीं होते हैं। इसके अतिरिक्त अष्टांग योग साधना में सर्वोच्च समाधि (असम्प्रज्ञात समाधि) सिद्ध होती है, जब कि क्रियायोग की साधना समाधि सिद्धि की योग्यता उत्पन्न करती है (समाधिभावनार्थः क्लेशतनूकरणार्थश्च। यो.सू.२.२)। अभ्यास–वैराग्य समष्टि की साधना, जिसकी व्याख्या अष्टांग योग है, योगारूढ़ उत्तम साधकों के लिए है और क्रियायोग आरुरूक्षु मध्यम साधक के लिए है यह मानना भी उचित नहीं है क्योंकि क्रियायोग के अंग तपस् स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान की साधना नियम के अन्तर्गत अष्टांगयोग के साधक को भी करनी है। क्रिया योग की साधनाएं वस्तुतः योग के द्वितीय अंग से ली गयी इसकी सूचना हमें इस बात से मिलती है कि तपस् आदि की साधना का फल क्रियायोग के प्रकरण में न देकर नियमों के प्रकरण में ही दिया गया है।

तपस् :-वर्त्तमान काल में तप का अर्थ विशेष प्रकार की वेषभूषा व्याघ्र चर्म या मृग चर्म पहनना, या दिगम्बर रहना आदि, विविध आहार द्रव्यों का त्याग जैसे नमक नहीं लेना, केवल कुछ आहार द्रव्यों पर रहना जैसे केवल दूध पर या केवल फलों पर रहना, शरीर को किसी विशेष स्थिति में ही रखना जैसे सदा खड़े रहना, एक हाथ ऊपर उठाकर रहना अथवा कृत्रिम रूप से कष्टप्रद स्थिति बनाकर रहना जैसे ग्रीष्म में चारों ओर अग्नि जलाकर मध्य में बैठना, शीत में जलाश्य में रहना या खुले में नग्न शरीर होकर रहना आदि माना जा रहा है। यह सब शरीर शोषण है, पंचम क्लेश अभिनिवेश है। इनसे योग में सिद्धि नहीं मिलती अपितु ये सब योग के विरोधी हैं। कहा भी हैः–

नात्यश्नतस्तु योगोस्ति न चैकान्तमनश्नतः।
न चाति स्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन।।
युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा।।

-भगवनदीता ६.१६-१७।

तपस् के दो अर्थ किये जा सकते हैं–विपरीत परिस्थितियों में भी विचलित न होना, व्यग्र न होना, अपितु उन्हें भविष्य में परिणाम में शुभप्रद मानना। जैसे वृक्षों की कटाई–छंटाई उन्हें पुष्ट औरं सुन्दर बनाती है। दूसरे शब्दों में संकटों का स्वागत करने को सदा सहर्ष प्रस्तुत रहना।

तपस् का दूसरा तात्पर्य यह हो सकता है निरन्तर कर्म करते हुए, लक्ष्य की ओर बढ़ते हुए न कभी थकावट का अनुभव करना, न व्यथित होना,. फल की चिन्ता

किये बिना निरन्तर कर्मशील बने रहना और निरन्तर अनुभव अर्जित करना। इसे ही बहुधा कर्म योग कहा जाता है।

स्वाध्यायः-क्रिया योग का द्वितीय अंग स्वाध्याय है। स्वाध्याय का तात्पर्य है ज्ञानार्जन के लिए सतत् प्रयत्नशील रहना। प्रणव आदि मन्त्रों का जप भी स्वाध्याय में सम्मिलित है (प्रणवादिमन्त्रणां जपः मोक्ष शास्त्रध्ययनं वां (यो.भा.२.१)। अध्यात्म साहित्य (आत्मज्ञान से सम्बन्धित साहित्य) का अध्ययन करना। स्मरणीय है कि अध्ययन के चार सोपान है :—आगम स्वाध्याय प्रवचन और व्यवहार। आगमकाल का अर्थ है प्रवचन आदि को सुनकर और ग्रन्थों को पढ़कर सीखना। द्वितीय सोपान स्वाध्याय का अर्थ है चिन्तन मनन, सुने हुए पढ़े हुए विषय पर गम्भीरतापूर्वक विचार करना। तृतीय सोपान प्रवचन का तात्पर्य है अनेक लोगों से परिचर्चा करना। इससे सम्बद्ध विषय की विविध गुत्थियाँ खुल जाती हैं। अध्ययन का चतुर्थ सोपान है, व्यवहार, ज्ञान को अपने जीवन में व्यवहार में उतारना।[1] इसे ज्ञानयोग कहते हैं।

अध्यात्म साधना में मन्त्र ज़प का भी अतिशय महत्त्व है। जप में मन्त्र का जप करते हुए उसके अर्थ का चिन्तन का चिन्तन किया जाता है (तज्जपः तदर्थ भावनम्। यो.सू.१.२८)। प्राचीन काल से मन्त्र जप को योग की एक मुख्य साधना के रूप में स्वीकार किया जाता है (मन्त्रयोगो लयश्चैव हठयोगस्तथैव च। राजयोगश्चतुर्थः स्याद् योगानामुत्तमस्तु सः। दत्तात्रेय योगशास्त्रः)। अर्थभावना पूर्वक मन्त्र जप करने से आराध्य के अनन्त कल्याण गुणों का बोध होता है चित्त में उनका निरन्तर स्मरण होता है। इस प्रकार मन्त्र जप से भी अविद्या आदि क्लेशों का तनूकरण होता है।

ईश्वर प्रणिधानः-क्रियायोग और नियम का अंगभूत ईश्वर प्रणिधान साधन पाद में वर्णित प्रणव जप रूप ईश्वर प्रणिधान से सर्वथा भिन्न है। क्योंकि प्रणव आदि मन्त्रों का जप स्वाध्याय में समाहित हो चुका है। यहां ईश्वर प्रणिधान का अर्थ है प्रपत्ति, परमगुरु परमेश्वर के प्रति सम्पूर्णतया समर्पण {ईश्वर प्रणिधानं क्रियाणां परमगुरावर्पणम् तत्फलसंन्यासो वा। यो.भा. २.१. पृ० १३६, 'तस्मिन् परमगुरौ सर्वकर्मार्पणम्'। यो.भा.२. ३२ पृ० २४३)। अपने समस्त कर्मों को परम प्रभु परमेश्वर के प्रति पूर्ण समर्पण और सुख दुःख आदि जो भी भोग प्राप्त हो उन्हें प्रभु का प्रसाद मानकर प्रसन्नतापूर्वक उसकी स्वीकृति। मन में अनुकूल और प्रतिकूल दोनों प्रकार की परिस्थितियों को प्रसाद के रूप में ग्रहण करना। इसे भक्तियोग भी माना जाता है।

इस प्रकार तपस् के नाम से कर्मयोग स्वाध्याय के नाम से ज्ञानयोग एवं ईश्वर प्रणिधान के नाम से भक्तियोग की समन्वित साधना का नाम क्रियायोग जिन्हें अष्टांगयोग की साधना के लिए अवसर नहीं मिलता, वे क्रिया योग की साधना करते हुए क्लेशों का तनूकरण और समाधिलाभ की योग्यता प्राप्त कर लेते हैं, जिससे जब भी अवसर मिले वे योग साधना के उच्चतम शिखर पर पहुंच सकें।

---

१. चतुर्भिःप्रकारैविद्योपयुक्त भवति आगमकालेन स्वाध्यायकालेन प्रवचनकालेन व्यवहारकालेनेति।

चित्तवृत्ति निरोध और उसकी पूर्व पीठिकाएं

-स्वामी अनन्त भारती

महर्षि पतंजलि ने योग को चितवृत्तिनिरोध द्वारा परिभाषित किया है (योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः। यो.सू.१.२) चित्तवृत्तियों के निरोध को समझने के लिए चित्त के स्वरूप की जिज्ञासा होती है। चित्त अन्तःकरण अर्थात् अन्तर इन्द्रियों में अन्यतम है। मानव शरीर में ज्ञान के स्थूल साधन पांच ज्ञान इन्द्रियां हैं और चार सूक्ष्म साधन मन बुद्धि चित्त और अंहकार ये अन्तर् इन्द्रियां हैं। इन्हें प्रायः अन्तःकरण के नाम से जानते हैं। इनमें मन का कार्य ज्ञानेन्द्रियों को प्रेरित कर उनके द्वारा अर्जित ज्ञान विषय को चित्त तक पहुंचाना और कर्मेन्द्रियों को उनके कार्य में व्याप्त करना है। अहंकार का कार्य प्रत्येक अनुभव को संस्कार के रूप में सुरक्षित रखना और उपयोग के समय उन संस्कारों को जागृत करके स्मृति के रूप में चित्त में उपस्थापित करना है। बुद्धि चित्त में उपस्थापित सामग्री के यथोचित विश्लेषण का कार्य करती है।

चित्त, जिसे योग दर्शन की परम्परा में शुद्ध सत्व या दर्शन भी कहा जाता है, और शुद्ध अभिजात्य स्फटिक मणि के सदृश माना गया है, में ही पुरुषतत्व (आत्मतत्व) का संयोग होता है जिसके फलस्वरूप वह और उसके सम्पर्क से शरीर के सभी अंग प्रत्यंग चेतनवत् हो जाते हैं और इसमें ही इन्द्रियों के माध्यम से मन द्वारा उपस्थापित सभी विषय प्रतिबिम्बित होते हैं। दूसरी ओर पुरुषतत्त्व, इसमें प्रतिबिम्बित होने पर इसके तद्रूप होने से स्वयं को उससे अभिन्न मानने का भ्रम कर बैठता है, साथ ही उसमें प्रतिबिम्बित विषयों से सम्बन्ध मानकर सुख दुःख का भोग करता है। योग साधना की सर्वोच्च स्थिति में पहुंचने पर जब विवेकज ज्ञान के फलस्वरूप सत्त्व; चित्त और पुरुष में अन्यता का बोध होता है, तब पुरुष को कैवल्य लाभ होता है।

अहंकार मन और इन्द्रियों के माध्यम से चित्त में विषयों की जो उपस्थिति होती है, उस क्रमिक उपस्थिति को चित्त की वृत्ति अथवा चित्त का व्यापार कहते हैं। योग साधना के अन्तिम तीन अंग धारणा ध्यान समाधि, जिन्हें एक शब्द में संयम भी कहते हैं, के अभ्यास द्वारा इन वृत्तियों के नियमन का अथवा पूर्णतया निरोध का प्रयत्न किया जाता है। विषयों के सम्पर्क से युक्त अथवा पुरुष सहित समस्त विषयों के

सम्पर्क से रहित चित्त की वृत्तियों के आधिक्य, उनकी न्यूनता अथवा पूर्णयता अभाव के आधार पर चित्त की असंख्य भूमियां हो सकती हैं, किन्तु समझने के लिए संक्षेप में चित्त की पांच भूमियां मान ली गई हैं। ये हैं—क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध। इनका संक्षिप्त परिचय निम्नांकित हैः—

क्षिप्त :-चित्त की उस अवस्था को क्षिप्त कहते हैं, जिसमें चित्त विविध संस्कारों से युक्त रहता है; साथ ही उसमें एकाग्रता अथवा निरोध करने की इच्छा का अभाव रहता है इसी कारण वह निरन्तर अस्थिर और भ्रमणशील रहता है (तत्र यदा संस्कार-धर्मकं चित्तं तत्त्वसमाधानचिकीर्षाहीनं सदैवास्थिरं भ्रमति तदास्य क्षिप्ता भूमिः। योग भास्वती पृ० ८)।

मूढ़ :-चित्त की वह अवस्था मूढ़ कहलाती है, जब वह संस्कारों से सम्पृक्त होने के साथ प्रबल राग आदि के कारण मोह के वश में होता है (तादृशस्यापि प्रबल रागादि मोहवशस्य चित्तस्य या मूढ़ावस्था सा मूढ़ा भूमिः। योग भास्वती पृ० ८)।

विक्षिप्ताभूमि :-चित्त की विक्षिप्त अवस्था क्षिप्त के सदृश किन्तु उससे भिन्न अवस्था है। इस अवस्था में चित्त कभी—कभी समाहित होता है, चित्त में समाहित होने की इच्छा भी विद्यमान रहती है, साथ ही तत्त्वज्ञान के लाभ के लिए प्रयत्न भी रहता है (क्षिप्ताद् विशिष्टभूमिकं चित्तं तत्र कादाचित्कं समाधानं समाधानचिकीर्षा च तत्त्वज्ञानसमाधानं च दृश्यते। योग भास्वती पृ० ८)।

एकाग्र भूमि : चित्त की एकाग्र अवस्था (एकाग्र भूमि) वह है जब चित्त अभीष्ट विषय में निरन्तर स्थिर रहता है (अभीष्टविषये सदैव स्थितिशीला चित्तावस्था एकाग्रभूमिः। योग भास्वती पृ० ८)। सम्प्रज्ञात समाधि के सभी प्रकार एकाग्र भूमि के अन्तर्गत समाहित होते हैं।

निरुद्ध भूमि :-चित्त की इस भूमि में प्रायः सभी वृत्तियों का विलय हो चुका रहता है। ज्ञाता ज्ञान और ज्ञेय तीनों का बोध इस भूमि में नहीं रह जाता (सर्ववृत्ति-निरोधप्राया चित्तावस्था निरुद्धभूमिः। योग भास्वती पृ० ८) असम्प्रज्ञात समाधि चित्त की निरुद्ध अवस्था में ही सिद्ध होती है।

उपर्युक्त चित्त की अवस्थाओं (चित्त भूमियों) में से क्षिप्त और मूढ़ अवस्थाएं योग की सीमा में नहीं आतीं। विक्षिप्त अवस्था योगाभिमुख अवस्था कही जा सकती है। एकाग्र भूमि में प्रवेश की अवस्था धारणा और उसके बाद की अवस्थाएं क्रमशः ध्यान सविर्तक—सम्प्रज्ञात समाधि, निवतर्क—सम्प्रज्ञात समाधि, सविचार—सम्प्रज्ञात समाधि, निर्विचार सम्प्रज्ञात समाधि, सानन्दा सम्प्रज्ञात समाधि और अस्मितामात्र (निरानन्दा) सम्प्रज्ञात समाधि सभी चित्त की एकाग्र भूमि में ही हुआ करती हैं।

धारणा :-किसी आलम्बन में चित्त की किञ्चित्कालीन स्थिति को धारणा कहते हैं। (देशबन्धश्चित्तस्य धारणा। यो. सू.३.१)।

ध्यानः- महर्षि कपिल ने यद्यपि विषयों से सर्वथा रहित चित्त की स्थिति को ध्यान कहा है। (ध्यानं निर्विषयम्मनः। सांख्य सू. ३.१), जो योगसूत्रकार महर्षि पतञ्जलि की असम्प्रज्ञात समाधि के समान है; किन्तु पतञ्जलि ने साधना के क्रम में चित्त की एकाग्रता जब कुछ बनने लगे, एकतानता आने लगे उस स्थिति को, जो स्थूलतम समाधि की पूर्व पीठिका है, को ध्यान माना है (तत्र प्रत्यैकतानता ध्यानम्। यो. सू. ३.२) चित्त की यह स्थिति धारणा और सवितर्क सम्प्रज्ञात समाधि के मध्य की स्थिरता की अवस्था है।

समाधिः- समाधि के दो प्रकार हैं, एकाग्र भूमिगत सम्प्रज्ञात समाधि और निरुद्ध भूमिगत असम्प्रज्ञात समाधि। आलम्बन और चित्त की स्थिरता के स्तर के आधार पर सम्प्रज्ञात समाधि के छ प्रकार हैं। स्थूल इन्द्रियग्राह्य पदार्थ जब चित्त का आलम्बन होता है तब सवितर्क और निर्वितर्क सम्प्रज्ञात समाधि और सूक्ष्म (प्राकृतिक) आलम्बन की स्थिति में सविचार और निर्विचार समाधियां होती हैं। जब चित्त की एकाग्रता हेतु आलम्बन पुरुष (आत्मतत्त्व) होता है, तब सानन्दा और अस्मिता मात्र समाधियां होती हैं।

सवितर्क समाधि :-चित्त की पूर्ण एकाग्रता ही समाधि है यह प्रायः माना जाता है। चित्त जब किसी इन्द्रियग्राह्य स्थूल आलम्बन में स्थिर होता है, साथ ही उस पदार्थ के सम्बन्ध में अन्तःकरण में (अहंकार में, कुछ विद्वानों के अनुसार चित्त में) उस पदार्थ के सम्बन्ध में विद्यमान संस्कार भी उद्‌बुद्ध होकर स्मृति के रूप में जुड़ते हैं, फलतः आकृति नाम गुण धर्म सहित आलम्बन का बोध होता है। उस संश्लिष्ट बोधयुक्त चित्त की स्थिरता को सवितर्क सम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं। इस स्थिति में चित्त का आलम्बन यद्यपि एक स्थूल पदार्थ होता है, अतः भले ही आप इसे चित्त की पूर्ण एकाग्रता कहना चाहे, किन्तु उक्त स्थूल पदार्थ के अतिरिक्त उसके विषय में संस्कार में विद्यमान आकृति जाति नाम गुण धर्म आदि का भी बोध रहता है अतः इसे स्थूल विषयक चित्त की पूर्ण एकाग्रता कहना उचित नहीं है। इसीलिए पतञ्जलि ने इसे 'शब्दार्थज्ञानविकल्पैः संकीर्णा सवितर्का' (यो. सू. १.४२) कहा है। इस समाधि में यद्यपि समाधि का मूल लक्षण 'तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः' {यो. सू. १.४३} घटित नहीं होता, तथापि समाधि के अति निकट होने के कारण इसे भी समाधि मान लिया गया है। अन्यथा इसे ध्यान की उत्कृष्ट अवस्था कहना अधिक उचित होगा।

निर्वितर्क समाधि :-सम्प्रज्ञात समाधि की द्वितीय अवस्था निर्वितर्क समाधि है। सवितर्क के समान इसमें भी आलम्बन स्थूल अर्थात इन्द्रियों से ग्रहण के योग्य विषय

होता है, किन्तु अन्तःकरण में विद्यमान उस आलम्बन विषयक संस्कार चित्त की एकाग्रता के कारण दब जाते हैं, उनकी स्मृति मिट जाती है आलम्बन की पहचान नहीं रहती। यह कोई पदार्थ है, बस इतना बोध चित्त में रहता है (स्मृतिपरिशुद्धौ स्वरूपशून्येवार्थमात्रनिर्भासा निर्वितर्का। योग १.४३) समाधि का पूर्ण लक्षण यहाँ पूर्णतः घटित होता है।

सविचार समाधि :- इससे पूर्व वर्णित सवितर्क और निर्वितर्क समाधियां स्थूल विषयक हैं अर्थात् आलम्बन इन्द्रियग्राह्य होते हैं। यह समाधि सूक्ष्म पदार्थ विषयक हैं अर्थात् इस समाधि के समय चित्त का आलम्बन इन्द्रियग्राह्य नहीं होता। पांचों महाभूतों के परमाणु इन्द्रियां अथवा चारों अन्तःकरणों में अन्यतम ये सब ही इस समाधि में चित्त के आलम्बन हो सकते हैं। साथ ही उन सूक्ष्म पदार्थों से सम्बन्धित संस्कार के रूप में विद्यमान ज्ञान भी स्मृति के रूप में उद्‌बुद्ध होकर चित्त में एकाग्रता के आलम्बन होते हैं। तात्पर्य यह है कि सवितर्क समाधि से इसमें अन्तर केवल इतना ही है कि इसमें आलम्बन सूक्ष्म विषय होता है ('एतयैव सविचारा निर्विचारा च सूक्ष्मविषया व्याख्यता'। यो. सू.१.४४। 'भूतसूक्ष्मेष्वभिव्यक्तधर्मकेषु देशकालनिमित्तानुभवावछिन्नेषु या समापत्ति सा सविचारेत्युच्यते। यो. भा.१.४४)

निर्विचार समाधि :-सूक्ष्म आलम्बन में जब चित्त की वृत्ति इतनी एकाग्र हो जाए कि अन्तःकरण (अहंकार) में विद्यमान संस्कारों से उत्पन्न स्मृति भी विलीन हो जाए, सूक्ष्म अर्थमात्र की वृत्ति ही शेष रहे तो चित्त की उस भूमि को निर्विचार समाधि कहते हैं। निर्विचार समाधि के आलम्बन नेत्र आदि बाह्य इन्द्रियों से गृहीत न होने वाले सभी प्राकृतिक विकार अथवा मूल प्रकृति हो सकती है।

सानन्दा समाधि :-इस समाधि में चित्त का आलम्बन आत्मतत्त्व (पुरुष) होता है। आत्मतत्त्व प्रकृति और उसके विकारों से सर्वथा भिन्न पदार्थ है। सवितर्क अथवा सविचार समाधियों में जिस प्रकार स्थूल अथवा सूक्ष्म आलम्बन के साथ उस आलम्बन से सम्बन्धित नाम गुण धर्म का बोध भी चित्त में बना रहता है उसी प्रकार इस समाधि में भी आलम्बन आत्मतत्त्व के नाम गुण धर्म आनन्द आदि का बोध चित्त में होने से इसे **सानन्दा समाधि** कहते हैं।

अस्मितामात्र :-एकाग्र भूमि में होने वाली समाधि की यह सर्वोच्च स्थिति है। इस समाधि में गुण धर्म (आनन्द) के बोध से रहित आत्मतत्त्व की सत्तामात्र चित्त का आलम्बन होती है, इसलिए इसे अस्मितामात्र सम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं।

असम्प्रज्ञात समाधि :-चित्त की वृत्तियों का सम्पूर्णतया निरोध होने पर असम्प्रज्ञात समाधि होती है। यह निरुद्ध भूमि में होने वाली समाधि है। इस समाधि में चित्त में कोई वृत्ति नहीं रहती। ज्ञाता ज्ञान ज्ञेय की त्रिपुटी भी विलीन हो जाती

है अतः इस समाधि को असम्प्रज्ञात समाधि नाम दिया गया है। यह योग की पूर्ण अवस्था है। यहां पहुँचते–पहुँचते चित्त वृत्तियों का पूर्ण निरोध हो जाता है (योगश्चित्त वृत्तिनिरोधः। यो. सू.१.२)।

इस प्रकार चित्तवृत्तिनिरोधरूपी योग की यात्रा धारणा से प्रारम्भ होती है और साधक क्रमशः ध्यान सवितर्क निर्वितर्क सविचार निर्विचार सानन्दा और अस्मितामात्र सम्प्रज्ञात समाधि के सोपानों पर चढ़ता हुआ चित्तवृत्ति निरोधरूप असम्प्रज्ञात समाधि तक पहुँचता है।

असम्प्रज्ञात समाधि के सोपान

-स्वामी अनन्त भारती

पुरुषार्थ चतुष्टय–धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष में अन्तिम लक्ष्य मोक्ष। मोक्ष की प्राप्ति के लिए योग सर्वोत्तम उपाय है। योग की साधना के क्रम में एक विशेष स्थिति में पहुंचने पर साधक में 'ऋतम्भरा प्रज्ञा' का उदय होता है। यह प्रज्ञा शास्त्र अथवा अनुमान प्रमाणों से प्राप्त प्रज्ञा (ज्ञान) से सर्वथा भिन्न होती है। अनुभव रूप सभी ज्ञान चित्त में संस्कारों को उत्पन्न करता है। इस संस्कार को ही सामान्य भाषा में 'वासना या कर्म संस्कार' कहते हैं। इनकी समष्टि का शास्त्रीय नाम ही कर्माशय है, जो जन्म जन्मान्तर का हेतु है। 'ऋतम्भरा प्रज्ञा' से भी संस्कार उत्पन्न होते हैं। किन्तु इनकी विशेषता है कि ये संस्कार जन्म जन्मान्तर से विद्यमान पूर्व संस्कारों का नाश कर देते हैं।[1] जैसा कि श्रीमद् भगवद्गीता में कहा गया है–

"ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा।।[2]

अर्थात् ज्ञान (तत्त्वज्ञान) रूपी अग्नि सभी कर्मों का भस्मसात् कर देती है। कालान्तर में ऋतम्भरा–प्रज्ञा से उत्पन्न संस्कार ठीक उसी प्रकार स्वयं नष्ट हो जाते हैं, जिस प्रकार ईंधन के समाप्त हो जाने पर अग्नि स्वयं नष्ट हो जाती है। क्योंकि संस्कार ही जन्म जन्मान्तर के बीज होते हैं, अतः उनके नष्ट हो जाने पर चित्त निर्बीज (संस्कार रहित) हो जाता है। अतः चित्त की उस स्थिति को निर्बीज समाधि कहते है।[3] चित्त के संस्काररूप जन्मबीज के नष्ट हो जाने के कारण ही योगी मुक्त हो जाता है, अर्थात् मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। इस स्थिति में योगी जब तक अपने पूर्व शरीर को धारण किये रहता है–तब तक जीवन्मुक्त कहलाता है और शरीर त्याग के बाद पूर्ण मुक्त कहा जाता है। इस अवस्था में पुरुष (जीवात्मा) के साथ न कारण शरीर (संस्कार या कर्माशय) आदि शरीर रहते हैं। न अन्नमय, प्राणामय आदि कोष। अर्थात् प्रकृति के समस्त विकारों के साथ उसका सम्बन्ध समाप्त हो जाता है। इतना

---

१. तज्जः संस्कारोऽन्यसंस्कारप्रतिबन्धी। योगसूत्र १.५०।

२. भगवद्गीता ४।३७

३. तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधात् निर्बीजः समाधिः। योगसूत्र १।५१

ही नहीं सत्त्व, रजस्, तमस् की साम्यावस्था रूप प्रकृति से भी उसका कोई सम्बन्ध नहीं रह जाता। इसलिए इस अवस्था को कैवल्य कहते हैं। चित्त भी प्रकृति का विकार है, इस अवस्था में उसके सम्बन्ध का भी लय हो जाता है,[1] फलतः ज्ञाता ज्ञान (ज्ञान का साधन) और ज्ञेय की त्रिपुटी भी नहीं रहती, यह चित्त की पूर्ण निरुद्ध अवस्था है, इसीलिए इस अवस्था का नाम असम्प्रज्ञात समाधि है[2] यही योग की पूर्ण अवस्था है, जिसका वर्णन योगसूत्रकार पतञ्जलि ने 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः'[3] सूत्र द्वारा किया है।

चित्त की असामान्य अथवा सामान्य चंचलता की अवस्था से लेकर उसकी पूर्ण निरुद्ध अवस्था के बीच उस की असंख्य स्थितियाँ होती हैं। चित्त की इन स्थितियों को ही योग के ग्रन्थों में चित्त–भूमियों के नाम से जाना जाता है। स्थूलरूप से चित्त की इन अनन्त स्थितियों को पाँच विभागों में विभक्त किया जाता है। योगसूत्र के व्याख्याकार व्यास ने इन्हें क्षिप्त, विक्षिप्त, मूढ, एकाग्र और निरुद्ध इन पांच नामों से स्मरण किया है। जब चित्त में रजोगुण का अतिशय प्राधान्य रहता है, तब चित्त अतिशय चंचल रहता है, थोड़ी देर के लिए भी स्थिर नहीं होता, चित्त की इस अवस्था को क्षिप्तावस्था या क्षिप्त चित्तभूमि कहते हैं। चित्त की उस अवस्था को, जिसमें वह कभी कुछ काल के लिए स्थिरता प्राप्त करता है, किन्तु दूसरे ही क्षण दूसरे विषय पर पहुंच जाता है, विक्षिप्त अवस्था अथवा विक्षिप्त चित्तभूमि कहते हैं। चित्त की इस अवस्था में भी रजोगुण की ही प्रधानता रहती है किन्तु क्षिप्त अवस्था की अपेक्षा इसमें सत्त्व का उद्रेक अधिक रहता है। मूढ चित्त–भूमि में तमोगुण की प्रधानता रहती है। इस अवस्था में ज्ञान दबा हुआ रहता है। पुरुष विवेकहीन होता है। चित्त में जब तमोगुण और रजोगुण का प्रभाव न्यूनतम या न्यूनतर होता है और सत्त्वगुण की प्रधानता रहती है उस अवस्था में चित्त अपने अभीष्ट विषय पर स्थिर रहने लगता है और क्रमशः उस पर स्थिर हो जाता है। चित्त का आश्रयभूत यह विषय परम पिता परमेश्वर भी हो सकता है और प्रकृति विकारभूत कोई स्थूल या सूक्ष्म पदार्थ भी। चित्त की इस अवस्था का नाम एकाग्र अवस्था अथवा एकाग्र चित्तभूमि है। यद्यपि यह अवस्था पूर्ण योग की अवस्था नहीं है, किन्तु योग के अत्यन्त निकट की अवस्था है।

महर्षि पतंजलि के अ़नुसार योग की पूर्ण अवस्था वह है, जब चित्त किसी भी विषय का चिन्तन न कर के प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा अथवा स्मृति इन सभी

---

१. पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति। योगसूत्र ४।३४

२. विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वकः संस्कारशेषोऽन्यः। योग० १।१८।

३. योगसूत्र १।२

वृत्तियों से रहित हो जाता है। योग की परिभाषा देते हुए उन्होंने कहा भी है—**'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः।'** अर्थात् चित्त की वृत्तियों का निरोध अर्थात् चित्त की निरुद्ध अवस्था (निरुद्ध चित्तभूमि) का नाम योग है। यही अवस्था असम्प्रज्ञात समाधि की अवस्था है। सम्प्रज्ञात समाधि के नाम से विदित सवितर्क, निर्वितर्क, सविचार, निर्विचार, सानन्दा और अस्मिता मात्र समाधि की अवस्थाएं चित्त की एकाग्र भूमि की अवस्थाएँ हैं, निरुद्ध भूमि की नहीं। इसी कारण ये अवस्थाएं योग की पूर्ण अवस्थाएं नहीं हैं। किन्तु जिस प्रकार जब कोई व्यक्ति दिल्ली, पटना, कलकत्ता, बम्बई, या मद्रास के लिए घर से प्रस्थान कर लेता है तो चाहे वह ट्रेन, बस, कार, या वायुयान से यात्रा कर रहा हो अथवा अपने नगर या मुहल्ले में ही यात्रामार्ग में हो, किन्तु किसी के द्वारा उसके विषय में पूछने पर सर्वसाधारण द्वारा एकमात्र यही उत्तर दिया जाता है कि वे दिल्ली आदि अमुक स्थान पर गये हैं। ठीक इसी प्रकार चित्तवृत्ति निरोध हेतु आचार्यों द्वारा बताये गये साधना–मार्ग पर साधना प्रारम्भ करने पर उस साधना के सभी स्तरों को योग–साधना कहा जाता है।

योग की इस पूर्ण अवस्था तक पहुँचने के लिए महर्षि पतंजलि ने अभ्यास और वैराग्य इन दोनों की समष्टि साधना को एकमात्र उपाय के रूप में माना है।[1] यद्यपि वे उनके समय में अथवा उनसे पूर्वकाल में प्रचलित मन्त्रजपरूप ईश्वर–प्रणिधान, प्राणों के प्रच्छर्दन, विधारण रूप प्राणायाम आदि सात अन्य उपायों की ओर भी संकेत करते हैं[2]। किन्तु वहीं उन्होंने अपनी टिप्पणी भी कर दी है—कि मन्त्र–जपरूप ईश्वर–प्रणिधान से साधक केवल आत्मदर्शन तक पहुंचता है[3] जब कि प्राणों के प्रच्छर्दन विधारण (रेचक–पूरक) प्राणायाम आदि साधना–मार्गों से योगी परमाणु अथवा परम महत् तत्त्व पर्यन्त प्राकृतिक सूक्ष्मतम पदार्थ में चित्त को एकाग्र करने की योग्यता ही प्राप्त कर पाता है, इससे अधिक नहीं।[4]

अभ्यास वैराग्य रूपं साधना की व्याख्या महर्षि पतंजलि ने योग के आठ अंगों के रूप में की है। ये अंग हैं यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि[5] इनमें अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह की साधना समष्टि

---

१. अभ्यासवैरायाभ्यां तन्निरोधः। योगसूत्र १।१२

२. ईश्वरप्रणिधानाद्वा (१।२३) प्रच्छर्दन–विधारणाभ्यां वा प्राणस्य, विषयवती वा प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसः स्थितिनिबन्धनी। विशोका च ज्योतिष्मती। वीतरागविषयं वा चित्तम्। स्वप्ननिद्राज्ञानालम्बनं वा। यथाभिमतध्यानाद्वा। योगसूत्र १।२३, ३४, ३६

३. ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च। योगसूत्र १।२६।

४. परमाणुपरममहत्वोऽस्य वशीकारः। योगसूत्र १।४०

५. यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावंगानि। योगसूत्र २।२६

(समाज) के बीच रहकर की जाने वाली साधना है। पूर्ण एकान्त, प्राणियों से शून्य स्थल पर न हिंसा हो सकती है, न असत्य व्यवहार, ब्रह्मचर्य का महत्त्व भी तभी है जब मन को डिगाने वाली अब्रह्मचर्य की हेतु भूत परिस्थितियाँ और रति आदि भावों का आलम्बन विद्यमान हो। अपरिग्रह का महत्त्व भी समाज के बीच ही है। सर्वथा एकान्त निर्जन प्राणीशून्य स्थल पर तो वह अकेला ही सभी प्राकृतिक उपादानों का निर्बाध भोक्ता होगा। ऐसी स्थिति में वह संग्रह के लिए श्रम ही क्यों करना चाहेगा किन्तु यमों की यह साधना वैराग्य की साधना है। लोभ, मोह और क्रोध की निवृत्ति की साधना है। क्योंकि अप्राप्त की प्राप्ति की कामना रूप लोभ, प्राप्त के अवियोग की कामना रूप मोह और इन दोनों कामनाओं की पूर्त्ति में बाधक के प्रति प्रतिक्रिया उत्पन्न होने वाला क्रोध ये तीन ही हिंसा आदि वितर्कों के मूल कारण है।[1]लोभ और मोह की पूर्ण निर्वृत्ति हो जाना ही तो पूर्ण वैराग्य है। अतः इनकी निवृत्ति की साधना ही यमों की साधना है जो आदि से अन्त तक अर्थात् असमम्प्रज्ञात समाधि सिद्धि के पूर्व तक चलती है। इसीलिए मैंने पूर्व पंक्तियों में योग के प्रथम अंग अहिंसा आदि यमों की साधना को वैराग्य सिद्धि के लिए की जाने वाली साधना कहा है। महर्षि पतंजलि ने 'तद् वैराग्यादपि दोषबीजक्षये कैवल्यम्'।[2] सूत्र में कैवल्य सिद्धि के पूर्व तक वैराग्य की साधना को अनिवार्य कहा है। अन्यथा किसी भी योग की स्थिति को सिद्धि मानकर उस सिद्धि के प्रतिराग होने पर साधक की साधना आगे नहीं बढ़ सकेगी।

पतंजलि द्वारा निर्दिष्ट नियम रूप शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और प्रपत्तिरूप ईश्वर–प्रणिधान की साधना[3] एकान्त की भी साधना है और केवल इन्हें सम्पूर्ण रूप से अपना कर कोई साधक समाधि तक पहुंच सकता है। महर्षि पतंजलि ने स्वयं भी **'समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात्।'**[4] सूत्र में इस तथ्य को स्वीकार किया है। इनमें प्रत्येक पूर्ववर्ती का सोपान है। किन्तु ईश्वर–प्रणिधान से योगी आत्मलाभ (ईश्वर सान्निध्य), जिसे भक्ति परम्परा में सायुज्य मुक्ति कहा जाता है, तक ही साधक पंहुच सकता है असम्प्रज्ञात समाधि तक नहीं पहुंच सकता, कैवल्य लाभ नहीं कर सकता।

योग की स्थूल साधना आसनों से प्रारम्भ होती है, और प्रत्येक पूर्ववर्ती साधना उत्तरवर्ती साधना की सोपान बनती है केवल प्रत्याहार धारणा से पूर्व की पूरक साधना

---

१. वितर्का हिंसादयः कृतकारितानुमोदिताः लोभक्रोधमोहपूर्वकाः मृदु०। योगसूत्र २।३४

२. तद् वैराग्यादपि दोषबीजक्षये कैवल्यम्। योगसूत्र ३।५०

३. शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः। योगसूत्र २।३२

४. योगसूत्र २।४५

है। अर्थात् आसन–साधना प्राणायाम की सोपान है।[१] प्राणायाम साधना साधक में धारणा की योग्यता उत्पन्न करती है।[२] धारणा ध्यान की पूर्वपीठिका है और ध्यान सम्प्रज्ञात समाधि के प्रथम प्रकार का सोपान है। प्राणायाम और धारणा के मध्य प्रत्याहार की साधना इन्द्रियों को बाह्य विषयों से हटाना है, अन्दर की और लौटाना है,[३] एक प्रकार से निषेध रूप साधना है; अतः मैंने इसे ऊपर की पंक्तियों से पूरक साधना कहा है। ये सभीं साधनाएं उत्तरवर्त्ती साधना की सोपान हैं। इसे योगसूत्रकार महर्षि पतंजलि ने **'त्रयमन्तरङ्गम् पूर्वेभ्यः, तदपि बहिरंगं निर्बीजस्य।'**[४] सूत्र द्वारा स्वयं स्वीकार किया है।

असम्प्रज्ञात समाधि के सोपान के क्रम में मैं केवल संयम रूप साधनाओं का अर्थात् धारणा, ध्यान और समाधिरूप साधना की स्थिति में चित्त की स्थितियों का स्वरूप ही स्पष्ट करना चाह रहा हूं। साधना–विधि नहीं। धारणा, ध्यान और समाधि–ये क्रमशः उत्तरोत्तर स्थितियां हैं और संयम के तीन सोपान हैं। यही कारण है कि महर्षि पतंजलि ने इन तीनों का स्वरूप निर्देश करके 'त्रयमेकत्र संयमः'[५] सूत्र में तीनों को एक सूत्र में पिरोकर दिखाना चाहा है। महर्षि पतंजलि के अनुसार समाधि के मुख्य दो प्रकार हैं–सम्प्रज्ञात समाधि और असम्प्रज्ञात समाधि। सम्प्रज्ञात समाधि के पुनः छः भेद हैं–सवितर्क, निर्वितर्क, सविचार, निर्विचार, सानन्दा और अस्मितामात्र। महर्षि पतंजलि ने धारणा से प्रारम्भ करके सम्प्रज्ञात समाधि के प्रत्येक भेद का सुस्पष्ट परिचय दिया है, किन्तु टीकाकारों द्वारा मूल सूत्रों का आश्रय न लेने के कारण बहुधा पाठक को समझने में असुविधा हो जाती है।

असम्प्रज्ञात समाधि तक पहुंचने के लिए प्रथम सोपान धारणा है, किन्तु धारणा करने की योग्यता प्राणायाम से होती है और शरीर प्राणायाम के योग्य तब बनता है जब आसनों में साधकको सिद्धि मिल जाती है।[६] पतंजलि के अनुसार धारणा का स्वरूप है–चित्त का किसी भी आश्रय (देश) विशेष में कुछ काल के लिए भी स्थिर होना। जब उस आश्रय (देश) में चित्त प्रत्यैकतान होता है अर्थात् कुछ काल के लिए

---

१. तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः। योगसूत्र २।४६
२. ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्। धारणासु च योग्यता मनसः। (योगसूत्र २।५२–५३)
३. स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्य स्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः। योगसूत्र २।५४
४. योगसूत्र ३।७–८
५. देशबन्धश्चित्तस्य धारणा। तत्र प्रत्यैकतानता ध्यानाम्। तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः। त्रयमेकत्र संयमः। योगसूत्र ३।१–४·
६. ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्। धारणासु च योग्यता मनसः। योगसूत्र २।५२–५३ः·
तस्मिन्सति श्वासप्रश्वासयोः गतिविच्छेदः प्राणायामः। यो. सू. २।४६

स्थिरता होने लगती है तो उसे स्थिति को ध्यान कहते हैं।[1] इस शब्द (ध्यान) का प्रयोग सांख्यसूत्रकार महर्षि कपिल ने चित्त की निर्विषय अवस्था अर्थात् जब चित्त में ज्ञान और ज्ञेय की त्रिपुटी भी न रहे उस अवस्था के लिए किया है। महर्षि पतंजलि ने इस अवस्था को असम्प्रज्ञात समाधि नाम दिया है।

महर्षि पतंजलि के अनुसार चित्त में जब इतनी एकाग्रता आ जाए कि किसी ज्ञेय (ध्येय अर्थात् ध्यान के विषयभूत) पदार्थ के नाम, जाति, गुण, धर्म का बोध तिरोहित होकर अर्थमात्र (वस्तुमात्र) का अर्थात् 'यह कुछ है' केवल इतना ही बोध हो इससे अधिक नहीं, उसके रूप आदि गुणों और नाम जाति आदि का भी भान शेष न रह जाए तो उसे समाधि कहते हैं।[2] यद्यपि ध्यान की विषयभूत वस्तु का साधक को अन्तरङ्ग और बाह्य दोनों प्रकार का सामान्य अवस्था में पूर्ण परिचय है, किन्तु चित्त की एकाग्रता के कारण वह ध्यान का विषय इस अवस्था में केवल वस्तु रूप में ही चित्त में प्रकट होता है। न्याय, वैशेषिक परम्परा में किसी पदार्थ का प्रत्यक्ष करते समय सर्वप्रथम उस पदार्थ की प्रथम प्रतीति नाम गुण, धर्म की प्रतीति के बिना ही होती है और उस प्रत्यक्ष को वहां निर्विकल्प प्रत्यक्ष कहा जाता है। इस निर्विकल्प प्रत्यक्ष काल में और समाधि की इस परिभाषा के अनुसार समाधि में वस्तु मात्र की प्रतीति लगभग एक समान होती है। अन्तर के केवल यह है कि प्रत्यक्ष काल में पहले निर्विकल्पक प्रत्यक्ष होता है जिसमें नाम धर्म जाति के बिना वस्तु की प्रतीति होती है। उस के बाद सविकल्पक प्रत्यक्ष होता है, जिसमें नाम, जाति, गुण, धर्म सभी ज्ञान के विषय होते हैं। धारणा–ध्यान के समय भी नाम, गुण, धर्म सभी ज्ञान के विषय होते हैं। इसके ठीक विपरीत समाधि की स्थिति में पहुंचने पर क्रमशः नाम, गुण, धर्म की प्रतीति तिरोहित हो जाती है।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है असम्प्रज्ञात समाधि से पूर्व होने वाली सम्प्रज्ञात समाधि के छः प्रकार हैं–सवितर्क सम्प्रज्ञात, निवितर्क सम्प्रज्ञात, सविचार सम्प्रज्ञात, निर्विचार सम्प्रज्ञात, सानन्दा और अस्मितामात्र सम्प्रज्ञात समाधि। साधना के क्रम में धारणा और ध्यान की स्थिति को पार करके साधक सर्वप्रथम सवितर्क सम्प्रज्ञात समाधि समापत्ति की स्थिति में पहुंचता है इसलिए सवितर्क समाधि निरुद्ध अवस्था अर्थात् योग की पूर्ण अवस्था असम्प्रज्ञात समाधि का तृतीय सोपान है। इस समाधि की अवस्था में चित्त में शब्द अर्थ और उसके स्वरूप (गुण, धर्म, नाम आदि) सभी

---

१. देशबन्धश्चित्तस्य धारणा। योगसूत्र ३।१ ४. तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्। यो. सू. ३।१२

२. ध्यानं निर्विषयं मनः। सांख्यसूत्र ६।२५

का बोध बना रहता है, किन्तु चित्त में ध्यान के विषयभूत पदार्थ के अतिरिक्त कुछ अन्य पदार्थ नहीं रहता।[१] एकाग्रता की साधना में निरन्तर लगे रहने पर कालान्तर में अर्थ मात्र की प्रतीति शेष रह जाती है, यह कुछ है इतनी ही प्रतीति शेष रह जाती है। चित्त की इस अवस्था को निर्वितर्क सम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं।[२] यहाँ स्मरणीय है सवितर्क सम्प्रज्ञात अवस्था में अर्थमात्र की प्रतीति न होकर अर्थ की प्रतीति शब्द, अर्थ रूप विकल्पों से संकीर्ण रहती है, पूर्व निर्दिष्ट समाधि का लक्षण उसमें घटित नहीं होता, किन्तु समाधि की अति निकट की अवस्था होने के कारण इसे भी समाधि की सीमा में सम्मिलित मान लिया गया है। अन्यथा समाधि की परिभाषा निर्वितर्क सम्प्रज्ञात में ही घटित होती है। महर्षि पतंजलि द्वारा निर्दिष्ट दोनों अर्थात् समाधि सामान्य और निर्वितर्क सम्प्रज्ञात की परिभाषाओं की शब्दावली भी एक समान है,केवल शब्दों के क्रम में अन्तर है। इसे आप स्वयं देख सकते हैं– **तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः। (योगसूत्र ३।२) स्मृतिपरिशुद्धौ स्वरूपशून्येवार्थमात्रनिर्भासा निर्वितर्का {यो. सू. १।४३}।**

सवितर्क और निर्वितर्क सम्प्रज्ञात समाधियों में चित्त स्थूल पदार्थ में एकाग्र किया जाता है, अतः इन्हें स्थूल विषयक समाधि कह सकते हैं। साधना करते हुए साधक जब चित्त को स्थूल पदार्थों के समान सूक्ष्म पदार्थ में समाहित (एकाग्र) कर ले तो उस स्थिति को सविचार सम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं। इस सविचार समाधि के समय चित्त में बोध का विषय यद्यपि सूक्ष्म पदार्थ रहता है किन्तु उस पदार्थ के नाम, गुण, धर्म आदि शब्द विकल्प भी चित्त में प्रतिभासित हो रहते हैं। निरन्तर दीर्घकाल तक श्रद्धा पूर्वक साधना द्वारा समाधि की भूमि दृढ़ होने पर[३] क्रमशः सूक्ष्म पदार्थ विषयक शब्दार्थ विकल्प भी तिरोहित हो जाते हैं, और वह सूक्ष्म पदार्थ अर्थमात्र रूप में प्रतिभासित होता है। चित्त की इस अवस्था को निर्विचार सम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं। यहाँ ध्यान देने योग्य है कि सवितर्क और निर्वितक समाधियां स्थूल विषयक हैं जबकि सविचार और निर्विचार सूक्ष्म विषयक।[४] सवितर्क और सविचार में शब्द और अर्थ के विकल्प भी चित्त में बने रहते हैं जबकि निवितर्क और निर्विचार में शब्द और अर्थ रूप विकल्प तिरोहित हो जाते हैं स्मृति में पूर्ण निर्मलता आ जाने के कारण विकल्परहित अर्थमात्र (केवल अर्थ) चित्त में प्रतिभासित रहता है। महर्षि पतञ्जलि ने सूक्ष्म विषयों को अलिंग अर्थात् प्रकृति पर्यन्त माना है[१] इसलिए परमाणु तन्मात्र मन बुद्धि चित्त अहंकार और मूल प्रकृति इनमें से कोई सूक्ष्म सूक्ष्मतम क्रम से

---

१. तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः। यो. सू. ३।३
२. शब्दार्थज्ञानविकल्पैः संकीर्णा सवितर्का समापत्ति। यो. सू. १।४३।
३. स्मृतिपरिशुद्धौ स्वरूपशून्येवार्थमात्रनिर्भासा निर्वितर्का। यो. सू. १।४३।
४. स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढ़भूमिः। यो. सू. १।१४

सविचार और निर्विचार सम्प्रज्ञात समाधि में चित्त की एकाग्रता के लिए आलम्बन होंगे।

निर्विचार समाधि के सिद्ध होने पर योगी पुरुष में ऋतम्भरा प्रज्ञा का उदय होता है जिसकी चर्चा निबन्ध के प्रारम्भ में हुई हैं। इस ऋतम्भरा प्रज्ञा को ही विवेकख्याति अथवा सत्त्वपुरुषान्यताख्याति भी कहते हैं। यदि कोई विशेष अन्तराय उपस्थित न हो, तो इसके अनन्तर योग की साधना स्वतः चलती है और योगी क्रमशः सानन्दा और अस्मितामात्र सम्प्रज्ञात समाधि, जो एकाग्र चित्तभूमि के ही प्रकार विशेष है, को पार करता हुआ असम्प्रज्ञात समाधि को प्राप्त करके कैवल्य लाभ करता है।

समाधि–साधना (चित्त की एकाग्रता की साधना के क्रम में अलिंग पर्यन्त पदार्थों के चित्त से विलीन हो जाने पर योगी पुरुष चित्त में स्वयं का अर्थात् आत्मतत्व (पुरुष तत्त्च) का साक्षात्कार करता है। स्थूल और सूक्ष्म पदार्थों के समान ही आत्म तत्त्व में चित्त की एकाग्रता के समय सर्वप्रथम पुरुष विषयक बोध शब्दार्थ ज्ञान से संकीर्ण रहता है अर्थात् पुरुष अथवा आत्मा यह नाम पुरुषत्व जाति और शुद्ध सत्त्व (चित्त) से संसक्त होने के कारण उसके धर्म आनन्द का भी बोध बना रहता है। आनन्द आत्मा का मुख्य धर्म है उसका बोध बना रहने के कारण चित्त की इस अवस्था को (इस एकाग्र नामक चित्तभूमि को) सानन्दा समाधि कहते हैं। पदार्थ के सभी गुण धर्म तो स्मृति में ही विद्यमान रहा करते हैं, और अर्थ के साथ उनकी प्रतीति होती है। स्थूल विषय सवितर्क और सूक्ष्म विषयक सविचार समाधि के समान ही सानन्दा समाधि की स्थिति में भी स्मृति के परिशुद्ध होने पर द्रष्टा पुरुष (आत्मा) के गुण भूत शब्दार्थ विकल्प के साथ आनन्द के बोध का भी जब विलय हो जाता है, तब चित्त की इस एकाग्र भूमि को अस्मितामात्र सम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं। इस अवस्था में ज्ञाता ज्ञान और ज्ञेय तीनों एकाकार हो जाते हैं। अस्मितामात्र सम्प्रज्ञात समाधि की अन्तिम अवस्था है और असम्प्रज्ञात समाधि का अन्तिम अर्थात् आठवां सोपान है।

अस्मितामात्र सम्प्रज्ञात समाधि में पहुंचने के अनन्तर कालान्तर में ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय की त्रिपुटी भी तिरोहित हो जाती हैं। इस अवस्था में सभी प्रकार के बोध का, स्वयं के बोध का भी विलय हो जाता है। यह चित्त की निरुद्ध भूमि है। योग की पूर्णावस्था है, इसे ही असम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं। साधक दीर्घ काल तक निरन्तर सत्कार अर्थात् श्रद्धा पूर्वक योग साधना करता हुआ धारणा के प्रथम सोपान से अन्तरंगयोग साधना में प्रवृत्त होता है और क्रमशः धारणा ध्यान, सवितर्क सम्प्रज्ञात समाधि, निर्वितर्क सम्प्रज्ञात समाधि सविचार सम्प्रज्ञात समाधि निर्विचार सम्प्रज्ञात समाधि, सानन्दा सम्प्रज्ञात समाधि और अस्मितामात्र सम्प्रज्ञात समाधि के सोपानों पर चढ़ता हुआ अन्त में योग की पूर्णावस्था, जिसे निरुद्ध चित्तभूमि अथवा असम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं, को प्राप्त करता है।

---

१. एतयैव सविचारा निर्विचारा च सूक्ष्मविषया व्याख्याता। यो. सू. १।४४

२. सूक्ष्मविषयत्वं चालिंगपर्यवसानम्। यो. सू. १।१५

इच्छा-मृत्यु प्राणायाम

-स्वामी अनन्त भारती

जिस प्रकार कोई व्यापारी दिल्ली मुम्बई आदि में किसी विशेष व्यक्ति से मिलने या, किसी कार्य के लिए जाता है, जब तक उसका कार्य पूरा नहीं होता, तब तक वह उस कार्य को, उस उद्देश्य को पूर्ण करने के लिए वहीं रहना चाहता है, जिससे उसे उस कार्य के लिए पुनः आने की आवश्यकता न हो, भले ही वह दो चार दिनों के लिए ही वहां रहने की योजना से क्यों न आया हो। क्योंकि पुनः आने में तैयारी और यात्रा में समय और धन का अतिरिक्त व्यय होगा। किसी परिस्थिति विशेष में ही इसका अपवाद हो सकता है। इसी प्रकार हिमालय आदि पर्वतों पर किसी वनस्पति की खोज में गया हुआ व्यक्ति, जब तक उसे अभीष्ट वनस्पति नहीं मिल जाती, वह तब तक वहां रहकर उसकी खोज में लगा रहता है। ठीक इसी प्रकार जो व्यक्ति या साधक इस जीवन का, इस संसार में आने का अपना कोई उद्देश्य तब तक इस संसार में रहना चाहता है, जब तक उसका उद्देश्य पूर्ण नहीं हो जाता है, जब तक उसे अपने लक्ष्य की प्राप्ति नहीं हो जाती।

सामान्यतः भारतीय संस्कृति में जीवन के चार पुरूषार्थ (उद्देश्य) स्वीकार किये जाते हैं: 'धर्म अर्थ काम और मोक्ष। मोक्ष का अर्थ है जन्म मरण के चक्र से, जरा मरण के दुःखों से सदा के लिए छुटकारा।[1] जन्म मरण के चक्र का मूल कारण है अविद्या आदि क्लेशों से उत्पन्न वासना रूप कर्माशय।[2] अविद्या आदि क्लेशों से उत्पन्न कर्माशय के नाश के लिए विवेक ख्याति विशुद्ध ज्ञान के अर्जन की आवश्यकता होती है।[3] विवेक ख्याति अर्थात् आत्मज्ञान दो चार दिन या दो चार मास या वर्षो में प्राप्त होने वाला नहीं है। इसके लिए निरन्तर प्रयास की, अभ्यास की आवश्यकता होती है। अनेक जन्म भी लग सकते हैं। इसलिए सुबुद्ध साधक चाहता

---

१. अथ त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यपुरूषार्थः। सांख्य सूत्र १.१

२. क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः। सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः। योगसूत्र २/१२–१३

३. विवेकख्यातिरविप्लवाहानोपायः। यो. सू. २.२६।

है कि इसकी प्राप्ति के लिए जितनी साधना करनी है, उतनी इसी जन्म में पूरी हो सके तो उत्तम है। क्योंकि नवीन जन्म में बीस पच्चीस वर्ष में शरीर की ही तैयारी पूर्ण हो पाती है। इसलिए बुद्धिमान् साधक दीर्घजीवी होकर वर्तमान जीवन में ही मोक्ष प्राप्ति के योग्य होना चाहता है, अधिक से अधिक पूर्णता पाना चाहता है। इसलिए प्राचीन काल के ऋषि मुनियों ने दीर्घ जीवन की कामना की और इसके लिए उपायों का अनुसंधान करने का प्रयत्न किया। यजुर्वेद में सामान्य व्यक्ति की कामना को 'पश्येम शरदः शतं, जीवेम शरदः शतं, शृणुयाम शरदः शतं, प्रब्रवाम शरदः शतमदीनाः स्याम शरदः शतम्भूयश्च शरदः शतात्'[1] अर्थात् हम सौ वर्षा तक देख सकें, जीवित रहें, सुन सकें, बोल सकें अर्थात् अपने विचार प्रकट कर सकें अदीन रहकर जीवित रह सकें और इससे भी अधिक यह हम प्राप्त करें, इत्यादि शब्दों में प्रार्थना के रूप में निबद्ध किया गया है। इतना ही नहीं एक अन्य मन्त्र 'त्र्यायुषं जमदग्नेः कश्यपस्य त्र्यायुषम्, यद्देवेषु त्र्यायुषं तन्नो अस्तु त्र्यायुषम्'[2] में जमदग्नि कश्यप और देव बनकर तीन गुनी अर्थात् सामान्यतः तीन सौ वर्षों की आयं की कामना की गयी है। इसी प्रकार अथर्ववेद के काण्ड २. सूक्त ४,१३,२१ का. ३. सू. ४१, ४७. ७६ इत्यादि अनेक सूकतों में दीर्घयुष्य प्राप्त करने की कामना उपायों के संकेत के साथ की गयी है।

आयुर्विज्ञान के प्राचीनतम आचार्यों में अन्यतम आचार्य चरक ने दस ऐसी वनस्पतियों के समूह का परिगणन किया है, जो उनके अनुसार जीवनीय हैं।[3] इसी प्रकार आचार्य सुश्रुत ने विडंग फल की फांकों के चूर्ण का अलग–अलग पांच अनुपानों के साथ प्रयोग करने का निर्देश किया है, जिनका निर्धारित नियमों के साथ प्रयोग करने से एक सौ वर्ष आयु में वृद्धि होती है, और इस प्रकार दस बार यह प्रयोग किया जा सकता है। इस प्रकार कोई व्यक्ति ग्यारह सौ वर्षों तक जीवित रह सकता है।[4] इस प्रकार सुश्रुत और अग्नि पुराण में तीन सौ पांच सौ वर्ष आयु में

---

१. यजुर्वेद अ. ३६ मन्त्र २४

२. यजुर्वेद अ. ३. मं. ६२।

३. जीवकर्षभकौ मेदा महामेदा काकोली क्षीरकाकोली मुद्गपर्णी माषपर्णी जीवन्ती मधुकमिति दशेमानि जीवनीयानि भवन्ति। चरक–सूत्रस्थान ४.७(१)।

४. तत्र विडंगतण्डुलचूर्णमाहृत्य यष्टीमधुकमधुयुक्तं यथा बलं शीततोयेनोपयुंजीत शीततोयं चानुपिबेत् एवमहरहर्मासंम्। तदेव मधुयुक्तं भल्लातकक्वाथेन वा, मधुद्राक्षाक्वाथयुक्तं वा, मध्वामलकरसाभ्यां वा, गुडीची क्वाथेन वा, एवमेव पंच प्रयोगाः भवन्ति। जीर्णे घृतवैदनमश्नीयात्। एते खल्वर्शांसि क्षपयन्ति, मतो। कृमीन् उपघ्नन्ति, ग्रहणधारणशक्तिं जनयन्ति। मासे च प्रयोगेण वर्षशतं वर्षशतमायुषोऽभिवृद्धिर्भवति। सुश्रुत संहिता चिकित्सास्थान २२.७।

वृद्धि के लिए अनेक प्रयोग निर्दिष्ट हैं।[1]

आयुष्य में वृद्धि अथवा जब तक इच्छा न हो तब तक मृत्यु को स्वयं से दूर रखने के लिए योग साधकों ने भी संभवतः अनेक उपायों का अनुसंधान किया था। किन्तु जिस प्रकार औषध प्रयोग के साथ आहार विहार के अनेक कठोर नियम बताये गये हैं, उसी प्रकार योग साधना में भी आहार—विहार के विविध नियम दृढ़ता पूर्वक पालन करना आवश्यक है। बहुधा लोग नियम में प्रमाद करते हैं इसलिए, अथवा दुर्जन अनधिकारीजन इनका प्रयोग करके चिरकाल तक अनाचार का प्रसार ने कर सकें, इसलिए इच्छामृत्यु प्राप्त करने की साधना विधि का, दूसरे शब्दों में इच्छामृत्यु प्राणायाम की विधि का समग्र रूप से एकत्र वर्णन न करके खण्डों में इतस्ततः वर्णन या संकेत किया गया है। जिनका संकेत निबन्ध में यथावसर किया जायेगा।

इच्छामृत्यु साधना पूर्वकाल में बहुत प्रचलित रही है, जिसके फलस्वरूप अश्वत्थामा, बलि, व्यास, हनुमान आदि चिरजीवी रहे हैं, और शायद आज भी जीवित हैं, ऐसी पारम्परिक मान्यता निम्नलिखित पद्य से विदित होती है:—

"अश्वथामा बलिर्व्यास हनुमांश्च बिभीषणः।
कृपः परशुरामश्च सप्तैते चिरजीविनः।।[2]

द्वापर युग के अन्त तक अर्थात् महाभारत काल तक इच्छामृत्यु की साधना समाज में कुछ लोगों को विदित थी और उन्होंने इसमें सफलता प्राप्त की थी ऐसा संकेत हमें महाभारत में मिलता है। यद्यपि महाभारत महाकाव्य के एक अंश, जिसे भगवदगीता के नाम से जाना जाता है, के अनुसार विवस्वान्, मनु, इक्ष्वाकु आदि राजर्षियों में प्रचलित योग परम्परा उस काल तक नष्ट हो चुकी थी।[3] इतना होने पर भी भीष्मपितामह, द्रोण, वसुदेव, बलराम, श्रीकृष्ण, विदुर और धृतराष्ट्र आदि को यह साधना सिद्ध थी, इसका विवरण हमें महाभारत में मिलता है।

---

१. (क) सुश्रुत चिकित्सा, २७.८.२८
(ख) अग्नि पुराण, अ. २८६.१—२४ (यथा—पलाश तैलं कषैकं षण्मासं मधुना पिबेत्। दुग्धभोजी पंचशती सहस्रायुर्भवेन्नरः।।७।।
२. अज्ञात—श्रीमद्भागवत की भूमिका पृ. २३ से उद्धृत (गीताप्रेस)।
३. इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत्।
एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयों विदुः।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परन्तप।। भगवद्गीता ४.१—२

भीष्म पितामह के सम्बन्ध में आर्य (हिन्दू) परम्परा के प्रायः सभी लोग जानते हैं कि मृत्यु उनके वश में थी, किन्तु इच्छामृत्यु प्राणायाम रूपी साधना के लुप्त हो जाने या गुप्त होने के कारण एक कहानी की कल्पना करके जोड़ दिया गया कि उन्हें 'इच्छामृत्यु' का वरदान प्राप्त था। किन्तु द्रोण, वसुदेव, बलराम आदि के सम्बन्ध में भी महाभारत में स्पष्ट देखकर यह स्वीकार करना आवश्यक हो जाता है कि वरदान के कारण नहीं, अपितु साधना विशेष के कारण मृत्यु उनके वश में थी। महाभारत में स्पष्ट उल्लेख है कि अर्जुन के बाणों से विंध जाने पर जब भीष्म गिर गये और बाणों की शय्या बन गयी, तब भी मृत्यु उन्हे न ग्रस सकी। अपितु–

धारयामास च प्राणान्पतितोऽपि हि भूतले।
उत्तरायणमन्विच्छन् भीष्मः कुरुपितामहः।।[१]

अर्थात् 'उत्तरायण में प्राणत्यागने की इच्छा से उत्तरायण की प्रतीक्षा में भीष्म प्राणों को धारण किये रहे।' इस अवसर पर पार्वती द्वारा हंस रूप में महर्षियों की जिज्ञासा का शमन करते हुए वे कहते हैं:–

'तानब्रवीच्छान्तनवो नाहं गन्ता कथंचन।
दक्षिणायन आदित्ये एतन्मे मनसि स्थितम्।।[२]

अर्थात् मेरे मन में यह निश्चय है कि मैं सूर्य के दक्षिणायन रहने पर प्राणत्याग नहीं करूँगा।

'धारयिष्याम्यहं प्राणानुत्तरायणकांक्षया।
ऐश्वर्यभूतः प्राणानामुत्सर्गे नियतोह्यहम्।
तस्मात्प्राणान्धारयिष्ये मुमूर्षरुदगायने।।[३]

अर्थात् मैं उत्तरायण की प्रतीक्षा करते हुए अपने प्राणों को धारण करूँगा। उचित समय पर प्राण त्याग करना मेरे वश में है, इसी करण में उत्तरायण में मरने की इच्छा करूंगा। इसके अनन्तर उन्होंने सूर्य के उत्तरायण होने पर माघ मास के शुक्ल पक्ष की अष्टमी तिथि एवं प्रजापति देवता वाले रोहिणी नक्षत्र में योगस्थ होकर क्रमशः प्राणों को ऊपर ले जाकर अन्य सभी मार्गों को बन्द करके मूर्धा का भेदन करते हुए ब्रह्मरन्ध्र से प्राणों का निर्गमन किया यह महाभारत के निम्निलखित पद्यों में स्पष्ट है:–

---

१. महाभारत, भीष्म पर्व ११४.८१।
२. महाभारत, भीष्म पर्व ११४.१०।
३. महाभारत, भीष्म पर्व ११४.६०।

शुक्लपक्षस्य चाष्टम्यां माघमासस्य पार्थिवः।
प्राजापत्ये च नक्षत्रे मध्यं प्राप्ते दिवाकरे।
निवृत्तमात्रे त्वयने उत्तरे वै दिवाकर।
समावेशयदात्मानम् आत्मन्येव समाहितः।
धारयामास चात्मानं धारणासु यथाक्रमम्।
तस्योर्ध्वमगमन् प्राणाः सन्निरुद्धाः महात्मनः।
सन्निरुद्धस्तु तेनात्मा सर्वेष्वायतनेषु च
जगाम भित्वा मूर्धानं दिवमभ्युत्पपात च।।[1]

भीष्म के समान महाधनुध्रर आचार्य द्रोण को भी इस साधना में सिद्धि प्राप्त थी। तभी भीम द्वारा अश्वत्थामा हाथी का वध होने के उपरान्त घोष के साथ, 'आश्वत्थामा हतः' की ध्वनि गुंजरित होने पर द्रोण को भ्रम हुआ कि क्या उनके पुत्र अश्वत्थामा का वध हुआ है। उन्होंने युधिष्ठिर से समाधान चाहा किन्तु कृष्ण आदि द्वारा शंख ध्वनि कर देने पर उन्हे सत्य का बोध न होकर अपने पुत्र की मृत्यु का ही भ्रम हुआ और वे प्राण विसर्जन के लिए सबको अभय दान देते हुए शस्त्र त्याग कर रणभूमि में ही योगस्थ हो गये। यह भिन्न बात है कि उनके योग–युक्त होने पर द्रुपद के पुत्र धृष्टद्युम्न ने पिता का प्रतिशोध लेने की भावना से उनका सिर धड़ से अलग कर दिया।

'उत्सृज्य च रणे शस्त्रं रथोपस्थे निविश्य च।
अभयं सर्वभूतानां प्रददौ योगमीयिवान्।
तस्य तच्छिद्रमाज्ञाय धृष्टद्युम्नः प्रतापवान्।
तस्य मूर्धानमालम्ब्य विचकर्त्तासिना शिरः।।[2]

भीष्म और द्रोण ही नहीं विदुर, धृतराष्ट्र आदि भी योगस्थ होकर प्राण विसर्जन की साधना में सिद्ध थे। महाभारत के अनुसार जब युधिष्ठिर आदि पाण्डव धृतराष्ट्र, कुन्ती, गान्धारी आदि से मिलने के लिए आश्रम में गये और विदुर के सम्बन्ध में पूछा तो पता चला कि कभी'कभी वे दिखाई पड़ जाते हैं–

'कुशली विदुरः पुत्रो तपो घोरं समाश्रितः।
वायुभक्षो निराहारः कृशो धमनिसन्ततः।
कदाचिद् दृश्यते विप्रैः शून्येऽस्मिन्कानने क्वचित्।[3]

---

१. महाभारत, शान्ति पर्व ७७.१–४ (यशपाल शास्त्री संपादित)।
ख महाभारत, अनुशासन पर्व १५४.२,५ (सातवलेकर (सम्पादित अन्तिम दो)।
२. महाभारत, द्रोणपर्व १२६.२१–२२।
३. महाभारत, आश्रमवासिक पर्व १६.१५–१६।

विदुर विषयक चर्चा चल ही रही थी तभी–

'दूरादालक्षितः क्षत्ता तत्राख्यातो महीपतेः।
निवर्तमानः सहसा राजन् दृष्ट्वाऽऽश्रमम्प्रति।
तमन्वधावन्नृपतिरेक एव युधिष्ठिरः।
प्रविशन्तं वनं धोरं लक्ष्यालक्ष्यं क्वचित् क्वचित्।।[1]

अर्थात् तभी युधिष्ठिर को कुछ दूर विदुर दिखाई पड़े और युधिष्ठिर उनके पीछे दौड़कर पहुँचे और अपना परिचय दिया कि मैं युधिष्ठिर हूं।

ततः सोऽनिमिषो भूत्वा राजानं तमुदैक्षत।
संयोज्य विदूरस्तस्मिन् दृष्टिं दृष्ट्या समाहितः।
विवेश विदुरो धीमान् गात्रैर्गात्राणि चैव हि।
प्राणान्प्राणेषु च दधदिन्द्रियाणीन्द्रियेषु च।
स योगबलमास्थाय विवेश नृपतेस्तनुम्।
विदुरो धर्मराजस्य तेजसा प्रज्वलन्निव।
विदुरस्य शरीरन्तु तथैव स्तब्धलोचनम्।
वृक्षाश्रितं तदा राजा ददर्श गतचेतनम्।।[2]

अर्थात् तब अपलक नेत्रों से विदुर ने युधिष्ठिर को देखा और दृष्टि को स्थिर करके युधिष्ठिर के प्राणों में अपने प्राणों को, इन्द्रियों में इन्द्रियों को, शरीर में शरीर को, योगबल से आरोपित करते हुए तेज से मानो प्रज्वलित होते हुए वृक्ष के आश्रित हो गये और युधिष्ठिर ने देखा कि उनका शरीर निष्प्राण हो गया।

धृतराष्ट्र ने भी योगस्थ होकर प्राण विसर्जन किये थे। वन में आग लग गयी थी, संजय ने धृतराष्ट्र को सूचना दी तो धृतराष्ट्र ने स्वयं योगस्थ होकर शरीर त्यागने का निश्चय बताकर संजय को वहां से चले जाने को कहा। इसके बाद प्रस्थान करते हुए संजय ने उनसे कहाः–

'संजयस्तं' तथा दृष्ट्वा प्रदक्षिणमथा करोत्।
उवाच चैनं मेघावी युंक्ष्वात्मानमिति प्रभो।।[3]

---

१. महाभारत, आश्रमवासिक पर्व १६, १८–१६।

२. महाभारत आश्रमवासिक पर्व।

३. ततः स नृपतिः दृष्ट्ता वह्निमायान्तमन्तिकम्।
इदमाह ततः सूतं संजयं जयतां वरः।
गच्छ संजय यत्राग्निर्न त्वां दहति कर्हिचित्।। महा. आश्रम पर्व २६.२२–२३
वयमत्राग्निना युक्ता गमिष्यामः। परां गतिम्।।

तदनन्तर संजय के चले जाने पर राजा धृतराष्ट्र इन्द्रियों और प्राणों का निग्रह करके योगस्थ हो गये और उनका शरीर काष्ठ के समान हो गया। गान्धारी और माता कुन्ती (पृथा) ने भी वैसा ही किया और शरीर को त्याग दिया।[१]

कृष्ण के ज्येष्ठ भ्राता बलराम ने भी योगयुक्त होकर ही प्राणों का विसर्जन किया था। इसका संकेत महाभारत के इस पद्य में मिलता है:—

ततो गत्वा केशवस्तं ददर्श रामं वने स्थितमेकं विविक्ते।
अथापश्यद् योगयुक्तस्य तस्य नागं मुखान्निष्क्रमन्तं महान्तम्।।[२]

अर्थात्, उसके अनन्तर भगवान् कृष्ण ने एकान्त वन में स्थित उन बलराम को देखा कि वे योगस्थ हैं और उनके मुख से नाग प्राण बाहर निकल रहा है।

भगवान् श्री कृष्ण तो योगिराज थे ही इसे सभी स्वीकार करते हैं। वे योगस्थ होकर शरीर त्याग करें यह स्वाभाविक ही है। व्यास कहते हैं:—

'मनस्ततः संक्रमणस्य कालं ततश्चकारेन्द्रियसन्निरोधम्।
स सन्निरुध्येन्द्रियवाङ् मनस्तु शिश्ये महायोगमुपेत्य कृष्णः।
जराऽथ तं देशमुपाजगाम.............तदानीं मृगलिप्सुरुग्रः।।[३]

अर्थात्, भगवान् कृष्ण ने अपने प्रस्थान का समय मानकर इन्द्रियों को निरोध किया और इन्द्रियों, वाणी और मन को निरूद्ध करके योगस्थ होकर लेट गये। यह संयोग ही था कि तभी मृग को खोजता हुआ जरा नामक एक उग्र बहेलिया वहां आ गया, और श्रीकृष्ण के पैरों को मृग का मुख समझ कर उस पर बाण चला दिया।

श्री कृष्ण और बलराम के पिता वसुदेव को भी यह सिद्धि प्राप्त थी। महाभारत के अनुसार बलराम और श्रीकृष्ण सहित यादवों का विनाश सुनकर वसुदेव ने भी प्राण त्याग देने का निश्चय कर लिया।

'श्वो भूतेऽथ ततः सौरिः वसुदेवः प्रतापवान्।
युक्त्वात्मानं महातेजा जगाम गतिमुत्तमाम्।[४]

---

१. ऋषिमुत्रो मनीषी सः राजा चक्रेऽस्य तद्वचः।
सन्निरुध्योन्द्रियग्रामासीत्काष्ठोपमस्तदा।
गान्धारी च महाभागा जननी च पृथा तव।। महा. आश्रम २६.२१–३१

२. महाभारत, मौसल पर्व ४.१२–१३

३. महाभारत, मौसल पर्व ५.१८–१६

४. महाभारत, मौसल पर्व ८.१५

अर्थात् अगले दिन सूर के पुत्र प्रतापी महातेजस्वी वसुदेव योगस्थ होकर उत्तम गति को प्राप्त हो गये।

योगविद्या की यह इच्छामृत्यु साधना गोपनीय मानी जाती रही है, इसीलिए यह साधना कालान्तर में लुप्त हो गयी। इस साधना के एकाध खण्ड अवश्य ही मध्यकीलीन हठयोग के ग्रन्थों में बिखरे हुए प्राप्त होते हैं। इसके कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं:–

'उड्डीयाणं त्वसौ बन्धो मृत्युमातङ्गकेसरी।[१]

अर्थात्, यह उड्डीयान बन्ध मृत्यु रूपी हाथी को जीतने वाला सिंह है। हठयोग प्रदीपिका में भी इस तथ्य को इसी रूप में स्वीकार किया गया है।[२]

पूर्णानन्द यतिकृत तत्त्वचिन्तामणि ग्रन्थ के षट्चक्र विवरण नामक अंश में आज्ञाचक्र का परिचय देकर उसके वैशिष्ट्य का कथन करते हुए कहा है:–

'इह स्थाने विष्णोरतुलपरमामोदमधुरे।
समारोप्य प्राणं प्रमुदितमनाः प्राणनिधने।
परं नित्यं देवं पुरुषमजमाद्यं त्रिजगताम्।
पुराणं योगीन्द्रः प्रविशति च वेदान्तविदितम्।।[३]

अर्थात, यह आज्ञा चक्र अतिशय आनन्दमय विष्णु का स्थान है। इस मधुर स्थान में प्राण विसर्जन काल में प्रसन्न मन होकर प्राणों को स्थापित करके योगी वेदान्त में विदित तीनों लोकों के मूल कारण अज, अनादि, नित्य, परम पुरुष परब्रह्म को प्राप्त कर लेता है।

महाभारत महाकाव्य की अंशभूत श्रीमदभगवद्गीता में भी इसी तथ्य का प्रायः इसी रूप में कथन किया गया है। वहां की शब्दावलि इस प्रकार है:–

'प्रयाणकाले मनसाऽचलेन भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक् स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम्।।[४]

१. घेरण्ड संहिता ३.१०
२. हठयोग प्रदीपिका १.५७
३. षट्चक्र निरूपण ६.३८
४. श्रीमदभगवद् गीता ८.१०
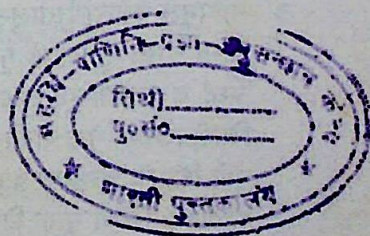
अर्थात्, जब मृत्यु काल उचित लगे तब भक्ति पूर्वक अचल मन से योग के बल से प्राणों को दोनों भ्रुवों के मध्य में, आज्ञाचक्र में स्थिर करके योगी उस दिव्य पुरुष परब्रह्म को प्राप्त कर लेता है।

श्रीमद् भागवत् में इस साधना विधि का संक्षेप में किन्तु स्पष्ट विवरण दिया गया है। इसकी चर्चा यथा समय आगे की जायेगी। इस विशिष्ट साधना विधि के अतिरिक्त भी इच्छा मृत्यु अर्थात् मृत्यु को वश में करने की साधनाओं को प्रचलन रहा है, जिसके संकेत सूत्र भी हठयोग के ग्रन्थों में बिखरे हुए मिले जाते हैं, जैसेः—

(१) खेचरी साधना के प्रसंग में घेरण्ड संहिता का कथन है 'इसकी साधना करने से मूर्च्छा क्षुधा (भूख) तृषा (प्यास) आलस्य, रोग, जरा अर्थात्, वृद्धावस्था और मृत्यु नहीं हुआ करती।[१]

युक्तभवदेव ग्रन्थ में भी इसकी पुष्टि प्राप्त होती है।[२]

घेरण्ड संहिता के अनुसार खेचरी मुद्रा के अतिरिक्त विपरीत करणी—मुद्रा जिसमें दोनों हाथों को समाहित करंके उनके मध्य में सिर करके पैर ऊपर किये जाते हैं, और इस क्रिया के माध्यम से सूर्य को ऊपर और चन्द्र को नीचे लाया जाता है, इस का प्रतिदिन अभ्यास करने से साधक मृत्यु को जीत लेता है। स्मरणीय है कि उनके अनुसार नाभि के मूल में सूर्य का निवास है और तालु मूल में चन्द्रमा का। इस कारण ही मनुष्य की मृत्यु होती है। विपरीत करणी मुद्रा (शीर्षासनद्ध) द्वारा इसे विपरीत किया जाता है।[३]

---

१. न च मूर्च्छा क्षुधा तृष्णा नैवालस्यं प्रजायते।
 न च रोगो जरा मृत्युर्देवदेहः स जायते।। घेरण्ड संहिता ३ए२४

२. रसनामुर्ध्वगां कृत्वा क्षणार्धं यस्तु तिष्ठति।
 क्षणेन मुच्यते योगी व्याधिमृत्युजरादिभिः।
 रसनामूर्ध्वगां कृत्वा यश्चन्द्रसलिलं पिबेत्।
 मासमात्रेण योगीन्द्रो मृत्युं जयति निश्चितम्। युक्त भवदेव १.३२६—३२५

३. नाभिमूले वसेत्सूर्यस्तालुमूले च चन्द्रमाः।
 अमृतं ग्रसते सूर्यस्ततो मृत्युवशं नरः।
 ऊर्ध्वं च योजयेत्सूर्यं चन्द्रञ्चाप्यध आनयेत्।
 विपरीतकरणी मुद्रा सर्वतन्त्रेषु गोपिता।।
 भूमौ शिरश्च संस्थाप्य बाहुयुग्मसमाहितः।
 ऊर्ध्वपादः स्थिरो भूत्वा विपरीतकरणी मता।
 मुद्रां च साधयेन्नित्यं जरां मृत्यु च नाशयेत्।। घेरण्ड ३.३१—३२

इसी प्रकार घेरण्ड मुनि के अनुसार मातंगिनी मुद्रा भी वृद्धावस्था और मृत्यु को नष्ट करती है। इसकी साधना के लिए शुद्ध जल वाले जलाशय (नदी या सरोवर) में प्रवेश करके कण्ठ की गहराई में खड़ा हो जाये और बारी बारी से दोनों नासिका से जल अन्दर लेकर मुख से बाहर निकालना और मुख से जल लेकर दोनों नासिका छिद्रों से निकालना होता है।[1]

इसी प्रकार भुजंगिनी मुद्रा को भी घेरण्ड मुनि ने जरा मृत्यु विनाशिनी बताया है, जिसमें मुख को कुछ खोलकर कण्ठ से पवन–पान करना होता है।[2]

इससे कुछ भिन्न प्रकार से अर्थात् दांतो से दांतो को दबाते हुए और जिह्वा को ऊपर करके पवनपान को भवदेव ने मृत्यु को जीतने वाला कहा है।[3]

भवदेव पंचभूत धारणा को भी मृत्यु पर विजय प्राप्त करने का उपाय मानते हैं।[4] यह पंचभूत धारणा केवल–कुम्भक साधना प्रारम्भ होने पर सुषुम्ना मार्ग में स्थित मूलाधार स्वाधिष्ठान मणिपूर अनाहत और विशुद्ध चक्र में संकल्प शक्ति से प्राणों को क्रमशः ऊपर ले जाते हुए चित्त की स्थिरता द्वारा की जाती है। यह भी स्मरणीय है कि श्रीमद् भागवत् में एवं भगवद्गीता में संकेतित प्राणायाम, जिसका वर्णन आगे होगा, की स्थापना का पूर्व अंग पंचभूत धारणा ही है।

उपर्युक्त संकेतों में कितनी सच्चाई है अथवा ये कथन अर्थवादमात्र हैं यह सुदीर्घ परीक्षा का विषय है। यहाँ मैं इतना ही कहना चाहूंगा कि प्राचीन काल में मृत्यु पर विजय प्राप्त करने की अनेक साधनाएं प्रचलित रही हैं, ये संकेत उनके अवशेष मात्र हैं। हमारे वर्णनीय के रूप में अभीष्ट प्राणायाम के कुछ अंगो के संकेत हठयोग

---

१. कण्ठमग्नजले स्थित्वा नासाभ्यां जलमाहरेत्।
मुखान्निर्गमयेत्पश्चात्पुनर्वक्त्रेण चाहरेत्।
नासाभ्यां निर्गमयेत्पश्चात्कुर्यादेवं पुनः पुनः।।
मातंगिनी परा मुद्रा जरामृत्युविनाशनी। घेरण्ड सं. ३.६७–६८

२. वक्त्रं किंचित्सुप्रसार्य चानिलं गलया पिबेत्
सा भवेद् भुजगी मुद्रा जरामृत्यु विनाशिनी। वही३.६१

३. दन्तैर्दन्तान्समापीड्य पिबेद्वायुं शनैः शनैः।
ऊर्ध्वजिह्वः स मेधावी मृत्युं जयति सत्वरम्। युक्मभवदेव १.३२१

४. मेधावी पंचभूतानां धारणां यः समभ्यसेत्।
शतब्रह्मा मृतेनापि मृत्युस्तस्य न विद्यते।। वहीं ५.१४३

के ग्रन्थों में भी उपलब्ध होते हैं। यथा—'वायु का रोककर नाभि से ऊपर के पेट के भाग को अन्दर की ओर तानना उड्डीयान बन्ध है। इससे प्राण ऊर्ध्वगामी होते हैं। इसके फलस्वरूप योगी उसी प्रकार मृत्यु पर विजय प्राप्त कर लेता है, जिस प्रकार सिंह हाथी पर विजय प्राप्त करता है।[1]

घेरण्ड संहिता में जालन्धर बंध का भी यही फल बताया गया है।[2]

उड्डीयान बन्ध और जालन्धर बन्ध महामुद्रा के अंग के रूप में किये जाते हैं अथवा इसमें ये दोनों बन्ध स्वतः, लगते हैं, क्योंकि महामुद्रा के लिए 'बाएँ पैर को मोड़कर इस प्रकार रखते हैं कि उसकी एड़ी से गुदा सीवनी पर दबाव दबाव रहे। फिर दाहिने पैर को सामने इस प्रकार फैलाते हैं कि उससे एड़ी किनारे से दबती रहे और तलवा बायें पैर की जंघा को स्पर्श करता रहे। इसके बाद एक नासिका छिद्र से पूरक करके जालन्धर बन्ध और उड्डीयान बन्ध के साथ कुम्भक करते हुए, माथे को घुटने पर ले आयें और जब तक कुम्भक कर सकें इसी स्थिति में रूकें। महाबन्ध भी इसी प्रकार किया जाता है, अन्तर केवल इतना है कि इसमें एक पैर को गुदा के नीचे न रखकर दूसरे पैर की जंघा पर इस प्रकार रखते हैं कि वह एड़ी नाभि के निकट रहे। महामुद्रा और महाबन्ध दोनों को पैर बदल—बदल कर करते हैं। महामुद्रा में गुदा के नीचे रखे हुए पैर की एड़ी से गुदा पर स्वतः दबाव पड़ता है और मूल बन्ध का कुछ लाभ मिलने लगता है। जबकि महाबन्ध में जंघा के ऊपर रखे हुए पैर की एड़ी से नाभि पर दबाव पड़ता है ओर उड्डीयान बन्ध के बिना भी उसका आंशिक लाभ साधक को मिलता है। घेरण्ड संहिता के अनुसार दोनों बन्धों के अभ्यास से मृत्यु पर विजय प्राप्त की जा सकती है।[3]

उपर्युक्त क्रियाओं को मैं पूर्व संकेतित साधना का अंग इसलिए कहना चाहता हूँ क्योंकि उस साधना में प्राणों को भ्रमूध्य (आज्ञा चक्रद्ध में स्थापित करना होता है

---

१. उदरे पश्चिमं तानं नाभेरूर्ध्वं तु कारयेत्।
उड्डीयानं कुरुते यस्मादविश्रान्तं महाखगः।
उड्डीयानं त्वसौ बन्धो मृत्युमातंग केसरी।। घेरण्ड ३.८

२. कण्ठसंकोचनं कृत्वा चिबुकं हृदये न्यसेत्।
जालन्धरे कृते बन्धे षोडशाधारबन्धनम्
जालन्धरी महामुद्रा मृत्योश्च क्षयकारिणी।। वहीं ३.१०

३. महाबन्धमहावेधौ मूलबन्धसमन्वितौ।
प्रत्यहं कुरूते यस्तु स योगी योगवित्तमः।
न मृत्युतो भयं तस्य न जरा तस्य बाधते।। वही ३.१८—२०

और इन क्रियाओं द्वारा भी यही होता है अथवा भ्रूमध्य में प्राणों को स्थापित करने में सहायता मिलती है।

इच्छामृत्यु प्राणायाम का संकेत हमें श्रीमद् भगवद्गीता में स्पष्ट प्राप्त होता है। यह संकेत इस प्रकार हैं:—

प्रयाणकाले मनसाऽचलेन भक्त्या युक्तो योगवलेन चैव।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक् स तं परं पुरूषमुपैति दिव्यम्।।[१]

अर्थात् मृत्यु के समय अर्थात् देह त्याग की इच्छा होने पर मन को स्थिर करके योग के बल से प्राणों को भ्रूमध्य में स्थिर करके प्राण विसर्जन करने पर योगी उस दिव्य परम पुरूष को प्राप्त करता है।

इसी प्रकार का संकत षट्चक्र निरूपण ग्रन्थ में भी प्राप्त होता है जिसका उल्लेख पहले किया जा चुका है।

श्रीमद्भागवत् में इस (इच्छामृत्यु) प्राणायाम का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है:—

'पार्ष्ण्याऽऽपीड्य गुदं प्राणं हृदुरःकण्ठमूर्धम्।
आरोप्य ब्रह्मरन्ध्रेण ब्रह्म नीत्वोत्सृजेत्तनुम्।।[२]

भगवान् श्रीकृष्ण उद्धव से योग साधना की विशेष विधियों और उनसे प्राप्त होने वाली सिद्धियों का परिचय देते हुए कहते हैं कि 'पैरों को मोड़कर इस प्रकार बैठें कि किसी एक पैर की एड़ी गुदा मार्ग को दबाती रहे (इसके लिए सिद्धासन में बैठना उपयुक्त होगा) उसके बाद प्राणों को ऊपर उठाते हुए क्रमशः हृदय कण्ठ से होते हुए मूर्धा में ले जाएं और ब्रहमरन्ध्र में ले जाकर शरीर को छोड़ देवें, इस प्राणायाम साधना में प्राणों को ऊपर ले जाने के लिए जालन्धर बन्ध और उड्डीयान बन्ध का सर्वाधिक योगदान होता है। इनमें जालन्धर बन्ध का मुख्य योगदान प्राणवायु को मुख और नासारन्ध्र में जाने से रोकना है कि प्राणवायु बाहर न निकल सके। उड्डीयान बन्ध उसे उदर और वक्ष से ऊपर जाने को प्रेरित करता है, ऊपर को ढकेलता है। महामुद्रा और महाबन्ध में पेट पर दबाव पड़ने से यह कार्य पर्याप्त अंशों में स्वतः होता है। मुख्य कार्य संकल्प द्वारा हुआ करता है। इस संकल्प के प्रसंग में भी इसी प्रकरण में आगे कहा गया है:—

१. श्रीमद्भगवद् गीता ८.१०
२. श्रीमद्भागवत् ११.१५—२.६
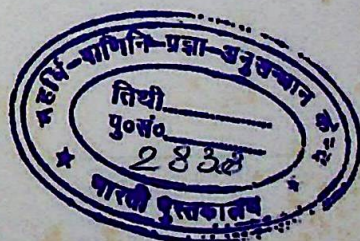
'यथा संकल्पयेद् बुद्ध्या यथा वा मत्परः पुमान्
..............................तथा तत्समुपासते।।[१]

अर्थात् साधक ईश्वर को समर्पित होते हुए जैसा संकल्प करता है, वैसा ही सम्पन्न होने लगता है।

इस साधना को रेचक के अनन्तर पूरक करके कुम्भक करते हुए योगमुद्रा और महाबन्ध तीनों में अन्यतम से या इनकी समष्टि से प्रारम्भ करना चाहिए तो सुविधा रहती है। इनके साथ प्राणों को ऊर्ध्वगामी करने का संकल्प प्रधान प्रयत्न तो करना ही है। प्रथम स्थिति में ग्रीवा और मुख (चेहरे) के अंगों में वायु भरती हुई प्रतीत होगी और धीरे–धीरे अभ्यास से उड्डीयान बन्ध के द्वारा पेट पर दबाव आने पर प्राणवायु ऊपर को जाती है। भ्रूमध्य से ऊपर प्राण वायु को ले जाने का प्रयत्न नहीं करना है। यह साधना ही मृत्यु को दूर रखने की साधना है। इसके अभ्यास के समय प्रायः सभी शारीरिक रोग (बाहरी कारणों से होने वाले नहीं) स्वतः क्रमशः दूर हो जाते हैं।

इच्छा के अनुसार प्राणों को ऊर्ध्वभाग में ले जाने का अभ्यास हो जाने पर योगी जब प्राण विसर्जन करना चाहेगा तब वह आज्ञाचक्र से भी ऊपर ब्रह्मरन्ध्र में ले जाकर उसमें प्राणों का विसर्जन कर सकेगा। इसी कारण इस प्राणायाम का नाम इच्छामृत्यु प्राणायाम है। इस प्राणायाम का उद्देश्य साधना की पूर्णता होने तक मृत्यु को स्वयं से दूर रखना है। इसी कारण इसके मुख्य अंग उड्डीयान बन्ध आदि को 'मृत्यु मातंग केसरी' विशेषण से विभूषित किया गया है। इसकी साधना के परिणाम के रूप में रोगों से मुक्ति और वृद्धावस्था के प्रभाव में न्यूनता को कुछ काल में समझा जा सकता है, वास्तविक परिणाम की प्रतीक्षा तो चिरकाल तक करनी होगी।

●●●

१. वही, ११.१५–२६